पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन

M.A. (Previous)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय
रोहतक–124 001

विषय-सूची

WESTERN POLITICAL THOUGHT (PLATO TO GREEN)

PAPER-I **Max. Marks : 100**

Time : 3 Hours

Note: 10 questions will be set out of which the candidate will be required to answer 5 questions.

This paper includes the political thought of Plato, Aristotle, St. Augustine, St. Thomas Acquinas, Machiavelli, Hobbes, Locke, Rousseau, Bentham, J.S. Mill and T.H. Green.

अध्याय-1
प्लेटो
(Plato)

परिचय
(Introduction)

प्राचीन यूनान के महान् दार्शनिक प्लेटो को केवल यूनान का ही नहीं बल्कि समूचे विश्व का प्रथम राजनीतिक दार्शनिक होने का श्रेय प्राप्त है। उनसे पहले किसी ने भी राज्य, सरकार तथा व्यक्ति के सम्बन्ध पर तर्कसंगत सिद्धान्त प्रस्तुत नहीं किया। प्लेटो का दर्शन सर्वव्यापी था। राजनीतिशास्त्र के अतिरिक्त तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, शिक्षाशास्त्र आदि विषयों पर भी उसकी देन मौलिक है। मूल रूप में प्लेटो एक आदर्शवादी था। वह पदार्थ (Matter) की अपेक्षा विचार (Idea) को ही वास्तविक मानकर प्राथमिकता देते थे। प्लेटो की यह मान्यता हीगेल, ग्रीन, बोसांके जैसे आधुनिक आदर्शवादियों का प्रेरणा-स्रोत बनी। आधुनिक युग की बहुत सी अन्य विचारधाराएँ - फासीवाद, अधिनायकवाद, नाजीवाद भी प्लेटो के दर्शन की ऋणी हैं।

जीवन परिचय
(Life History)

महान् यूनानी दार्शनिक प्लेटो का जन्म 427 ई॰ पूर्व में एथेन्स के एक कुलीन परिवार में हुआ था। उनके पिता अरिस्टोन एथेन्स के अन्तिम राजा कोर्डस के वंशज तथा माता पेरिकतिओन यूनान के सोलन घराने से थी। प्लेटो का वास्तविक नाम एरिस्तोकलीज था, उसके अच्छे स्वास्थ्य के कारण उसके व्यायाम शिक्षक ने इसका नाम प्लाटोन रख दिया। प्लेटो शब्द का यूनानी उच्चारण 'प्लातोन' है तथा प्लातोन शब्द का अर्थ चौड़ा-चपटा होता है। धीरे-धीरे प्लातोन के स्थान पर प्लेटो कहा जाने लगा। वह आरम्भ से ही राजनीतिज्ञ बनना चाहता था लेकिन उसका यह स्वप्न पूरा न हो सका और वह एक महान् दार्शनिक बन गया।

प्लेटो के जन्म के समय एथेन्स यूनान का महानतम राज्य था। लेकिन लगातार 30 वर्षों तक स्पार्टा और पलीपोनेशिया के साथ युद्ध ने एथेन्स की प्रतिष्ठा मिट्टी में मिला दी। 404 ई॰ पू॰ में एक क्रान्ति द्वारा एथेन्स में लोकतन्त्र के स्थान पर तीस निरंकुशों का शासन स्थापित हुआ। प्लेटो को शासन में भाग लेने के लिए आमन्त्रित किया गया लेकिन उसने शासन में भाग लेने से इन्कार कर दिया। शीघ्र ही दूसरी क्रान्ति द्वारा एथेन्स में तीस निरंकुशों के स्थान पर पुनः प्रजातन्त्र की स्थापना की गई। लेकिन इस शासन के दौरान सुकरात की म त्यु ने उसके दिल में प्रजातन्त्र के प्रति घ णा पैदा कर दी।

वह 18 या 20 वर्ष की आयु में सुकरात की ओर आकर्षित हुआ। यद्यपि प्लेटो तथा सुकरात में कुछ विभिन्नताएँ थीं लेकिन सुकरात की शिक्षाओं ने इसे अधिक आकर्षित किया। प्लेटो सुकरात का शिष्य बन गया। सुकरात के विचारों से प्रेरित होकर ही प्लेटो ने राजनीति की नैतिक व्याख्या की, सद्गुण को ज्ञान माना, शासन कला को उच्चतम कला की संज्ञा दी और विवेक पर बल दिया। 399 ई॰ पू॰ में सुकरात को म त्यु दण्ड दिया गया तो प्लेटो की आयु 28 वर्ष थी। इस घटना से परेशान होकर वह राजनीति से विरक्त होकर एक दार्शनिक बन गए। उसने अपनी रचना 'रिपब्लिक' में सुकरात के सत्य तथा न्याय को उचित ठहराने का प्रयास किया है। यह उसके जीवन का ध्येय बन गया। वह सुकरात को प्राणदण्ड दिया जाने पर एथेन्स छोड़कर मेगरा में चला गया। क्योंकि वह लोकतन्त्र से घ णा करने लग गया था। मेगरा जाने पर 12 वर्ष का इतिहास अज्ञात है। लोगों का विचार है कि इस दौरान वह इटली, यूनान और मिस्र आदि देशों में घूमता रहा। वह पाइथागोरस के सिद्धान्तों का ज्ञान

प्राप्त करने के लिए 387 ई॰ पू॰ में इटली और सिसली गया। सिसली के राज्य सिराक्यूज में उसकी भेंट दियोन तथा वहाँ के राजा डायोनिसियस प्रथम से हुई। उसके डायोनिसियस से कुछ बातों पर मतभेद हो गए और उसे दास के रूप में इजारन टापू पर भेज दिया गया। उसे इसके एक मित्र ने वापिस एथेन्स पहुँचाने में उसकी मदद की।

प्लेटो ने 386 ई॰ पू॰ में इजारन टापू से वापिस लौटकर अपने शिष्यों की मदद से एथेन्स में अकादमी खोली जिसे यूरोप का प्रथम विश्वविद्यालय होने का गौरव प्राप्त है। उसने जीवन के शेष 40 वर्ष अध्ययन-अध्यापन कार्य में व्यतीत किए। प्लेटो की इस अकादमी के कारण एथेन्स यूनान का ही नहीं बल्कि सारे यूरोप का बौद्धिक केन्द्र बन गया। उसकी अकादमी में गणित और ज्यामिति के अध्ययन पर विशेष जोर दिया जाता था। उसकी अकादमी के प्रवेश द्वार पर यह वाक्य लिखा था- "गणित के ज्ञान के बिना यहाँ कोई प्रवेश करने का अधिकारी नहीं है।" यहाँ पर राजनीतिज्ञ, कानूनवेता और दार्शनिक शासक बनने की भी शिक्षा दी जाती थी।

डायोनिसियस प्रथम की म त्यु के बाद 367 ई॰ पू॰ डायोनिसियस द्वितीय सिराक्यूज का राजा बना। अपने मित्र दियोन के कहने पर वह वहाँ जाकर राजा को दर्शनशास्त्र की शिक्षा देने लग गया। इस दौरान राजा के चाटुकारों ने दियोन के खिलाफ बोलकर उसे देश निकाला दिलवा दिया और उसकी सम्पत्ति व पत्नी जब्त कर ली। इससे नाराज प्लेटो एथेन्स वापिस चला गया। 361 ई॰ पू॰ में डायोनिसियस ने उसे दोबारा सिराक्यूज आने का निमन्त्रण दिया, परन्तु वह यहाँ आने को तैयार नहीं था, लेकिन तारेन्तय के दार्शनिक शासक की प्रेरणा से वह वहाँ आकर डायोनियस को दर्शनशास्त्र का ज्ञान देने लग गया। लेकिन दोबारा डायोनिसिथस व प्लेटो में सैद्धान्तिक बातों पर मतभेद हो गए और वह वापिस एथेन्स आ गया। इससे उसकी आदर्शवादिता को गहरा आघात पहुँचा और वह व्यावहारिकता की ओर मुड़कर 'The Laws' नामक ग्रन्थ लिखने लग गया। अपने किसी शिष्य के आग्रह पर वह एक विवाह समारोह में शामिल हुआ और वहीं पर सोते समय 81 वर्ष की अवस्था में उसकी म त्यु हो गयी।

सुकरात का प्रभाव
(Influence of Socrates)

प्लेटो का दर्शन सिर्फ उसकी काल्पनिक मस्तिष्क की ही उपज नहीं, अपितु परिवार, देश, काल एवं पूर्व कालीन दार्शनिकों के विचारों से भी प्रभावित है, राजनीतिज्ञों के परिवार से सम्बन्धित होने के कारण वह स्वभाव से ही राजनीतिक समस्याओं में रुचि लेने लगा था। प्लेटो के विचारों पर तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों के प्रभाव के साथ पूर्ववर्ती दार्शनिकों, पाईथागोरस, पार्मिनीडिज, हीराक्लीटस, सुकरात आदि विचारकों का भी प्रभाव पड़ा, लेकिन उपर्युक्त सभी परिस्थितियों व विचारकों में से प्लेटो पर सुकरात का प्रभाव कुछ ज्यादा ही था। वह 20 वर्ष की आयु में सुकरात के सम्पर्क में आया और आजीवन उसका शिष्य रहा। सुकरात की जो आकृति उसके हृदयपटल पर अंकित हो चुकी थी, वह कभी धूमिल नहीं हुई। प्रो॰ मैक्सी कहते हैं कि- "प्लेटो में सुकरात पुनर्जीवित हो गया। . . . प्लेटो के मस्तिष्क और आत्मा ने अपने गुरु के विचारों और भावनाओं को पूर्ण रूप से हृदयंगम कर लिया।" सुकरात का प्लेटो पर निम्नलिखित प्रभाव हैः-

1. **सद्गुण ही ज्ञान है** **(Virtue is Knowledge)** : प्लेटो की पुस्तक रिपब्लिक का मुख्य विचार यही है कि 'सद्गुण ही ज्ञान है'। प्लेटो ने यह विचार अपने गुरु सुकरात से ग्रहण किया है। सुकरात सद्गुण और ज्ञान को एक सिक्के के दो पहलू मानता था। सुकरात के अनुसार सत्य ज्ञान ही सद्गुण है। सत्य कभी अकल्याणकारी नहीं हो सकता। ज्ञान सत्य की आत्मानुभूति है। सत्य को आचरण में लाए बिना सच्चे ज्ञान की अनुभूति निरर्थक व निष्फल है। मेयर के शब्दों में- "यदि हम ज्ञान और आचरण को एक मानें, तभी एक स्थायी मापदण्ड बना सकते हैं। जिस ज्ञान का आचरण के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, जो ज्ञान केवल ज्ञान के लिए सम्पादित किया जाता है वह ज्ञान निरर्थक है। ज्ञान केवल कुछ सूचनाओं का संकलन मात्र नहीं है। इसका चरित्र निर्माण के साथ गहरा सम्बन्ध है। ज्ञान बुद्धि के माध्यम से सम्पूर्ण व्यक्तित्व को प्रभावित करता है। यह इच्छा शक्ति और भावनाओं का निर्माण करता है। साहस, संयम, न्याय आदि सभी गुणों की उत्पत्ति ज्ञान से होती है। साहसी व्यक्ति वही बन सकता है, जो भय तथा निर्भीकता का ज्ञान रखता हो।" प्लेटो की पुस्तक रिपब्लिक का सार 'सद्गुण ही ज्ञान है' का सिद्धान्त है जो सुकरात की सबसे महत्त्वपूर्ण देन है।

2. **सद्गुण का स्वरूप** **(Nature of Virtue)** : सुकरात की तरह प्लेटो का भी यह मानना था कि प्रत्येक वस्तु की भलाई या उत्कृष्टता इस बात में है कि उसमें वह गुण अवश्य हो जिसकी सम्पूर्ति के लिए उसका जन्म हुआ है। उत्कृष्टता शब्द सद्गुण के लिए प्रयुक्त यूनानी शब्द 'अरैती' (Arete) का हिन्दी शब्दार्थ है। चाकू का गुण काटना है। इसका अच्छा या

बुरापन इस बात पर निर्भर करता है कि यह कितनी अच्छी या बुरी तरह काट सकता है। ठीक इसी प्रकार मनुष्य भी अन्य मनुष्यों की तुलना में ही अच्छा या बुरा हो सकता है। इसकी अच्छाई और बुराई दो तरह की होती है - एक अपनी व त्ति सम्बन्धी एवं दूसरी व्यवसाय सम्बन्धी। कोई व्यक्ति अच्छा या बुरा चित्रकार, मूर्तिकार, डॉक्टर या वकील हो सकता है, किन्तु वही मनुष्य अच्छा हो सकता है जिसमें दूसरे मनुष्य को अच्छे बनाने वाले गुण प्रचुर मात्रा में विद्यमान हों। सुकरात की तरह प्लेटो भी एक अच्छे व्यक्ति में विवेक, साहस, संयम, न्याय - चार गुणों का होना आवश्यक मानते हैं, क्योंकि ये चारों गुण मानवीय गुण और उत्कृष्टता (Human Virtue and Goodness) का निर्माण करते हैं।

3 **राजनीति एक कला है (Politics is an Art) :** प्लेटो ने भी सुकरात का अनुसरण करते हुए शासन संचालन को डॉक्टरी या नौ-चालन की तरह एक कला माना है। इसलिए शासन के विशेषज्ञों को ही शासन संचालन का अधिकार दिया जाना चाहिए। जिस प्रकार हर व्यक्ति एक कुशल मूर्तिकार या निपुण संगीतज्ञ नहीं हो सकता, उसी प्रकार हर व्यक्ति योग्य शासक भी नहीं बन सकता। सुकरात ने कहा था, "जनता बीमार है, इसलिए हमें अपने स्वामियों का इलाज कराना चाहिए।" प्लेटो भी यह मानता है कि जनता बीमार रोगी के समान होती है और डॉक्टर एक सामाजिक चिकित्सक की तरह रोगी को ठीक करने के लिए कड़वी दवाइयाँ भी देता है। ठीक उसी तरह आदर्श शासक को जनता की बीमारी ठीक करने के लिए उसे कड़वी दवाई देनी पड़ती है।

4. **सत्य का सिद्धान्त (Theory of Reality) :** राजनीतिक चिन्तन में सुकरात के वास्तविकता के सिद्धान्त को आदर्शवाद का जनक माना जाता है। प्रो॰ कोकर के अनुसार, "प्लेटो के दार्शनिकवाद का आधार सुकरात का वास्तविक सिद्धान्त है।" प्लेटो सुकरात की इस धारणा से पूर्णतः सहमत है कि वस्तुओं की वास्तविकता उनके मूर्त रूप में नहीं वरन् उनके विचार में है। किसी वस्तु की वास्तविक सत्ता इन्द्रियों द्वारा प्रतीत नहीं होती है, वरन् उसकी वह अमूर्त धारणा है जो कि उसके मन में विद्यमान रहती है। मूर्त रूप वास्तविक सत्ता की एक अपूर्ण अभिव्यक्ति है; उसकी पूर्णता तो उस वस्तु के विचार में ही रहती है।

5. **ज्ञान का सिद्धान्त (Theory of Knowledge) :** प्लेटो भी सुकरात की तरह ज्ञान को दो प्रकार का मानता है- (1) सापेक्ष (Relative) (2) निरपेक्ष (Absolute)। सापेक्ष ज्ञान इन्द्रियों द्वारा प्राप्त अपूर्ण ज्ञान होता है जो देश, काल की परिस्थितियों से प्रभावित होने के कारण बदलता रहता है। इसका स्वरूप ज्ञाता की मनोव त्ति तथा द ष्टिकोण पर भी निर्भर करता है। इस तरह का ज्ञान, ज्ञान न होकर ज्ञान की तरह होता है। इसके विपरीत निरपेक्ष ज्ञान अपरिवर्तनशील, वैज्ञानिक, वस्तुनिष्ठ (Objective) तथा तर्कसंगत (Rational) होता है। इस ज्ञान की अनुभूति विशुद्ध तथा निर्लिप्त बुद्धि को ही हो सकती है। यह देश, काल की सीमा से बाहर की वस्तु होता है। वास्तविक ज्ञान निरपेक्ष ज्ञान होता है, इसलिए मानव जीवन का परम लक्ष्य निरपेक्ष ज्ञान है।

6. **दार्शनिक शासक की तानाशाही का सिद्धान्त (Theory of Dictatorship of Philosopher King) :** सुकरात लोकतन्त्र को मूर्खों व अज्ञानियों का शासन मानता था, इस व्यवस्था के अन्तर्गत सभी को वोट देने, शासन कार्यों में भाग लेने, न्याय करने का समान अधिकार प्राप्त था। कभी-कभी शासकों को पाँसा फेंककर या लाटरी द्वारा चुना जाता था। वह एथेन्स की सरकार की घोर निन्दा करता था। इसलिए अज्ञानी शासकों ने सुकरात को प्राणदण्ड दे दिया। प्लेटो ने भी व्यावहारिक तौर पर एथेन्स प्रजातन्त्र की बुराइयाँ देख ली थीं। इसलिए उसने भी अपने गुरु सुकरात की तरह प्रजातन्त्र की निन्दा की और लोकतन्त्र के स्थान पर दार्शनिक शासक की तानाशाही का समर्थन किया।

7. **द्वन्द्वात्मक पद्धति (Dialectical Method) :** सुकरात के समय में यूनान में वाद-विवाद द्वारा अपने विरोधी विचारों का खण्डन तथा अपनी विचारधारा को तर्कसंगत ठहराने के प्रयास किये जाते थे। यह सत्य अनुसंधान करने की पद्धति द्वन्द्वात्मक पद्धति कहलाती थी। प्लेटो ने भी इस वाद-विवाद की पद्धति द्वारा सत्य तक पहुँचने के प्रयास किये। उसकी समस्त रचनाएँ वाद-विवाद के रूप में संवादों पर ही आधारित हैं। अतः प्लेटो ने यह पद्धति सुकरात से ग्रहण की।

इस प्रकार सुकरात का प्लेटो पर प्रभाव स्पष्ट है। बर्नेट के शब्दों में- "प्लेटो का दर्शन सुकरात के ही ज्ञान के जीवाणुओं का वह विकास है जो प्लेटोनिक निष्कर्षों में 'रिपब्लिक' में उद्भूत हुआ है।" मैक्सी के शब्दों में - "प्लेटो के रूप में सुकरात ने फिर जन्म लिया। इस अर्थ में नहीं कि प्लेटो अपने गुरु की सच्ची नकल था वरन् इस अर्थ में कि प्लेटो के मस्तिष्क और आत्मा ने अपने गुरु के विचारों और मान्यताओं को पूर्णता से आत्मसात् किया और उसने अपने उच्च बुद्धि कौशल से एक ऐसे सुकरात

की रचना की जो एथेन्स की गलियों में घूमने वाले सुकरात से उच्चतर था। प्लेटो द्वारा रचित सुकरात एक प्रकार का देवता है, जो केवल वे ही बातें नहीं कहता जिनकी वास्तविकता की सुकरात से आशा की जा सकती है वरन् वह ऐसी बातें भी कहता है जो प्लेटो की चमत्कारपूर्ण कल्पना उससे कहलाना चाहती है।"

इस प्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्लेटो की 'रिपब्लिक' में सुकरात से ग्रहण किए गए सिद्धान्तों के 'सद्गुण ही ज्ञान है' का सिद्धान्त, 'सत्य का सिद्धान्त', 'ज्ञान का सिद्धान्त' बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। मनुष्य के अच्छा बनने के लिए साहस, विवेक, संयम और न्याय चार गुणों का होना आवश्यक है। वह शासन को एक कला मानता है। शासन का संचालन तो दार्शनिक राजा के ही हाथ में ठीक रहता है। अतः प्लेटो पर सुकरात का प्रभाव स्पष्ट व अमिट है। इसलिए प्लेटो सुकरात का ऋणी है।

समकालीन परिस्थितियाँ
(Contemporary Situations)

किसी भी विचारक को समझने के लिए उसके वातावरण के बारे में समझना आवश्यक होता है। प्लेटो के विचार भी तत्कालीन वातावरण से अवश्य प्रभावित हुए हैं। प्लेटो ने अपने समय के नगर राज्यों, विशेषकर एथेन्स में कुछ त्रुटियाँ देखीं जिन पर उसने अपनी रचनाओं में विचार किया है। उस समय एथेन्स में वातावरण निम्नलिखित परिस्थितियों पर आधारित था :-

1. **व्यक्तिवाद का अतिरेक अथवा स्वार्थ का प्रभुत्व (Excessive Individualism or Dominance of Selfishness)** : उस समय व्यक्तिवाद चरम सीमा पर था। लोग अपने अपने स्वार्थों की पूर्ति में लगे हुए थे। सत्तारूढ़ शासक वर्ग अपने राजनीतिक अधिकारों का प्रयोग अपने आर्थिक हितों की पूर्ति के लिए कर रहा था। राजनीतिक पदों की कोई पवित्रता नहीं थी। वे शासक वर्ग के हितों को बढ़ाने वाले थे। राजनीति में सोफिस्टों का ही प्रभाव था। सोफिस्टों के अनुसार राज्य व्यक्तियों का एक समूह मात्र था और इसका लक्ष्य व्यक्ति था। व्यक्तिवाद की इस भावना ने एथेन्स को विरोधी नगरों में बाँट दिया था। नगर राज्यों में अल्पतन्त्रीय सरकारें थीं और उनकी स्थिति प्रजातन्त्रीय नगरों से भी बुरी थी। शासक दल धनी वर्ग का प्रतिनिधि था। हितों की आपसी टक्कर ने राजनीतिक अस्थिरता फैला रखी थी। अल्पतन्त्रों और प्रजातन्त्रों में पाई जाने वाली राजनीति धनलिप्सा और स्वार्थ-सिद्धि का उपकरण मात्र थी। परस्पर मतभेदों ने एथेन्स का परस्पर विरोधी राज्यों में बाँट रखा था। प्लेटो के शब्दों में- "प्रत्येक राज्य में दो भिन्न-भिन्न राज्य थे - अमीरों का राज्य तथा गरीबों का राज्य।" प्लेटो ने देख लिया था कि इस समस्या का भूतकाल स्वार्थ की प्रव त्ति अथवा धनलिप्सा था। अतः इस बुराई को दूर करने के लिए प्लेटो ने शासकों के लिए धन, सम्पत्ति अथवा घर-बार अपनाने के अधिकार का विरोध किया।

2. **अव्यवसायवादी हस्तक्षेप (Amateurish Meddlesomeness)** : उस समय एथेन्स में अव्यवसायवादी हस्तक्षेप की मनोव त्ति थी तथा यह लॉटरी की प्रथा में व्यक्त होती थी। लॉटरी द्वारा किसी भी अज्ञानी या मूर्ख व्यक्ति को राजनीतिक क्रियाओं के लिए चुन लिया जाता था। प्लेटो इस दोष से अच्छी तरह परिचित था। वह कार्यात्मक विशिष्टीकरण का सुझाव देता है जिसका तात्पर्य था कि प्रत्येक व्यक्ति वही कार्य करे जिसके लिए वह अपने स्वभाव एवं आत्मा के अनुसार योग्य हो और जिसमें उसे कुशलता व दक्षता प्राप्त हो। वह दूसरे के क्षेत्र में हस्तक्षेप न करे। उसका विचार था कि शासकों को दर्शनशास्त्र तथा राज्य शासन की कलाओं का विशेष प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए ताकि 'अव्यवसायीवादी हस्तक्षेप का सिद्धान्त' नष्ट हो सके और शासन क्रियाओं में योग्य व्यक्ति ही भाग ले सके।

3. **अज्ञानता का शासन (Rule of Ignorance)** : एथेन्स में प्लेटो के समय शासन पर अज्ञानी व मूर्ख राजाओं का अधिकार था। अपनी अज्ञानता के कारण उन्होंने सुकरात को भी म त्यु-दण्ड दे दिया था। इस घटना से प्लेटो बहुत दुखी था। 'तीस निरंकुशों' के शासन के अन्त पर स्थापित प्रजातान्त्रिक शासन पहले वाले ही दोषों से ग्रसित था। शासक वर्ग लॉटरी द्वारा चुना जाता था। मूर्ख व अयोग्य व्यक्ति भी इस पद पर आसीन हो सकता था। प्लेटो ने 'सद्गुण ही ज्ञान है' की उक्ति के आधार पर दार्शनिक राजा का सुझाव दिया। प्लेटो का प्रमुख उद्देश्य अज्ञानी शासकों के शासन को स्पष्ट करना था।

4. **आर्थिक असमानता (Economic Inequality)** : प्लेटो के समय में शासक वर्ग धनी वर्ग का ही प्रतिनिधित्व करता था। राजनीति धन कमाने का साधन थी। जनता में अमीर-गरीब का अन्तर शीर्ष पर था। शासक वर्ग धन-लिप्सा के कारण जनता का शोषण कर रहा था। स्वार्थ की भावना जनकल्याण की भावना से सर्वोपरि थी। अल्पतन्त्र व प्रजातन्त्र दोनों

के शासक राजनीति को आर्थिक लाभ का साधन मानते थे। आर्थिक असमानता ही सामाजिक संघर्ष का प्रमुख कारण थी। बार्कर के शब्दों में- "अल्पतन्त्रों ओर प्रजातन्त्रों में पाई जाने वाली राजनीति तथा धन-लिप्सा के मिश्रण से उत्पन्न संभ्रान्ति ही नागरिक कलहों अथव सामाजिक संघर्ष का प्रमुख कारण थी।"

5. **राजनीतिक अस्थिरता (Political Instability) :** प्लेटो के समय में एथेन्स में राजनीतिक वातावरण दूषित हो चुका था। यूनान छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया था। सभी राज्य स्वार्थ-सिद्धि की प्रव त्ति पर आधारित थे। राज्य भी उप-राज्यों में बँटा हुआ था। शासन की बागडोर अयोगय शासकों के हाथों में थी। निरन्तर राजनीतिक विरोध की स्थिति बनी रहती थी। प्लेटो ने अपने जीवनकाल में ही 30 वर्षों तक एथेन्स को स्पार्टा तथा फ्लीयोनेशिया के साथ संघर्षरत देखा था। क्रान्ति या विद्रोह द्वारा एथेन्स में तीस 'निरंकुशों' के शासन की स्थापना हुई थी। जनता व शासक हिंसात्मक कार्यो व असंवैधानिक कार्यों में लिप्त थे। निरन्तर राजनीतिक अस्थिरता का वातावरण बना रहता था। इससे दुखी होकर प्लेटो ने दार्शनिक राजा का शासन स्थापित करने की बात कही ताकि इस राजनीतिक अस्थिरता के वातावरण को खत्म किया जा सके।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि प्लेटो ने तत्कालीन परिस्थितियों से प्रभावित होकर अपने प्रसिद्ध ग्रंन्थ रिपब्लिक (Republic) की रचना की और तत्कालीन एथेन्स की समस्त बुराइयों को दूर करने के लिए सुझाव प्रस्तुत किए।

महत्त्वपूर्ण रचनाएँ
(Impotant Works)

प्लेटो की रचनाएँ काल के आधार पर चार भागों में बाँटी जा सकती हैं। प्रथम वर्ग में सुकरात से सम्बन्धित रचनाएँ हैं। इन रचनाओं के विचार सुकरान्त के विचारों की ही अभिव्यक्ति है। अपोलॉजी (Apology), क्रीटो (Crito), यूथीफ्रो (Euthyphro), जोर्जियस (Gorgias) आदि प्रथम वर्ग की रचनाएँ हैं। ये सभी रचनाएँ सुकरात की म त्यु से सम्बन्धित हैं, प्रथम दो रचनाएँ राज्य की आज्ञा का पालन तथा उसकी सीमा से सम्बन्धित हैं।

द्वितीय वर्ग की रचनाएँ 380 ई॰ पू॰ की है। ये प्लेटो के अपने विचारों से सम्बन्धित हैं। इस वर्ग में मीनो (Meno), प्रोटागोरस (Protagoros), सिंपोजियम (Symposium), फेडो (Phaedo), रिपब्लिक (Republic) और फेड्रस (Phaedrus) आदि रचनाएँ आती हैं। ये सभी रचनाएँ प्लेटो की चरमोत्कृष्ट साहित्यिक एवं दार्शनिक प्रतिभा को प्रतिबिम्बित करती है।

तीसरे वर्ग में संवाद या कथोपकथन (Dialogues) आते हैं जिनका सम्बन्ध प्लेटो की शैली, विचार और व्यक्तित्व से अधिक द्वन्द्वात्मक पद्धति से है। पार्मिनीडिज (Parmenides), थीटिटस (Theaetetus), सोफिस्ट (Sophist), स्टेट्समैन (Statesman) आदि रचनाएँ आती हैं।

अन्तिम वर्ग में फीलिबस (Philobus), टायमीयस (Timaeus), लॉज (Laws) आदि ग्रन्थ आते हैं। लॉज प्लेटो का अन्तिम ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में सुकरात एक चरित्र के रूप में पूर्णतः विलीन हो जाता है।

इन रचनाओं में प्लेटो की सर्वोत्तम रचना रिपब्लिक (Republic) है जिसके द्वारा प्लेटो राजनीति, दर्शन, शिक्षा, मनोविज्ञान, कला, नीतिशास्त्र आदि के क्षेत्र में एक मेधावी व सर्वश्रेष्ठ विचारक के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। यह रचना राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में प्लेटो की एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण व अमूल्य देन मानी जाती है।

अध्ययन शैली और पद्धति
Style and Method of Study

प्लेटो ने प्रत्येक विषय को स्पष्ट करने के लिए सशक्त, रोचक और आकर्षक संवाद शैली अपनाई है। उसकी रचनाओं में केवल एक पात्र का दूसरे पात्र से वार्तालाप ही नहीं होता बल्कि दर्शन कविता के साथ, विज्ञान कला के साथ, सिद्धान्त व्यवहार के साथ, राजनीति अर्थशास्त्र के साथ, भावना विवेक के साथ, शरीर आत्मा के साथ, व्यायाम संगीत के साथ स्वर में स्वर मिलाकर बोलते हुए प्रतीत होते हैं। इसके चलते जहाँ प्लेटो को समझना कुछ कठिन होता है, वहाँ उन्हें पढ़ना उतना ही आनन्द देता है। क्रॉसमैन ने लिखा है- "मैं जितना अधिक रिपब्लिक को पढ़ता हूँ, उतना ही इससे घ णा करता हूँ, फिर भी इसे बार-बार पढ़े बिना अपने आप को रोक नहीं पाता हूँ।" उसके विचारों में औपन्यासिक रोचकता है। उसने पौराणिक द ष्टान्तों एवं कथाओं को शामिल करके रचनाओं को और अधिक मनोरंजक बना दिया है। प्लेटो का दर्शनशास्त्र भव्य रूप में प्रकट हुआ है। अतएव उसने ऐसी शैली अपनाई है जो सत्य और सौन्दर्य के समन्वय को प्रकट करती है।

प्लेटो ने अपने चिन्तन में अनेक पद्धतियों का प्रयोग किया है। ये पद्धतियाँ नैतिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक समस्याओं के विश्लेषण के लिए प्रयोग में लाई गई हैं जिनमें प्रमख निम्न प्रकार से हैं :

प्लेटो की सबसे प्रमुख पद्धति द्वन्द्वात्मक पद्धति (Dialectical Method) है। प्लेटो ने यह पद्धति अपने गुरु सुकरात से ग्रहण की है। प्लेटो ने रिपब्लिक, स्टेटसमैन, लॉज, क्रीटो आदि ग्रन्थों में इस पद्धति का प्रयोग किया है। यह पद्धति चिन्तन की वह पद्धति है, जिसके द्वारा प्रश्नोत्तर एवं तर्क-वितर्क के आधार पर किसी सत्य की खोज की जाती है। इस पद्धति के द्वारा मस्तिष्क में छिपे विचारों को उत्तेजित कर उन्हें सत्य की ओर ले जाने का प्रयास किया जाता है। इसलिए अपने मौलिक रूप में द्वन्द्वात्मक (Dialectical) पद्धति का अर्थ वार्तालाप की प्रक्रिया से है; प्रश्न पूछने और उत्तर देने की शैली से है; तर्क-वितर्क की पद्धति से है; किसी विषय पर अपना मत प्रकट करने और दूसरे के मत को जानने की विधि से है। वही व्यक्ति किसी विषय पर अपना मत प्रकट कर सकता है, जिसे उस विषय का ज्ञान होता है। ग्रीक जगत में यह विधि कोई नई नहीं है। सुकरात ने कहा कि जब लोगों में परस्पर एक साथ मिलाकर विचार करने की प्रथा आई, तभी इस विधि का जन्म हुआ। लेकिन प्लेटो ने इसे वार्तालाप की प्रणाली मात्र न मानकर इसे सत्य की खोज करने की विधि माना, इस विधि का प्रयोग प्लेटो ने प्रचलित विश्वासों व धारणाओं का खण्डन करके नए विश्वासों व धारणाओं की स्थापना हेतु किया। प्लेटो का विश्वास था कि एक विचार को धराशायी करके ही दूसरे विचार को प्रतिष्ठित किया जा सकता है। बार्कर का मत है कि- "वैचारिक क्षेत्र में सत्य को तभी एक विजयी के रूप में प्रतिष्ठित किया जा सकता है जब एक रुद्र विचार दूसरे विचार को निगलता है।" प्लेटो का विश्वास था कि धीरे-धीरे ही सत्य की ओर बढ़ा जा सकता है। विशिष्ट विचार को 'अनेक में एक' और 'एक में अनेक' की खोज द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। यह विशिष्ट विचार ही सत्य है। सत्य की खोज ही इस पद्धति का उद्देश्य है। डायलेक्टिक की उत्पत्ति इसी मौलिक तथ्य से होती है कि सभी वस्तुओं में एकता और अनेकता का सामंजस्य पाया जाता है। उसने अपने ग्रन्थ रिपब्लिक में यह स्पष्ट कर दिया है कि किस प्रकार प्रत्येक वस्तु का रूप दूसरी वस्तुओं के रूप से जुड़ा होता है। सभी वस्तुओं के रूप एक-दूसरे से मिलकर सत् या शिव का स्वरूप धारण करते हैं। प्लेटो ने संवाद प्रणाली के माध्यम से पात्रों के द्वारा अन्तिम सत्य का पता लगाने की कोशिश की है। उसने संवाद-शैली को विचार क्रान्ति के सर्वोत्तम एवं रुचिकर साधन के रूप में प्रयोग किया है। इससे पात्रों व श्रोताओं के दिमागों में सत्य को ठूँसने की आवश्यकता नहीं होती। प्लेटो ने इस पद्धति का प्रयोग तीन उद्देश्यों के लिए किया है- (1) सत्य की खोज के लिए (2) सत्य की अभिव्यक्ति और प्रचार के लिए (3) सत्य की परिभाषा के लिए।

द्वन्द्वात्मक पद्धति एक महत्त्वपूर्ण पद्धति होने के बावजूद भी आलोचना का शिकार हुई। आलोचकों ने कहा कि इस पद्धति में प्रश्न अधिक पूछे जाते हैं, उत्तर कम दिए जाते हैं, इसलिए यह मस्तिष्क को भ्रांत करती है। यह सत्य को असत्य और असत्य को सत्य सिद्ध कर सकती है। सत्य की प्राप्ति वाद-विवाद से न होकर मनन से ही हो सकती है। वाकपटुता के बल पर धूर्त व्यक्ति समाज में अपना स्थान बना सकते हैं। यह पद्धति शंकाओं का समाधान करने की बजाय भ्रांति ही पैदा करती है। लेकिन अनेक त्रुटियों के बावजूद भी इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता कि प्लेटो ने इसके आधार पर न्याय सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। यह विचार और चिन्तन करने की शक्ति को उत्प्रेरित करने की क्षमता रखती है।

प्लेटो ने अपने राजनीतिक चिन्तन में निगमनात्मक पद्धति (Deductive Method) का भी काफी प्रयोग किया है। इस पद्धति का सार यह है कि इसमें सामान्य से विशेष की ओर पहुँचा जाता है। इसका अर्थ यह है कि सामान्य सिद्धान्त के आधार पर विशेष के सम्बन्ध में निष्कर्ष निकाले जाते हैं। प्लेटो ने दार्शनिक राजा का सिद्धान्त इसी पद्धति पर आधारित किया है। प्लेटो के अनुसार, "सद्गुण ही ज्ञान है"। दार्शनिक ज्ञानी होते हैं, इसलिए वे सद्गुणी भी होते हैं और उन्हें ही शासक बनना चाहिए। इसी पद्धति का प्रयोग करके प्लेटो ने वर्ग-सिद्धान्त, शिक्षा-सिद्धान्त और दार्शनिक शासक का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। प्लेटो ने अपने सामान्य सिद्धान्त के आधार पर परम्पराओं और रूढ़ियों को तिलांजलि देते हुए निगमनात्मक पद्धति का ही प्रयोग किया है। इस पद्धति को सामान्य से विशिष्ट की ओर चलने वाली पद्धति भी कहा जाता है।

प्लेटो ने अपने चिन्तन में विश्लेषणात्मक पद्धति (Analytical Method) का भी प्रयोग किया है। इस पद्धति में वस्तु के मौलिक तत्त्वों को अलग-अलग करके अध्ययन किया जाता है ताकि सम्पूर्ण वस्तु का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो सके। वह आत्मा के तीन तत्त्व - विवेक, साहस एवं त ष्णा को मानकर, इनके प थक्-प थक् अध्ययन द्वारा मानव स्वभाव का वर्णन करता है। वह दार्शनिक राजा, सैनिक और उत्पादक वर्ग के अलग-अलग अध्ययन के आधार पर इनसे निर्मित राज्य का विश्लेषण करता है।

प्लेटो ने अपने चिन्तन में साद श्य विधि (Analogy Method) का भी प्रयोग किया है। उसने अपने साद श्यों ओर पौराणिक कथाओं का प्रयोग किया है। उसने इन्हें कहीं तो कलाओं से लिया है और कहीं पशु-जगत् से। रिपब्लिक में कुत्ते के साद श्य को अनेक स्थानों पर तर्क का आधार बनाया गया है कि जिस प्रकार चौकीदार के काम के लिए कुत्ता व कुत्तिया एक समान हैं, उसी प्रकार राज्य के संरक्षक बनने के लिए पुरुष और स्त्री समान हैं। कलाओं के साद श्य में वह राजनीति को कला मानता है। अतः अन्य कलाओं की भाँति इसमें भी ज्ञान का आधार होना चाहिए। रिपब्लिक में दार्शनिक राजा की धारणा का आधार अन्य कलाकारों के साद श्य पर आधारित है। उसका मानना है कि प्रत्येक राजनीतिज्ञ को अपने कार्य का पूरा ज्ञान होना चाहिए। उसका कहना है कि कलाकार की भाँति राजनीतिक कलाकार को भी व्यवहार के नियमों के प्रतिबन्ध से मुक्त रखना चाहिए। इस पद्धति का अर्थ है कि प्रत्येक वस्तु का कुछ उद्देश्य है और वह अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयासरत है और उसी की तरफ अग्रसर होती है। अर्थात् प्रत्येक वस्तु की गति उसे उद्देश्य द्वारा ही निरूपित होती है। प्लेटो के चिन्तन में उसके शिक्षा सिद्धान्त का दार्शनिक आधार सोद्देश्यता ही है। अतः प्रत्येक वास्तविक राज्य का उद्देश्य आदर्श राज्य की तरफ उन्मुख होना है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्लेटो ने अपने चिन्तन में संवाद शैली का प्रयोग करते हुए बहुत सी पद्धतियों का अनुसरण किया है। उसकी द्वन्द्वात्मक पद्धति का हीगेल और मार्क्स के विचारों पर, सोद्देश्य पद्धति का अरस्तू, दाँते एवं ग्रीन पर प्रभाव पड़ा है। प्लेटो की अध्ययन-पद्धति अनेक पद्धतियों का मिश्रण है। प्लेटो ने आवश्यकतानुसार सभी पद्धतियों का प्रयोग किया है।

आदर्श राज्य की धारणा
(Conception of Ideal State)

अपने सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ 'रिपब्लिक' में प्लेटो ने एक आदर्श राज्य का चित्रण किया है जिसका प्रमुख उद्देश्य न्याय की प्राप्ति है। उसके आदर्श राज्य की कल्पना अत्यन्त मौलिक है। इस राज्य के चित्रण के कई कारण हैं। पहला - प्लेटो आदर्शवादी होने के नाते पदार्थ की बजाय विचार को ही वास्तविक मानता है। उसके अनुसार वास्तविकता किसी वस्तु में नहीं बल्कि वस्तु के बारे में जो भाव है, उसमें है। इस तर्क के आधार पर प्लेटो मौजूदा राज्यों को परिवर्तनशील, क्षणभंगुर और अवास्तविक मानता था। दूसरा - अपने समय की एथेन्स की राजनीतिक तथा सामाजिक बुराइयों से प्लेटो चिन्तित था, उन्हें सुधारने के लिए उसने आदर्श राज्य की कल्पना की। तीसरा - प्लेटो उस समय के यूनानी नगर राज्यों के शासकों के लिए राज्य का एक आदर्श प्रस्तुत करना चाहता था ताकि वे अपने नगर राज्यों में राजनीतिक और सामाजिक सुधार ला सके।

प्लेटो के आदर्श राज्य को सेबाइन जैसे लेखक कल्पना की उड़ान मानते हैं। उसका आदर्श राज्य अव्यावहारिक है। डनिंग इसे रोमांस कहते हैं। प्लेटो स्वयं स्वीकार करता है कि उसके आदर्श राज्य जो कि दर्शन के शासन और साम्यवाद पर आधारित है, को क्रियान्वित करना बहुत ही कठिन है। प्लेटो ने आदर्श राज्य का चित्रण एक चित्रकार की तरह किया है। जिस प्रकार एक चित्रकार अपने चित्र को सुन्दर बनाने के लिए इस बात पर ध्यान नहीं देता कि उसकी कल्पना प्रकृति में कहीं विद्यमान है या नहीं, उसी प्रकार प्लेटो आदर्श राज्य को आदर्श के अनुरूप बनाने के लिए उसकी व्यावहारिकता के प्रति ज्यादा ध्यान नहीं देता। यह राज्य अव्यावहारिक है जिसका नमूना स्वर्ग में तैयार किया गया है। प्लेटो जिस राज्य को चित्रित करते हैं वह सबसे अच्छे राज्य का नमूना है- "राज्य जो अपने आप में एक किस्म है" (A State which is a class in itself)। प्लेटो का आदर्श राज्य एक अच्छाई का एक विचार है जो सभी कालों और देशों के लिए एक आदर्श हो सकता है। अपने आदर्श राज्य के बारे में प्लेटो स्वयं कहते हैं- "राज्य शब्दों से बनाया गया है क्योंकि मेरा विचार है कि संसार में यह कहीं भी मौजूद नहीं है।" किन्तु प्लेटो के इस आदर्श के विवरण में ऐसे मानवीय मूल्य निहित हैं जो उसके राज्य को सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक बनाते हैं।

प्लेटो के आदर्श राज्य की व्याख्या करने से पहले राज्य की उत्पत्ति के दार्शनिक आधारों पर चर्चा करनी आवश्यक है। प्लेटो के आदर्श राज्य के निम्नलिखित दार्शनिक आधार हैं:-

1. **व्यक्ति का विस्त त रूप ही राज्य है (The State is the Individual Writ Large) :** प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य का निर्माण व्यक्ति और राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों पर आधारित किया है। प्लेटो की मान्यता है कि राज्य व्यक्ति के समान है। व्यक्ति का विस्त त रूप ही राज्य कहलाता है। प्लेटो का कहना है- "राज्य की उत्पत्ति व क्षों या चट्टानों से नहीं व्यक्तियों

के चरित्र से होती है।" प्लेटो की मान्यता है कि व्यक्ति की चेतना और राज्य की चेतना एक है। सभी सामाजिक वस्तुएँ आत्मा के तीन गुणों को व्यक्त करती हैं। समाज की समस्त वस्तुएँ व्यक्तियों के विचारों के प्रतिरूप होती हैं। एतएव श्रेष्ठ व्यक्तियों के आधार पर ही श्रेष्ठ राज्य का निर्माण किया जा सकता है। प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य का चित्रण इसलिए किया है ताकि व्यक्ति अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त हो सके।

2. **मानव आत्मा के तीन तत्त्व** (Three Elements of Human Soul) : प्लेटो ने अपने मानव आत्मा के विश्लेषण के आधार पर ही आदर्श राज्य का निर्माण किया है, इसलिए आत्मा के तीन गुणों - विवेक, साहस और क्षुधा के आधार पर आदर्श राज्य में तीन वर्गों - दार्शनिक, सैनिक और उत्पादक वर्ग की व्यवस्था की है। विवेक राज्य के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यद्यपि साहस के साथ विवेक पहले से ही उपस्थित रहता है लेकिन इसकी पूरी परिणति दार्शनिक शासकों में होती है। दार्शनिक शासक विवेक द्वारा ज्ञान प्राप्त करते हैं और प्रेम करना सीखते हैं। अतः ज्ञान से ही प्रेम का जन्म होता है। विवेक सैनिकों में ही होता है लेकिन यह प्रेम में परिणत नहीं हो पाता है। प्लेटो दार्शनिक वर्ग को ही विवेक तत्त्व का निवास-स्थान मानकर उन्हें ही शासन करने का अधिकार प्रदान करता है। दार्शनिक शासक विवेकी ओर ज्ञानी होने के कारण कंचन और कामिनी के जाल में नहीं फँसते। उन्हें शिव के स्वरूप का ज्ञान होता है। इसी प्रकार सैनिक वर्ग उत्साह या साहस तत्त्व द्वारा राज्य को सामरिक द ष्टि से सुरक्षित करते हैं। यह वर्ग बाहरी आक्रमण से राज्य की रक्षा करता है एवं आंतरिक शान्ति-सुरक्षा कायम करता है। इस वर्ग का कार्य शासक वर्ग की आज्ञाओं का पालन करना है। आत्मा का तीसरा तत्त्व क्षुधा उत्पादक वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। प्लेटो का मानना है कि मानव की आर्थिक आवश्यकताओं से ही प्रारम्भिक रूप में राज्य का उदय होता है। व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं के लिए परस्पर निर्भर है। जब सहयोगी और सहायक व्यक्ति आपस में एकत्रित होकर एक स्थान पर रहने लगते हैं तो राज्य का निर्माण होता है। एक आदर्श राज्य कार्य विशिष्टीकरण के सिद्धान्त के आधार पर स्वावलम्बी बन सकता है। इस प्रकार मानव आत्मा व राज्य में सावयवी एकता का निर्माण होता है। अतः राज्य मानव आत्मा का ही व हत् रूप है।

3. **राज्य हित में व्यक्ति का हित निहित है** (Man's Interest lies in State's Interest) : मानव राज्य की चेतना का ही एक अंश है। अतः राज्य के हित में ही व्यक्ति का हित निहित है। व्यक्ति राज्य में रहकर ही अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सकता है। इसलिए प्लेटो राज्य की सावयवी एकता पर बल देता है।

4. **सत्य सम्बन्धी सिद्धान्त** (Theory Regarding Truth) : प्लेटो के मतानुसार भौतिक पदार्थों (द श्यमान जगत) तथा भलाई (Good) का निवास विचार जगत् में है। उसने इस विचार जगत् के एक अंग के रूप में ही आदर्श राज्य की धारणा को प्रस्तुत किया है।

आदर्श राज्य की विशेषताएँ

(Features of Ideal State)

प्लेटो के आदर्श राज्य की सामान्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :-

1. **वर्ग विभाजन** (Class Division) : प्लेटो के आदर्श राज्य में कार्य विशिष्टीकरण के आधार पर तीन वर्गों का वर्णन किया है। प्लेटो के अपने न्याय सिद्धान्त में भी कार्य विशिष्टीकरण को आवश्यक माना है। प्लेटो का मानना है कि प्रत्येक व्यक्ति को वही कार्य करना चाहिए जिसमें उसे दक्षता प्राप्त है। यदि कोई व्यक्ति अपने कार्य की उपेक्षा करके, दूसरों के कार्यों में हस्तक्षेप करता है, तो उससे समाज में अकुशलता, दूसरों के कार्यों में हस्तक्षेप तथा अज्ञान जैसे दोषों का जन्म होता है। प्लेटो का मानना है कि प्रकृति ने मनुष्य को कुछ नैसर्गिक योग्यता प्रदान की है और व्यक्ति को उसका लाभ उठाना चाहिए। इस आधार पर समाज में तीन वर्ग दार्शनिक वर्ग, सैनिक वर्ग तथा उत्पादक वर्ग हैं। दार्शनिक वर्ग विवेक प्रधान होता है। यह समाज का सामान्य कल्याण और वर्ग-सन्तुलन बनाए रखता है। यदि इस वर्ग के सभी लोग दार्शनिक होंगे तो यह कार्य पूरा होगा अन्यथा नहीं। सैनिक वर्ग उत्साह तत्त्व का प्रतिनिधित्व करता है। यह देश की शान्ति व सुरक्षा के लिए जिम्मेदार होता है। उत्पादक वर्ग त ष्णा तत्त्व की पूर्ति करने वाला है। यह वर्ग राज्य की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। इस प्रकार तीनों वर्ग अलग-अलग कार्य करते हुए भी एक-दूसरे के अनुपूरक हैं। तीनों वर्गों के उचित सामंजस्य व सहयोग के आधार पर ही राज्य को आत्मनिर्भरता, एकता एवं स्थायित्व प्राप्त होता है। प्लेटो के अनुसार समाज की रचना इसी कार्य विभाजन के आधार पर हुई है और श्रम विभाजन का सिद्धान्त भी इससे जुड़ा हुआ है।

2. **न्याय की प्राप्ति** (Realization of Justice) : प्लेटो के आदर्श राज्य की आधारशिला न्याय है। न्याय से प्लेटो का तात्पर्य केवल इतना है कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति तथा प्रत्येक वर्ग अपने नैसर्गिक गुण धर्म द्वारा निश्चित कार्य को कुशलतापूर्वक करे। प्लेटो राज्य को मानवीय आत्मा का विशाल रूप मानता है। वह आत्मा के तीन तत्त्वों - विवेक, उत्साह और त ष्णा के आधार पर समाज में दार्शनिक, सैनिक व उत्पादक तीन वर्ग मानता है। समाज के ये तीनों वर्ग जब अपने-अपने कार्य करते हैं तो समाज में न्याय की स्थापना व प्राप्ति अवश्य होती है। प्लेटो ने न्याय को एक नैतिक भावना एवं सद्‌गुण के रूप में स्वीकार किया है। इसमें नागरिक कर्त्तव्यपालन पर ज्यादा ध्यान रखते हैं। प्लेटो लिखता है- "नागरिकों में कर्त्तव्य भावना ही राज्य का न्याय सिद्धान्त है।" आदर्श राज्य में न्याय व्यवस्था व्यक्ति व राज्य के हितों में एकता स्थापित करती है। यदि प्रत्येक व्यक्ति न्याय सिद्धान्त के अनुसार कार्य करेगा तो उसे पूर्ण सन्तुष्टि, सुख एवं प्रसन्नता प्राप्त हागी। समाज के तीनों वर्गों को अपने-अपने कर्त्तव्यों को पूरा करने के लिए शिक्षा की उचित व्यवस्था की गई है। इससे कार्यकुशलता में व द्धि होगी तथा समाज में उचित सामाजिक सामंजस्य स्थापित होगा। अतः न्याय ही आदर्श राज्य की आधारशिला व प्राण है।

3. **राज्य द्वारा नियन्त्रित शिक्षा** (State Controlled Education) : प्लेटो आदर्श राज्य में सामाजिक न्याय की प्राप्ति के लिए समाज के तीनों वर्गों के लिए एक अनूठी शिक्षा योजना पेश करता है। इसमें उत्पादक वर्ग के लिए कोई पाठ्यक्रम नहीं है। प्लेटो की शिक्षा योजना एक ऐसा रचनात्मक साधन है जो व्यक्ति की समाज के आदर्शों एवं कार्यों के अनुकूल ढाल सकती है। इस शिक्षा का दार्शनिक वर्ग के लिए सर्वाधिक महत्त्व है। दार्शनिक राजा का शासन ही प्लेटो का अन्तिम लक्ष्य है। उसकी दार्शनिक राजा की धारणा 'सद्‌गुण ही ज्ञान है' की धारणा का तार्किक परिणाम है। उसने सद्‌गुण को ज्ञान मानकर उसे सिखाने की व्यवस्था अपनी शिक्षा प्रणाली के माध्यम से की है। प्लेटो शिक्षा को एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया मानता है जिसके द्वारा समाज के घटक सामाजिक चेतना से परिपूर्ण होकर समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करना सीखते हैं। प्लेटो ने आदर्श राज्य के संचालन के लिए शिक्षा को एक सकारात्मक साधन माना है। उसके अनुसार- "सामाजिक शिक्षा ही सामाजिक न्याय का साधन है।" यह शिक्षा प्रणाली व्यक्तियों में सामाजिकता के भाव पैदा करती है। प्लेटो ने शिक्षा को राज्य के हाथों में केन्द्रित किया है। प्लेटो यूनानी परम्परा के अनुसार शिक्षा को नागरिक चरित्र निर्माण का प्रबल साधन मानता है। प्रो॰ सेबाइन ने लिखा है- "प्लेटो का राज्य पहला और सबसे ऊँचा शिक्षण संस्थान है।"

5. **सम्पत्ति और पत्नियों का साम्यवाद** (Communism of Property and Wives) : प्लेटो अपने आदर्श राज्य में न्याय की प्राप्ति के दो तरीके बताता है - प्रथम शिक्षा का सकारात्मक तरीका है तथा दूसरा साम्यवादी व्यवस्था है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत शासकों का न तो निजी परिवार होगा और न ही निजी सम्पत्ति। प्लेटो की मान्यता है कि परिवार का मोह शासक को संकीर्णता के जाल में बाँधता है तथा ईमानदारी के मार्ग से पथभ्रष्ट कर देता है जिसके परिणामस्वरूप न्याय का मार्ग अवरुद्ध होता है। सम्पत्ति का मोह भी ऐसा ही करता है। अतः प्लेटो शासक वर्ग को व सैनिक वर्ग को कंचन-कामिनी के मोह से मुक्त रखने के लिए साम्यवादी व्यवस्था का प्रावधान करता है। पारिवारिक साम्यवाद का उद्देश्य यह है कि शासक पारिवारिक चिन्ताओं से मुक्त रहकर अपना सम्पूर्ण समय समाज हित में लगा सकें। प्लेटो अपनी इस व्यवस्था को सुचारू रूप से लागू करने के लिए शिक्षा योजना का प्रावधान करता है। वह साम्यवाद की तुलना में शिक्षा की प्राथमिकता देता है। इसके द्वारा शासक व सैनिक वर्ग को न्याय के आदर्शों के अनुकूल ढाला जा सकता है। साम्यवादी व्यवस्था शासकों के मार्ग में आने वाले कुटुम्ब तथा सम्पत्ति से उत्पन्न होने वाले सांसारिक प्रलोभनों को दूर रखने का प्रयास है।

6. **श्रम का विभाजन** (Division of Labour) : कार्यों का विशिष्टीकरण का सिद्धान्त श्रम विभाजन के सिद्धान्त से भी जुड़ा हुआ है। प्लेटो का मानना है कि समाज का कोई भी सदस्य स्वयं अपने जीवन की आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकता। उसे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है। समाज का कोई सदस्य अन्न उत्पन्न करता है और कोई कपड़े का उत्पादन। प्लेटो इसी कार्य-विभाजन को समाज की रचना का आधार मानता है। अतः समाज मानवीय पारस्परिक सेवाओं का तथा उत्पादित वस्तुओं के आदान-प्रदान का एक ताना-बाना है। समाज की व्यवस्था कार्य-विभाजन पर ही टिकी हुई है।

7. **स्त्री-पुरुष की समानता** (Equality Between Men and Women) : प्लेटो के अनुसार स्त्री-पुरुष समान हैं। उसने शासक-अभिभावक वर्ग बनने का अवसर स्त्रियों को भी प्रदान किया है। इस विचार के पीछे प्लेटो की मान्यता स्त्रियों की दशा सुधारने की है। पुरुषों के समान स्त्रियों को भी राज्य के कार्यों में बराबरी का हाथ बँटाने का अवसर देकर प्लेटो स्त्रियों को घर की, रसोई की, सन्तानोत्पत्ति की संकीर्ण परिधियों से मुक्त कर उन्हें राज्य के व्यापक दायरे में कार्य करने का अवसर देता है। प्लेटो का मानना है कि स्त्री-पुरुषों में प्राकृतिक प्रक्रियाओं में और क्षमताओं में कोई अन्तर नहीं होता है। उसका विश्वास था कि स्त्री में इतनी योग्यता है कि वह राजनीतिक और सैनिक कार्यों में भाग ले सकती है। प्लेटो को यह सिद्धान्त भावी राज्यों विशेषकर आधुनिक राज्यों के लिए एक मार्गदर्शक है।

8. **सावयवी एकता** (Organic Unity) : प्लेटो के अनुसार राज्य आत्मा का ही विराट रूप है। अतः मानव शरीर की तरह राज्य का भी अपना शरीर है। प्लेटो के अनुसार आदर्श राज्य में राज्य (शरीर) को अपने अंगों (व्यक्तियों) पर प्रधानता प्राप्त होती है और राज्य (शरीर) अपने अंगों (व्यक्तियों) पर पूर्ण नियन्त्रण रखता है। प्लेटो ने आदर्श राज्य में लिए सावयवी एकता पर बल दिया है, उसका उद्देश्य राज्य द्वारा व्यक्ति का दमन नहीं है अपितु वह इस सिद्धान्त द्वारा निम्नलिखित लक्ष्य प्राप्त करना चाहता है।

   (क) वह वैयक्तिक नैतिकता तथा सार्वजनिक नैतिकता में किसी प्रकार का अन्तर एवं विरोध स्वीकार नहीं करता है। आदर्श राज्य में व्यक्ति एक साथ ही सद् व्यक्ति एवं सद् नागरिक दोनों होता है।

   (ख) प्लेटो इस सिद्धान्त द्वारा राज्य को सुद ढ़ एवं तर्कपूर्ण एकता प्रदान करना चाहता है। क्योंकि उसका मत है कि सर्वोत्तम अच्छाई पूर्ण की एकता है।

   (ग) वह सिद्ध करना चाहता है कि आदर्श राज्य में व्यक्ति व राज्य के हितों में परस्पर कोई विरोध नहीं पाया जाता है।

9. **विधि की उपेक्षा** (Omission of Law) : प्लेटो की मान्यता है कि दार्शनिक शासक को शासन चलाने के लिए लिखित विधि की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि दार्शनिक शासक स्वयं ज्ञान की प्रतिमूर्ति है और उसे सद् का ज्ञान है। प्लेटो का दार्शनिक शासक कानून के शासन के अंकुश से मुक्त होते हुए भी अत्याचारी शासक नहीं है।

10. **कला और साहित्य पर कठोर नियन्त्रण** (Strict Censorship on Art and Literature) : प्लेटो का विचार है कि तत्कालीन यूनान में कला व साहित्य की स्वतन्त्रता के नाम पर जो वातावरण नागरिकों को दिया जाता है, अनैतिकता का पोषण करने वाला होता है। प्लेटो ने तत्कालीन एथेन्स में कला और साहित्य के विकृत रूप को अच्छी तरह से पहचान लिया था। तत्कालीन कला और साहित्य ही समाज का विघटन करने वाला तत्त्व था। अतः प्लेटो अपने आदर्श राज्य में नागरिकों के नैतिक उत्थान की द ष्टि से संगीत, कला, साहित्य आदि के ऐसे अंशों को प्रतिबन्धित एवं नियन्त्रित करता है जो नैतिकता व सदाचार के प्रतिकूल हों। इस प्रकार प्लेटो विकृत कला व साहित्य पर प्रतिबन्ध लगाकर नैतिक व्यवस्था स्थापित करके जनता में सद्गुणों का विकास करना चाहता है।

11. **राज्य का कोई ऐतिहासिक विकास नहीं** (State is not a Historical Growth) : प्लेटो राज्य के किसी ऐतिहासिक विकास का परिणाम नहीं है। प्लेटो राज्य के आध्यात्मिक आचार को स्वीकार करता है। राज्य के तीन वर्ग आत्मा के तीन भागों के समान हैं और राज्य आत्मा के विवेक, शौर्य और त ष्णा का प्रतीक है। राज्य मानव व्यक्तित्व का अभिन्न अंग है। प्रत्येक का विकास पूरे समाज के विकास पर निर्भर करता है।

उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर कहा जा सकता है कि प्लेटो का आदर्श राज्य है, सबसे अच्छे राज्य का एक आभास - स्वर्ग के नगर का चित्र - जिसका कभी साक्षात्कार नहीं किया गया। स्वयं प्लेटो भी स्वीकार करता है कि यह आदर्श कभी प्राप्त नहीं हो सकता। यह आदर्श स्वर्ग का है, धरती का नहीं।

आलोचनाएँ
(Criticism)

प्लेटो के आदर्श राज्य के चित्रण की निम्न आधारों पर आलोचना हुई है :-

1. **न्याय सिद्धान्त दोषपूर्ण है** (Idea of Justice is Defective) : प्लेटो का न्याय सिद्धान्त दोषपूर्ण और संकीर्ण है। उसमें कर्त्तव्यों की प्रधानता है और अधिकारों की उपेक्षा की है। इस सिद्धान्त में अन्तर्विरोध है। व्यक्ति की आत्मा के तीन तत्त्वों

के आधार पर समाज को तीन वर्गों में बाँटकर उन्हें अपने-अपने कार्यों को करने की बात कही है। इसमें कोई वर्ग दूसरे के क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करेगा। दूसरी तरफ प्लेटो शासक वर्ग को शान्ति और व्यवस्था के लिए उत्पादक वर्ग के कार्यों में हस्तक्षेप कर सकता है। उसका यह सिद्धान्त नैतिक सिद्धान्त मात्र है जिसे प्लेटो ने राजनीति में लागू करके राजनीति का प्रत्ययीकरण (दर्शनीकरण) किया है। प्लेटो के न्याय सिद्धान्त से अपराधियों को दण्ड देने वाली विधियों और न्यायालयों की स्थापना का भी पता नहीं चलता है। उसका न्याय का सिद्धान्त प्रचलित सभी न्याय की धारणाओं के प्रतिकूल है।

2. **दोषपूर्ण साम्वादी व्यवस्था** (Idea of Communism is Defective) : प्लेटो द्वारा वर्णित साम्यवादी व्यवस्था मानव स्वभाव व आवश्यकताओं के सर्वथा विपरीत है। व्यक्ति परिवार व सम्पत्ति के कारण ही अपने क्रिया-कलापों में व्यस्त रहते हैं। यदि परिवार तथा सम्पत्ति का आकर्षण व्यक्ति के जीवन में न हो तो समाज का विकास अवरुद्ध हो जाएगा। व्यक्ति को सम्पत्ति व परिवार विहीन करना मानवीय भावनाओं व परिवार के पवित्र सम्बन्धों का अपमान करना है। प्लेटो ने नारी मनोविज्ञान की गलत व्याख्या की है। आधुनिक युग में जो साम्यवादी व्यवस्थाएँ है, प्लेटो की धारणा उनसे बिल्कुल अलग है।

3. **आदर्श राज्य अव्यावहारिक है** (Ideal State is Impractical) : प्लेटो का आदर्श राज्य एक काल्पनिक राज्य है। यह कल्पना स्वर्ग की है, धरती की नहीं। प्लेटो स्वयं स्वीकार करता है कि- "यह राज्य केवल शब्दों में स्थापित किया गया है। क्योंकि मैं जानता हूँ कि इसका अस्तित्व कहीं भी नहीं है। रिपब्लिक में वर्णित यह धारणा मूलतः अव्यावहारिक और काल्पनिक है। इर्निंग ने इस कल्पना को रोमांस कहा है तथा मैक्सी ने प्लेटो को प्रथम कल्पनावादी कहा है। अतः प्लेटो का आदर्श राज्य निरी कल्पना तथा म गत ष्णा है।

4. **अत्यधिक प थक्कता एवं अत्यधिक एकता पर बल** (Stress on Exessive Separation and Excessive Unity) : प्लेटो ने एक साथ दो विपरीत संगठनात्मक सिद्धान्तों को बाँधने का गलत प्रयास किया है। वह समाज को तीन वर्गों में बाँटकर उन वर्गों को एक-दूसरे के कार्यों में अहस्तक्षेप की बात करता है। दूसरी तरफ शासक वर्ग को उत्पादन व सैनिक वर्ग को नियन्त्रित करने का अधिकार प्रदान करता है। वह एक तरफ तो अत्यधिक अनेकता और दूसरी तरफ पूर्ण एकता पैदा करता है। अतः इन दोनों सिद्धान्तों को मिलाना अव्यावहारिक व असंगत है।

5. **आधुनिक राज्यों में लागू नहीं हो सकता** (Cannot be Realized in Modern States) : आधुनिक राज्यों की जनसंख्या अधिक होने के कारण समस्त जनसंख्या को तीन वर्गों में बाँटना मुश्किल व असम्भव काम है। लोगों को बुद्धि, साहस तथा क्षुधा तत्त्वों के आधार पर बाँटना असम्भव व कल्पना की उड़ान मात्र है। अतः इसे आधुनिक विशाल जनसंख्या वाले राज्यों में लागू नहीं किया जा सकता।

6. **कानून की उपेक्षा** (Ommission of Law) : प्लेटो ने आदर्श राज्य में कानून को कोई स्थान न देकर बड़ी भूल की है। उसने स्वयं लॉज में इस गलती को स्वीकार किया है। कानून के शासन के अभाव में राज्य में अशान्ति व अराजकता का माहौल पैदा हो सकता है। आधुनिक प्रजातन्त्रीय युगीन राज्यों में तो कानून की उपेक्षा कोई शासक नहीं कर सकता। अरस्तू ने कहा है- "कानून इच्छाओं से अप्रभावित विवेक है।" प्लेटो का दार्शनिक शासक विवेकी होने के कारण यदि कानून की उपेक्षा करता है तो वह राज्य के लिए शुभ संकेत नहीं है।

7. **सर्वाधिकारी राज्य** (Totalitarian State) : प्लेटो द्वारा वर्णित आदर्श राज्य मानव स्वभाव के विपरीत अधिनायकवादी राज्य का ही प्रतिबिम्ब है। यह व्यवस्था राज्य को साध्य तथा व्यक्ति को साध्य मानकर चलती है जबकि आधुनिक युग में राज्य को जनकल्याण का उपकरण मात्र माना जाता है। प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य में कर्त्तव्यों की तो व्यवस्था की है लेकिन अधिकारों व स्वतन्त्रताओं को छीन लिया है। प्लेटो का राज्य लोगों के पारिवारिक एवं सांस्कृतिक जीवन पर इतने प्रतिबन्ध लगा देता है, जिससे इसे अधिनायकवादी कहना सर्वथा ठीक है। प्लेटो ने शासक वर्ग को असीमित शक्तियाँ देकर उसे निरंकुश बना दिया है। शासक पर विधि, परम्परा तथा जनमत का कोई नियन्त्रण नहीं है। आधुनिक युग की विचारधाराएँ फासीवाद, नाजीवाद, उग्र प्रत्यवाद आदि प्लेटो के चिन्तन से ही प्रभावित हैं।

8. **व्यक्ति व राज्य में पूर्ण समानता अनुचित** (Complete Analogy Between Man and State is not Justified) : प्लेटो ने राज्य को व्यक्ति का व हत् रूप माना है। उसने व्यक्ति की आत्मा के तीन तत्त्वों - बुद्धि, उत्साह व क्षुधा की समानता राज्य के तीन वर्गों - उत्पादक, सैनिक तथा शासक वर्ग से की है। वास्तव में राज्य एक मानसिक संरचना है जबकि

व्यक्ति का शरीर एक जैविक व भौतिक संरचना है। उसने राज्य को एक व हत् व्यक्ति (सावयवी) बताकर एक ऐसे राज्य की स्थापना की है जो स्वयं में एक साध्य है और व्यक्ति की स्वतन्त्रता का शत्रु है। व्यक्ति तथा राज्य की समानता सामान्य व्यक्ति की समझ से परे की बात है।

9. **उत्पादक वर्ग की उपेक्षा (Producer Class is Ignored) :** प्लेटो ने उत्पादक वर्ग के लिए कोई शिक्षा का पाठ्यक्रम तय नहीं किया है। यद्यपि यह वर्ग राज्य की आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करता है लेकिन उनके कार्यों में विशिष्टता व दक्षता लाने हेतु उन्हें किसी भी प्रकार के प्रशिक्षण या औपचारिक शिक्षा से वंचित रखकर भारी भूल की है। उत्पादक-वर्ग भी राजनीतिक जीवन में भाग ले सकता है। उसकी यह व्यवस्था अलोकतान्त्रिक है और अभिजात-वर्ग की ही पोषक है। प्लेटो की यह व्यवस्था राज्य के अस्तित्व को नष्ट करने वाली है।

10. **दास प्रथा पर मौन (Silent on Slavery) :** उस समय यूनान में दास प्रथा थी। स्वयं प्लेटो को भी दास बनाकर बेचा गया था। दासों की स्थिति दयनीय थी। परन्तु प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य में दासों की स्थिति सुधारने बारे कोई उपाय नहीं सुझाया है। उसका दास-प्रथ पर यह मौन समर्थन समाज के लिए घातक सिद्ध हो सकता है।

11. **विशिष्टीकरण के सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of the Principles of Specialisation) :** प्लेटो के कार्य विशिष्टीकरण के आधार पर समाज को तीन वर्गों में बाँटा है। प्रत्येक वर्ग को अपने निर्दिष्ट कर्त्तव्य ही पूरे करने हैं। ऐसी अवस्था में- (i) व्यक्ति के व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विकास नहीं हो सकता। (ii) इससे हित की पुष्टि में तीन राज्य स्थापित होते हैं जो राज्य की एकता के लिए खतरनाक हैं। (iii) व्यक्ति अपने सारे जीवन में एक ही गुण में अधीन रहता है। सत्य तो यह है कि व्यक्ति एक नहीं, तीनों गुणों का भी स्वामी हो सकता है। यह शासक व सैनिक की भूमिका एक साथ भी निभा सकता है। उत्पादक वर्ग भी सैनिक के कर्त्तव्यों को विशेष प्रशिक्षण द्वारा पूरा कर सकता है। अतः प्लेटो का विशिष्टीकरण का सिद्धान्त अमनोवैज्ञानिक एवं अस्वाभाविक सिद्धान्त है।

12. **कला व साहित्य पर नियन्त्रण गलत है (Censorship of Art and Literature is Wrong) :** प्लेटो कला व साहित्य पर नियन्त्रण का पक्षधर है। आधुनिक युग में अनेक मनोवैज्ञानिक खोजों ने यह सिद्ध कर दिया है कि कला और साहित्य पर नियन्त्रण उनके विकास में बाधक होता है। कला और साहित्य तो स्वतन्त्र वातावरण में ही फलते-फूलते हैं। यह नियन्त्रण अमनोवैज्ञानिक व अव्यावहारिक है।

13. **दार्शनिक शासक सम्बन्धी आलोचना (Criticism Related to Philosopher King) :** प्लेटो का दार्शनिक शासक को विवेक का मूर्त व साकार रूप मानता है, किन्तु व्यवहार में ये दोनों भिन्न तथ्य हैं। एक व्यक्ति को सारे अधिकार व शक्तियाँ प्रदान करना उसे निरंकुश बनाना है। यदि एक व्यक्ति या समूह को इतने सारे अधिकार एक साथ मिल जाएँ तो वह सत्ता के नशे में जनता पर अत्याचार करने लगता है। लार्ड एक्टन कहता है- "शक्ति भ्रष्ट करती है और सम्पूर्ण शक्ति सम्पूर्ण रूप से भ्रष्ट करती है।" सेबाइन ने इसे 'प्रबुद्ध निरंकुशतन्त्र' (Enlightened Tyranny) कहा है। राजा सांसारिक जीव होता है, अतः वह गलती भी कर सकता है। प्लेटो का दार्शनिक शासक व्यवहार में अच्छा शासक नहीं हो सकता।

14. **शासन के संगठनात्मक पक्ष की उपेक्षा (Ignore the Organisational Aspect of Government) :** प्लेटो के आदर्श राज्य में शासन के आवश्यक संगठनात्मक तत्त्वों का अभाव है। इसमें कानून, दण्डात्मक शासन-व्यवस्था, न्याय का प्रबन्धक, अधिकारियों की नियुक्ति प्रणाली आदि का कोई उल्लेख नहीं है। अतः इस स्थिति में शासन का संचालन कठिन कार्य है।

15. **पलायनवादी द ष्टिकोण (Escapist Approach) :** प्लेटो की आदर्श राज्य की कल्पना अव्यावहारिक है। प्लेटो ने अपने युग की समस्याओं का सामना करने की बजाय पलायनवादी द ष्टिकोण ही अपनाया है। उसके ये विचार कल्पना की दुनिया के हैं। उसने केवल अपनी सौन्दर्य भावना की त प्ति के लिए ही इसकी रचना की है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्लेटो का आदर्श राज्य अनेक आलोचनाओं का शिकार हुआ है। उसे कल्पनालोक की वस्तु मानकर प्लेटो को पलायनवादी भी कहा गया है। परन्तु इन आलोचनाओं के बावजूद भी प्लेटो के आदर्श राज्य का इतिहास पर उतना ही प्रभाव पड़ा है जितना स्पार्टा के वास्तविक राज्य का। मध्ययुग के पादरियों ने प्लेटो द्वारा बताए गए मार्ग पर चलते हुए स्वयं को आदर्श के ढाँचे में ढालने का प्रयास किया। प्लेटो का आदर्श राज्य का सिद्धान्त आदर्शवादियों के लिए एक प्रेरणा का स्रोत रहा है। प्लेटो का आदर्श राज्य वह मंजिल है जिस तक पहुँचना प्रत्येक राज्य के लिए वांछनीय है। यह वह

आदर्श है जो मौजूदा राज्यों को अपना व्यक्तित्व ऊँचा उठाने की प्रेरणा देता है। अतः प्लेटो का आदर्श राज्य राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में एक अमूल्य देन है।

न्याय का सिद्धान्त
(Theory of Justice)

प्लेटो का न्याय सिद्धान्त उसके दर्शन की आधारशिला है। 'रिपब्लिक' में वर्णित आदर्श राज्य का मुख्य उद्देश्य न्याय की प्राप्ति है। 'रिपब्लिक' में प्लेटो न्याय के स्वरूप तथा निवास स्थान (Nature and Habitation) की विस्त त चर्चा करता है। 'रिपब्लिक' का प्रारम्भ और अन्त न्याय की चर्चा से होता है। प्लेटो ने न्याय को कितना महत्त्व दिया है, इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि प्लेटो 'रिपब्लिक' को 'न्याय विषयक ग्रन्थ' (A Treaties Concerning Justice) कहता है। आदर्श राज्य में न्याय व्यवस्था की स्थापना के लिए ही दर्शन का शासन, राज्य नियन्त्रित शिक्षा व्यवस्था तथा साम्यवादी व्यवस्था का प्रावधान किया है। प्लेटो के अनुसार समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्रकृति और प्रशिक्षण के अनुकूल अपने कार्य कुशलतापूर्वक करने चाहिए और दूसरों के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। प्लेटो तत्कालीन नगर राज्यों की बुराइयों से बहुत ही चिन्तित था। सोफिस्टों के प्रचार के परिणामस्वरूप यूनानी नगर राज्यों के लोग बहुत ही स्वार्थी और व्यक्तिवादी बन गए थे। उनमें नैतिक मूल्यों का पतन हो चुका था, इन बुराइयों को दूर करने के लिए और राज्य में एकता तथा सामाजिक भ्रात भाव (Social Harmony) लाने के लिए प्लेटो न्याय सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। प्लेटो न्याय के लिए 'डिकायोस्यून' (Dikaiosune) शब्द का प्रयोग किया है, जिसका अर्थ है 'कंसर्निंग जस्टिस' अर्थात् न्याय से सम्बन्धित। यही प्लेटो के न्याय सिद्धान्त का आधार है। प्लेटो के न्याय सिद्धान्त को समझने` लिए इसका आधुनिक अर्थ जानना आवश्यक है।

न्याय का आधुनिक अर्थ
(Modern Meaning of Justice)

यह लैटिन भाषा के 'Jus' शब्द से बना है जिसका अर्थ है - बाँधना। तात्पर्य यह है कि न्याय उस व्यवस्था का नाम है जिसके द्वारा एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से जुड़ा रहता है। समाज सामाजिक बन्धनों का समुच्चय (A set of social relation) है। हर व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से किसी रूप में सम्बन्ध जुड़ा रहता है। हर सम्बन्ध के पीछे दायित्व और अधिकार होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अपने अधिकारों का प्रयोग और कर्त्तव्यों का पालन एक निश्चित सीमा के अन्तर्गत करना पड़ता है। यही न्याय का तकाजा है। मेरियम ने आधुनिक अर्थ में न्याय को परिभाषित करते हुए कहा है- "न्याय उन मान्यताओं और प्रक्रियाओं का जोड़ है जिसके माध्यम से प्रत्येक मनुष्य को वे सभी अधिकार और सुविधाएँ जुटाई जाती हैं जिन्हें समाज उचित मानता है।" आधुनिक अर्थ में न्याय का सम्बन्ध कानूनी प्रक्रिया द्वारा उपराधियों को दण्ड देने की प्रक्रिया से हो सकता है। उपर्युक्त परिभाषा के आधार पर न्याय के तीन पक्ष द ष्टिगोचर होते हैं- (i) न्याय का सम्बन्ध समाज की मान्यता या विचारों से है। (ii) न्याय प्रक्रिया में कानून का बहुत महत्त्व है। (iii) न्याय का उद्देश्य समाज द्वारा मान्य अधिकारों और सुविधाओं को जुटाना है। आधुनिक अर्थ में न्याय कानून की उचित प्रक्रिया का नाम है जिससे समाज में व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा होती है।
प्लेटो ने अपना न्याय का सिद्धान्त स्पष्ट करने के लिए सबसे पहले यह बताने का प्रयास किया है कि न्याय क्या नहीं है। प्लेटो ने यह बताने के लिए कि न्याय क्या है ? उसका निवास-स्थान कहाँ है ? पहले उस युग में प्रचलित तीन धारणाओं का खण्डन किया है।

1. **न्याय की परम्परावादी धारणा (Traditional Theory of Justice)** : इस धारणा का प्रतिपादक सीफेलस है। उसके अनुसार- "सत्य बोलना और दूसरों का ऋण चुकाना ही न्याय है।" उसके पुत्र पोलिमार्कस के अनुसार- "न्याय प्रत्येक व्यक्ति को वह देने में है, जो उसके लिए उचित है।" इस धारणा का विवेचन करने से यह अर्थ निकलता है कि "न्याय एक ऐसी कला है, जिसके द्वारा मित्रों की भलाई तथा शत्रुओं की बुराई की जाती है। प्लेटो ने इस धारणा का खण्डन चार आधारों पर किया है।

   (i) न्याय कला न होकर आत्मा का गुण है। न्याय हमेशा अच्छाई की ओर प्रव त्त होता है, बुराई की ओर नहीं। कला तो बाह्य वस्तु है जबकि न्याय आत्मा का गुण व मन की प्रव त्ति है।

   (ii) शत्रु तथा मित्र के आधार पर न्याय करना व्यवहार में कठिन है। एक अच्छा मित्र भी शत्रु हो सकता है। व्यक्ति के अन्दर छिपी बात कोई नहीं जान सकता, अतः यह पहचानना मुश्किल है कि कौन मित्र है और कौन शत्रु।

(iii) मित्र की भलाई करना तो उचित है लेकिन शत्रु की बुराई करने से उसका अद्यःपतन हो जाता है। न्याय सेवा भावना पर आधारित होता है। अतः किसी व्यक्ति को पहले से अधिक बदत्तर बनाना न्याय नहीं हो सकता।

(iv) मित्र और शत्रु के प्रति भलाई और बुराई का विचार व्यक्तिवादी सिद्धान्तों पर आधारित है जबकि न्याय की अवधारणा का मूल रूप से सामाजिक हित से सरोकार होती है।

2. **न्याय की उग्रवादी धारणा** (Radical Theory of Justice) : इस धारणा के प्रवक्ता थ्रेसीमेक्स हैं। उसके अनुसार- "न्याय शक्तिशाली का हित है।" इसका अर्थ है कि 'जिसकी लाठी, उसकी भैंस'। शासक के हितों की पूर्ति ही न्याय है। व्यक्ति के लिए न्यायप्रिय होने का अर्थ है कि वह सरकार व शासन के हितों का साधन बन जाए। न्याय की इस धारणा का अभिप्राय यह भी है कि सरकार सदा स्वयं से स्वार्थ के लिए शासन करती है तथा 'अन्याय न्याय से अच्छा है'।

प्लेटो इस धारणा का खण्डन निम्न तर्कों के आधार पर करता है-

(i) व्यक्ति सामाजिक व्यवस्था का एक अविभाज्य अंग है और इस सामाजिक व्यवस्था में उसका तथा उसके कर्त्तव्यों का स्थान निश्चित है। व्यक्ति का सच्चा सुख अपने कर्त्तव्यों के पालन में है न कि स्वार्थों की पूर्ति में।

(ii) शासक एक सच्चे कलाकार की तरह होता है। एक सच्चा न्यायपूर्ण शासक वह है जो अपनी कलाकृति अर्थात् अपने नागरिकों के हितों में व द्धि करता है। वह सीमित स्वार्थों का सेवक न होकर समूचे समाज के हितों का सेवक या पोषक होता है।

(iii) न्यायी व्यक्ति ही अन्यायी की तुलना में बुद्धिमान होता है। वह अपने निर्दिष्ट कर्त्तव्यों को पूरा करता हुआ आत्मानन्द प्राप्त करता है। इस प्रकार न्यायी अन्यायी से अच्छा है, न कि अन्यायी न्यायी से।

3. **न्याय की व्यवहारवादी धारणा** (Pragmatic Theory of Justice) : इस धारणा का प्रतिपादन ग्लॉकन ने किया है। ग्लॉकन का मानना है कि मनुष्य स्वभाव से स्वार्थी है। मनुष्य ने प्राकृतिक अवस्था में उत्पन्न अन्याय को दूर करने के लिए समझौता किया कि वे न तो अन्याय करेंगे और न अन्याय को सहन करेंगे। ग्लॉकन का तर्क है कि न्याय एक कृत्रिम व्यवस्था है जिसकी उत्पत्ति का आधार भय है। न्याय भय की संतान है। यह दुर्बलों की आवश्यकता है ताकि वे शक्तिशाली के विरुद्ध अपनी रक्षा कर सकें। अतः ग्लॉकन के अनुसार- "न्याय दुर्बल का हित है।"
प्लेटो के विचारानुसार न्याय का निवास मनुष्य की आत्मा में है न कि किसी बाह्य समझौते में। न्याय व्यक्ति की आत्मा का गुण है; न्याय उसकी सहज प्रकृति है। न्याय का पालन भय से नहीं, स्वाभाविक रूप से होता है।
उपर्युक्त तीनों धारणाओं का खण्डन करते हुए प्लेटो कहता है कि "न्याय मनुष्य की आत्मा का गुण तथा मानव मस्तिष्क का स्वभाव है; ऐसा गुण तथा ऐसा स्वभाव जिसे एक बार प्राप्त करने पर मनुष्य सदैव एक ही सदाचारी व व्यवहार तथा मार्ग का अनुसरण करता है।"

प्लेटो की अवधारणा
(Platonic Conception of Justice)

प्लेटो का न्याय सम्बन्धी सिद्धान्त इस धारणा पर आधारित है कि प्रत्येक मनुष्य का अपना अलग-अलग स्वभाव होता है। मनुष्य की आत्मा में तीन गुण होते हैं- विवेक, साहस और क्षुधा। आत्मा के प्रत्येक तत्त्व का अपना स्वाभाविक कार्य है। विवेक का कार्य नियन्त्रण करना, साहस का कार्य रक्षा करना एवं क्षुधा का कार्य भौतिक वस्तुओं का संचय करना है। प्लेटो के अनुसार यदि मानव आत्मा के तीनों गुणों के आधार पर व्यक्ति अपने स्वभाव के अनुकूल कार्य करे तो वह न्याय है। प्लेटो के अनुसार- "एक व्यक्ति को केवल एक ही कार्य करना चाहिए, जो उसकी प्रकृति के सर्वथा अनुकूल है।" इस प्रकार प्लेटो प्रचलित तीनों धारणाओं का खण्डन करते हुए न्याय को बाह्य वस्तु न मानकर आत्मा का गुण (Quality of the soul) मानता है। प्लेटो का कहना है- "न्याय मानव आत्मा की उचित अवस्था और मानवीय स्वभाव की प्राकृतिक माँग है।" प्लेटो के अनुसार न्याय के दो रूप हैं :-

1. **सामाजिक न्याय** (Social Justice) : प्लेटो का कहना है कि सामाजिक रूप में न्याय तभी सम्भव है जब समाज के सभी वर्ग अपने स्वभावानुकूल कार्यों को पूरा करते हैं और परस्पर सामंजस्य तथा एकता बनाए रखते हैं। प्लेटो राज्य में

दार्शनिक वर्ग में विवेक, सैनिक वर्ग में साहस तथा उत्पादक वर्ग में क्षुधा या त ष्णा तत्त्वों की प्रधानता स्वीकारता है। न्याय का सम्बन्ध तो समूचे राज्य से होता है। प्रत्येक वर्ग अपने अपने कर्त्तव्यों का उचित दिशा में निर्वहन करके न्याय की स्थापना कर सकता है। प्लेटो का कहना है कि राज्य के तीनों - दार्शनिक शासक को, सैनिक वर्ग तथा उत्पादक वर्ग द्वारा अपने-अपने कार्यों का समुचित निर्वाह और पालन करना ही सामाजिक न्याय है। प्लेटो की न्याय सम्बन्धी धारणा विशिष्टीकरण के सिद्धान्त पर आधारित है। प्रत्येक व्यक्ति को केवल एक ही ऐसा कार्य करना चाहिए जो उसके स्वभाव के अनुकूल हो। प्लेटो के न्याय सिद्धान्त के बरे में बार्कर का कहना है- "न्याय का अर्थ प्रत्येक व्यक्ति द्वारा उस कर्त्तव्य का पालन, जो उसके प्राकृतिक गुणों एवं सामाजिक स्थिति के अनुकूल है। नागरिक की स्वधर्म चेतना तथा सार्वजनिक जीवन में उसकी अभिव्यंजना ही राज्य का न्याय है।" कवायर के अनुसार- "प्रत्येक व्यक्ति को उसके अनुकूल भूमिका और कार्य देना ही न्याय है।" प्लेटो के अनुसार सच्चे न्याय के लिए समाज के सभी वर्गों में एकता व सामंजस्य बनाए रखना आवश्यक होता है। सेबाइन के अनुसार- "न्याय समाज की एकता का शत्रु है; यह उन व्यक्तियों के परस्पर तालमेल का नाम है, जिनमें से प्रत्येक ने अपनी प्रकृति और शिक्षा-दीक्षा के अनुसार अपने कर्त्तव्य को चुन लिया है और उसका पालन करता है। यह व्यक्तिगत धर्म भी है और सामाजिक धर्म भी, क्योंकि इसके द्वारा इसके राज्य तथा घटकों का परम कल्याण की प्राप्ति होती है।" अतएव वही राज्य न्यायी होता है जहाँ दार्शनिक राजा शासन करता है, सैनिक रक्षा करता है और उत्पादक उत्पादन करता है। ये तीनों वर्ग अपने-अपने कार्य क्षेत्र में विशिष्टता प्राप्त करते हैं, एक-दूसरे के कार्यक्षेत्र में हस्तक्षेप किए बिना परस्पर सामंजस्य बनाए रखते हैं।

2. **व्यक्तिगत न्याय (Individual Justice)** : प्लेटो व्यक्तिगत न्याय के बारे में भी वही आधार अपनाता है, जो सामाजिक न्याय के बारे में अपनाता है। प्लेटो का कहना है कि जब व्यक्ति की आत्मा के साहस और क्षुधा तत्त्व विवेक के नियन्त्रण व अनुशासन में कार्य करते हैं तो व्यक्तिगत न्याय की प्राप्ति होती है। प्लेटो के अनुसार राज्य व्यक्ति का ही विस्त त रूप है। प्लेटो का कहना है कि- "राज्य की उत्पत्ति व क्षों और चट्टानों से नहीं, बल्कि उसमें निवास करने वाले व्यक्तियों के चरित्र से होती है।" जिस प्रकार सामाजिक न्याय में तीनों वर्ग अपने-अपने कार्यक्षेत्र में रहते हैं, उसी प्रकार व्यक्तिगत न्याय में भी आत्मा के तीनों तत्त्व अपने ही क्षेत्रों में सीमित रहते हैं। आत्मा के तीनों तत्त्वों में सहयोग, एकता, सामंजस्य एवं संतुलन पाया जाता है। वैयक्तिक न्याय ही वह गुण है जो व्यक्ति को सामाजिक बनाता है। अतः वैयक्तिक न्याय के बिना सामाजिक न्याय की कल्पना नहीं की जा सकती।

प्लेटो के न्याय सिद्धान्त की विशेषताएँ
(Features of Platonic Concept of Justice)

प्लेटो के न्याय सिद्धान्त की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :-

1. **विशिष्टीकरण का सिद्धान्त (A Theory of Specialization)** : प्लेटो का मानना है कि मनुष्य की आत्मा के प्रत्येक तत्त्व का अपना विशिष्ट कार्य होता है। विवेक का कार्य नेत त्व करना, साहस का कार्य रक्षा करना और क्षुधा का कार्य उत्पादन करना है। विवेक, साहस और क्षुधा तत्त्व दार्शनिक वर्ग, सैनिक वर्ग और उत्पादक वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं अर्थात् समाज का वह वर्ग जिसमें विवेक तत्त्व की प्रधानता होती है, शासन करने के योग्य है। साहस प्रधान वर्ग युद्ध तथा क्षुधा प्रधान वर्ग उत्पादन करने के योगय होता है। चूँकि प्रत्येक वर्ग का अपना-अपना विशिष्ट कार्य होता है, एतएव अपनी-अपनी प्राकृतिक योग्यतानुसार ही कार्य करना न्याय है।

2. **अहस्तक्षेप का सिद्धान्त (A Theory of Non-Interference)** : प्लेटो का मानना है कि आत्मा के तीनों तत्त्वों या तीनों वर्गों का अपना-अपना कार्यक्षेत्र होता है। उनके लिए यह उचित है कि वे एक दूसरे के कार्यक्षेत्र में हस्तक्षेप न करें। दार्शनिक शासक को सैनिक वर्ग व उत्पादक वर्ग के कार्यों में अनावश्यक हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। उसी प्रकार उत्पादक वर्ग को सैनिक व दार्शनिक वर्ग के कार्यों में तथा सैनिक वर्ग को दार्शनिक तथा उत्पादक वर्ग के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए, यही बात आत्मा के तत्त्वों पर लागू होती है। एतएव अपने अपने कार्यों को निर्बाध रूप से करना और दूसरों के कार्यों में हस्तक्षेप न करना ही न्याय है। यदि व्यक्तियों या तीनों वर्गों या तत्त्वों द्वारा एक-दूसरे के कार्यों में अनावश्यक हस्तक्षेप किया जाएगा तो संघर्ष और विनाश की ही उत्पत्ति होगी।

3. **सामंजस्य तथा एकता का सिद्धान्त** (Theory of Harmony and Unity) : प्लेटो अपने न्याय के सिद्धान्त द्वारा राज्य के तीनों वर्गों व आत्मा के तीनों तत्त्वों में सामंजस्य ओर एकता बनाए रखना चाहता है। प्लेटो के अनुसार कार्य विशिष्टीकरण और अहस्तक्षेप की नीति के द्वारा आत्मा का प्रत्येक तत्त्व व राज्य का प्रत्येक वर्ग अपने को संयमित रखता है एवं अपने से श्रेष्ठ तत्त्व की अधीनता स्वीकार करके स्वेच्छा से सामंजस्य एवं एकता स्थापित करता है। प्लेटो का न्याय सिद्धान्त समरसता का सिद्धान्त है, एकता व सहयोग का सिद्धान्त है, प्रेम और शान्ति का सिद्धान्त है। यह न्यायनिष्ठ समाज की स्थापना का सूचक है।

4. **न्याय सिद्धान्त रचनात्मक सिद्धान्त है** (Justice Theory is Architectonic) : प्लेटो न्याय की आधारशिला पर राज्यरूपी सुन्दर भवन का निर्माण करता है जहाँ व्यक्ति और वर्ग एक-दूसरे के साथ ऐसे एकता के सूत्र में बँधे रहते हैं कि प्रत्येक सम्पूर्ण का निर्माण करते हुए अपने वास्तविक सौन्दर्य को भी परिलक्षित करता है। न्याय राज्य के तीनों निर्माणकारी तत्त्वों में घनिष्ठ सम्बन्ध पैदा करता है। प्लेटो का न्याय भवन निर्माण कला से मिलता-जुलता है। जिस प्रकार एक भवन निर्माण विशेषज्ञ अपने अधीनस्थ कारीगरों को अंकुश में रखता है, उसी प्रकार न्याय मनुष्य की विभिन्न आकांक्षाओं को नियन्त्रित कर तुम्हें अनेक कार्य करने से रोकता है एवं उस कार्य की ओर प्रेरित करता है जिसे करने की उसमें स्वाभाविक क्षमता होती है। इस प्रकार न्याय का सिद्धान्त एक रचनात्मक कार्यक्रम पेश करता है।

5. **स्त्रियों को समान अधिकार** : प्लेटो अपने न्याय सिद्धान्त में स्त्रियों और पुरुषों को समान मानकर स्त्रियों को सार्वजनिक क्षेत्र में बराबर अधिकर प्रदान करता है। प्लेटो का विश्वास है कि स्त्रियाँ राजनीतिक व सैनिक कार्यों में भाग ले सकती हैं।

6. **न्याय के दो प्रकार** (Two Types of Justice) : प्लेटो न्याय को दो भागों - वैयक्तिक न्याय तथा सामाजिक न्याय में बाँटता है। मूलतः न्याय का निवास स्थान आत्मा में होता है। प्लेटो राज्य को व्यक्ति का व हत् रूप मानता है। प्लेटो न्याय का निवास राज्य में भी मानता है क्योंकि राज्य आत्मा के तीनों तत्त्वों व तीनों वर्गों का संयोग है। इसलिए प्लेटो इसे सामाजिक न्याय कहता है। वैयक्तिक न्याय द्वारा आत्मा की तीनों प्रव त्तियों में सामंजस्य पैदा होता है तथा व्यक्ति में एकता स्थापित होती है। वैयक्तिक न्याय में आत्मा के तीनों तत्त्व अपना-अपना कार्य करते हुए परस्पर तालमेल बनाए रखते हैं। इस तरह वैयक्तिक न्याय का भी आधार वही है, जो सामाजिक न्याय है। अतः दोनों न्यायों में आधारभूत समानता है।

7. **व्यक्तिवाद का विरोधी** (Theory Against Individualism) : प्लेटो का मानना है कि समाज या राज्य से अलग व्यक्ति का कोई अस्तित्व नहीं है। व्यक्ति और राज्य दोनों का लक्ष्य एक श्रेष्ठ जीवन का विकास करना है। राज्य के अंग के रूप में अपनी प्राकृतिक क्षमता तथा प्रशिक्षण के आधार पर निर्धारित क्षेत्र में अधिक से अधिक श्रेष्ठता प्राप्त करके ही व्यक्ति अपने जीवन का समुचित विकास कर सकता है। प्लेटो ने अपने इस सिद्धान्त द्वारा सोफिस्टों की व्यक्तिवादी विचारधारा को यूनानी नगर राज्यों के लिए सबसे बड़ा अभिशाप माना है। प्लेटो का उद्देश्य संकीर्ण स्वार्थों से व्यक्ति को निकालकर स्वयं तथा राज्य के कल्याण का मार्ग दिखाना है। इस प्रकार व्यक्ति एक व्यवस्था का अंग है और उसका उद्देश्य एकाकी आत्मा के सुखों की सिद्धि नहीं बल्कि व्यवस्था में एक नियत स्थान की पूर्ति करना है।

8. **न्याय सिद्धान्त के सहायक एवं अनिवार्य साधन** (Means of Justice) : प्लेटो ने अपने न्याय के सिद्धान्त को अमली जामा पहनाने के लिए दो साधनों की व्यवस्था की है। उनमें से पहला शिक्षा का सकारात्मक तरीका है तथा दूसरा साम्यवाद नकारातमक तरीका है। प्लेटो का विचार है कि अन्याय का आधार अज्ञान होता है। अज्ञान एक मानसिक रोग होता है और उसकी एकमात्र उपचार या औषधि उचित शिक्षा है। प्लेटो अपने न्याय के सिद्धान्त में शिक्षा द्वारा अज्ञानता रूपी रोग का ईलाज करना चाहता है। साम्यवादी व्यवस्था शासक व सैनिक वर्ग को पथभ्रष्ट होने से रोकने का नकारात्मक तरीका है। ये दोनों तरीके राज्य से अज्ञान को हटा सकते हैं।

9. **दार्शनिक शासक** (Philosopher King) : न्याय की प्राप्ति के लिए राज्य के शासन की बागडोर एक विवेकी, निस्वार्थी और कर्तव्यपरायण व्यक्ति के हाथ में होनी चाहिए। प्लेटो ने ऐसे सद्‌गुणी व्यक्ति को दार्शनिक शासक का नाम दिया है। प्लेटो का दार्शनिक शासक विवेक की साक्षात् प्रतिमूर्ति होता है। वह कानून से ऊपर है। उसका प्रमुख कर्त्तव्य सैनिक व उत्पादक वर्ग पर पूर्ण नियन्त्रण स्थापित करना है। दार्शनिक शासक ही समाज के तीनों वर्गों में सामंजस्य एवं सन्तुलन

स्थापित करता है। राज्य को आंगिक एकता प्रदान करता है। प्लेटो का दावा है कि शासक वर्ग न तो स्वेच्छाचारी हो सकता है और न ही अत्याचारी, ग्रात्सियान्सकी के अनुसार- "प्लेटो की न्याय व्यवस्था में राज्य दार्शनिकों के लिए न होकर दार्शनिक राज्य के लिए होते हैं।" प्लेटो का दार्शनिक शासक सर्वगुण सम्पन्न व्यक्ति है।

10. **मनोवैज्ञानिक द ष्टिकोण** **(Psychological Angle)** : प्लेटो के मतानुसार जब व्यक्ति अपनी मूल प्रव त्ति के अनुसार कार्य करता है तब उसमें उसकी रुचि बढ़ती है, वह विशिष्टता प्राप्त करता है और उनमें अधिकतम कुशलता प्राप्त करता है। इससे कार्यों के विशेषीकरण के सिद्धान्त का जन्म होता है।
11. **सावयवी एकता का सिद्धान्त** **(Theory of Organic Unity)** : प्लेटो को न्याय सिद्धान्त में व्यक्ति राज्य के लिए है और राज्य के प्रति उसके कर्त्तव्य ही हैं अधिकार नहीं। राज्य साध्य है और व्यक्ति साधन है। प्लेटो ने कहा है- "नागरिकों के कर्त्तव्य भावना ही राज्य का न्याय सिद्धान्त है।" राज्य से अलग व्यक्ति का कोई अस्तित्व नहीं है। प्लेटो का न्याय सिद्धान्त राज्य में एकता व सामंजस्य स्थापित करता है। व्यक्ति का व्यक्तित्व राज्य के व्यक्तित्व में ही लीन हो जाता है।
12. **नैतिकता का सिद्धान्त** **(Theory of Morality)** : प्लेटो की न्याय सम्बन्धी अवधारणा को केवल वैधानिक कर्त्तव्यों पर ही आधारित नहीं किया गया है बल्कि नैतिक व सर्वव्यापी कर्त्तव्यों का प्रावधान है। अतः प्लेटो का सिद्धान्त नैतिकता का पोषक है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति स्वेच्छा से अपने निर्दिष्ट कर्त्तव्यों का पालन करते हुए दूसरों के क्षेत्राधिकार में प्रवेश नहीं करता। प्लेटो बुराई का प्रतिकार भलाई से करने की बात करता है। प्लेटो का न्याय उन सभी सद्‌गुणों का सम्मिलित रूप है जो मनुष्य दूसरों के साथ अपने आचरण में प्रदर्शित करता है। प्लेटो स्वधर्म पालन पर जोर देता है। इस अर्थ में प्लेटो का न्याय सिद्धान्त नैतिक और आध्यात्मिक धारणा है।
13. **आदर्श राज्य का रक्षक** **(Protector of Ideal State)** : प्लेटो ने न्याय को ऐसा गुण माना है जो राज्य में तब भी निवास करता है जब विवेक, साहस और आत्मसंयम क्षीण हो जाते हैं। प्लेटो का मत है कि न्याय की अनुपस्थिति में समाज अक्षमता, अव्यवस्था, स्वार्थपरता, फूट और कलह जैसी व्याधियों से ग्रस्त हो जाता है। अतः प्लेटो का न्याय-सिद्धान्त आदर्श राज्य का रक्षक व त्राता है।

आलोचनाएँ

(Criticism)

प्लेटो के न्याय सिद्धान्त की निम्न आधारों पर आलोचना हुई है :-

1. **प्लेटो का न्याय केवल नैतिक है, कानूनी नहीं** **(Plato's Justice is only Moral, not Legal)** : प्लेटो का न्याय का सिद्धान्त किसी दण्डकारी शक्ति के अभाव में केवल नैतिक बन कर रह जाता है। जब तक किसी कर्त्तव्य के पीछे कानूनी शक्ति न हो तो वह प्रभावी नहीं हो सकता। बार्कर का कहना है- "प्लेटो का न्याय वस्तुतः न्याय नहीं है, यह मनुष्यों को केवल अपने कर्त्तव्यों तक सीमित करने वाली भावना मात्र है, कोई ठोस कानून नहीं।" प्लेटो ने कानून की व्यवस्था न करके न्याय को निष्क्रिय बना दिया है।
2. **कर्त्तव्यों पर अत्यधिक जोर** **(More Emphasis on Duties)** : प्लेटो मनुष्य को अपने कार्यक्षेत्र तक सीमित रहने का सुझाव देता है। वह अधिकारों के कारण मनुष्यों में होने वाले संघर्ष के समाधान की कोई व्यवस्था नहीं करता है। प्लेटो ने कर्त्तव्यों पर अधिक बल देकर अधिकारों की पूर्ण उपेक्षा की है। प्लेटो ने नैतिक कर्त्तव्य और अधिकारों की विभाजन रेखा को मिटाने का प्रयास किया है। अधिकार और कर्त्तव्य एक सिक्के के दो पहलू होते हैं और ये दोनों साथ-साथ चलते हैं।
3. **व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए अवसर का अभाव** **(No Opportunity for the Full Development of Personality):** व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास के लिए उसे अपनी सारी योग्यताओं व क्षमताओं को विकसित करने का अवसर मिलना आवश्यक होता है अर्थात् आत्मा के तीनों गुणों का विकास करने का अवसर मिलना चाहिए। किन्तु प्लेटो व्यक्ति को केवल आत्मा के किसी एक गुण के आधार पर ही कार्य विशिष्टीकरण पर जोर देता है। आत्मा के तीनों गुण किसी एक व्यक्ति में इकट्ठे भी मिल सकते हैं। इसलिए प्लेटो द्वारा किसी एक गुण के आधार पर व्यक्ति का विकास अपूर्ण विकास

है। इससे समाज को भी व्यक्ति की सम्पूर्ण प्रतिभाओं का लाभ प्राप्त नहीं हो सकता। ऐसा समाज अविकसित समाज होता है।

4. **अत्यधिक एकीकरण व अत्यधिक प थक्करण की प्रव त्ति** (Excessive Unification and Excessive Separation) : प्लेटो व्यक्ति को राज्य के अधीन एवं साहस व क्षुधा को विवेक के अधीन कर देता है। यह अत्यधिक एकीकरण का सिद्धान्त है। यह व्यक्ति को राज्य के हित का साधन मानता है। व्यक्ति केवल एक ही गुण का विकास कर सकता है। उसके शेष दो गुण अन्य दो गुणों की बलि ले लेते हैं। दूसरी तरफ प्लेटो ने राज्य के नागरिकों का वर्गीकरण करके तथा उनमें कार्य-विभाजन करके इस एकीकरण को तोड़ा है। इससे व्यक्ति में सामान्य हित का अभाव हो जाता है। इससे समाज में वर्ग-हित की भावना जन्म लेती है। अतः इससे जातीय और प थक्वादिता को इतना अधिक प्रोत्साहन मिलेगा कि सामुदायिक हितों का लक्ष्य ही पीछे छूट जाएगा।

5. **आधुनिक राज्यों में लागू नहीं** (Not applicable in Modern Large States) : आधुनिक राज्यों के द ष्टिकोण से यह विचार अव्यावहारिक है। आधुनिक राज्यों में जनसंख्या, क्षेत्र, अर्थव्यवस्था और शासन संचालन सम्बन्धी समस्या जटिल हो गई है। प्लेटो के समय में जनसंख्या व क्षेत्रफल की द ष्टि से छोटे-छोटे राज्य होते थे। जनसंख्या को आत्मा के तीन तत्त्वों के आधार पर तीन वर्गों में बाँटा जा सकता था, लेकिन आज के युग में इस सिद्धान्त की बात करना असम्भव है।

6. **निरंकुशवाद का प्रतीक** (A Symbol of Despotism) : प्लेटो ने दार्शनिक शासक के हाथों में सम्पूर्ण राजनीतिक सत्ता सौंपकर निरंकुशतावाद को बढ़ावा दिया है। प्लेटो का तर्क है कि यह शासक विवेक के आधार पर सत्ता का संचालन करेगा। दार्शनिक शासक सद्गुणी होने के कारण विवेकपूर्ण ढंग से शासन करेगा। प्लेटो ने शासक वर्ग को कानूनी व अन्य नियन्त्रणों से मुक्त रखा है। सत्य तो यह है कि यदि इतनी सारी शक्तियाँ एक व्यक्ति के हाथ में आ जाएँ तो वह अवश्य ही निरंकुश बन जाएगा और अपने राजनीतिक विरोधियों को कुचल देगा, शक्ति का मद किसी भी विवेकी व्यक्ति को भ्रष्ट कर सकता है।

7. **अप्रजातान्त्रिक** (Undemocratic) : प्लेटो ने व्यक्तियों की समानता को अस्वीकार किया है। उसका मानना है कि शासन करने के गुण सभी व्यक्तियों में नहीं होते। वह व्यक्ति के अधिकारों की उपेक्षा कर केवल कर्त्तव्यों पर जोर देता है। प्लेटो के आदर्श राज्य में एक अल्पसंख्यक वर्ग का बहुसंख्यक वर्ग पर प्रतिनिधित्व है। प्रत्येक वर्ग के ऊपर कुछ बन्धन डाले गए हैं। इस प्रकार यह सिद्धान्त समानता तथा स्वतन्त्रता के अधिकार का उल्लंघन करता है।

8. **वर्ग-संघर्ष** (Class Struggle) : प्लेटो के न्याय सिद्धान्त में समाज के तीन वर्गों को कठोर विभाजन और व्यक्ति को उसकी मूल प्रव त्ति के साथ बाँध दिया गया है। प्लेटो के न्याय सिद्धान्त में मनुष्यों में होने वाले स्वाभाविक संघर्षों के समाधान की कोई व्यवस्था नहीं की गई है और न ही कोई ऐसी व्यवस्था करता है जिससे तीनों वर्गों में सौहार्द बन सके और संघर्ष की भावना का अन्त हो सके।

9.. **सामान्य जनता पर अविश्वास** (Distrust of Common Man) : प्लेटो का बहुमत पर बिलकुल विश्वास नहीं है। वह कलाकारों एवं कृषकों में प्रशासन की जरा भी क्षमता नहीं मानता। जिस प्रकार एक रोगी डॉक्टर के अधीन हो जाता है, उसी प्रकार प्लेटो ने राज्य को बौद्धिक वर्ग के हाथों में सौंप दिया है। प्लेटो का यह मानना गलत है कि ज्ञान या विवेक केवल दार्शनिक राजा के पास हो सकता है, सैनिक व उत्पादक वर्ग के पास नहीं।

10. **विरोधाभास सिद्धान्त** (Contradictory Theory) : प्लेटो का न्याय-सिद्धान्त विभिन्न वर्गों में पारस्परिक अहस्तक्षेप को अस्वीकार करता है। राज्य के तीनों वर्ग एक-दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप न करते हुए अपने-अपने कर्त्तव्यों का निर्वहन करते हैं। दूसरी तरफ प्लेटो शासक वर्ग को सैनिक व उत्पादक वर्ग पर कठोर नियन्त्रण का अधिकार देकर विरोधाभास को ही जन्म देता है। अतः यह धारणा विरोधाभासी है।

11. **अमनोवैज्ञानिक** (Unpsychological) : प्लेटो ने न्याय सिद्धान्त में शासक व सैनिक वर्ग के लिए जिस साम्यवादी प्रणाली का प्रतिपादन किया है, वह स्त्री-पुरुषों के मनोविज्ञान पर भी आधारित नहीं है। परिवार व सम्पत्ति का मोह त्यागकर कोई भी व्यक्ति सामाजिक कार्यों का प्रतिपादन ठीक ढंग से नहीं कर सकता। प्लेटो ने व्यक्तियों को इच्छाओं एवं आकांक्षाओं के पारस्परिक संघर्ष की भी उपेक्षा की है। यह सिद्धान्त एक तरह से यान्त्रिक जीवन पद्धति पर ही आधारित है।

12. **श्रम विभाजन की प्रणाली का अभाव (No Criteria of Division of Labour)** : प्लेटो के अनुसार समाज के तीन वर्गों की स्थापना व्यक्तियों को आत्मा के गुणों के अनुरूप होनी चाहिए। लेकिन प्लेटो ने यह नहीं बताया कि इस बात का निर्णय कैसे होगा कि किसमें विवेक है, या किसमें साहस, किसे उत्पादक वर्ग में रखा जाए और किसे शासक वर्ग में ? प्लेटो का यह मानना कि हर व्यक्ति अपनी आत्मा के गुणों को स्वयं जानकर अपना वर्ग निश्चित करे, अत्यन्त भ्रामक व अव्यावहारिक है।
13. **अनुभव का कोई महत्त्व नहीं (Little Importance to Experience)** : प्लेटो के सिद्धान्त में अनुभव का कोई महत्त्व नहीं है। इसका परिणाम यह हुआ कि प्लेटो नागरिक जीवन के एक महत्त्वपूर्ण पक्ष को नहीं सुलझा सके जिसके लिए वे इतने इच्छुक थे।
14. **अधिकारों और दण्ड की व्यवस्था का अभाव (No Provision for Rights and Punishment)** : प्लेटो ने अपने न्याय सिद्धान्त में किसी व्यक्ति द्वारा दूसरे के कार्यक्षेत्र में हस्तक्षेप करने पर दण्ड का कोई प्रावधान नहीं किया है। दण्डात्मक शक्ति के अभाव में मानव स्वभावानुसार दूसरे के क्षेत्राधिकार को अवश्य चुनौती देता है। प्लेटो ने व्यक्ति के अधिकारों की भी कोई व्यवस्था नहीं की है।
15. **प्लेटो का न्याय सिद्धान्त सर्वसत्तावादी तथा फासीवादी तत्त्वों से पोषित है।**

प्लेटो के सिद्धान्त का महत्त्व

(Importance of Platonic Theoryof Justice)

विभिन्न आलोचनाओं के बावजूद भी प्लेटो का सिद्धान्त बहुत महत्त्वपूर्ण है।

1. प्लेटो ने इस सिद्धान्त के माध्यम से समाज और राज्य में एकता स्थापित करने का प्रयास किया है। प्लेटो यह मानकर चलता है कि आत्मारोपित कर्त्तव्यपरायणता और व्यावसायिक दक्षता से समाज के विभिन्न वर्गों में कार्यकुशलता एवं सामाजिक एकता की स्थापना होगी। यही प्लेटो का मूल उद्देश्य था।
2. यह सिद्धान्त समाज में अज्ञान को समस्याओं का जनक मानता है और उसके निवारण हेतु सुव्यवस्थित शिक्षा प्रणाली का प्रतिपादन करता है। आज भी इसका महत्त्व स्वतः स्पष्ट है।
3. यह सिद्धान्त सार्वजनिक जीवन के पतन का प्रमुख कारण राजनीतिक सत्ता व आर्थिक सत्ता के एक ही हाथ में केन्द्रित होने को मानता है और इस द ष्टि से दोनों सत्ताओं के प थक्करण की व्यवस्था करता है।

प्लेटो ने जिस न्याय सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, वह आजकल की शासन-व्यवस्था में व्याप्त दोषों को दूर करने के लिए एक आदर्श प्रस्तुत करता है। आज की राजनीति में कर्त्तव्यनिष्ठा की कमी, कार्य का विशेषीकरण का अभाव, विवेकपूर्ण नियन्त्रण का अभाव जैसी समस्याएँ हैं। यदि प्लेटो के स्वधर्म, सदाचरण, नैतिकता को हम आधार मानकर चलें तो ये त्रुटियाँ स्वतः ही समाप्त हो जाएंगी।

शिक्षा का सिद्धान्त
(Theory of Education)

प्लेटो अपने आदर्श राज्य में न्याय की प्राप्ति के लिए जिन दो तरीकों को पेश करता है, उनमें से शिक्षा एक सकारात्मक तरीका है। समाज में शिक्षा की बहुत आवश्यकता होती है। शिक्षा द्वारा ही समाज में भ्रात भाव और एकता की भावना पैदा होती है। शिक्षा के महत्त्व को स्वीकारते हुए प्लेटो कहता है- "राज्य व क्षों या चट्टानों से निर्मित नहीं होता, बल्कि उन व्यक्तियों के चरित्र से निर्मित होता है, जो उसमें रहते हैं, व्यक्तियों को श्रेष्ठ व चरित्रवान बनाने के लिए शिक्षा की बहुत आवश्यकता है। बार्कर के अनुसार- "शिक्षा एक मानसिक रोग का मानसिक औषधि से इलाज करने का प्रयास है।" शिक्षा व्यक्ति का समाज के प्रति द ष्टिकोण बदलकर उसे अच्छा व्यक्ति बनाती है।

शिक्षा का महत्त्व

(Importance of Education)

1. **शिक्षा का सिद्धान्त न्याय सिद्धान्त का तार्किक परिणाम** : अपने आदर्श राज्य को न्याय पर आधारित करने हेतु प्लेटो ने शिक्षा के महत्त्व को स्वीकार किया है। न्याय का अर्थ व्यक्तियों और वर्गों द्वारा अपने स्वभावानुकूल विशिष्ट कार्यों का

सम्पन्न करना है। शिक्षा द्वारा व्यक्ति को विशिष्ट कार्य का प्रशिक्षण देकर कुशल व दक्ष बनाया जा सकता है। प्लेटो न्याय की रक्षा के लिए भी शिक्षा को आवश्यक मानता है।

2. **नागरिकों को सद्‌गुणी बनाना** : प्लेटो का शिक्षा-सिद्धान्त इस बात पर आधारित है कि "सद्‌गुण ही ज्ञान है।" यदि सद्‌गुण ज्ञान है तो उसे सिखाया जा सकता है। नागरिकों को सद्‌गुणी बनाने के लिए शिक्षा की आवश्यकता है ताकि समाज के तीनों वर्ग सद्‌गुणी बनकर अपने-अपने कर्त्तव्यों को स्वेच्छा से पूरा कर सकें।

3. **शिक्षा द्वारा व्यक्ति की आत्मा का विकास** : प्लेटो का मानना है कि मनुष्य की आत्मा में अनेक श्रेष्ठ तत्त्व निवास करते हैं। इन्हीं अन्तर्निहित तत्त्वों को बाहर निकाल कर सही दिशा में गतिमान करना ही प्लेटो की शिक्षा का उद्देश्य है। शिक्षा एक ऐसा वातावरण तैयार करती है जो आत्मा को अपने विकास के प्रत्येक स्तर पर सहायता करती है। शिक्षा के अभाव में मानव आत्मा पथभ्रष्ट हो सकती है, जो समाज और व्यक्ति दोनों के लिए घातक है।

4. **शिक्षा व्यक्ति को सामाजिक बनाती है** : शिक्षा व्यक्ति के हृदय में समष्टि का भाव भरती है और उसे आत्मसंयम का पाठ पढ़ाती है। यह व्यक्ति को सत्यवादी और आज्ञाकारी होने की सीख देती है तथा अहंकार व स्वार्थ को त्याग कर परमार्थ की ओर प्रेरित करती है। शिक्षा व्यक्ति की सामाजिक चेतना को जगाकर विभिन्न वर्गों में सामंजस्य व एकता स्थापित करती है।

5. **शिक्षा का राजनीतिक महत्त्व** : शिक्षा के द्वारा शासक व सैनिक वर्ग को प्रशिक्षण प्राप्त होता है और दार्शनिक शासक का जन्म होता है। शिक्षा लोगों को राजनीतिक जीवन में भाग लेने के योग्य बनाती है। राज्य के प्रत्येक वर्ग को उसके कर्त्तव्य से अवगत कराती है। यह व्यक्ति के राजनीतिक जीवन को परिशुद्ध कर राज्य को एकता के सूत्र में बाँधती है।

6. **शिक्षा का दार्शनिक महत्त्व** : शिक्षा अपने आप में एक अच्छाई है। इसका अन्तिम लक्ष्य उस चरम सत्य की खोज करना है जो काल और स्थान से परे है, जो स ष्टि की सभी वस्तुओं का मूल कारण है, जो अपनी विभूति से सदा देदीप्यमान होता है एवं जिसकी ज्योति से समस्त चराचर प्रकाशित होता रहता है। इसी चिरंतन, शाश्वत और अटल सत्य की खोज कर व्यक्ति पार्थिव जीवन की सीमाओं से ऊपर उठने का प्रयास करता है।

शिक्षा सिद्धान्त का दार्शनिक आधार

(Philosophical basis of the Theory of Education)

प्लेटो की शिक्षा योजना के पीछे एक दार्शनिक द ष्टिकोण निहित है। प्लेटो की मान्यता है कि मनुष्य की आत्मा कोई निश्चेष्ट वस्तु न होकर सक्रिय तत्त्व है। अपनी सक्रियता के कारण मन अपने आप को पर्यावरण के हर पदार्थ की ओर अग्रसर करता है। अतः शिक्षक का कार्य तो इस सक्रिय आध्यात्मिक शक्ति को सौन्दर्य की ओर आकृष्ट करना है। प्लेटो के लिए शिक्षा का अर्थ है- "मन के 'अन्तरचक्षु' को प्रकाश की ओर प्रेरित करना।"

प्लेटो की शिक्षा योजना का दूसरा महत्त्वपूर्ण दार्शनिक आधार यह है कि मनुष्य की आत्मा को अपनी सतत सक्रियता के लिए सतत भोज्य पदार्थ की उसी प्रकार आवश्यकता है जैसी कि भौतिक अस्तित्व के लिए शरीर को भोजन आवश्यकता है। अतः जब तब आत्मा का अस्तित्व है तब तक उसे शिक्षा द्वारा पोषक तत्त्व प्रदान किया जाना चाहिए। अतः शिक्षा जीवनपर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है। यह युवावस्था में भावनाओं और कल्पनाओं को संतुलित करती है तो प्रौढ़ावस्था में विज्ञान के द्वारा विवेक का विकास करती है और इसके बाद भी दर्शन के द्वारा विभिन्न शास्त्रों के पारस्परिक सम्बन्धों का ज्ञान कराती है एवं मानव जीवन के अन्तिम लक्ष्य को समझने हेतु अन्तर्द ष्टि प्रदान करती है।

प्लेटो मानव मस्तिष्क की सोद्देश्यता में विश्वास करता है। इसकी दो बातें प्रमुख हैं- (i) मानव मस्तिष्क सदा एक उद्देश्य की ओर बढ़ता है क्योंकि यह विवेक प्रेरित होता है। (ii) यह सदैव एक ही उद्देश्य की ओर बढ़ता है और वह उद्देश्य है शिव (Good) की प्राप्ति। अतः मस्तिष्क सदैव एक ही उद्देश्य की ओर बढ़ता है और उन्हीं वस्तुओं को जानने का प्रयास करता है जिनके कुछ उद्देश्य होते हैं। शिव के स्वरूप की खोज करना विश्व की समस्त वस्तुओं का आधार है। अतः प्लेटो की शिक्षा की परिणति शिव के स्वरूप के ज्ञान प्राप्त करने में होती है। शिव के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने का अर्थ है सदाचारपूर्ण कार्य करना। यही सभी वस्तुओं का अन्तिम लक्ष्य है। इसी वास्तविक एवं अन्तिम अर्थ में प्लेटो ने सद्‌गुण को ज्ञान कहा है। अतः 'ज्ञान ही गुण है', यही प्लेटो की शिक्षा का दार्शनिक आधार है।

प्लेटो का शिक्षा सिद्धान्त

(Plato's Theory of Education)

प्लेटो ने रिपब्लिक में अपने शिक्षा-सिद्धान्त पर विस्तार से चर्चा की है। रूसो के शब्दों में- "रिपब्लिक राजनीतिशास्त्र पर ही, वरन् शिक्षा पर लिखा गया सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है।" सेवाईन का मत है कि- "शिक्षा एक सकारात्मक साधन है जिसके द्वारा शासक एक सामंजस्यपूर्ण राज्य का निर्माण करने के लिए मानव प्रकृति को सही दिशा में ढाल सकता है।" प्लेटो अपने समय के एथेन्स व यूनान की शिक्षा पद्धतियों का गहरा विद्वान था। उसने अपने आदर्श राज्य में न्याय की प्राप्ति के लिए शिक्षा का जो सकारात्मक साधन पेश किया, वह एथेन्स व स्पार्टा दोनों की शिक्षा पद्धतियों पर आधारित था। इसलिए प्लेटो की योजना को समझने से पहले इन दोनों पद्धतियों को जानना आवश्यक है।

एथेन्स और स्पार्टा की शिक्षा प्रणालियों का पुनरावलोकन

(Review of Athenian and Spartan Education Systems)

एथेन्स की शिक्षा व्यवस्था

(Athenian System of Education)

एथेन्स में शिक्षा परिवार का अपना उत्तरदायित्व था और राज्य का उस पर कोई नियन्त्रण नहीं था। तत्कालीन एथेन्स में प्रचलित शिक्षा समाजोन्मुखी न होकर व्यक्तिपरक थी जिससे राज्य के लिए अच्छे व्यक्तियों का निर्माण असम्भव था। परिवार को स्वतन्त्रता थी कि वे अपने बच्चों को कैसी भी शिक्षा दें और कहीं भी दें। रोमन साम्राज्य के समय तक एथेन्स में कोई राज्य-नियन्त्रित स्कूल नहीं था। प्रसिद्ध विधिशास्त्री सोलन के नियम के अनुसार- "माता-पिता का यह कर्त्तव्य था कि वे अपने बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध करें।" लड़के एवं लड़कियों के लिए शिक्षा की समान व्यवस्था नहीं थी। लड़कियों को घरेलू आवश्यकताओं की ही शिक्षा दी जाती थी। एथेन्स की शिक्षा प्रणाली तीन स्तरों में विभाजित थी, जिसका वर्णन इस प्रकार है :-

1. **प्राथमिक शिक्षा** (Primary Education) : प्राथमिक शिक्षा में केवल पढ़ना लिखना ही सिखाया जाता था और प्राचीन कविता, व्यायाम व संगीत की शिक्षा दी जाती थी। यूनान में कवि धर्म गुरु माने जाते थे, अतः उन्हें साहित्य के अध्ययन में नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र का भी ज्ञान प्राप्त हो जाता था। शिक्षा का समय 6 से 14 वर्ष तक था।
2. **माध्यमिक शिक्षा** (Secondary Education) : इस शिक्षा का लाभ अमीर लोग ही उठा सकते थे। भारी शिक्षा शुल्कों के कारण गरीब व्यक्ति शिक्षा से वंचित रह जाते थे। इसमें अलंकारशास्त्र, भाषण कला और राजनीति की शिक्षा दी जाती थीं इसका समय 14 से 18 वर्ष का था।
3. **सैनिक शिक्षा** (Military Education) : एथेन्स के प्रत्येक युवक के लिए यह शिक्षा अनिवार्य थी। इस शिक्षा में दक्ष होने पर ही व्यक्ति को नागरिक अधिकार प्रदान किए जाते थे। शिक्षा का यह स्तर 18 से 20 वर्ष की आयु तक था। यह शिक्षा केवल 2 वर्ष तक राज्य द्वारा प्रदान की जाती थी।

एथेन्स की यह शिक्षा पद्धति व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक और चारित्रिक विकास के लिए उपयुक्त थी, परन्तु इसका सबसे बड़ा दोष यह था कि इसमें शिक्षा देना राज्य का नहीं, परिवार का उत्तरदायित्व था। यह शिक्षा पद्धति राज्य की आवश्यकताओं और उसकी प्रकृति के अनुकूल नहीं थी। इसके परिणामस्वरूप एथेन्स अज्ञानी व अयोग्य शासकों द्वारा शासित रहा। प्लेटो ने इन दोषों को पहचानकर अपनी शिक्षा-पद्धति में इन दोषों का निराकरण किया। उसने इस शिक्षा प्रणाली की अच्छी-अच्छी बातों को ग्रहण कर लिया।

स्पार्टा की शिक्षा-प्रणाली

(Spartan System of Education)

यह शिक्षा पद्धति राज्य द्वारा पूर्णतया नियन्त्रित थी। स्पार्टा का समाज प्राचीन ढंग का योद्धाओं का समाज था जिसके लिए योद्धाओं की आवश्यकता थी। इसलिए राज्य में सैनिक शिक्षा पर विशेष जोर दिया जाता था। शिक्षा परिवार का उत्तरदायित्व न होकर राज्य का अपना उत्तरदायित्व था। बच्चे 7 वर्ष की आयु तक ही अपनी माता के पास रहते थे। शिक्षा को राज्य के

उद्देश्यों के अनुकूल ढालने के लिए बच्चों को 7 वर्ष के बाद राज्य अपने नियन्त्रण में ले लेता था। इसके बाद बच्चों को उनकी प्रतिभा, योग्यता, अभिरुचि के अनुसार राज्य द्वारा शिक्षा दी जाती थी। इस शिक्षा का उद्देश्य अच्छे लड़ाकू व रक्षक पैदा करना था। स्त्रियों के लिए भी शारीरिक शिक्षा जरूरी थी। प्लूटार्क ने लाइकरगस (स्पार्टा का विधि निर्माता) की जीवनी में लिखा है- "यहाँ बालक-बालिकाएँ एक साथ नग्नावस्था में विविध प्रकार के व्यायाम करते थे। युवतियों के शरीर दौड़, कुश्ती, बर्छी, भाला फेंकने आदि के व्यायामों द्वारा सुपुष्ट बनाए जाते थे ताकि उनकी सन्तान बलवान और पुष्ट हो सके और स्वयं स्त्रियाँ भी राज्य रक्षा में पुरुषों की भाँति भाग ले सकें।" इस तरह स्पार्टा में राज्य हित की पूर्ति के लिए परिवार को गौण बना दिया था और जीवन के सभी सुखों का सैनिक आवश्यकताओं के ऊपर बलिदान कर दिया था। स्पार्टा में 20 वर्ष की आयु के बाद विवाह की स्वतन्त्रता थी। विवाह एक गुप्त एवं अवैध सम्बन्ध होता था। पति-पत्नी वैवाहिक जीवन का आनन्द नहीं ले सकते थे। स्पार्टा की सामाजिक व्यवस्था भी राज्य की सैनिक आवश्यकताओं के अनुकूल थी। सभी नागरिक सामूहिक भोजनालयों में भोजन करते थे। स्पार्टा में अमीर गरीब का भेदभाव नहीं था। वहाँ कोई सोना या चाँदी रख सकता था। लोहे की मुद्रा प्रचलित थी। स्पार्टा का शासन कुलीन व्यक्तियों के हाथों में था। जनता आर्थिक व पारिवारिक चिन्ताओं से दूर अपना सारा समय राज्य के लिए अर्पित कर देते थे। इस शिक्षा प्रणाली को समस्त यूनान में ख्याति प्राप्त थी और समस्त यूनान विशेष तौर पर एथेन्स से युवक शिक्षा प्राप्ति के लिए वहाँ जाते थे।

स्पार्टा की इस शिक्षा प्रणाली का पाठ्यक्रम भी संकुचित एवं एकांगी था। इसमें साहित्यिक शिक्षा की उपेक्षा की गई थी, जिससे स्पार्टा की अधिकांश जनता पढ़ना-लिखना नहीं जानते थे। उन्हें यूनान के साहित्य का कोई ज्ञान नहीं था। स्पार्टा में शारीरिक विकास तो हो सकता था लेकिन वहाँ मानसिक एवं बौद्धिक विकास उपेक्षित था। अतः यह शिक्षा व्यक्ति को पूर्ण नहीं बना सकती थी।

उपर्युक्त दोनों शिक्षा पद्धतियों का विश्लेषण करके बार्कर ने कहा है- "एथेन्स से प्लेटो की शिक्षा योजना का व्यक्तिगत पहलू आता है - मानव का सम्पूर्ण विकास होना चाहिए, स्पार्टा से उसका सामाजिक पहलू आता है - नागरिक को राज्य में उसके उचित स्थान पर प्रतिष्ठित करने की द ष्टि से शिक्षा राज्य द्वारा नियन्त्रित होनी चाहिए।"

प्लेटो की शिक्षा के उद्देश्य

(Aims of Plato's Education)

प्लेटो की शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करना है। यह विकास ज्ञान पर ही निर्भर होताहै। इसलिए प्लेटो ने अपनी शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य बताए हैं :-

1. व्यक्तित्व के पूर्णत्व की प्राप्ति के लिए प्लेटो के अनुसार शिक्षा को व्यक्ति के सामाजिक और वैयक्तिक दोनों के पक्षों के पूर्ण विकास के उद्देश्य को पूर्ण करना चाहिए।
2. आदर्श राज्य के निर्माण को सम्भव बनाने के लिए विशेषकर संरक्षक वर्ग (सैनिक व दार्शनिक शासक) को प्रशिक्षित करना शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए।
3. स्वस्थ शरीर में स्वस्थ आत्मा का निवास होता है। अतः शिक्षा का उद्देश्य शरीर और मस्तिष्क दोनों का विकास करना होना चाहिए।
4. प्लेटो का मत है - सदाचार ही ज्ञान है। अतः शिक्षा का उद्देश्य केवल सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त करना ही नहीं, उसे उस ज्ञान को आचरण में कैसे उतारा जाए इसका व्यावहारिक प्रशिक्षण भी देना चाहिए, प्लेटो के अनुसार विद्यार्थियों को पहले सैद्धान्तिक शिक्षा और उसे बाद प्रयोगात्मक शिक्षा दी जानी चाहिए।
5. मनुष्य की आत्मा का गुण ज्ञान होने के कारण, शिक्षा का उद्देश्य भी ज्ञान प्राप्त करना है, प्लेटो के अनुसार मानव-आत्मा के पास स्वयं ज्ञान-नेत्र होता है, शिक्षा तो उस ज्ञान-नेत्र का रुख प्रकाश की ओर आकर्षित करती है। शिक्षा एक ऐसा वातावरण देती है कि आत्मा का ज्ञान स्वतः ही प्रकट हो जाए। प्लेटो के अनुसार शिक्षा आत्मनेत्र को प्रकाशोन्मुख करती है।

6. शिक्षा का उद्देश्य मात्र वस्तुगत जगत् का ज्ञान प्राप्त करना नहीं है, अपितु वस्तुगत जगत् के मूल में निहित 'सत्' अर्थात अनन्त वास्तविकता का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना है।
7. शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को सौन्दर्य के प्रति आकर्षित करना है; अतः विशिष्ट कलाओं; जैसे साहित्य, संगीत आदि का प्रशिक्षण देना भी शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए।

आदर्श राज्य में शिक्षा-योजना

(Plan of Education in Ideal State)

प्लेटो की शिक्षा योजना स्पार्टा व एथेन्स की शिक्षा योजनाओं का मिला-जुला रूप है। लेकिन यह प्लेटो की अपनी देन होने के कारण मौलिकता के गुण से भी युक्त है। प्लेटो ने शिक्षा को जीवनपर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया बताया है। प्लेटो की शिक्षा योजना 6 से 50 वर्ष तक की आयु तक चलने वाली प्रक्रिया व पाठ्यक्रम है। प्लेटो की शिक्षा योजना को निम्नलिखित भागों में बाँटा जा सकता है :-

1. प्रारम्भिक शिक्षा (Elementary Education)
2. उच्चस्तरीय शिक्षा (Higher Education)

प्रारम्भिक शिक्षा

(Elementary Education)

प्लेटो प्रारम्भिक शिक्षा को तीन भागों में बाँटता है :-

(क) प्रारम्भिक 6 वर्ष की शिक्षा

(ख) 18 से 20 वर्ष तक की शिक्षा

(क) प्रारम्भिक शिक्षा 6 वर्ष की शिक्षा (Education for the first six years) : इस समय में जन्म से 6 वर्ष की शिक्षा शामिल है। इस दौरान बालक को मुख्यतः छोटी-छोटी कहानियों के माध्यम से नैतिक और धार्मिक शिक्षा दी जाती है।

(ख) 6 से 18 वर्ष तक की शिक्षा (Education for the age group of six to eighteen years) : इसमें किशोरों को व्यायाम, अक्षरबोध, संगीत की शिक्षा शामिल है। प्लेटो ने इसे दो विषयों में समाहित किया है- (i) व्यायाम (Gymnastics) (ii) संगीत (Music) शिक्षा की यह योजना एथेनियन पाठ्यक्रम पर ही आधारित है जिसमें कुछ सुधार किए गए हैं।

1. **व्यायाम (Gymnastic)** : व्यायाम द्वारा शरीर को स्वस्थ बनाया जा सकता है। बार्कर के शब्दों में-"व्यायाम मस्तिष्क के लिए शरीर का प्रशिक्षण है।" प्लेटो ने इसमें शरीर की समस्त शिक्षा को शामिल किया है। इसमें खुराक, व्यायाम और चिकित्सा भी शामिल है। प्लेटो का उद्देश्य है कि व्यायाम द्वारा विद्यार्थियों को हृष्ट-पुष्ट बनाकर उन्हें रोगमुक्त रखा जाए। प्लेटो ने व्यक्ति के शारीरिक विकास के लिए सात्विक भोजन पर बल दिया है। नैटलशिप के शब्दों में- "शारीरिक प्रशिक्षण में खुराक का सादापन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वस्तु है।" प्लेटो का मानना है कि जो व्यक्ति सादा भोजन करेगा, वह रोगमुक्त हो जाएगा। यदि नागरिक नियमित रूप से व्यायाम और सात्विक भोजन लेते रहेंगे तो वे कभी रोग की चपेट में नहीं आएँगे और उन्हें डॉक्टर की जरूरत नहीं होगी।
2. **संगीत (Music)** : प्लेटो ने व्यायाम की तरह संगीत का भी व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है। संगीत का अर्थ केवल गान-विद्या नहीं है। बार्कर के अनुसार- "यह मन के सामान्य प्रशिक्षण का मार्ग है।" प्लेटो के शिक्षा सिद्धान्त में काव्य, साहित्य, इतिहास, गीत व न त्य, चित्रकला, मूर्तिकला आदि सभी आ जाते हैं। प्लेटो के अनुसार संगीत मन को उसी तरह साधता है, जिस प्रकार व्यायाम शरीर को। काव्य, संगीत व मूर्तिकला का प्रभाव व्यापक होता है। इनकी ओर व्यक्ति स्वतः ही आकृष्ट होता है और अपने जीवन में नवजात शक्ति का अनुभव करता है। प्लेटो के अनुसार, संगीत शिक्षा द्वारा मनुष्य के शौर्यत्व पर संयम कायम रखा जाता है तथा बौद्धिक गुणों को बाहर निकला गया है। यह आत्मा का विकास करता है। अतः प्लेटो ने उसी संगीत का समर्थन किया है जो न्यायपरायणता के भाव भरे।

   प्लेटो ने अपनी प्रारंभिक शिक्षा में सत् साहित्य को भी शामिल किया है। उसके अनुसार जो साहित्य व्यक्ति के उज्ज्वल चरित्र, गुरुजनों तथा माता-पिता के प्रति आदर, भ्रात -भाव, साहस, सत्यप्रियता, आत्मसंयम आदि गुणों का विकास करता

हो सत् साहित्य कहलाने का अधिकारी है। जो साहित्य भय, क्रोध, घ णा, पथभ्रष्टता आदि बुराइयों को बढ़ावा दे उसे छोड़ देना चाहिए। प्लेटो ने जन उपयोगी कविता को ही मह त्त्व दिया है। वह देवमन्त्र (Hymns to the Gods) तथा यशस्वी व्यक्तियों की प्रशस्तियाँ ही अपनी कविता में शामिल करना चाहता है, अन्य नहीं। कविता की ही तरह वह नाटक पर रोक लगाने का पक्षधर है। प्लेटो ने धर्म सुधार और साहित्यिक आलोचना का ही सूत्रपात किया है। प्लेटो ने धर्म, विश्वास और साहित्य के सही स्वरूप की रक्षा के लिए सुधार और आलोचना के तरीके अपनाए हैं।

प्लेटो ने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा में वाद्ययन्त्रों के चयन पर काफी जोर दिया है। वह नगरवासियों के लिए 'लिरे' (Lyre) तथा हार्प (Harp) को तथा ग्रामवासियों के लिए 'पाइप' (Pipe) को उचित ठहराया है। उसने वंशी को स्वीकृति प्रदान नहीं की है। प्लेटो संगीत के प्रभाव को शाश्वत मानता है। वह राग-रागनियों को सावधानीपूर्वक संगीत में शामिल करने की बात करता है। वह सरल लय व ताल को अपनाने की बात करता है। प्लेटो का कहना है कि सुरताल को सरल भेदों तक ही सीमित होना चाहिए। वह संगीत कभी भी मान्य नहीं हो सकता जिसमें न्याय की प्रभुत्वमयी छवि प्रतिबिम्बित नहीं हो।

(ग) 18 से 20 वर्ष तक की शिक्षा (Education for theAge Group of Eighteen to Twenty Years) : प्लेटो इस अवधी के दौरान या 2 वर्ष तक सैनिक शिक्षा का प्रावधान करता है। इससे विद्यार्थियों में साहस, आत्म-नियन्त्रण तथा अनुशासन की प्रव त्ति बढ़ेगी और वे राज्य की रक्षा करने के योग्य बनेंगे। यह शिक्षा राज्य की सुरक्षा की द ष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण होगी।

उच्चस्तरीय शिक्षा
(Higher Education)

प्लेटो ने उन विद्यार्थियों के लिए जो प्राथमिक स्तर पर प्रतिभावान होते हैं, उच्च शिक्षा का प्रावधान किया है। शेष प्राथमिक स्तर की शिक्षा प्राप्त विद्यार्थियों को सैनिक वर्ग में स्थान दिया जाता है। प्लेटो ने उच्च शिक्षा के दो स्तर निर्धारित किए हैं :-

(क) 20 से 30 वर्ष तक।

(ख) 30 से 35 वर्ष तक।

(क) 20 से 30 वर्ष तक की आयु के लिए शिक्षा (Education for the Age Group of Twenty to Thirty Years) : प्लेटो ने इस वर्ग के विद्यार्थियों के लिए चार विषयों - अंकगणित, रेखागणित, ज्योतिशास्त्र तथा स्वर-विद्या को स्थान दिया है। प्लेटो ने इस आयु में जिन विषयों के अध्ययन पर जोर दिया है, वे वैज्ञानिक अध्ययन के प्रतीक माने गए हैं। प्लेटो मानव आचरण और विकास के सन्दर्भ में विज्ञान को बहुत महत्त्व प्रदान करता था। प्लेटो ने सबसे अधिक महत्त्व अंकगणित को दिया है। उसके बाद रेखागणित, ज्योतिशास्त्र व स्वर-विद्या के अध्ययन पर भी बहुत जोर दिया है।

(ख) 30 से 35 वर्ष तक की आयु के लिए शिक्षा (Education for the Age Group of Thirty to Thirty five years) : 20 से 30 वर्ष की आयु में वैज्ञानिक शिक्षा के बाद एक परीक्षा का आयोजन करके गिने-चुने विद्यार्थियों को 30 से 35 वर्ष की आयु में द्वन्द्व और दर्शन (Dialectic and Philosophy) की शिक्षा दी जाएगी। कवायर ने कहा है- "दर्शन प्रौढ़ अवस्था के लिए है, युवावस्था के लिए नहीं।" प्लेटो ने द्वन्द्वात्मकता को गणित से भी बढ़कर माना है।

हम द्वन्द्वात्मक को तर्कशास्त्र, तत्त्वमीमांसा या सीधे दर्शन का नाम दे सकते हैं। इसमें केवल मनोविज्ञान का ही अध्ययनन न होकर, सत्ता के आदि और अन्त, सत्ता के कारण व ज्ञान का लक्ष्य का अध्ययन होता है। यहाँ प्लेटो का सत्ता से तात्पर्य उस नियामक शक्ति से है जो इस ब्राह्माण्ड का संचालन करती है और सद् का अस्तित्व कायम करती है। प्लेटो के अनुसार- "द्वन्द्वात्मकवादी वह है जो प्रत्येक वस्तु को निचोड़ की सम्बोधन तक पहुँचाता है और श्रेय के भाव का दर्शन कर लेता है।" यद्यपि ग्रीक जगत् में द्वन्द्वात्मकता का सिद्धान्त सत्य तक पहुँचने के लिए और उसे साक्षात् करने के लिए एक प्रभावशाली साधन था लेकिन फिर भी इसे समझना कठिन होने के कारण सभी लोग इसे समझने में अयोग्य होते थे। यह सिद्धान्त श्रेष्ठ बुद्धि वाले उन लोगों की ही समझ में आ सकता था जो सद्गुणी होते थे। इसे समझने का अथक प्रयास करते थे।

अतः प्लेटो की शिक्षा प्रणाली इस बात का संकेत है कि एक तरफ तो प्लेटो का राज्य नागरिकों में सामाजिकता का भाव जाग त करके शरीर और मन को स्वस्थ व शुद्ध भाव में राज्य की रक्षा का भार सौंपना चाहता है और दूसरी तरफ वह

एक ऐसे दार्शनिक शासक का निर्माण करना चाहता है जो सद्‌गुणी होकर निष्पक्ष रूप से शासन करते हुए प्रजा में तालमेल व संतुलन बनाए रख सके।

प्लेटो की यह शिक्षा सैद्धान्तिक पक्ष से सरोकार रखती है, व्यावहारिक पक्ष से नहीं। अतः प्लेटो ने आगामी 15 वर्षों तक जीवन की पाठशाला में कठिनाइयाँ झेलकर व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त करने की व्यवस्था की है। प्लेटो का मानना है कि 50 वर्ष की आयु में ही दार्शनिक शासक बनने की प्रक्रिया पूरी होती है और उसे शासक वर्ग में शामिल कर लिया जाता है। अब यह राज्य का संचालन संभालकर भावी पीढ़ी की शिक्षा योजना का संचालन करता है और अपने उत्तराधिकारी तैयार करता है। 50 वर्ष के बाद भी व्यक्ति के आत्म-साक्षात्कार तथा अन्तिम सत्य की खोज के लिए शिक्षा चलती रहती है। आयु के बढ़ने के साथ-साथ राजनीति का क्षेत्र खाली होता जाता है और स्वयं अन्तिम सत्य के अन्वेषण में लग जाते हैं।

प्लेटो की शिक्षा प्रणाली की विशेषताएँ
(Features of Plato's Education System)

प्लेटो की शिक्षा प्रणाली की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :-

1. **चरित्र निर्माण पर बल (Emphasis on Character building)** : प्लेटो की शिक्षा का उद्देश्य नागरिकों को अच्छे या सद्‌गुणी बनाकर उन्हें राज्य के प्रति निःस्वार्थ सेवा की भावना जगाना है। प्लेटो शिक्षा को एक ऐसा विद्यात्मक साधन मानता है जो नागरिकों का चरित्र निर्माण करती है।

2. **राज्य द्वारा नियन्त्रित तथा अनिवार्य शिक्षा (State Controlled and Compulsory Education)** : प्लेटो शिक्षा को व्यक्तिगत क्षेत्र में नहीं छोड़ना चाहता। वह शिक्षा पर राज्य के नियन्त्रण का पक्षधर है। प्लेटो का मानना है कि राज्य के नियन्त्रण के अभाव में शिक्षा व्यक्तिगत हितों की ही पोषक होगी, सामाजिक हितों की नहीं। प्लेटो ने शिक्षा प्राप्त करना प्रत्येक परिवार व व्यक्ति के लिए अनिवार्य कर दिया है। राज्य की ओर से शिक्षा की अनिवार्य व्यवस्था हो गई है।

3. **कला और साहित्य पर नियन्त्रण (Strict Sensorship on Art and Literature)** : प्लेटो काव्य और साहित्य पर कठोर नियन्त्रण का पक्षधर है। प्लेटो का उद्देश्य गन्दे साहित्य का निर्माण रोकना है। उसका उद्देश्य युवकों को बुरे रास्ते से हटाकर सद्‌मार्ग पर चलाना है ताकि वे अच्छे नागरिक बन सकें।

4. **स्त्री-पुरुष दोनों के लिए समान शिक्षा (Equal Education for Both Men and Women)** : प्लेटो की शिक्षा योजना स्त्री और पुरुष दोनों के लिए है। प्लेटो स्त्री-पुरुष में कोई स्वाभाविक अन्तर नहीं मानता है। वह इस द ष्टि से एथेन्स की शिक्षा प्रणाली का दोष दूर कर देता है क्योंकि उस समय एथेन्स में केवल पुरुषों को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त था। प्लेटो का विश्वास था कि स्त्रियाँ भी राज्य को शक्तिशाली बनाने में योगदान दे सकती हैं। इसलिए दोनों को समान व अनिवार्य शिक्षा मिलनी ही चाहिए।

5. **शिक्षा राज्य के कर्त्तव्य के रूप में (Education as the main Function of the State)** : अपने आदर्श राज्य में व्यक्ति को गुणी से सामाजिक बनाने के लिए शिक्षा को अनिवार्य माना है अर्थात् शिक्षा व्यक्ति तथा समाज दोनों का निर्माण करती है। अतः प्लेटो शिक्षा को निजी हाथों में न सौंपकर राज्य को सौंपता है। प्लेटो का उद्देश्य योजनाबद्ध तरीके से नागरिकों में कर्त्तव्यभावना पैदा करके उन्हें समाज के अनुरूप बनाना है। सेबाइन ने लिखा है- "प्लेटो की राज्य नियन्त्रित शिक्षा प्रणाली एथेन्स की शैक्षणिक कार्यशैली का नया परिवर्तन था।"

6. **शिक्षा मानसिक रोग का मानसिक उपचार है (Education is a Cure of Mental Malady by Mental Medicine)**: प्लेटो सारी बुराई की जड़ अज्ञानता को मानता है। उसका कहना है कि शिक्षा द्वारा ही बुराइयों का अन्त किया जा सकता है। शिक्षा व्यक्ति के स्वभाव को राज्य के उद्देश्य के अनुकूल बदलत सकती है। बार्कर के अनुसार- "शिक्षा मानसिक रोग के उपचार के लिए एक मानसिक औषधि है।" अर्थात् यह मानसिक रोग का मानसिक उपचार है।

7. **नैतिक विकास पर बल (Emphasis on Moral Development)** : प्लेटो की शिक्षा योजना 'सद्‌गुण ही ज्ञान है' के सिद्धान्त को स्वीकार करके व्यक्ति के नैतिक विकास की परिस्थितियाँ पैदा करती है। प्लेटो कला व साहित्य के ऐसे अंशों पर प्रतिबन्ध लगाने का पक्षधर है जो नागरिकों के नैतिक गुणों का ह्रास करते हों।

8. **सर्वांगीण विकास पर बल** (Emphasis on All Round Development) : प्लेटो की शिक्षा प्रणाली व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक तीनों पक्षों के पूर्ण विकास पर बल देती है। प्लेटो की शिक्षा योजना व्यक्ति के प्रत्येक सद्‌गुण को विकसित करने का प्रयास करती है।

9. **शिक्षा केवल उच्च वर्ग के लिए** (Education Only for the Elite) : प्लेटो की श्क्षिा प्रणाली में उत्पादक वर्ग के लिए शिक्षाका कोई पाठ्यक्रम ही नहीं है। प्लेटो की शिक्षा का मुख्य उद्देश्य राजनेताओं का निर्माण करना है जिससे आदर्श राज्य का सपना साकार हो सके। अतः प्लेटो संरक्षक वर्ग के लिए शिक्षा की व्यवस्था करने का पक्षपाती है।

10. **शिक्षा-योजना मनोवैज्ञानिक तत्त्वों पर आधारित है** (Education System is Based on Psychological Element): प्लेटो ने मानव स्वभाव की प्रव त्तियों और आत्मा के तीन तत्त्वों के अनुकूल ही अपनी शिक्षा व्यवस्था को आधारित किया है।

11. **शिक्षा का पाठ्यक्रम आयु-भेद व वर्ग-भेद पर आधारित** (Curriculum of Education Based on Age and Class Difference) : प्लेटो ने शिक्षा प्रणाली के दो भाग किए हैं - प्राथमिक व उच्च शिक्षा। दोनो शिक्षा स्तरों का आधार आयु व वर्ग-भेद है। प्रारम्भिक शिक्षा नौजवानों के लिए जबकि उच्च शिक्षा प्रौढ़ावस्था का प्रशिक्षण है तथा शासक वर्ग का भी इसमें गणित, तर्क, दर्शन व विज्ञान का ज्ञान दिया जाता है।

12. **प्लेटो की शिक्षा में सीखने की प्रक्रिया सरल से जटिल की ओर** (The Process of Education from Simple to Difficult) : प्लेटो की शिक्षा व्यवस्था में पाठ्यक्रम सरलता से जटिलता की आरे बढ़ता है। शिक्षा के प्रारम्भिक स्तर पर संगीत, साहित्य, व्यायाम आदि सरल विषय पढ़ाए जाते हैं, परन्तु बीस वर्ष के बाद गणित, विज्ञान आदि कुछ जटिल विषय और अन्त में 30 वर्ष बाद द्वन्द्व व दर्शन का ज्ञान कराया जाता है।

13. **शिक्षा आजीवन प्रक्रिया** (Education is a Life Long Process) : प्लेटो की शिक्षा योजना जीवनपर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है। 35 वर्ष से 50 वर्ष तक मनुष्य दार्शनिक व व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करता है। उसके बाद अन्तिम सत्य की खोज करता है। अतःयह आजीवन प्रक्रिया है।

14. **दार्शनिक शासक के लिए प्रशिक्षण** (Training of Philosopher King) : प्लेटो की शिक्षा का उद्देश्य एक ऐसे दार्शनिक शासक का निर्माण करना है जो सर्वगुणसम्पन्न हो और सैनिक व उत्पादक वर्ग पर समाज हित में पूर्ण नियन्त्रण व सभी वर्गों में एकता व सामंजस्य कायम रख सके।

15. **शिक्षा में गणित को महत्त्व** (Importance of Mathematics in Education) : प्लेटो की शिक्षा योजना में सबसे अधिक महत्त्व गणित को दिया गया है। प्लेटो ने अपनी अकादमी के बाहर दरवाजे पर ये शब्द लिखे थे- "जिसे अंकगणित का ज्ञान नहीं, वह इसमें प्रवेश नहीं कर सकता।" अतः प्लेटो ने सर्वाधिक महत्त्व गणित को दिया है।

आलोचनाएँ
(Criticisms)

प्लेटो के शिक्षा सिद्धान्त की आलोचना के निम्न आधार हैं :-

1. **शिक्षा मात्र अभिभावक वर्ग के लिए** (Education Only for the Guardian Class) : प्लेटो शिक्षा को महान् वस्तु मानता है और उसे आदर्श राज्य का आचार बताता है किन्तु उसने समस्त नागरिकों के लिए शिक्षा का प्रबन्ध न करके केवल अभिभावक वर्ग (सैनिक व दार्शनिक वर्ग) के लिए ही शिक्षा की योजना प्रस्तुत की है। इस प्रकार उसकी शिक्षा योजना कुलीनतन्त्रवादी है जिसे आधुनिक द ष्टि से अप्रजातान्त्रिक कहा जाएगा। सेबाइन ने कहा है- "राज्य में शिक्षा के महत्त्वपूर्ण स्थान को देखकर यह आश्चर्यजनक प्रतीत होता है कि प्लेटो शिल्पियों (उत्पादक वर्ग) के लिए शिक्षा के सम्बन्ध में कोई विचार नहीं करता।" अतः यह सिद्धान्त अभिजातवर्ग का ही पोषक है।

2. **उत्पादक वर्ग की उपेक्षा** (Ignores Producer Class) : प्लेटो की शिक्षा प्रणाली संकुचित है। प्लेटो ने बहुसंख्यक उत्पादक वर्ग की पूर्ण उपेक्षा की है। प्लेटो के न्याय सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक वर्ग, जिसमें उत्पादक वर्ग भी एक है, को अपने समस्त कार्य विशिष्टता के साथ करने चाहिएं। किन्तु प्लेटो यह भूल जाता है कि उत्पादक वर्ग बिना शिक्षा व प्रशिक्षण के अभाव में कार्य-कौशल व विशेषज्ञता कैसे प्राप्त करेंगे। अतः प्लेटो द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में उत्पादक वर्ग की अपेक्षा न्याय के सिद्धान्त के विपरीत है।

3. **डॉक्टर एवं वकीलों का बहिष्कार** (No Role for Doctors and Lawyers) : प्लेटो ने अपने राज्य से डॉक्टरों ओर सभी अदालती संस्थाओं का बहिष्कार किया है। उसके अनुसार व्यायाम और संगीत के प्रशिक्षण से नागरिक के शरीर और मन दोनों स्वस्थ रहेंगे और इस प्रकार शारीरिक और मानसिक रोगों के होने की गुंजाइश ही नहीं रहेगी। आलोचकों ने कहा है कि प्लेटो ने अपनी शिक्षा प्रणाली यह ही भरोसा किया है, डॉक्टरों व वकीलों पर नहीं।

4. **साहित्य की उपेक्षा** (Little Importance to Literature) : प्लेटो ने अपनी शिक्षा योजना में गणित को अधिक तथा साहित्य को कम महत्त्व दिया है। साहित्य जीवन व समाज का दर्पण है और मानव की कोमन भावनाओं को विकसित कर उसके द ष्टिकोण को व्यापक करता है।

5. **कला और साहित्य पर कठोर नियन्त्रण** (Strict Control of Art and Literature) : काव्य और साहित्य पर कठोर प्रतिबंध लगाना उचित नहीं होता। इससे स्वतन्त्र कलात्मक प्रव त्ति मुरझा सकती है और उस पर विध्वंसकारी प्रभाव पड़ सकता है। कला और साहित्य का विकास स्वतन्त्र वातावरण में ही हो सकता है। बार्कर के शब्दों में- "एक नैतिक उद्देश्य के लिए राज्य के पास में जकड़ी हुई कला मानव की भावनाओं को स्पर्श नहीं कर सकती और जो कला विशुद्ध कला के रूप में श्रोता या पाठक की भावनाओं को गुदगुदा नहीं सकती, वह उसके आधार को भी प्रभावित नहीं कर सकती।"

6. **शिक्षा क्रम लम्बा और खर्चीला है** (Education Process is Lengthy and Expensive) : प्लेटो का शिक्षा-क्रम इतना लम्बा और खर्चीला है कि इसको धनी-वर्ग ही ग्रहण कर सकता है। 35 वर्ष तक लगातार अध्ययन से ज्ञान का उत्साह कम हो जाता है और लोगों में इसके प्रति आकर्षण समाप्त हो जाता है। यह राज्य की व्यक्ति के ऊपर जबरदस्ती थोपी गई इच्छा है।

7. **पुरुषों व स्त्रियों की प्रकृति और भावना में अन्तर** : प्लेटो ने सभी पुरुषों एवं स्त्रियों के लिए एक ही प्रकार का पाठ्यक्रम निश्चित किया है। दोनों के स्वभाव एवं भावनाओं में अन्तर होने के कारण दोनों के पाठ्यक्रम में अन्तर होना आवश्यक है। प्लेटो ने दोनों के लिए समान शिक्षा व्यवस्था करने की भारी भूल है।

8. **शिक्षा-योजना में विरोधाभास** (Paradox in Education System) : एक ओर तो प्लेटो शिक्षा व्यवस्था को आदर्श राज्य का आधार मानता है, दूसरी तरफ राज्य का नियन्त्रण स्थापित करता है। यदि उचित शिक्षा के द्वारा आदर्श राज्य की स्थापना हो सकती है तो राज्य का शिक्षा पर नियन्त्रण ठीक नहीं है। प्लेटो कहता है कि उचित शिक्षा की व्यवस्था राज्य द्वारा ही हो सकती है, लेकिन दूसरी ओर शिक्षा व्यवस्था आदर्श राज्य की स्थापना के बाद प्रारम्भ होती है। अतः प्लेटो के द ष्टिकोण में विरोधाभास है। बार्कर के अनुसार- "प्लेटो के शिक्षा सिद्धान्त में कार्य सम्बन्धी आदर्श तथा चिन्तन सम्बन्धी आदर्श के बीच एक प्रकार की डगमगाहट पाई जाती है।"

9. **तकनीकी शिक्षा का कोई प्रावधान नहीं** : प्लेटो ने अपनी शिक्षा योजना में तकनीकी शिक्षा का कोई प्रावधान नहीं किया है जो आज के औद्योगिक और तकनीकी विकास के लिए आवश्यक है। तकनीकी विकास के बिना किसी भी राज्य का आर्थिक विकास नहीं हो सकता।

10. **अनावश्यक एकरूपता का दोष** : प्लेटो ने अपनी शिक्षा योजना में सदैव के लिए एक स्थायी और अपरिवर्तनशील पाठ्यक्रम निश्चित किया है। परन्तु वह मानव स्वभाव की रुचि की विविधता को भूल जाता है जिससे वैचारिक संकीर्णता बढ़ती है।

11. **शिक्षा योजना में अधिनायकवाद** : प्रो॰ अल्फ्रेड हार्नले के अनुसार प्लेटो के शिक्षा सिद्धान्त में अधिनायकतन्त्र के बीज छिपे हैं। फासीवादी, नाजीवादी और साम्यवादी के समान प्लेटो का राज्य भी शिक्षा पर पूर्ण नियन्त्रण रखता है, कला और साहित्य पर कठोर प्रतिबन्ध लगाता है, शासन के अनुरूप व्यक्ति के व्यक्तित्व को ढालता है एवं व्यक्ति को अपनी प्रतिभा को स्वतन्त्र रूप से मुखरित करने से वंचित करता है।

12. **व्यक्तित्व का स्वतन्त्र विकास नहीं** : प्लेटो ने व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास राज्य के हित के अनुकूल किया है। प्लेटो ने राज्य के हितों पर व्यक्ति के हितों की बलि चढ़ाकर व्यक्ति के व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता पर ध्यान नहीं दिया है। पापर के अनुसार- "प्लेटो की शिक्षा का उद्देश्य आत्म-समीक्षा करना एवं समीक्षात्मक विचारों को जगाना नहीं, अपितु मत-शिक्षण है - मस्तिष्क और आत्मा के एक ऐसे साँचे में ढालना है कि वे स्वतन्त्र रूप से कुछ करे के योग्य न हो सकें।

प्लेटो की शिक्षा सिद्धान्त का महत्त्व

(Importance of Platonic Theory of Education)

प्लेटो के सिद्धान्त की अनेक आलोचनाएँ हुईं फिर भी उसका बहुत महत्त्व है। प्लेटो के विचार आधुनिक युग के लिए भी सत्य है। आधुनिक युग में भी स्त्रियों की शिक्षा पर जोर दिया जा रहा है, यह प्लेटो की देन है। मानसिक विकास के साथ-साथ शारीरिक शिक्षा पर भी आज जोर दिया जा रहा है। आज विश्व के अनेक देशों में खराब साहित्य पर राज्य रोक लगाता है। प्लेटो के शिक्षा सिद्धान्त के निम्नलिखित महत्त्व हैं :-

1. प्लेटो पहला चिन्तक है जिसने यह बताया कि शिक्षा का सम्बन्ध केवल जीवन के किसी एक निश्चित काल से न होकर समस्त जीवन से है। प्लेटो ने आजीवन शिक्षा की व्यवस्था की है।
2. प्लेटो ने शिक्षा को आजीवन व निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया बताया है। यह सिर्फ मानसिक नहीं, धार्मिक, नैतिक और शारीरिक भी है; संकीर्ण नहीं, सर्वांगीण हैं, सैद्धान्तिक नहीं, व्यावहारिक भी है।
3. प्लेटो उचित आयु के लिए उचित शिक्षा की व्यवस्था करता है।
4. प्लेटो की शिक्षा का उद्देश्य शरीर और मस्तिष्क दोनों का विकास करना है।
5. प्लेटो का प्राथमिक स्तर पर शिक्षा की अनिवार्य व्यवस्था आज के राज्यों में भी पाई जाती है। यह प्लेटो के सिद्धान्त का अनुसरण है।

मैक्सी के अनुसार- "प्लेटो की शिक्षा योजना अनेक द ष्टियों से आश्चर्यजनक रूप में आधुनिक लगती है।" प्लेटो ने शिक्षा पर जो बल दिया है तथा शिक्षा का जो व्यापक महत्त्व बताया है। उसके लिए संसार उस महान् शिक्षा-शास्त्री का सदैव ऋणी रहेगा। जावेट का सारगर्भित कथन है- "प्लेटो पहला लेखक है जो स्पष्ट रूप से कहता है कि शिक्षा का क्रम आजीवन चलना चाहिए।" अतः प्लेटो का शिक्षा सिद्धान्त राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में एक अमूल्य एवं बहुत ही महत्त्वपूर्ण देन है।

साम्यवाद का सिद्धान्त

(Theory of Communism)

प्लेटो ने अपने आदर्श में न्याय की प्राप्ति के लिए जो दो तरीके अपनाए हैं, उनमें से साम्यवाद का निषेधात्मक व भौतिक तरीका भी शामिल है। प्लेटो का मानना है कि आदर्श राज्य की स्थापना में तीन बाधाएँ - अज्ञान, निजी सम्पत्ति व निजी परिवार हैं। इन बाधाओं को दूर करने के लिए प्लेटो शिक्षा का सिद्धान्त व साम्यवादी व्यवस्था का प्रावधान करता है। अज्ञान को तो शिक्षा द्वारा दूर किया जा सकता है लेकिन निजी सम्पत्ति परिवार की संस्था का लोप करने के लिए वह जिस व्यवस्था का समर्थन करता है, वह साम्यवाद के नाम से जानी जाती है। प्लेटो का साम्यवाद राजनीतिक सत्ता तथा आर्थिक लोलुपता के सम्मिश्रण से उत्पन्न बुराई को दूर करता है। प्लेटो साम्यवाद के द्वारा अभिभावक या संरक्षक वर्ग को सम्पत्ति तथा पारिवारिक जीवन की चिन्ताओं से मुक्त रखना चाहता है। इस सिद्धान्त को प्रतिपादित करने के पीछे प्लेटो का उद्देश्य शिक्षा के माध्यम से निःस्वार्थी शासकों को तैयार करने के बाद भी सांसारिक आकर्षणों और चारित्रिक दुर्बलताओं के शिकार होकर अपने कर्त्तव्य-पथ से भटकने को रोकना है। प्लेटो साम्यवाद को समाज का आध्यात्मिक उत्थान करने का नकारात्मक मार्ग कहता है। वह इसे व्यक्ति के उत्थान का भौतिक साधन मानता है। प्लेटो का मानना है कि कांचन और कामिनी का मोह संरक्षक वर्ग को धनलोलुप, स्वार्थी और आसक्त बना देता है। अतः संरक्षक वर्ग को अपने कर्त्तव्य पथ से विचलित होने से रोकना अति आवश्यक है। इसके लिए वह सम्पत्ति और पत्नियों का साम्यवाद का सिद्धान्त पेश करता है। इसके बारे में बार्कर ने कहा है- "साम्यवाद आत्मिक सुधार का केवल एक भौतिक व आर्थिक अनुपूरक साधन है, जिसे सर्वप्रथम तथा सर्वाधिक महत्त्व देते हुए प्लेटो लागू करना चाहता है।"

साम्यवाद का अर्थ

(Meaning of Communism)

प्लेटो का मानना है कि सैनिक और शासकों के लिए आदर्श राज्य में न तो अपना परिवार या घर होना चाहिए न ही निजी सम्पत्ति। अपने इस उद्देश्य या विचार को सकारात्मक रूप देने के लिए प्लेटो ने जिस विस्त त योजना का निर्माण किया है,

उसे ही प्लेटो का साम्यवाद या प्लेटो का साम्यवादी सिद्धान्त कहा जाता है। प्लेटो का कहना है कि संरक्षक या अभिभावक वर्ग के सदस्य विवाह करने और निजी परिवार बसाने के अधिकार से वंचित रहेंगे। पतियों, पत्नियों तथा बच्चों पर एक व्यक्ति या परिवार का अधिकार न होकर, सम्पूर्ण समाज या राज्य का अधिकार रहेगा। सभी को उसमें साँझा अधिकार प्राप्त होगा। अच्छी संतान या योग्य सन्तान पैदा करने के लिए योग्य पुरुष व स्त्री का संयोग कराया जाएगा, संरक्षक वर्ग के सदस्य निजी सम्पत्ति से भी वंचित रखे गए हैं। प्लेटो के अनुसार समस्त सम्पत्ति (चल व अचल) राज्य के नियन्त्रण में ही रहेगी। प्लेटो की योजना के अनुसार सभी सैनिकों व शासकों को (अभिभावक या संरक्षक वर्ग) बैरकों में रखना होगा और उन्हें साथ-साथ भोजन करना होगा। उत्पादक वर्ग अपनी पैदावार का कुछ हिस्सा उन्हें दे देगा ताकि उनकी अनिवार्य आवश्यकताएँ पूरी हो सकें। सामूहिकता की जीवन-व्यवस्था को प्लेटो ने पत्नियों व सम्पत्ति को साम्यवाद का नाम दिया है।

प्रेरणा स्रोत
(Sources of Inspiration)

प्लेटो की साम्यवादी विचारधारा कोई नवीन तथा मौलिक विचारधारा नहीं है। प्लेटो से पहले भी यूनान में साम्यवाद के बीज विद्यमान थे। एथेन्स में 5 वीं शताब्दी ई॰ पूर्व में ही साम्यवाद के दर्शन होते हैं। एथेन्स में राज्य का व्यक्तिगत सम्पत्ति पर नियन्त्रण था। स्पार्टा में स्त्रियों को राज्य हित की द ष्टि से शासन संचालन का भार सौंप दिया जाता था, बालकों को 7 वर्ष की आयु के बाद राज्य को सौंप दिया जाता था। स्पार्टा में सार्वजनिक जलपान ग ह तथा भोजनालयों की व्यवस्था थी। स्पार्टा के नागरिक अपनी उपज का एक भाग सामूहिक भोजनालयों में भेजते थे। क्रीट नामक नगर में सामूहिक खेती की जाती थी। एथेन्स के नगर में भी राज्य की अपनी जंगलात व खानें थीं। एथेन्स में पाइथोगोरस का मत था- "मित्रों की सम्पत्ति पर समान रूप से सबका अधिकार है।" यह साम्यवादी विचार थां यूरीपाइडीज नामक विचारक ने भी प्लेटो से पहले ही स्त्रियों के साम्यवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर दिया था, हिरोडोटस ने अर्गाथीसियन्ज की चर्चा में नारियों की साम्यवादी प्रथा का वर्णन किया है।

प्लेटो के साम्यवादी विचारों पर तत्कालीन परिस्थितियों का गहरा प्रभाव पड़ा है। प्लेटो के काल में सम्पत्तिशालियों के हित में शासन का संचालन होता था, शोषण प्रथा प्रचलित थी एवं आर्थिक तत्त्व राजनीतिक वातावरण पर प्रभावी थे। प्लेटो के युग में महिलाओं की दशा काफी दयनीय थी। सामाजिक क्षेत्र में उनकी भूमिका नगण्य थी। उन्हें चारदीवारी तक ही सीमित कर दिया गया था। उनका कर्त्तव्य पति की कामवासना की त प्ति, संतानोत्पत्ति व उनके पालन-पोषण तक ही सीमित था। प्लेटो नारियों की दुर्दशा से चिन्तित था। इसलिए उसने नारी उत्थान के लिए पत्नियों के साम्यवाद का सिद्धान्त पेश किया।

प्लेटो के साम्यवाद की विशेषताएँ
(Features of Plato's Communism)

प्लेटो की सम्पत्ति व पत्नियों से सम्बन्धित साम्यवाद की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :-

1. **अर्ध-साम्यवाद** (Half Communism) : प्लेटो की साम्यवादी व्यवस्था समाज के केवल एक वर्ग (शासक वर्ग) पर लागू होती है; उत्पादक वर्ग पर नहीं। इसमें संरक्षक वर्ग सम्पत्ति और कुटुम्ब से अछूता रहेगा, उत्पादक वर्ग को अपनी सम्पत्ति व परिवार रहेंगे। इसलिए इसे अर्ध-साम्यवाद की संज्ञा दी जाती है।

2. **न्याय की पूरक व्यवस्था** (Supplementary to Justice) : प्लेटो के न्याय सिद्धान्त का प्रमुख उद्देश्य आदर्श राज्य की स्थापना करना है। प्लेटो ने न्याय सिद्धान्त की व्यावहारिकता के लिए दो साधनों - शिक्षा एवं साम्यवाद को अपनाया है। शिक्षा योजना न्याय की प्राप्ति का आध्यात्मिक व सकारात्मक साधन है; वहीं साम्यवादी योजना न्याय की प्राप्ति का भौतिक व नकारात्मक तरीका है।

3. **अभिजातवादी** (Aristocratic) : प्लेटो केवल उच्च वर्ग को ही साम्यवादी व्यवस्था के अन्तर्गत रखता है। यह व्यवस्था केवल शासक वर्ग के लिए है, साम्यवाद का प्रयोजन केवल थोड़े शासकों के जीवन को नियन्त्रित करना है ताकि वे सामाजिक हित के कार्य निर्बाध रूप से पूरे कर सकें। अतः प्लेटो का साम्यवाद 'बौद्धिक अल्पतन्त्र' के शासन की स्थापना करता है।

4. **राजनीतिक** (Political) : प्लेटो का साम्यवाद आर्थिक न होकर राजनीतिक है। प्लेटो के साम्यवाद का उद्देश्य आर्थिक असमानता को दूर करना नहीं था अपितु तत्कालीन राजनीतिक दोषों को दूर करना था। प्लेटो चाहता था कि शासन की बागडोर दार्शनिक शासक के हाथों में हो।

5. **तपस्यात्मक** (Ascetic) : प्लेटो ने शासक तथा सैनिक वर्ग को सम्पत्ति तथा परिवार का मोह त्यागकर संन्यासी बनने को कहा है। वह व्यक्तिगत सुख की अपेक्षा समाज के सुख को महत्त्व देता है। प्लेटो के शासक वर्ग का जीवन त्याग का है, भौतिक सुखों का नहीं। प्लेटो का साम्यवाद साधुवादी है जिसमें शासक वर्ग समस्त आर्थिक सुख-सुविधाओं का त्याग करता है।
6. **आर्थिक ढाँचे में परिवर्तन नहीं** (No change in Economic Pattern) : प्लेटो का साम्यवाद उत्पादक वर्ग को इस व्यवस्था से बाहर रखता है। उत्पादक वर्ग अपनी सम्पत्ति का स्वामी बना रहता है। प्लेटो अपने साम्यवाद में आर्थिक ढाँचे को यथावत् बनाए रखना चाहता है।
7. **राज्य की एकता की रक्षक व्यवस्था** (System of Preserving Unity of State) : प्लेटो राज्य में एकता स्थापित करने के लिए संरक्षक वर्ग के लिए साम्यवादी व्यवस्था की योजना प्रस्तुत करता है। प्लेटो की साम्यवादी योजना अभिभावक वर्ग को कंचन और कामिनी के मोह से दूर रखकर सार्वजनिक हित में शासन करने के लिए प्रेरित करेगी। स्त्रियों को भी राज्य की सेवा का सक्रिय अवसर मिलेगा, इससे राज्य की एकता में व द्धि होगी।

साम्यवाद के प्रकार

(Types of Communism)

प्लेटो का साम्यवाद दो तरह का है :-

(क) सम्पत्ति का साम्यवाद (Communism of Property)

(ख) पत्नियों का साम्यवाद (Communism of Wives)

(क) सम्पति का साम्यवाद (Communism of Property) : प्लेटो ने सम्पत्ति के साम्यवाद के अन्तर्गत यह व्यवस्था की है कि अभिभावक वर्ग के लिए अर्थात शासक एवं सैनिक वर्ग के लिए निजी सम्पत्ति निषिद्ध होगी; उनकी कोई निजी भूमि या निजी सम्पत्ति नहीं होगी। उनका निजी घर भी नहीं होगा अपितु वे राज्य द्वारा निर्मित बैरकों में रहेंगे, उनका आवास सभी के लिए खुला रहेगा जिसमें कोई भी कभी आ सके। राज्य के उत्पादकों द्वारा उनको इतनी जीवन व त्ति दी जाएगी कि वह उनके लिए कम न पड़े और न ही निजी संग्रह के लिए बचे। वे सामूहिक रूप से मेजों पर भोजन करेंगे। उन्हें सोने-चाँदी के सामान का स्पर्श करना निषिद्ध होगा। चल-अचल सम्पत्त्वि से विरक्त होकर वे देश की सेवा और रक्षा करेंगे। इसी में उनकी मुक्ति है और ऐसा करने से वे राज्य के रक्षक बन सकेंगे। किन्तु जब वे कभी भी भूमि, घर और धन का उपार्जन करेंगे तब वे अन्य नगरवासियों से घ णा करने लग जाएंगे। वे प्रपंच करेंगे; द्वेष करेंगे तथा राज्य के रक्षक बनने की बजाय उसके शत्रु और निरंकुश व्यक्ति बन जाएंगे। लोग उनसे घ णा करेंगे और वे लोगों से। वे अपने सार्वजनिक हित के धर्म से पदच्युत हो जाएंगे। इस प्रकार वे राष्ट्र के सर्वनाश का ही मार्ग प्रशस्त करेंगे। प्लेटो के सम्पत्ति विषयक साम्यवाद की कुछ विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :-

1. यह साम्यवाद सभी नागरिकों के लिए नहीं, बल्कि केवल शासक और सैनिक वर्ग के लिए है। उसका उद्देश्य यद्यपि सम्पूर्ण समाज का कल्याण है किन्तु सम्पूर्ण समाज द्वारा व्यवहार में नहीं लिया जाता है।
2. प्लेटो का सम्पत्ति सम्बन्धी साम्यवाद भोग का नहीं बल्कि त्याग का मार्ग है। यह समाज के शासक वर्ग की कंचन और कामिनी का मोह छोड़कर जन-कल्याण में लगे रहने के लिए प्रेरित करता है। फोस्टर के शब्दों में- "प्लेटो के संरक्षक वर्ग को सामूहिक रूप से सम्पत्ति का स्वामित्व ग्रहण करना नहीं, वरन् इसका त्याग करना है।"
3. इसका उद्देश्य राजनीतिक है, आर्थिक नहीं। वर्तमान साम्यवाद की तरह यह आर्थिक विषमता को दूर न करके राजनीतिक दोषों को ही दूर करता है।

सम्पत्ति के साम्यवाद के पक्ष में तर्क

(Arguments in favour of the ommunism of Property)

प्लेटो ने निम्न आधारों पर सम्पत्ति को साम्यवाद का समर्थन किया है :-

1. **मनोवैज्ञानिक आधार** (Psychological Basis) : प्लेटो के अनुसार शासक और सैनिक आत्मा के विवेक और साहस तत्त्व का क्रमशः प्रतिनिधित्व करते हैं। इन तत्त्वों से प्रेरित होकर वे अपने निश्चित प्रतिनिधित्व करते हैं। इन तत्त्वों से प्रेरित

होकर वे अपने निश्चित उत्तरदायित्वों को निभाना चाहते हैं, तो उन्हें क्षुधारूपी निकृष्ट तत्त्व के जाल में नहीं फँसना चाहिए। निजी सम्पत्ति की व्यवस्था मनुष्य की उदार प्रव त्ति पर विपरीत प्रभाव डालती है और व्यक्ति को स्वार्थी बनाती है। यदि दार्शनिक शासक व सैनिक वर्ग के लिए निजी सम्पत्ति की व्यवस्था स्वीकार की जाएगी तो उनमे भी स्वार्थ की व द्धि होगी और क्रमशः उनका विवेक और साहस कुण्ठित हो जाएगा। सेबाइन के अनुसार- "शासकों को लालच से मुक्ति दिलाने का एक ही उपाय है कि उन्हें किसी चीज को अपना या निजी कहने के अधिकार से वंचित कर दिया जाए और यह उपाय प्लेटो की सम्पत्ति की व्यवस्था में ही सम्भव है।" अतः प्लेटो का सम्पत्ति का साम्यवाद आदर्श राज्य के लिए मनोवैज्ञानिक आवश्यक शर्त है।

2. **राजनीतिक और व्यावहारिक आधर** (Political and Practical Basis) : प्लेटो का सम्पत्ति का सिद्धान्त दो आधारों पर राजनीतिक है। एक तो यह सिर्फ शासक व सैनिक वर्ग पर लागू होता है, उत्पादक वर्ग पर नहीं। शासक वर्ग तक सीमित होने के कारण यह राजनीतिक है। दूसरा यह है कि शासन के ऊपर धन का बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। इस बुराई को दूर करने के लिए प्लेटो अभिभावक वर्ग को सम्पत्ति के अधिकार से मुक्त करता है। प्लेटो के अनुसार जब राजसत्ता तथा निजी सम्पत्ति का संयोग हो जाता है तो राज्य का पतन हो जाता है। शासक वर्ग धन की लालसा के लिए सत्ता का दुरुपयोग करता है। अतः प्लेटो राजनीतिक अर्थ शक्ति के केन्द्रीयकरण को समाप्त करके शासक वर्ग को केवल राजनीतिक शक्ति देने के पक्ष में है। प्लेटो की यही व्यावहारिक मान्यता भी है और राजनीतिक अनिवार्यता। यदि शासकों को व्यक्तिगत सम्पत्ति की छूट दी जाए तो शासक वर्ग भ्रष्ट होकर आदर्श राज्य को धनिकतन्त्र (Plutocracy) में बदल देगा। इस सम्बन्ध में सेबाइन ने लिखा है- "जहाँ तक सैनिकों व शासकों का सम्बन्ध है, प्लेटो को शासन के ऊपर धन के बुरे प्रभावों के बारे में इतना द ढ़ विश्वास था कि इस दोष को मिटाने के लिए उसे स्वयं सम्पत्ति के नाश के अतिरिक्त कोई रास्ता दिखाई नहीं दिया।"

3. **नैतिक आधार** (Moral Basis) : प्लेटो इस बात में विश्वास नहीं करता कि व्यक्ति का अस्तित्व मात्र स्वार्थसिद्धि के लिए है, उसके अनुसार कर्त्तव्यों का पूर्ण निष्ठा के साथ सम्पादन कर, अपने योग्य कार्य-क्षेत्र की सीमा में रहकर एवं समष्टि के एक अभिन्न अंग के रूप में अपने अस्तित्व को स्वीकार करके ही व्यक्ति अपने जीवन को सार्थक बना सकता है। प्लेटो का सिद्धान्त व्यक्ति को विवेकी व निस्वार्थी बनाकर कत्तव्यों का सम्पादन करने पर जोर देता है।

(4) **दार्शनिक आधार** (Philosophical Basis) : प्लेटो का सम्पत्ति का साम्यवादी सिद्धान्त दार्शनिक आधार पर भी उचित है। प्लेटो ने इसे कार्य विशिष्टीकरण के आधार पर सही ठहराया है। प्लेटो का कहना है कि जिन लोगों के ऊपर शासन का भार है, उनकी जीवन-शैली विशिष्ट होनी चाहिए। यह शैली कार्य विशेष के आधार पर ही होनी चाहिए। शासक वर्ग को उच्चादर्शों को प्राप्त करने के लिए सांसारिक प्रलोभनों से मुक्त होना चाहिए। प्लेटो का कहना है कि जिन व्यक्तियों पर शासन का भार है, उन्हें अपने कार्य में बाँधा या विघ्न उत्पन्न करने वाले सभी सांसारिक तत्त्व से उसी प्रकार बचना चाहिए जिस प्रकार ईश्वर की भक्ति में लगे एक साधक या संन्यासी को घर, पानी, बच्चे, सम्पत्ति या सांसारिक मोह-माया से दूर रहना चाहिए।

सम्पत्ति के साम्यवाद के उद्देश्य
(Aims of Communism of Property)

प्लेटो की सम्पत्ति की योजना के प्रमुख उद्देश्य निम्न प्रकार से है :-

1. **सार्वजनिक हित के लिए** (For Public Interest) : प्लेटो का दार्शनिक राजा सार्वजनिक हित में शासन करता है। वह सैनिक वर्ग व उत्पादक वर्ग पर सार्वजनिक हित के ही सन्दर्भ में कठोर नियन्त्रण रखता है।

2. **अभिभावक वर्ग के लिए कार्यकुशलता** (For efficiency of Guardian Class) : सम्पत्ति के साम्यवाद की योजना सैनिक वर्ग तथा शासक वर्ग को आर्थिक चिन्ताओं से मुक्त करती है और वह अपना समस्त समय व ध्यान अपनी कार्यकुशलता की व द्धि में लगा सकते हैं।

3. **राज्य की एकता के लिए** (For the Unity of State) : जब शासक वर्ग के पास निजी सम्पत्ति होती है तो शासक वर्ग में सम्पत्ति को लेकर आपसी प्रतियोगिता व ईर्ष्या भी होती है और इससे राज्य को एकता को भय उत्पन्न हो जाता है।

किन्तु सम्पत्ति को साम्यवादी योजना शासक वर्ग में इस प्रकार का भय उत्पन्न नहीं होने देती और यह राज्य की एकता की रक्षक सिद्ध होती है।

4. **सामाजिक भ्रात भाव के लिए** **(For Social Harmony)** : प्लेटो का सम्पत्ति का साम्यवाद संरक्षक वर्ग को साधुवादी प्रव त्ति अपनाने की सलाह देता है। सम्पत्ति पर किसी एक का अधिकार न होकर सम्पूर्ण समाज का अधिकार होगा। इससे किसी के पास कम या अधिक सम्पत्ति संचय करने की भावना पैदा नहीं होगी। सम्पत्ति का साम्यवाद लोगों में भ्रात भाव की भावना को जन्म देगा।

सम्पत्ति के साम्यवाद की आलोचनाएँ

(Criticisms of Communism of Property) :

प्लेटो के सम्पत्ति सम्बन्धी साम्यवाद की सेबाइन, बार्कर, पोपर व अरस्तू द्वारा अनेक आलोचनाएँ की गई हैं :-

(क) अरस्तू द्वारा की गई आलोचनाएँ

(Aristotle's Criticisms)

1. यह धारणा मानवीय प्रकृति की मूलभूत प्रव त्तियों की अवहेलना करती है। प्रत्येक मानव में निजी सम्पत्ति प्राप्त करना उसकी स्वाभाविक प्रव त्ति है और अगर उसे इस अधिकार से वंचित रखने की कोशिश की जाती है तो यह उसकी प्रकृति के प्रतिकूल बात होगी।
2. अरस्तू साम्यवाद को जीवन के सामान्य अनुभव के विरुद्ध मानता है।
3. अरस्तू का यह भी कहना है कि सम्पत्ति की साँझी व्यवस्था कभी भी सामाजिक कल्याण में व द्धि नहीं कर सकती।
4. अरस्तू का यह भी कहना है कि वैयक्तिक सम्पत्ति की प्रथा का विकास हमारी सभ्यता के विकास का प्रतीक है। वैयक्तिक सम्पत्ति का अभाव प्रगति के मार्ग को रोकता है।
5. इससे परोपकार और उदारता की श्रेष्ठ मानवीय सम्भावनाएँ नष्ट हो जाएँगी क्योंकि व्यक्ति परोपकार सम्बन्धी कार्य निजी सम्पत्ति के आधार पर ही करता है।
6. अरस्तू ने यह विचार प्रस्तुत किया है कि यह अधिक अच्छा होगा कि सम्पत्ति निजी हो परन्तु उसका प्रयोग सामूहिक हो। इससे राज्य तथा व्यक्ति दोनों का भला हो सकता है।
7. व्यक्तिगत सम्पत्ति के लिए उत्साह और लगन के कारण ही मनुष्य दूसरों के साथ प्रतियोगिता करता है तथा अपने सर्वोत्तम गुणों का विकास करता है परन्तु निजी सम्पत्ति के न होने पर ऐसा नहीं होगा।
8. प्लेटो की यह योजना बहुमत को शामिल नहीं करती है और इसलिए यह असफल होकर रहेगी तथा इससे राज्य में विभाजन होगा तथा फूट, ईर्ष्या व कलह की सम्भावना प्रबल होगी।
9. अरस्तू का मानना है कि बिना सम्पत्ति के अभिभावक वर्ग सुखी नहीं रहेगा और जिस राज्य में शासक वर्ग ही सुखी नहीं रहेगा उसमें भला प्रजा कैसे सुखी रह सकती है। अतः प्लेटो का साम्यवादी राज्य एक दुःखपूर्ण राज्य होगा।
10. राज्य में एकता को उचित शिक्षा द्वारा ही बढ़ाया जाना चाहिए, साम्यवाद से नहीं। प्लेटो स्वयं आत्मिक उपाय को भौतिक उपाय से अधिक महत्त्व देते हैं। अतः साम्यवाद एक गौण उपाय है।
11. प्लेटो आवश्यकता से अधिक एकता लाने की प्रव त्ति पर कायम है। वह राज्य की वेदी पर व्यक्तियों की इच्छाओं का बलिदान कर देता है।

(ख) अन्य विद्वानों द्वारा की गई आलोचनाएँ

(Criticisms Advocated by others)

1. **सद्‌गुणों के विकास में बाधक** **(Obstacle in the development of the Virtue)** : निजी सम्पत्ति की व्यवस्था अनेक सद्‌गुणों के विकास में सहायक होती है, जैसे दान, दया, परोपकार, अतिशय आदि के सद्‌गुण। किन्तु प्लेटो ने निजी सम्पत्ति के अवगुणों की ओर ध्यान न देकर संरक्षक वर्ग को इससे वंचित कर दिया है, जो अनुचित है।

2. **मानव स्वभाव के प्रतिकूल** (Against Human Nature) : प्लेटो ने निजी सम्पत्ति का अन्त करके मानव स्वभाव के विपरीत कार्य किया है। सम्पत्ति अर्जित करना मानव की स्वाभाविक प्रव त्ति है। इससे व्यक्ति के अनेक उदार गुण विकसित होते हैं। अतः प्लेटो ने मानव स्वभाव के विपरीत कार्य किया है।

3. **न्यायपूर्ण वितरण की समस्या** (Problem of Just Distribution) : निजी सम्पत्ति के अभाव में यह बताना कठिन होगा कि किस व्यक्ति का समाज में कितना योगदान है। इससे न्यायपूर्ण वितरण की अनेक समस्याएँ खड़ी होंगी जो समाज की एकता को नष्ट कर देंगी।

4. **व्यक्ति की प्रेरणा शक्ति का ह्रास** (Effect Incentive to Work) : निजी सम्पत्ति के समर्थकों का मानना है कि सम्पत्ति का आकर्षण व्यक्ति को अधिक से अधिक कार्य करने की प्रेरणा प्रदान करता है। इसी प्रेरणा से व्यक्ति अनेक नए-नए आविष्कार करता है, परिश्रम करता है। इसके अभाव में प्रेरणादायक शक्ति का ह्रास हो जाएगा।

5. **अमनोवैज्ञानिक** (Unpsychological) : निजी सम्पत्ति की संख्या मानव स्वभाव के अनुकूल है। व्यक्ति सम्पत्ति अर्जन करने के लिए ही सारे क्रियाकलाप करता है। प्लेटो अभिभावक वर्ग को इससे वंचित करके मानव प्रकृति के विरुद्ध चला जाता है। अतः प्लेटो का सम्पत्ति का सिद्धान्त अमनोवैज्ञानिक है।

6. **अर्ध-साम्यवाद** (Half-Communism) : प्लेटो सम्पूर्ण सामाजिक इकाई की बजाय एक वर्ग विशेष को ही इस व्यवस्था में शामिल करता है। प्लेटो का साम्यवाद केवल शासक और सैनिक (संरक्षक) वर्ग के लिए ही है। अगर व्यक्तिगत सम्पत्ति मतभेद, अनेकता, लोभ व मोह को जन्म देती है तो उत्पादक वर्ग को इसका अधिकार देना विवेकपूर्ण नहीं है।

7. **मानव स्वतन्त्रता की बलि चढ़ाना** : प्लेटो ने साम्यवाद के नाम पर मानव-स्वतन्त्रता का दमन किया है। प्लेटो की साम्यवाद व्यवस्था में केवल वही कार्य करने का अधिकार होगा जो राज्य चाहेगा। प्लेटो ने व्यक्ति को एक साधनमात्र मानकर व्यक्ति के अधिकार व स्वतन्त्रताओं पर कुठाराघात किया है।

8. **सम्पत्ति से वंचित शासकों की कठिनाइयाँ** : प्लेटो के संरक्षक वर्ग के सदस्य व्यक्तिगत सम्पत्ति से सम्बन्धित समस्याओं और प्रेरणाओं के ज्ञान से भी वंचित रहेंगे जिसके कारण उन्हें साधारण लोगों की सम्पत्ति से जुड़ी समस्याओं का निपटारा करने में अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ेगा। शासक उत्पादक वर्ग की व्यक्तिगत सम्पत्ति को तभी नियन्त्रित कर सकता है, जबकि वह स्वयं निजी सम्पत्ति के गुण-दोषों के बारे में ज्ञान रखता हो।

9. **आध्यात्मिक रोगों के लिए भौतिक उपचार अनुचित** : प्लेटो ने आध्यात्मिक रोगों को रोकने के लिए कोई आध्यात्मिक औषधि न ढूँढकर भौतिक साधनों का सहारा लिया है। संसार की भौतिक वस्तुएँ आध्यात्मिक वस्तुओं के साथ लगी हुई हैं, जिनके निराकरण से यदि बुराई दूर होती है तो उनके द्वारा जो हित होता है, वह भी दूर हो जाएगा। भौतिकतर आध्यात्मिकता का आधार है और उसके लिए साधन भी। भौतिकता को दूर करने का तात्पर्य होगा इन साधनों का अन्त।

10. **तपस्यात्मक** (Ascetic) : सम्पत्ति के साम्यवाद की योजना सार्वजनिक हित के नाम पर अभिभावक वर्ग को सम्पत्तिहीन रखती है और सम्पत्ति सम्बन्धी स्वतन्त्रता का अन्त करती है तथा तपस्वी का जीवन व्यतीत करने पर बाध्य करती है। प्लेटो के साम्यवाद में व्यक्ति का जीवन त्याग का जीवन है, भौतिक सुखों का भोग नहीं। प्लेटो का साम्यवाद साधुवादी है जिसमें राज्य के श्रेष्ठ व्यक्ति आर्थिक सुख-सुविधाओं का त्याग करते हैं। अतः साम्यवाद तपस्यात्मक है।

11. **दास-प्रथा का जिक्र नहीं** (Silent on Slavery System) : प्लेटो ने अपने व्यक्तिगत सम्पत्ति के सिद्धान्त में दास-प्रथा जैसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त की चर्चा नहीं की है। प्लेटो ने किसी ऐसे कार्य का उल्लेख नहीं किया है जो दासों द्वारा किया जाए। प्लेटो का दास-प्रथा को महत्त्वहीन समझना उसे स्वयं को ही महत्त्वहीन बना देता है।

12. **सम्पत्ति पर एक पक्षीय विचार** (One sided Views on Property) : प्लेटो सम्पत्ति के अवगुणों के आधार पर ही अपने सम्पत्ति के साम्यवादी सिद्धान्त को खड़ा करता हैं उसने सम्पत्ति के गुणों की अनदेखी करने की भारी भूल की है।

अनेक आलोचनाओं के बावजूद यह मानना ही पड़ेगा कि प्लेटो का सम्पत्ति का साम्यवादी सिद्धान्त व्यावहारिक, तर्कपूर्ण एवं उपयोगी है। यह उनके न्याय सिद्धान्त का तर्कसंगत निष्कर्ष है। सम्पत्ति का लालच समाज में भ्रष्टाचार व अराजकता को जन्म देता है। आज के सामाजिक वैमनस्य के लिए सम्पत्ति की चाह ही जिम्मेदार हैं प्लेटो ने तत्कालीन एथेन्स की सामाजिक बुराइयों को बहुत करीब से देखा था और उन दोषों को दूर करने के लिए उसने अपना यह सिद्धान्त खड़ा किया। यद्यपि उसकी कुछ

आलोचनाएँ तर्कपूर्ण हैं लेकिन आज भी यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि प्लेटो का साम्यवादी सिद्धान्त बहुत महत्त्वपूर्ण देन है।

पत्नियों का साम्यवाद

(Communism of Wives)

प्लेटो अपनी पुस्तक रिपब्लिक में संरक्षक वर्ग के लिए केवल निजी सम्पत्ति को ही निषिद्ध नहीं करता अपितु परिवर की संस्था को समाप्त कर अपनी पत्नियों की साम्यवादी योजना भी प्रस्तुत करता है। प्लेटो के न्याय सिद्धान्त पर आधारित एक आदर्श के निर्माण के लिए सम्पत्ति के साम्यवाद के साथ ही परिवार का साम्यवाद भी जरूरी है। प्लेटो परिवार व सम्पत्ति में घनिष्ठ सम्बन्ध मानता है। वस्तुतः परिवार का साम्यवाद की योजना उसके सम्पत्ति के ही साम्यवाद का तार्किक विस्तार है। प्लेटो का मानना है कि यदि पारिवारिक संस्था का अन्त किए बिना ही व्यक्तिगत सम्पत्ति के उन्मूलन का प्रयास निरर्थक होगा। विवाह और परिवार भी निजी सम्पत्ति के ही रूप हैं और इससे लालच और ईर्ष्या को बढ़ावा मिलता है। अतः उद्देश्य की द ष्टि से साम्यवाद के ये दोनों प्रकार एक-दूसरे के सहायक व पूरक हैं। प्लेटो के परिवार या पत्नियों के साम्यवाद के महत्त्व पर बार्कर लिखता है- "परिवार की समाप्ति का दिन राज्य के लिए एकता व व्यक्ति के लिए स्वतन्त्रता तथा इन दोनों के लिए न्याय की शुरुआत का दिन होगा।"

पत्नियों के साम्यवाद के पक्ष में तर्क

(Arguments for Communism of Wives)

प्लेटो के साम्यवाद का प्लेटो ने निम्न आधारों पर पक्ष लिया है :-

1. **राजनीतिक आधार :** (Political Basis) : प्लेटो चाहता था कि स्त्रियाँ घर की चारदीवारी की कैद से मुक्त होकर राज्य के शासन सम्बन्धी कार्यों में भाग ले। नारियों के योगदान के बिना राज्य अपने आधे भावी संरक्षकों से वंचित रह जाता है। वह स्त्री-पुरुष में कोई भेद स्वीकार नहीं करता। उसका मानना है कि ऐसा कोई भी प्रशासनिक कार्य नहीं है जो स्त्री न कर सके। वह केवल लिंग-भेद को ही स्वीकार करता है, परन्तु इसे शासन क्रियाओं में बाधक नहीं मानता है। प्लेटो का मानना है कि स्त्रीयाँ राजनीतिक, प्रशासनिक और सैनिक कार्यों में भाग ले सकती हैं और अपना कर्त्तव्य उचित प्रकार से निभा सकती हैं। इस लिए प्लेटो परिवार की कैद से उन्हें मुक्ति दिलाना चाहता है।
2. **नैतिक आधार** (Ethical Basis) : प्लेटो का मानना है कि परिवार व सम्पत्ति का मोह शासक वर्ग को भ्रष्ट बना देता है। पारिवारिक स्नेह-बंधन का कारण होता है। संतान की चिन्ता व्यक्ति को स्वार्थी बनाकर पथभ्रष्ट करती है। परिवारों के मोह के कारण शासक अनुचित नीतियों का पालन करते हैं। इससे शासक वर्ग के विभिन्न परिवारों में भी संघर्ष उत्पन्न होता है। यह राज्य की एकता के लिए भय को पैदा करता है। परिवार राज्य की एकता में महान् बाधक होता है। शासक व सैनिक वर्ग परिवार के प्रति अनुरक्त होकर राज्य के प्रति अपने कर्त्तव्यों की अवहेलना कर सकते हैं। अतः प्लेटो नैतिक आधार पर इस साम्यवाद का समर्थन करता है।
3. **सुप्रजनन का आधार** (Eugenic Basis) : प्लेटो तत्कालीन वैवाहिक प्रथा और पारिवारिक व्यवस्था पर कुठाराघात करता है। उस समय मनुष्य लापरवाही से संभोग करके पशु-पक्षियों की तरह अवैध सन्तानों को जन्म देते थे जो राज्य के हित में किसी भी द ष्टि से उपयोगी नहीं होती थी। राज्य में कुरूप व अयोग्य सन्तानों का अम्बार लगा हुआ था। प्लेटो ने इस समस्या से निजात दिलाने के लिए महसूस किया कि आदर्श राज्य के लिए श्रेष्ठ नागरिक जरूरी हैं। इसके लिए योग्य पुरुष व स्त्रियों का ही सहवास होना आवश्यक है ताकि श्रेष्ठ सन्तान ही जन्म ले। प्लेटो संरक्षक या अभिभावक वर्ग को ही इसके योग्य समझकर इस वर्ग के स्त्री पुरुषों में अस्थायी विवाह सम्बन्ध द्वारा सन्तानोत्पत्ति आवश्यक मानता है। परन्तु वह इसमें यह सावधानी रखता है कि स्त्रियों व पुरुषों के जोड़े उनकी आयु व गुण को ध्यान में रखकर ही बनाए जाएं ताकि श्रेष्ठ सन्तान का जन्म हो।

पत्नियों के साम्यवाद का स्वरूप औरा उसकी व्याख्या

(The form of Communism of Wives and its Exposition)

1. **राज्य-परिवार का स्वरूप** (Nature of State Family) : प्लेटो ने संरक्षक वर्ग के निजी परिवार का उन्मूलन कर राज्य-परिवार (State-Family) का समर्थन किया है। उसके समक्ष नारी सुधार की समस्या थी और साथ ही राज्य के

लिए अच्छी-से-अच्छी सन्तान उत्पन्न करना चाहता था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने संरक्षक के निजी परिवार का उन्मूलन किया और एक राज्य-परिवार का रूप चित्रित किया।

2. **यौन-सम्बन्ध (Sexual Relation)** : प्लेटो ने उस समय की वैवाहिक प्रथा के दोषों को दूर करने के लिए, अपने आदर्श के निर्माण के लिए यौन-सम्बन्धों में पत्नियों के साम्यवाद के माध्यम से सुधार करने का प्रयास किया है। संरक्षक वर्ग भी अपनी निजी पत्नी नहीं रख सकेगा। सभी का समाजीकरण कर दिया जाएगा। वे एक साथ बैरकों में रहेंगे और एक साथ खाना खाएँगे। प्लेटो को विश्वास है कि परिपक्व व श्रेष्ठ नर-नारी ही श्रेष्ठ संतान को जन्म दे सकते हैं। जिन स्त्री-पुरुषों ने सार्वजनिक सेवा के कार्य या युद्ध में श्रेष्ठता दिखाई है, उसे अधिक सन्तान पैदा करने की छूट प्राप्त होगी। स्त्री व बच्चे सामाजिक होंगे न कि किसी एक व्यक्ति के।

3. **राज्य बच्चों के पालन-पोषण का पूरा ध्यान रखेगा (State Will Take Care of Upbringing)** : प्लेटो के अनसार बच्चों के जन्म के बाद उनके पालन-पोषण का उत्तरदायित्व राज्य अपने ऊपर लेगा। बच्चों को शिशु-ग हों में रखा जाएगा। माताएँ बच्चों को राज्य की देख-रेख में दूध पिलाएँगी, परन्तु उन्हें अपने बच्चों का कोई भी निजी ज्ञान नहीं होगा, बच्चों को भी अपनी माँ का कोई ज्ञान नहीं होगा।

4. **बच्चा पैदा करने की आयु (Age of Conception)** : प्लेटो के अनुसार स्त्रियों को 20 से 40 वर्ष तक तथा पुरुषों को 25 से 55 वर्ष तक सन्तान पैदा करने की छूट होगी। इस समय स्त्री व पुरुष परिपक्व होते हैं। उनके इस आयु में सहवास से यौगय सन्तान ही पैदा होगी। राज्य केवल श्रेष्ठ स्त्री-पुरुष के सहवास से उत्पन्न सन्तान का ही लालन-पालन करेगा, निकृष्ट स्त्री-पुरुषों के संभोग से उत्पन्न सन्तान का पालन-पोषण राज्य नहीं करेगा। राज्य के नियमों के विरुद्ध जो सन्तान पैदा होगी, उसे या तो राज्य नहीं पालेगा या उसे किसी अज्ञात एवं अंधकारमय जगह में गाड़ दिया जाएगा या जन्म लेने से पूर्व ही गर्भपात द्वारा नष्ट कर दिया जाएगा।

5. **सम्बन्धों का ज्ञान** : प्लेटो कहता है कि संरक्षक वर्ग के अन्तर्गत आने वाले बच्चे सामुदायिक जीवन के भागीदार होंगे और इस सामुदायिक जीवन में उनके सम्बन्ध भी सामुदायिक होंगे। पुरुष उन सभी बच्चों को अपना पुत्र या पुत्री समझेगा जो उनके वर बनने के मास से लेकर 10 वें मास तक पैदा होते हैं और वे स्त्री बच्चे उस पुरुष को पिता समझेंगे। वह इन बच्चों की सन्तानों को पौत्र कहेगा और वे समुदाय के पुरुषों व स्त्रियों को दादा-दादी कहेंगे तथा वे सब बच्चे जो कि एक माता-पिताओं के समुदाय के प्रजनन काल में उत्पन्न हुए हैं एक दूसरे को भाई-बहिन मानेंगे।

पत्नियों के साम्यवाद के उद्देश्य
(Aims of Communism of Wives)

प्लेटो के अनुसार पत्नियों के साम्यवाद को प्रतिपादित करने के पीछे निम्नलिखित उद्देश्य हैं:-

1. **नारियों की मुक्ति (Emancipation of Women)** : प्लेटो के समय में एथेन्स में राजनीतिक व सामाजिक कार्यों में स्त्रियों को भाग लेने का अधिकार प्राप्त नहीं था। उन्हें केवल घर की चारदीवारी में रहकर बच्चों का लालन-पालन करना होता था। राज्य की सेवा के लिए बच्चों को उत्पन्न करने में विवाह एक साधन और पत्नी एक उपकरण मानी जाती थी। परिवार की सीमित परिधि में बंधी होने के कारण उनका व्यक्तित्व कुंठित होता है। इससे समाज को भी हानि होती है, क्योंकि स्त्री समाज की आधी सुषुप्त शक्ति होती है। प्लेटो ने यह स्वीकार किया है कि स्त्रियों की संभाव्य शक्ति को ध्यान में रखते हुए उन्हें चारदीवारी से बाहर निकालना आवश्यक है। प्लेटो ने कहा है- "परिवार एक ऐसा साधन है जहाँ मनुष्य की प्रतिभा का हनन होता है तथा पत्नी की मानसिक शक्ति चौके-चूल्हे में ही बर्बाद हो जाती है।" प्लेटो स्त्रियों के इस हीन जीवन का अन्त करके उन्हें सक्रिय राजनीति में देखना चाहता था।

2. **अभिभावक वर्ग की क्षमता में व द्धि (Increase in Potentiality of Guardian Class)** : परिवार के साम्यवाद की योजना उन्हें परिवार के कुप्रभावों से बचाती हुई अपने परिवार की दैनिक आवश्यकताओं की चिन्ता से मुक्त रखती है। ऐसी स्थिति में अभिभावक वर्ग अपने कर्त्तव्य की पूर्ति करने में भी अधिक सक्षम होगा।

3. **जनसंख्या का सन्तुलन (Equilibrium in Population)** : परिवार के साम्यवाद की योजना का एक प्रमुख उद्देश्य आदर्श नगर राज्य की जनसंख्या को आदर्श सीमा में ही बनाए रखना है। प्लेटो के अनुसार- "विवाहों की संख्या को हम शासकों

के स्वविवेक पर छोड़ देंगे। वे इस लक्ष्य को सदैव ध्यान में रखेंगे कि युद्धों, महामारियों आदि से जनसंख्या की होने वाली हानि के बाद भी नागरिकों की जनसंख्या यथासम्भव स्थिर रहे और वे ऐसे सभी सम्भव प्रयत्न करेंगे कि हमारा राज्य न तो जनसंख्या की द ष्टि से बड़ा हो पाए और न छोटा रह जाए. . .।" एण्टोनी फलु के अनुसार- "प्लेटो सामाजिक द ष्टि से जनसंख्या की विस्फोटक स्थिति के बारे में जागरूक है।"

4. **नस्ल-सुधार** (Improvement in Race) : प्लेटो के इस साम्यवाद का उद्देश्य नस्ल-सुधार करना भी है। प्लेटो ने स्पष्ट कहा है कि केवल योग्य पुरुषों व स्त्रियों का ही संभोग कराया जाएगा। कुरूप बच्चों को मार दिया जाएगा या राज्य उनका पालन-पोषण नहीं करेगा। प्लेटो का नस्ल-सुधार का उद्देश्य एक स्वस्थ, हृष्ट-पुष्ट, बलवान, वीर तथा प्रतिभाशाली सन्तान को पैदा करके पूरा हो सकता था। अतः प्लेटो ने नस्ल-सुधार के लिए परिवार के साम्यवाद का सिद्धान्त प्रतिपादित किया।

5. **शासकों के शुद्ध विवेक की रक्षा** : प्लेटो के आदर्श राज्य में निर्लिप्त, निष्काम, प्रज्ञावान, दार्शनिक शासकों का शासन होगा, किन्तु सब जानते हैं कि ऐसे शासक पारिवारिक मोह के कारण शुद्ध कर्म व ज्ञान के मार्ग से भटक सकते हैं। प्लेटो ने माना है कि कंचन और कामिनी शासक वर्ग को अपने मार्ग से विचलित कर सकते हैं। इसलिए वह शासक वर्ग के शुद्ध विवेक की रक्षा करने के लिए परिवार को साम्यवाद की व्यवस्था करता है।

6. **राज्य में एकता** (Unity in State) : परिवार व्यक्तितयों में तेरे-मेरे की भावना उत्पन्न करता है और इस भावना के कारण संरक्षक वर्ग में सत्ता प्राप्ति के लिए संघर्ष उत्पन्न होता है। प्लेटो ने राज्य के हित में पारस्परिक संघर्ष की इस प्रव त्ति का अन्त आवश्यक माना है। अतः प्लेटो अभिभावक वर्ग के समस्त स्त्री-पुरुषों को एक ही परिवार (राज्य परिवार) के रूप में बाँधकर राजनीतिक एकता की स्थापना करना चाहता है ताकि समाज के सभी व्यक्ति आपस में भ्रात भाव से रहें।

पत्नियों के साम्यवाद की आलोचना

(Criticisms of Communism of Wives)

प्लेटो के साम्यवाद की निम्न आधारों पर आलोचना की गई है :-

1. **परिवार - एक ऐतिहासिक अनुभव** (Family - A Historical Experience) : प्लेटो ने परिवार नामक संस्था का लोप करके भारी गलती की है। परिवार से ही राज्य व समाज का जन्म हुआ है। परिवार राज्य की छोटी इकाई है। परिवार का अन्त करना मानव समाज के लिए अहितकर होगा क्योंकि :-

   (क) परिवार एक ऐतिहासिक संस्था है। इसके पीछे युगों का अनुभव है। इसे समाप्त करने का अर्थ है - पुनः असभ्यता के युग में लौटना।

   (ख) राज्य की तरह परिवार भी मानव-स्वभाव से उत्पन्न संस्था है। राज्य के नाम पर परिवार का अन्त करना सर्वथा अनुचित है।

   (ग) परिवार नागरिकता की प्रथम पाठशाला है। परिवार ही बच्चे को सद्‌गुणी बनाता है। परिवार में सहयोग, सहानुभूति, दया, परोपकार व अनुशासन जैसे गुणों को सीखा जाता है।

2. **पत्नी और परिवार के प्रति प्लेटो के विचार सही तथ्यों पर आधारित नहीं हैं (Plato's Ideas on Wives and Family are not Based on Correct Fact)** : आलोचकों का कहना है कि स्त्री का बच्चों के प्रति स्नेह और उनके पालन-पोषण की जो स्वाभाविक प्रव त्ति होती है, उसे न तो शिशु पालनग हों को स्थानान्तरित किया जा सकता है और न ही उन ग हों में वही प्यार ही प्राप्त हो सकता है। वैसे भी मात त्व को समाप्त करना कभी भी एक आदर्श राज्य की नीति नहीं हो सकती बल्कि मात त्व को राज्य में उचित स्थान को प्राप्त करने का प्रोत्साहन ही प्लेटो के न्याय का सही रूप हो सकता था। मात त्व एक ऐसी चीज है जिसे माँ के सिवाय कोई दूसरा कृत्रिम तरीके से प्रदान नहीं कर सकता। स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध भी पशुओं जैसा सम्बन्ध नहीं है जो सन्तान की उत्पत्ति के लिए ही जुड़ता हो। उसमें एक पवित्रता है और यह सम्बन्ध जीवनभर के लिए होता है। अतः प्लेटो ने पारिवारिक सम्बन्धों के पीछे की वास्तविकता को नहीं समझा। इसलिए अरस्तू ने इसे एक व्यभिचारी योजना कहा है जिसे कोई भी सभ्य मानव-जाति स्वीकार नहीं करेगी। माता के स्नेह को प्लेटो राज्य की एकता के नाम पर कुर्बान नहीं कर देता है।

3. **जो वस्तु सभी की होती है, वह किसी की भी नहीं होती** (The Thing That Belongs to All, Belongs to None): अरस्तू काआ रोप है कि प्लेटो के साम्यवाद में अभिभावक वर्ग की सारी पत्नियों और सभी बच्चे यदि सभी के हैं तो वास्तव में वे किसी के नहीं हैं और इसलिए कोई भी उनकी व्यवस्था व परवाह उतने प्रेम से नहीं कर सकता जितना परिवार में उन्हें मिलता है।

4. **अपराध अधिक होंगे** (Crimes will Increase) : आलोचकों का कहना है कि यदि परिवार व व्यक्तिगत सम्पत्ति न रहेंगे तो पिता-पुत्र, माँ-बेटे, भाई-भाई का रिश्ता समाप्त हो जाएगा और तब समाज में स्वाभाविक होने वाली समस्याओं, झगड़ों या अपराधों को पारिवारिक ढंग से नहीं सुलझाया जा सकेगा। ऐसी स्थिति में अपराध बढ़ेंगे। समाज में नैतिक मूल्यों का पतन हो जाएगा और नागरिक अधिक अपराधों की ओर प्रव त्त होंगे।

5. **अमनोवैज्ञानिक तथा अव्यावहारिक** (Unpsychological and Impracticable) : प्लेटो के परिवार के साम्यवाद की योजना अपनी प्रकृति से अमनोवैज्ञानिक और अव्यावहारिक है। यही कारण है कि यह योजना प्लेटो के समय में ही अमान्य हो गई थी और न ही इसे आज तक कहीं लागू किया गया। प्लेटो ने स्वयं भी अपनी ग्रन्थ 'लॉज' में अस्थायी विवाह की जगह स्थायी विवाह व निजी परिवार की व्यवस्था को मान्यता दी है।

6. **अनावश्यक योजना** (Unnecessary Planning) : अरस्तू का विचार है कि प्लेटो ने न्याय की स्थापना के लिए साधन के रूप में परिवार का साम्यवाद गलत अपनाया क्योंकि प्लेटो जिन दोषों - जैसे लोभ, पक्षपात आदि को दूर करने की बात करता है। उसके लिए तो शिक्षा व्यवस्था का सहारा लेना उचित होता। ये रोग नैतिक रोग के समान हैं और इनका इलाज भौतिक साधन द्वारा नहीं हो सकता।

7. **परिवार रहित शासक की व्यावहारिक कठिनाइयाँ** (Practical Difficulties for the Ruler) : पारिवारिक सम्बन्धों से अनभिज्ञ व अनजान शासकों को उत्पादक वर्ग के पारिवारिक विवादों को हल करने का अधिकार है, किन्तु वे इस द ष्टि से अयोग्य ही सिद्ध होंगे, क्योंकि उन्हें स्वयं पारिवारिक जीवन का कोई अनुभव नहीं होता है।

8. **अपवित्र यौन-सम्बन्ध की सम्भावना** (Possibility of Immoral Sexual-Relation) : प्लेटो को परिवार के साम्यवाद में ऐसी यौन सम्भावना भी है जिससे रक्त का सम्बन्ध भी हो। इस व्यवस्था में पिता-पुत्री को और भाई-बहिन को नहीं पहचानता। अतः इससे अपवित्र यौन-सम्बन्ध की अधिक सम्भावना है जो सामाजिक मापदण्डों के विरुद्ध है। नैतिकता इसका कभी समर्थन नहीं कर सकती।

9. **दासों के लिए स्थान नहीं** (No Place for Slaves) : प्लेटो ने दास-वर्ग को इस व्यवस्था से पूर्णतः बाहर रखा है। दास-प्रथा उस समय की सबसे महत्त्वपूर्ण प्रथा थी। दास एक उपयोगी सामाजिक वर्ग का रूप ले चुका था। उनकी अवहेलना करना सर्वथा गलत है।

10. **न्याय सिद्धात के विरुद्ध** (Against the Theory of Justice) : प्लेटो के न्याय सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वाभाविक गुण के अनुसार आचरण करना चाहिए, किन्तु प्लेटो का परिवार का साम्यवाद के सिद्धान्त का उल्लंघन करता है। स्त्रियों के लिए स्वाभाविक गुण बच्चों का लालन-पालन है, किन्तु प्लेटो अभिभावक वर्ग की स्त्रियों को इस स्वाभाविक कर्म से वंचित करता है।

11. **व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में बाधक** : प्लेटो राज्य की एकता को साध्य मानकर व्यक्ति को उसका साधनमात्र मान लेता है। वह अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिए परिवार की संस्था को राज्य के अधीन कर देता है। अतः यह व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में बाधक है।

12. **जीवशास्त्र के नियमों के विरुद्ध** : प्लेटो की परिवार की साम्यवादी व्यवस्था जीवशास्त्र के नियमों के विरुद्ध है। इसमें कोई गारण्टी नहीं है कि गुणवान माता-पिता की सन्तान भी गुणवान हो। यह पद्धति पशु-विज्ञान में तो लागू हो सकती है, जीवशास्त्र में नहीं।

13. **स्त्री-पुरुष में भेद होता है** : प्लेटो स्त्री-पुरुष में लिंग-भेद को छोड़कर अन्य कोई अन्तर नहीं मानता। स्त्री कोमल हृदय होती है, जबकि पुरुष कठोर हृदयी होते हैं। इस तरह के कई अन्तर दोनों में होते हैं।

प्लेटो का पत्नियों का साम्यवाद न ही वांछनीय है और न ही सम्भव। प्लेटो परिवार जैसी महत्त्वपूर्ण संस्था का लोप करता है, जो असम्भव है। परिवार जैसी संस्था के समाप्त होते ही बच्चे सद्‌गुणी न होकर आपराधिक प्रव त्ति की ओर प्रव त्त होंगे।

यह सिद्धान्त तर्क की द ष्टि से तो ठीक हो सकता है लेकिन नैतिकता, संस्कृति तथा मनोविज्ञान की द ष्टि से यह कभी मान्य नहीं हो सकता। प्लेटो की सबसे बड़ी उपलब्धि तो यह है कि उसने महिलाओं और पुरुषों की समानता पर जोर दिया है। उसके सारे प्रयास नारी उत्थान के लिए ही हैं। इस कार्य में परिवार की भूमिका काफी महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकती है, जिसकी प्लेटो ने उपेक्षा की है। यह निर्विवाद सत्य है कि साम्यवादी व्यवस्था का प्रयास प्लेटो की नारी उत्थान के लिए एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण देन है।

प्लेटो प्रथम साम्यवादी के रूप में
(Plato As the First Communist)

मैक्सी ने अपने ग्रन्थ 'पोलिटिकल फिलास्फी' (Political Philosophy) में लिखा है कि प्लेटो साम्यवादी विचारों का मुख्य प्रेरणा-स्रोत है और 'रिपब्लिक' (Republic) में सभी साम्यवादी और समाजवादी विचारों के बीज मिलते हैं। लेकिन प्रो॰ नैटलशिप, प्रो॰ कैटलिन, प्रो॰ बार्कर, मैकरी के इस विचार से सहमत नहीं हैं। प्रो॰ कैटलिन के अनुसार प्लेटो का साम्यवाद न तो स्ववर्गीय है और न ही अन्तरराष्ट्रीय है। यह आधुनिक साम्यवाद से बिल्कुल मेल नहीं खाता। आधुनिक साम्यवाद जिसका प्रतिपादन कार्ल मार्क्स और लेनिन जैसे विचारकों ने किया है, एक वर्ग-विहीन और राज्य-विहीन समाज के विश्वास करते हैं। मुख्य रूप में यह विचारधारा पूंजीपति वर्ग के सर्वहारा वर्ग के शोषण को समाप्त करने पर जोर देती है।

प्रो॰ जायजी की राय में प्लेटो और रूस के साम्यवादियों में बहुत सी समानता है। दोनों ही व्यक्तिगत सम्पत्ति को सभी बुराइयों की जड़ मानते हैं, दोनों ही व्यक्तिगत सम्पत्ति और गरीबी को समाप्त करने के पक्षधर हैं। दोनों ही सामूहिक शिक्षा और बच्चों की सामूहिक देख-रेख में चाहते हैं। दोनों ही कला और साहित्य को राज्य का केवल साधन मानते हैं और दोनों सभी विज्ञान और विचारधाराओं को राज्य के हित में प्रयोग करना चाहते हैं। इस आधार पर प्लेटो को प्रथम साम्यवादी मानना सर्वथा सही है। लेकिन दूसरी ओर टेलर ने इसके विपरीत विचार दिए हैं। टेलर के अनुसार- "रिपब्लिक में न तो समाजवाद पाया जाता है और न साम्यवाद।" प्लेटो को प्रथम साम्यवादी मानने के लिए साम्यवाद की आधुनिक विचारधारा को प्लेटो की विचारधारा से तुलना करना आवश्यक हो जाता है। दोनों अवधारणाओं में कुछ समानताएँ व असमानताएँ हैं।

समानताएँ
(Similarities)

प्लेटो के प्रथम साम्यवादी होने के पक्ष में कुछ विचार हैं, जो परस्पर दोनों विचारधाराओं की समानता पर आधारित है। दोनों में मुख्य समानताएँ निम्नलिखित हैं :-

1. **व्यक्तिगत सम्पत्ति सारी बुराइयों की जड़ है (Private Property is the Root of all Evils)** : प्लेटो और आधुनिक साम्यवाद दोनों ही इस बात पर सहमत हैं कि समाज में समस्त दोषों का कारण निजी सम्पत्ति का पाया जाना है। इलिए इसके स्थान पर सार्वजनिक सम्पत्ति की व्यवस्था करना आवश्यक है। प्लेटो ने संरक्षक वर्ग को व्यक्तिगत सम्पत्ति से वंचित करके स्वयं को आधुनिक साम्यवाद के पास लाकर रख दिया है। व्यक्तिगत सम्पत्ति के अन्त से ही समाज की सभी बुराइयों का अन्त हो सकता है।

2. **अधिनायकतन्त्र मे आस्था (Faith in Dictatorship)** : दोनों ही साम्यवाद सम्पूर्ण समाज के हित के लिए एक सर्वसत्ताधिकावादी राज्य या शासक में विश्वास करते हैं। प्लेटो विवेकयुक्त दार्शनिक शासक के अधिनायकतन्त्र की स्थापना करता है जो कानून एवं परम्परा से ऊपर है। वह उत्पादक व सैनिक वर्ग पर समाज हित में पूर्ण नियन्त्रण रखता है। प्लेटो का दार्शनिक शासक सर्वशक्तिमान है। आधुनिक साम्यवादी सर्वहारा वर्ग की तानाशाही में विश्वास करते हैं। अतः दोनों ही अधिनायकतन्त्र के पक्षधर हैं।

3. **स्त्री-पुरुष की समानता में विश्वास (Faith in Equality of Women and Men)** : दोनों ही साम्यवादी स्त्री-पुरुष की समान योग्यता व क्षमता में विश्वास करते हैं। प्लेटो के अनुसार स्त्री-पुरुष में लिंग भेद को छोड़कर कोई अन्तर नहीं है। स्त्रियाँ भी पुरुषों की तरह प्रशासकीय पदों को अच्छी तरह संभाल सकती हैं। आधुनिक साम्यवादी भी नारी शक्ति में पूर्ण विश्वास करते हैं।

4. **कला और साहित्य राज्य के साधन हैं** (Art and Literature are Means of State) : दोनों ही साम्यवाद कला और साहित्य को केवल एक साधन मानते हैं जो केवल राज्य के हितों के अनुकूल होना चाहिए। इसलिए वे कला और साहित्य पर नियन्त्रण की बात करते हैं। कविता की भावना, संगीत के स्वर, वाद्ययन्त्रों की लय तक को वे राज्य द्वारा नियन्त्रित व निर्देशित करना चाहते हैं। इसी तरह आधुनिक साम्यवादी भी कला और साहित्य पर कठोर नियन्त्रण की बात करते हैं। यदि कोई कला व साहित्य राज्य हितों के विपरीत है तो उसे किसी भी अवस्था में सम्मान नहीं दिया जा सकता। अतः दोनों ही साम्यवादी कला ओर साहित्य पर नियन्त्रण के पक्षधर हैं और वे इन्हें राज्य के कल्याण का एक साधन मानते हैं। इस साधन का पवित्र होना जरूरी है।

5. **कर्त्तव्य की भावना ही सामाजिक न्याय है** (The Sense of Duty is Social Justice) : दोनों ही साम्यवाद समाज के हित में ही व्यक्ति का हित मानते हैं। वे कर्त्तव्यों पर अधिक जोर देते हैं। वे अधिकारों के नाम पर प्रतिबन्धों की व्यवस्था के समर्थक हैं। प्लेटो ने अपनी योग्यतानुसार योग्य स्थान पर काम करने को सामाजिक न्याय कहा है। आधुनिक साम्यवाद भी इस बात पर जोर देता है कि खाने का अधिकार उसी मनुष्य को है जो समाज के लिए काम करता है। अतः दोनों ही साम्यवादी अधिकारों की तुलना में कर्त्तव्यों को महत्त्व देते हैं।

6. **अव्यावहारिक** (Impracticable) : दोनों ही साम्यवाद मानव-स्वभाव व मनोविज्ञान के अनुरूप नहीं हैं, इसलिए वे व्यावहारिक नहीं है। इस दोष के कारण न तो प्लेटो की साम्यवादी व्यवस्था कभी कायम हुई है और न ही होगी। इसी तरह आधुनिक साम्यवादी जिस शक्ति द्वारा साम्यवादी समाज की स्थापना की बात करते हैं, वह भी अव्यावहारिक है। आज विश्व के अनेक साम्यवादी व्यवस्था पतन की राह पर है।

7. **समष्टिवाद में विश्वास** : दोनों ही व्यवस्थाएँ समष्टिवादी हैं। दोनों साम्यवाद समुदाय की सर्वोच्चता में विश्वास करते हैं जिसमें व्यक्ति की वैयक्तिकता की उपेक्षा करते हैं। दोनों व्यवस्थाओं में व्यक्ति को एक साधनमात्र माना गया है।

8. **आर्थिक प्रतियोगिता की समाप्ति** : दोनों ही साम्यवाद समाज के आर्थिक प्रतियोगिता को समाप्त करने के पक्षधर है। प्लेटो का विश्वास है, यही राजनीतिक कलह का कारण है। आधुनिक साम्यवाद भी आर्थिक प्रतियोगिता को समाप्त कर समाज में एकता का भाव पैदा करना चाहता है।

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर कहा जा सकता है कि प्लेटो ने ही साम्यवाद के बीज बो दिए थे। प्लेटो के साम्यवादी सिद्धान्तों के आधार पर ही आधुनिक साम्यवादी दर्शन खड़ा किया है। इस द ष्टि से प्लेटो को प्रथम साम्यवादी कहना सर्वथा सही है।

असमानताएँ
(Dissimilarities)

प्लेटो के साम्यवाद व आधुनिक साम्यवाद में बहुत सी असमानताएँ हैं जिनके आधार पर उसके प्रथम साम्यवादी होने के विचार का खण्डन किया गया है। वे आधार निम्नलिखित हैं :-

1. **अर्ध साम्यवाद और पूर्ण साम्यवाद** (Half Versus Full Communism) : प्लेटो का साम्यवाद सारे समाज पर लागू न होकर केवल संरक्षक वर्ग तक ही सीमित है। प्लेटो ने उत्पादक वर्ग को अपनी इस व्यवस्था से पूर्णतया बाहर रखकर अपने अर्ध-साम्यवादी होने का ही परिचय दिया है। आधुनिक साम्यवाद पूरे समाज के लोगों पर समान रूप से लागू होता है लेकिन इसमें परिवार का साम्यवाद शामिल नहीं है। आधुनिक साम्यवाद समाज के हर वर्ग को अपने में समेटकर चलता है। अतः दोनों में अन्तर है।

2. **संन्यासवाद और भौतिकवाद** (Asceticism Versus Materialism) : प्लेटो का साम्यवाद वास्तव में तपस्यात्मक है। प्लेटो शासकों को भौतिक सुख साधनों से विरक्त बनाता है। बार्कर के शब्दों में - "यह समर्पण का मार्ग है और उस समर्पण की माँग सर्वोत्तम और केवल सर्वोत्तम व्यक्ति से ही की गई है।" प्लेटो ने संरक्षक वर्ग को समस्त सम्पत्ति से वंचित कर दिया है क्योंकि वह निजी सम्पत्ति को सार्वजनिक कल्याण के कर्त्तव्य-पालन में एक बाधा मानता है। आधुनिक साम्यवाद की आधारशिला भौतिकता है। आधुनिक साम्यवाद भौतिक सुख-साधनों में व द्धि को ही अपना लक्ष्य श्मानता है। आधुनिक साम्यवाद सम्पत्ति की वांछनीयता को स्वीकार करते हुए उसके वितरण पर बल देता है। अतः प्लेटो के साम्यवाद में न्याय का तात्पर्य कार्यों का यथोचित वितरण है तो आधुनिक साम्यवाद के सन्दर्भ में राज्य के उत्पादन का न्यायोचित वितरण।

3. **राजनीतिक उद्देश्य और आर्थिक उद्देश्य** (Political Versus Economic Aim) : प्लेटो के साम्यवाद का लक्ष्य राजनीतिक है क्योंकि वह विशेष प्रकार की आर्थिक योजना के आधार पर राज्य में कुशासन तथा भ्रष्टाचार को समाप्त कर अच्छे शासन की स्थापना करना चाहता है। प्लेटो का उद्देश्य राजनीतिक स्थिरता पैदा करता है। आधुनिक साम्यवाद का प्रमख लक्ष्य आर्थिक है। आधुनिक साम्यवादी विशेष प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था के आधार पर आर्थिक साधनों का न्यायपूर्ण वितरण करना चाहते हैं। अतः एक का लक्ष्य राजनीतिक है तो दूसरे का आर्थिक।
4. **सवर्ग समाज और वर्गहीन समाज** (Class Based Versus Classless Society) : प्लेटो के साम्यवाद में वर्गों का अस्तित्व है जिनके कार्यों की विशिष्टता द्वारा राज्य की एकता मे व द्धि की जाती है। आधुनिक साम्यवाद में वर्गविहीन समाज की स्थापना की बात की जाती है। इसमें वर्गों का कोई महत्त्व नहीं है।
5. **पारिवारिक साम्यवाद के सम्बन्ध में भेद** (Difference Regarding Communism of Families) : प्लेटो की साम्यवादी व्यवस्था में सम्पत्ति के साम्यवाद के साथ-साथ पत्नियों के साम्यवाद की भी व्यवस्था की गई है। किन्तु आधुनिक साम्यवाद में इस प्रकार की किसी व्यवस्था का प्रतिपादन नहीं किया गया है।
6. **नगर राज्यों और अन्तरराष्ट्रीय का भेद** (Difference Regarding City-State and Internationalism) : प्लेटो का साम्यवाद यूनान के छोटे-छोटे नगर-राज्यों को ध्यान में रखकर प्रतिपादित किया गया है। प्लेटो ने कभी विश्व व्यवस्था की बात नहीं की। अतः उनका साम्यवाद क्षेत्रवाद पर ही आधारित है। कार्लमार्क्स सम्पूर्ण विश्व के आर्थिक व राजनीतिक घटनाचक्र को ध्यान में रखते हुए अपने साम्यवादी सिद्धान्त की रचना की है। वे समस्त विश्व की एकता में विश्वास रखते हैं। अतः आधुनिक साम्यवाद विश्वस्तरीय है।
7. **साम्यवाद में दार्शनिक शासकों की भूमिका में अन्तर** (Difference Regarding the Role of the Working Class): प्लेटो के साम्यवाद में शासन का संचालन दार्शनिक शासक के नेत त्व में होगा और सामान्य नागरिक उसका अनुसरण करेंगे, जबकि आधुनिक साम्यवाद में दार्शनिक राजा का कोई स्थान नहीं। मजदूरों का साम्यवादी दल तानाशाही से सम्पूर्ण शासन-व्यवस्था पर नियन्त्रण रखता है।
8. **साधन सम्बन्धी अन्तर** (Difference Regarding Means) : प्लेटो ने अपने साम्यवाद की स्थापना के लिए किसी साधन का वर्णन नहीं किया है। आधुनिक साम्यवादी क्रान्ति या दूसरे हिंसात्मक साधनों के प्रयोग द्वारा साम्यवाद की स्थापना करने की बात कहते हैं।
9. **वर्गों की संख्या में अन्तर** (Difference in Number of Classes) : प्लेटो ने समाज में तीन वर्ग - दार्शनिक , सैनिक तथा उत्पादक का वर्णन किया है, जबकि मार्क्स ने पूंजीपति व सर्वहारा वर्ग की ही व्याख्या की है। अतः प्लेटो के अनुसार समाज में तीन तथा आधुनिक साम्यवादी दो वर्गों की बात करते हैं।
10. **श्रमिक वर्ग की महत्ता के सम्बन्ध में अन्तर** (Difference Regarding the Importance of the Working Class) : प्लेटो के साम्यवाद में श्रमिक वर्ग को कोई महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं है, जबकि आधुनिक साम्यवाद में श्रमिक वर्ग को ही क्रान्ति का आधार माना गया है। आधुनिक साम्यवादी दर्शन तो श्रमिक वर्ग के इर्द-गिर्द ही घूमता है।
11. **व्यावहारिक एवं अव्यावहारिक** : प्लेटो का साम्यवाद पूर्णतः अव्यावहारिक है और इसे व्यवहार में कभी भी लागू नहीं किया जा सकता। आधुनिक साम्यवाद के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आधुनिक साम्यवाद अनेक देशों में व्यावहारिक रूप में लागू हुआ है। यद्यपि यह रूस में तो असफल रहा लेकिन चीन में इसका अब भी अस्तित्व है। अतः प्लेटो के साम्यवाद की तुलना में आधुनिक साम्यवाद अधिक व्यावहारिक है।
12. **परिस्थितियों सम्बन्धी अन्तर** (Difference Ragarding Circumstances) : प्लेटो का साम्यवाद 5 वीं शताब्दी को एथेन्स की परिस्थितियों की उपज है, जबकि आधुनिक साम्यवाद 19 वीं सदी में ब्रिटेन में उत्पन्न औद्योगिक क्रान्ति का परिणाम है।

इस प्रकार अनेक असमानताओं के आधार पर टेलर का कथन उचित है- "रिपब्लिक में समाजवाद तथा साम्यवाद के बरे में बहुत कुछ कहे जाने के बावजूद वास्तव में इस ग्रन्थ में न तो समाजवाद है और न ही साम्यवाद।" इसलिए प्लेटो को प्रथम साम्यवादी मानना सर्वथा गलत है। प्लेटो में ऐसा कोई विशेष तत्त्व नहीं है, जो आधुनिक साम्यवाद से मेल खाता हो।

दार्शनिक शासक की अवधारणा

Conception of Philosopher King

प्लेटो ने तत्कालीन एथेन्स की राजनीतिक दुर्दशा देखकर एक शक्तिशाली शासन की आवश्यकता महसूस की ताकि स्वार्थी तत्त्वों से आसानी से निपटा जा सके। उसने महसूस किया कि राजा इतना शक्तिशाली होना चाहिए कि वह आसानी से एथेन्स को राजनीतिक भ्रष्टाचार, व्यक्तिवाद व अस्थिरता के गर्त से निकाल सके और राज्य में शान्ति व्यवस्था कायम कर सके। इसलिए उसने अपने आदर्श राज्य की संकल्पना के न्याय को लागू करने के लिए दार्शनिक शासक का सिद्धान्त पेश किया है जो उसकी एक प्रमुख एवं मौलिक देन है। प्लेटो के अनुसार राज्य तभी आदर्श रूप प्राप्त कर सकता है जब उसका शासन कुशल, योग्य, ज्ञानी एवं स्वार्थहीन व्यक्ति के हाथ में हो। फोस्तर ने इसे प्लेटो का सबसे अधिक मौलिक विचार बताया है। राजनीतिक दर्शन के इतिहास में प्लेटो का यह सिद्धान्त जितना अधिक प्रेरणादायक और प्रगतिशील रहा हे, अन्य किसी चिन्तक का कोई सिद्धान्त नहीं रहा।

प्लेटो का दार्शनिक राजा का सिद्धान्त दो मान्यताओं पर आधारित है। पहली मान्यता यह है कि "सद्‌गुण ही ज्ञान है" (Virtue is Knowledge)। इसका सरल अर्थ यह है कि केवल तथ्यों की जानकारी को ही ज्ञान नहीं कहा जा सकता, अपितु तथ्यों के पीछे निहित 'सत् (Good) को जानना और उसमें पूर्ण आस्था रखना ही ज्ञान है। सद्‌गुण वह है जो व्यक्ति व समाज के लिए 'सत्यम् शिवम् व सुन्दरम्' मूल्यों की स्थापना करता है और ऐसी सद्‌गुणमयी द ष्टि केवल प्रत्ययवादी ज्ञान (दर्शन) से ही प्राप्त हो सकती है। ऐसे ज्ञान प्राप्त व्यक्ति को प्लेटो दार्शनिक कहता है। सत्य ही वास्तविकता है और मनुष्य की इच्छा गौण है। सत्य का ज्ञान विवेक से ही हो सकता है। अतः विवेकी व्यक्ति ही शासन करने का अधिकारी है। ऐसा व्यक्ति जो सद्‌गुणी होगा, वह स्वयं भी न्यायी होगा और राज्य में भी न्याय की स्थापना करेगा। इससे नगर-राज्यों के सारे दोष दूर हो जाएंगे और आदर्श राज्य व्यवस्था की स्थापना होगी। अतः प्लेटो के राजदर्शन का तार्किक परिणाम 'दार्शनिक शासक' का शासन है। इसलिए बार्कर कहता है- "दार्शनिक राजा प्लेटो की राज्य-रचना की पद्धति का न्याय-संगत परिणाम है।"

प्लेटो की दूसरी मान्यता यह है कि आत्मा त्रिगुणी है। उसका एक अंश त ष्णा (Appetite) है जो अविवेकी इच्छा तथा वासनात्मक प्रव त्ति का स्रोत है। दूसरा अंश शौर्य (Spirit) है जो मानव पुरुषार्थ, अभिलाषा, प्रतिस्पर्धा आदि गुणों का स्रोत है। तीसरा अंश विवेक है जो ज्ञान प्राप्त करने तथा प्रेम करने का मार्ग सिखाता है। ये तीनों तत्त्व राज्य-समाज में पाए जाते हैं, क्योंकि व्यक्ति और समाज की चेतना एक ही है। इन तत्त्वों के आधार पर समाज में तीन वर्ग पाए जाते हैं - उत्पादक वर्ग (त ष्णा प्रधान), सैनिक वर्ग (शौर्य प्रधान) और शासक वर्ग (विवेक प्रधान)। इन तीनों गुणों का सामंजस्य ही प्लेटो का आदर्श राज्य है। इस आदर्श राज्य के प्रशासन में सबसे अधिक महत्त्व विवेक तत्त्व का है। इस प्रकार विवेक के प्रतीक दार्शनिक व्यक्ति को ही आदर्श राज्य का शासन होना चाहिए।

दार्शनिक राजा कौन है ?

(Who is a Philosopher King ?)

प्लेटो के अनुसार एक दार्शनिक राजा में निम्नलिखित गुणों का होना आवश्यक है :-

1. **विवेक का प्रेमी** **(Lover of Wisdom)** : दार्शनिक राजा विवेक का संगी होगा। वह समस्त जगत् के ज्ञान का भण्डार होगा और जानने की इच्छा उसमें कभी समाप्त नहीं होगी। वह सदैव ज्ञान के मार्ग पर अग्रसर रहेगा और अपने विवेक से जनता को लाभान्वित करेगा। मैक्सी के अनुसार- "एक सच्चा दार्शनिक ज्ञान से प्रेम रखता है न कि किसी मत से। वह क्रोध, घ णा, संकीर्णता, द्वेष, स्वार्थपरता आदि से दूर रहता है।"
2. **सत्य का प्रेमी** **(Lover of Truth)** : दार्शनिक राजा सत्य के मार्ग पर चलेगा। वह कभी सत्य के मार्ग से विचलित नहीं होगा। उसके मस्तिष्क में अविश्वास, निन्दा, झूठ, फरेब और धोखा आदि विचार नहीं आएंगे।
3. **आत्म नियन्त्रण** **(Self Control)** : दार्शनिक शासक आत्म-नियन्त्रण के गुण से युक्त होना चाहिए। उसे सांसारिक मोह-माया के जाल से स्वयं को दूर रखना चाहिए। उसे अपनी इच्छाओं पर नियन्त्रण रखना चाहिए। उसमें आदेश व निर्देश देने की शक्ति होती है, जो अपने जीवन एवं शासन का संचालन स्वयं करता है।

4. **निःस्वार्थता** (Selflessness) : प्लेटो का दार्शनिक राजा पूर्णतः निःस्वार्थी होता है। उसका न अपना परिवार और न ही अपनी सम्पत्ति होती है। अतः वह निःस्वार्थ भावना से सर्वकल्याण के कार्य में लगा रहता है।
5. **सज्जनता और सामाजिकता** (Gentle and Social) : प्लेटो का दार्शनिक राजा सज्जन, भद्र और सामाजिक होगा। संक्षेप में प्लेटो का दार्शनिक शासक श्रेष्ठ आत्मा के सभी गुणों से युक्त होता है। वह सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् का मूर्तिमान स्वरूप होता है। वह म त्यु से नहीं डरता, असत्य का अलाप नहीं करता। उसमें सुन्दर आत्मा के सभी गुण होते हैं। उसे न्याय, सौन्दर्य और संयम के विचारों का तथा परम सत् का ज्ञान (Knowledge of eternal Truth) हो चुका होता है। अतः प्लेटो का दार्शनिक शासक प्रकृति के श्रेष्ठतम गुणों से युक्त होता है और उसका उत्तम ढंग से प्रयोग करता है।
6. **शांत स्वभाव** (Calm in Nature) : प्लेटो के अनुसार, "दार्शनिक शासक का स्वभाव शान्त होना चाहिए। वह अपने राज्य में शान्ति बनाए रखेगा। उसका अपना व्यक्तित्व होगा। उसकी जनता अमन-चैन से साँस लेगी।" इस प्रकार दार्शनिक शासक शील स्वभाव से युक्त होगा।
7. **न्याय का प्रेमी** (Lover of Justice) : आदर्श राज्य में दार्शनिक राजा 'न्याय' का प्रेमी होगा तथा वह यह भी ध्यान रखेगा कि राज्य के दो अन्य वर्ग - सैनिक और उत्पादक वर्ग अपने कर्त्तव्य का पालन उचित ढंग से करें ताकि न्याय की स्थापना हो सके।

अतः उपर्युक्त गुणों से युक्त दार्शनिक शासक ही शासन करने का अधिकारी होगा।

प्लेटो द्वारा दार्शनिक शब्द को नूतन अर्थ प्रदान करना
(The Term 'Philosopher' gets a new meaning)

प्लेटो ने 'दार्शनिक' शब्द को सर्वथा अलग अर्थ में प्रयुक्त किया है जिसे हम भी साधारण बोलचाल की भाषा में प्रयुक्त करते हैं। नैडलशिप के अनुसार- "दार्शनिक से प्लेटो का अर्थ वह नहीं है, जिसे हम लोग समझते हैं। शब्द के पूर्ण अर्थ में उसका अभिप्राय प्रतिभाशाली व्यक्तियों से है। हम लोग इस शब्द का अर्थ किसी ऐसे व्यक्ति से लेते हैं जो एक विशेष प्रकार के गुण से सम्पन्न हो। परन्तु प्लेटो ने इस सम्बन्ध में उन सारे गुणों का उल्लेख किया है जो एक महान् व्यक्ति को निर्मित करते हैं।" फॉस्टर के अनुसार- "दार्शनिक से प्लेटो का तात्पर्य ऐसे व्यक्ति से है जो वैज्ञानिक चिन्तन की शक्ति से सम्पन्न और प्लेटो के अनुसार सच्चा ज्ञान ही विज्ञान है।" प्लेटो के अनुसार दर्शन का कार्य यह है कि वह न केवल गणित के क्षेत्र में बल्कि प्रत्येक क्षेत्र में राय की जगह सच्चे ज्ञान की प्रतिष्ठा करे।

प्लेटो का दार्शनिक शासक ज्ञान का उपासक ही नहीं है अपितु ज्ञान और विद्वता का अपूर्व भण्डार है। वह सत्य का अन्वेषक, ज्ञान का प्रेमी, शान्ति का पुजारी, न्यायी, साहसी और संयमी है। उसकी बुद्धि तीव्र है, स्मरण शक्ति तीक्ष्ण है और चरित्र उज्ज्वल है। अतः दार्शनिक के द्वारा शासन से अभिप्राय 'विद्वता का शासन' अथवा 'विवेक का शासन' से है।

दार्शनिक शासक की शिक्षा
(Education of Philosopher King)

प्लेटो अपनी शिक्षा पद्धति के माध्यम से दार्शनिक शासक का निर्माण करता है। 20 वर्ष तक की प्राथमिक शिक्षा की अवधि में व्यायाम और संगीत के द्वारा उसके शरीर और मन का विकास किया जाता है। 20 से 30 वर्ष तक विभिन्न विज्ञानों के द्वारा उसके विवेक को विकसित और आत्मचक्षु को सत्य की ओर उन्मुख किया जाता है। 30 से 35 वर्ष तक की अवस्था के बीच द्वन्द्वात्मकता की शिक्षा के द्वारा उसे सर्वोच्च सत्य का ज्ञान प्राप्त होता है। परन्तु शिक्षा यहीं पूर्ण नहीं होती। आगामी 15 वर्ष तक अपने सैद्धान्तिक ज्ञान को व्यावहारिक रूप देन के लिए उसे संसार की पाठशाला में विचरण करना पड़ता है। इस अवधि में उसे सोने की तरह अग्नि में तपाया जाता है ताकि वह भविष्य में शासक बनने पर भ्रष्ट और पथ से विचलित न हो। यहाँ तक कि कंचन और कामिनी का मोह भी उसे पथभ्रष्ट न करे। इस प्रकार उसे धन-लोलुप, स्वार्थी व आसक्त बनने से रोकने के लिए उसे सब प्रकार के प्रलोभनों से वंचित कर दिया जाता है।

दार्शनिक शासक के कर्त्तव्य और बन्धन

(Duties and Limitations of Philosopher King)

कानूनों के बन्धन को अस्वीकार करते हुए भी प्लेटो अपने दार्शनिक शासक को कुछ अनुदेश (हिदायतें) देना जरूरी मानता है। ये अनुदेश ही दार्शनिक शासक के कर्त्तव्य हैं। ये कर्त्तव्य निम्नलिखित हैं :-

1. राज्य में अत्यधिक धन और अत्यधिक गरीबी अर्थात् अत्यधिक सम्पन्नता और अत्यधिक विपन्नता को आने से रोके क्योंकि दोनों की अधिकता राज्य के लिए हानिकारक है। अत्यधिक धन विलासिता, आलस्य और गुटबन्दी को जन्म देता है और अत्यधिक निर्धनता नीचता और बुरे कार्यों का जन्म देती है।
2. जहाँ तक समभव हो राज्य को आदर्श राज्य के निकट बनाए रखे और उसके आधारभूत सिद्धान्तों में कोई परिवर्तन न करे।
3. राज्य का अत्यधिक विस्तार न हो अर्थात् एकता और आत्म-निर्भरता के अनुकूल राज्य का क्षेत्रफल हो।
4. न्याय सिद्धान्त का पालन कराए ताकि प्रत्येक व्यक्ति अपने स्थान के कार्य को करे और दूसरे के कार्य में हस्तक्षेप न करे।
5. राज्य की शिक्षा प्रणाली में कोई परिवर्तन न करे। प्लेटो कहता है कि सभी बुराइयों की जड़ त्रुटिपूर्ण शिक्षा है और उसका उपचार भी शिक्षा है। दार्शनिकों को सकारात्मक कर्त्तव्य है कि वे "आत्माओं का पोषण करें और उन्हें स्वरूप दें।"

उपर्युक्त अनुदेशों से स्पष्ट होता है कि प्लेटो के दार्शनिक शासक भी मूलभूत सामाजिक व्यवस्था के सेवक हैं।

सीमाएँ

(Limitations)

दार्शनिक राजा सर्वशक्तिमान् होते हुए भी प्रतिबन्धों से युक्त है। यद्यपि वह न जनता के द्वारा चुना जाता है और न जनता के प्रति उत्तरदायी होता है। वह लोकमत, रीति-रिवाज और कानून के बन्धन से पूर्णतः मुक्त होता है। प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य में लोकमत और कानून के महत्त्व को बिल्कुल अस्वीकार कर दिया है। उसकी मान्यता है कि यदि दार्शनिक अपने ज्ञान के कारण शासक बनता है तो उसे लोकमत के प्रति उत्तरदायी बनाना पूर्णतः अप्रासंगिक है। इसी प्रकार दार्शनिक शासक को कानून की जंजीरों में बाँधना, उसके हाथों को कानून के नियमों से बाँधना, उसी प्रकार मूर्खतापूर्ण है जिस प्रकार किसी योग्य चिकित्सक को इस बात के लिए विवश करना कि वह चिकित्सा के ग्रन्थ देखकर ही दवा लिखे। वस्तुतः प्लेटो दार्शनिकों के स्वतन्त्र विवेक के महत्त्व में विश्वास रखता है।

बार्कर के अनुसार- "हालांकि दार्शनिक राजा का शासन ऊपर से देखने पर निरंकुश लग सकता है, वह लिखित विधि से स्वतन्त्र हो सकता है; पर जिन्हें हम संविधान के मूल अनुच्छेद कह सकते हैं, उनके अंकुश से वह स्वतन्त्र नहीं होता। दार्शनिक का काम यह नहीं कि मनमाने ढंग से राज्य को प्रभावित करे या उसे बदल डाले, वह तो मूल सिद्धान्तों के प्रति निष्ठा रखते हुए एक अचल संस्था के रूप में उसकी रक्षा करने के लिए, उसकी स्थिरता कायम रखने के लिए होता है। प्लेटो ने दार्शनिक राजा के शासन पर निम्नलिखित सीमाएँ या प्रतिबन्ध लगाए हैं।

1. **शिक्षा पद्धति बनाए रखना** : उसे शिक्षा पद्धति में कोई परिवर्तन नहीं करना चाहिए क्योंकि शिक्षा पद्धति में परिवर्तन होने से राज्य के मूलभूत नियम भी बदल जाते हैं।
2. **न्याय प्रशासन कायम रखना** **(To Ensure Judicial Administration)** : दार्शनिक शासक का यह कर्त्तव्य होगा कि वह न्याय के सिद्धान्त को बनाए रखने के लिए अपने राज्य में प्रत्येक व्यक्ति से अपने निर्धारित कार्य का पालन कराता रहे।
3. **राज्य की सीमा में व द्धि या कमी को रोकना** **(To Prevent the Increase or Decrease of Boundary of State)**: राज्य की एकता को कायम रखने के लिए उसे राज्य की सीमा को न तो अधिक बढ़ाना चाहिए और न ही अधिक कम करना चाहिए।

4. **राज्य में धन और निर्धनता का प्रवेश रोकना** (**To Prevent the Flow of Wealth and Poverty into State**) : प्लेटो के अनुसार दार्शनिक शासक को यह देखते रहना पड़ेगा कि राज्य में निर्धनता अथवा धन का प्रवेश न हो क्योंकि धन से विलासिता, आलस्य और वैमनस्य पैदा होते हैं तथा दरिद्रता से कमीनापन और कुकृत्य।

   इस प्रकार प्लेटो का दार्शनिक शासक निरंकुश नहीं, मर्यादित होता है, राज्य का स्वामी नहीं, सेवक होता है। उसे कुछ मर्यादाओं का पालन करना पड़ता है। ये महिलाएँ ही उसके ऊपर सीमाएँ हैं जिनसे वह मुक्त नहीं हो सकता।

दर्शन के शासन की विशेषताएँ
(Features of Rule of Philosophy)

प्लेटो के दर्शन को शासन की बहुत सी विशेषताएँ हैं, उनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं :-

1. यह प्रजातन्त्र का विरोधी है। प्लेटो ने तत्कालीन एथेन्स में प्रजातन्त्र के शासन को मूर्खों का शासन कहकर आलोचना की है। प्लेटो ने प्रजातन्त्र के दोषों को दूर करने के लिए इस मौलिक विचार का प्रतिपादन किया है। प्लेटो का दर्शन का शासन ज्ञान का प्रतीक है।
2. प्लेटो के दर्शन के शासन के विचार का जन्म शिक्षा व्यवस्था की देन है। प्लेटो की शिक्षा पद्धति में दार्शनिक शासक को इस प्रकार प्रशिक्षित किया जाता है ताकि वह हर तरह से योग्य सिद्ध हो। जीवन के हर क्षेत्र में सफल होने पर ही उसे दार्शनिक की उपाधि मिलती हैं अतः दर्शन का शासन उच्च दर्जे के प्रशिक्षण की उपज है।
3. दर्शन का शासन सद्‌गुणों पर आधारित होता है। दार्शनिक शासक सत्य का अन्वेषक, ज्ञान का प्रेमी, शान्ति का पुजारी, न्यायी, साहसी और संयमी होता है। उसकी बुद्धि तीव्र होती है, स्मरणशक्ति तीक्ष्ण और चरित्र उज्ज्वल होता है। उसे शिव का ज्ञान होता है। वह विवेकशील होता है। मैक्सी के अनुसार- "एक सच्चा दार्शनिक ज्ञान से प्रेम करता है, न कि किसी मत से। वह क्रोध, घ णा, संकीर्णता, द्वेष, स्वार्थपरता आदि से दूर रहता है।"
4. दर्शन का शासन निःस्वार्थ भावना पर आधारित होता है। उसे कंचन और कामिनी का मोह नहीं होता। वह विवेकी होने के कारण राज्य से प्रेम करता है। उसकी राज्य के प्रति असीम श्रद्धा होती है। वह अपना हर कार्य राज्य हित के लिए ही करता है। उसका कोई व्यक्तिगत हित नहीं होता। वह पूर्णतः निस्वार्थ भावना पर टिका हुआ होता है।
5. यह अभिजन वर्ग का शासन है। सभी व्यक्ति दार्शनिक नहीं हो सकते। यह प्रतिभा तो कुछ ही व्यक्तियों में होती है। सभी व्यक्ति ज्ञानी नहीं हो सकते। यह प्रतिभा तो एक या कुछ ही व्यक्तियों में होती है, सभी में नहीं।
6. दार्शनिक शासक की शक्ति पूर्णतः अमर्यादित होती है। वह न तो जनता के द्वारा चुना जाता है न जनता के प्रति उत्तरदायी होता है। वह जनमत, परम्परा और कानून के बन्धन से पूर्णतः मुक्त होता है। वह उत्तम ज्ञान के आधार पर ही शासक बनता है। अतः उस पर कोई भी प्रतिबन्ध उचित नहीं हो सकता।

दार्शनिक शासन उँचे दर्जे के प्राविधिक प्रशिक्षण की उपज होने के कारण पूर्ण विवेक पर आधारित होता है। उस पर प्रतिबन्ध लगाना गलत है। लेकिन फिर भी प्लेटो के दर्शन के शासन को कुछ आलोचनाओं का शिकार होना पड़ा।

आलोचना
(Criticism)

प्लेटो के दर्शन के शासन की निम्न आधारो ंपर आलोचना हुई है :-

1. यह निरंकुश शासकों को जन्म देता है जो आधुनिक युग में घ णा का पात्र हैं।
2. आधुनिक शासन प्रणालियों में कर्त्तव्यों के साथ-साथ अधिकारों पर भी महत्त्व दिया जाता है लेकिन दर्शन का शासन कर्त्तव्यों तक ही सीमित रह जाता है।
3. कानून और जनमत की अवहेलना गलत है। क्योंकि कानून जनमत के द्वारा शताब्दियों से संग्रहीत विवेक का परिणाम है। प्लेटो ने स्वयं 'लाज' में इसके महत्त्व को स्वीकार किया है।
4. यह प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र के किसी भी रूप का विरोधी है। सत्य तो यह है कि आज का युग प्रजातन्त्र का युग है। जनमत की अवहेलना करके कोई भी शासन स्थायित्व को प्राप्त नहीं कर सकता।

5. दर्शन का शासन एकमात्र कल्पना है। आज तक इतिहास में इस बात के प्रमाण नहीं हैं जहाँ ऐसा कानून लागू हुआ हो।
6. दर्शन का शासन प्लेटो की महत्त्वाकांक्षा को ही परिलक्षित करता है। वह स्वयं एथेन्स का शासक बनना चाहता था।

इस प्रकार प्लेटो के आदर्श राज्य में दर्शन से शासन की अनेक आलोचनाएँ की गई हैं। क्रासमैन के अनुसार- "दार्शनिक शासक सम्बन्धी प्लेटो का प्रस्ताव अव्यावहारिक है क्योंकि किसी भी नगर या राष्ट्र में बुद्धिमान लोगों की संख्या इतनी अधिक नहीं होती कि वे स्थायी रूप से शासक वर्ग का निर्माण कर सकें और यदि वे हों भी तो अपार जनसमूह में से उनका चयन कठिन हो जाएगा।" आज तक इतिहास में कोई भी ऐसा उदाहरण नहीं मिलता जहाँ दर्शन का शासन लागू हुआ हो।

लेकिन अनेक आलोचनाओं के बावजूद भी यह कहना पड़ेगा कि प्लेटो ने शासकों के लिए जिस प्रशिक्षण की आवश्यकता महसूस की, वह आज भी जरूरी है। आधुनिक शासक वर्ग को उचित प्रशिक्षण द्वारा राज्य हितों का साधक बनाया जा सकता है। आधुनिक शासक वर्ग को व्यावसायिक ज्ञान के स्तर पर शून्य होने के कारण अनेक शासन सम्बन्धी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ती हैं। सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए शासक वर्ग का सद्गुणी होना आवश्यक है। यह कहा गया है कि 'यथा राजा तथा प्रजा'। आज का युग विज्ञान का युग है। आज अशान्ति के दौर में दार्शनिक शासक जैसा विवेकी शासक ही प्रजाजनों को अपनी ज्ञान-ज्योति से सही रास्ता दिखा सकता है। अतः दर्शन का शासन प्लेटो की बहुत ही महत्त्वपूर्ण देन है। इसका राजदर्शन के इतिहास में बहुत महत्त्व है।

स्टेट्समैन में राजनीतिक विचार
(Political Ideas in Statesman)

प्लेटो की पुस्तक स्टेट्समैन प्रधानतः राजनीति सम्बन्धी एक प्रबन्ध ग्रन्थ है। इस पुस्तक की रचना 'Republic' के प्रकाशन से कई वर्षों बाद हुई। इसका रचनाकाल 367-361 ई॰ पू॰ के मध्य रखना अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि इस दौरान प्लेटो के डायोनिसियस द्वितीय के साथ सम्बन्ध अच्छे थे। इस दौरान वह डायोनिसियस द्वितीय के साथ विधियों की प्रस्तावना करने में व्यस्त था। इस पुस्तक का दूसरा नाम 'पॉलिटिक्स' (Politics) है। इस पुस्तक में प्लेटो ने कानून पर नए द ष्टिकोण से विचार किया है। इसमें प्लेटो आदर्श राज्य की कल्पना को संजोए हुए है लेकिन वह 'रिपब्लिक' की तुलना में इस समय अधिक व्यावहारिक आदर्शवादी दिखता है। शैली और स्वर दोनों के द ष्टिकोण से ऐसा प्रतीत होता है कि यह पुस्तक प्लेटो के उन विचारों का संक्रमण है, जिनकी अभिव्यक्ति लॉज में हुई है। इस पुस्तक में प्लेटो इस बात पर विचार करने का प्रयास करता है कि यदि मनुष्य को शासन करना है तो उसे कैसा होना चाहिए और क्या करना चाहिए। इसमें वह राजनीति और राजनीति विज्ञान की भूमिका पर भी विचार करता है। इस प्रकार यह पुस्तक अधिक तर्कसंगत और यथातथ्य है। इसमें वर्णित प्रमुख राजनीतिक विचार निम्नलिखित हैं :

1. **सरकारों का वर्गीकरण (Classification of Governments)** : प्लेटो का मानना है कि आदर्श दार्शनिक शासक का कर्त्तव्य राज्य के प्रशासन का संचालन करना ही नहीं है बल्कि ऐसी व्यवस्था कायम करना है कि लोग शिवत्व और न्याय के आदर्श मानदण्डों को अपना सकें। यदि शासक दार्शनिक है तो उसे कानून की आवश्यकता नहीं। परन्तु आदर्श शासक एक दुर्लभ व्यक्ति होता है, अतः कानून आवश्यक है क्योंकि कानून व्यावहारिक ज्ञान तथा भूतकाल के अनुभव का संकलन होता है। इस प्रकार प्लेटो स्टेट्समैन में कानून और उसकी आवश्यकता को आधार मानकर सरकारों का नया वर्गीकरण प्रस्तुत करता है। वह सरकारों के छः प्रकार बताता है :-

	कानून द्वारा संचालित सरकार				**कानून द्वारा संचालित न होने वाली सरकार**
1.	एक व्यक्ति का शासन (Rule of one)	-	राजतन्त्र (Monarchy)	1.	अत्याचारी शासन (Tyranny)
2.	कुछ व्यक्तियों का शासन (Rule of Few)	-	कुलीनतन्त्र (Aristocracy)	2.	अल्पतन्त्र (Oligarchy)
3.	अनेक व्यक्तियों का शासन (Rule of Many)	-	लोकतन्त्र (Democracy)	3.	अतिवादी प्रजातन्त्र (Extreme Democracy)

सरकारों के इस वर्गीकरण में प्लेटो ने उनकी पारस्परिक श्रेष्ठता व हीनता पर भी विचार किया है। उसने कहा है कि कानून द्वारा शासित राज्य में जनता की भलाई के लिए एक व्यक्ति का शासन अर्थात् राजतन्त्र सर्वोत्तम है और प्रजातन्त्र सबसे निम्न श्रेणी की ही शासन प्रणाली है। परन्तु कानून के शासन के बिना संचालित सरकारों में अतिवादी प्रजातन्त्र सबसे अच्छा है और अत्याचारी शासन सबसे बुरा है।

2. **जनसंख्या का वर्गीकरण (Classification of the Population)** : अपने ग्रन्थ स्टेट्समैन में प्लेटो ने राज्य की जनसंख्या को कार्यों के आधार पर चार भागों में बाँटा है :-

   (i) **शासक वर्ग** (Ruling Class)

   (ii) **प्रशासक वर्ग** (Administration Class)

   (iii) **परीक्षक वर्ग** (Examining Class)

   (iv) जो उपर्युक्त तीनों वर्गों में शामिल नहीं।

   शासक वर्ग में शासक, प्रशासक वर्ग में प्रशासनिक ज्ञान रखने वाले अधिकारी, परीक्षक वर्ग में न्यायाधीश व शुद्ध नीतियों की परीक्षा करने वाले तथा अन्तिम वर्ग में पुरोहित, शिल्पी और किसान आदि शामिल होते हैं। इस पुस्तक में 'Republic' की तुलना में जनसंख्या का विभाजन अधिक व्यावहारिक व तर्कसंगत जान पड़ता है।

3. **लोकतन्त्र पर विचार (Views on Democracy)** : प्लेटो ने 'स्टेट्समैन' में वर्णित वास्तविक राज्यों के सन्दर्भ में प्रजातन्त्र के प्रति अधिक सन्तुलित द ष्टिकोण अपनाया है। जबकि उसने रिपब्लिक में इसके विपरीत विचार व्यक्त करते हुए उसे सबसे निकृष्ट शासन माना है किन्तु विधि या कानून-रहित शासनों में इसे सर्वोत्तम माना है क्योंकि इसमें जनता स्वेच्छाचारी शासकों को आसानी से बदल सकती है और उनके स्थान पर अन्य को बिठा सकती है।

4. **इतिहास सम्बन्धी विचार (Views on History)** : प्लेटो ने 'स्टेट्समैन' में मानव-इतिहास की विस्त त व क्रमबद्ध विवरण प्रस्तुत किया है। उसके अनुसार मानव समाज सबसे पहले 'क्रोमस का युग' (The Age of Cromus) था। इस युग में संसार का शासन दैवी था। लोगों की स्थिति पशुओं के झुण्ड जैसी थी। इसके बाद सभ्यता का युग आया। इसमें ईश्वर ने संचालन का कार्य अपने हाथों में वापिस ले लिया और लोग लाचार व निरीह बन गए। वे जंगली जानवरों का शिकार बन जाते थे। देवताओं ने उनकी दुर्दशा पर रहम करके मनुष्यों को आग, कलाएँ, पौधे व बीज दिए। इससे मनुष्य स्थायी निवास बनाकर उत्तरदायित्व ढंग से अपना जीवन व्यतीत करने लगा।

उपर्युक्त विचारों के आधार पर कहा जा सकता है कि 'स्टेट्समैन' में प्लेटो का द ष्टिकोण यथार्थवादी है। उसने इस पुस्तक में प्रजातन्त्र को सराहा है। इस पुस्तक में प्लेटो ने उत्पादक वर्ग को महत्त्व दिया है। इसमें कानून को महत्त्व देते हुए उसने सरकारों का वर्गीकरण किया है। इस पुस्तक में प्लेटो के प्रौढ़ विचारों का दर्शन होता है। बार्कर के अनुसार- "आदर्शवाद समाप्त होने से बहुत दूर है किन्तु वास्तविक राजनीति के प्रति एक अधिक यथार्थवादी द ष्टिकोण के साथ इसका अस्तित्व है। "वस्तुतः 'स्टेट्समैन' में प्लेटो के जिस यथार्थवादी द ष्टिकोण की शुरुआत हुई है, उसका पूर्ण विकास उसके अगले ग्रन्थ 'लॉज' में हुआ है।

लाज : उप आदर्श राज्य

(The Laws : Sub-Ideal State)

प्लेटो की तीनों रचनाओं में लॉज अन्तिम कृति है जिसका प्रकाशन 347 ई॰ पू॰ में हुआ। प्लेटो का व द्धावस्था मे लिखित ग्रन्थ जिसमें गम्भीरता व परिपक्वता का गुण 'रिपब्लिक' की तुलना में अधिक है। लॉज में प्लेटो ने आदर्श एवं व्यावहारिकता का सुन्दर समन्वय करके उप-आदर्श राज्य की रूपरेखा तैयार करने का प्रयास किया है। उसने राज्य में व्यावहारिकता का गुण पैदा करने के लिए आदर्श राज्य में पर्याप्त संशोधन किए हैं। प्लेटो ने लॉज के दार्शनिक शासक के स्थान पर कानून को प्रतिष्ठित करके न्याय के स्थान पर आत्मसंयम के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। लॉज में दार्शनिक शासक पर विधि की सीमाएँ हैं। लॉज प्लेटो के सम्पूर्ण राजनीतिक अनुभवों का निचोड़ है। इसमें प्लेटो ने बताया है कि शासक विधि के स्वामी नहीं सेवक और दास हैं। लॉज में प्लेटो का द ष्टिकोण यथार्थवादी है। लॉज प्लेटो की उत्तरकालीन कृति होने के कारण विचारों की प्रौढ़ता

का सागर है जो अमूल्य रत्न प्रदान करती है। इस पुस्तक में प्लेटो ने नगर राज्यों की समस्याओं पर अन्तिम परिणाम प्रस्तुत किए हैं। सेबाइन ने कहा है कि लॉज प्लेटो के सम्पूर्ण लेखों में सबसे अधिक सुन्दर है। यह पुस्तक 12 भागों में विभाजित है। प्रथम दो भागों में संगीत व न त्य शिक्षा, तीसरे में राज्य के ऐतिहासिक विकास, चौथे में राजनीतिक विकास, पाँच से आठ तक राज्य के कानूनों, शासन विधान, पदाधिकारियों, राज्य की जनसंख्या, शिक्षा पद्धति आदि का वर्णन, नौवें से ग्यारहवें तक फौजदारी और दीवानी नियम संहिताओं का वर्णन, बारहवें भाग में कर्त्तव्यविमुख होने वाले सरकारी अधिकारियों के लिए दण्ड-व्यवस्था का वर्णन किया गया है। यह पुस्तक भी संवाद शैली में लिखी गई है। इसमें वर्णित राजनीतिक विचार निम्नलिखित हैं :-

1. **आत्मसंयम (Self Control)** : 'रिपब्लिक' में आदर्श राज्य में न्याय ही प्लेटो के सिद्धान्त का मौलिक गुण है, लेकिन लॉज के आत्मसंयम का गुण ही मौलिक गुण है। आत्मसंयम का अभिप्राय यह है कि नागरिक कानून का पालन करें, राज्य की संस्थाओं के प्रति उनके मन में सम्मान हो और वे कानून की सर्वोच्चता को स्वीकार करने के लिए सदा तैयार रहें। लॉज में न्याय आत्मसंयम के अधीन है। बार्कर का कहना है- "कोई भी सद्‌गुण तब तक सद्‌गुण नहीं होता जब तक कि आत्मसंयम का सद्‌गुण पूर्ण रूप में उससे प्रथम स्थान प्राप्त नहीं करे; बुद्धि, साहस तथा न्याय सभी के सद्‌गुण होने के लिए, समान रूप से, यह एक पूर्व शर्त है अथवा इनकी पूर्णता के लिए अनिवार्य है।" आत्मसंयम का सद्‌गुण राज्य की आधारशिला है। आत्मसंयम पर आधारित न होने वाला राज्य अपूर्ण एवं दोषपूर्ण है। प्लेटो का मानना है कि राज्य में एकता, स्वतन्त्रता, सहमति की स्थापना इस सद्‌गुण के द्वारा ही हो सकती है। आत्म-संयम का सद्‌गुण राज्य में विवेक तथा वासना के तत्त्वों में समन्वय स्थापित करके राज्य में शान्ति-व्यवस्था कायम करता है।

2. **कानून की सर्वोच्चता (Supremacy of Law)** : प्लेटो ने अपने ग्रन्थ 'लॉज' में कानून के शासन को अच्छा माना है। इसमें शासक व शासित दोनों ही कानून के अधीन रहते हैं। प्लेटो ने अपने कटु अनुभव के अनुसार यह निष्कर्ष निकाला है कि यदि राज्य में दार्शनिकों का शासन न हो तो कानून का शासन अवश्य होना चाहिए। उसका मानना है कि एक प्रज्ञावान शासक को तो कानून की आवश्यकता नहीं होती लेकिन ऐसा सद्‌गुणी शासक मिलना कठिन होता है, इसलिए कानून की आवश्यकता पड़ती है। प्लेटो ने कहा है कि- "कानूनों के बिना व्यक्ति की स्थिति बर्बर पशुओं की तरह हो जाती है।" अपने व्यावहारिक कटु अनुभव के बाद प्लेटो ने कानून की सर्वोच्चता को प्रतिपादित किया और कहा कि यदि प्रज्ञावान उपलब्ध न हो, तो कानून के शासन को ही स्वीकार करना चाहिए। प्लेटो ने कानून को मानव-आत्मा का अंग तथा आत्मसंयम व विवेक का मूर्त रूप माना है। प्लैटो के अनुसार प्राचीन समाजों में विभिन्न परिवारों एवं कुलों में विभिन्न परम्पराएँ व प्रथाएँ होती हैं, जिनमें परस्पर विरोध होता रहता है। इससे सार्वजनिक हित का मार्ग अवरुद्ध होता है। इसलिए सार्वजनिक हित की पुष्टि से इन परम्पराओं और प्रथाओं में उचित समन्वय एवं तालमेल पैदा करने के लिए कानून का जन्म होता है। इसके अलावा कानून का निर्माण प्राकृतिक प्रकोपों, युद्धों अथवा आर्थिक परिस्थितियों से उत्पन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी किया जाता है। प्लेटो का मानना है कि प्रत्येक व्यक्ति में सार्वजनिक हित को समझने की योग्यता नहीं होती। वह अपने स्वार्थ के कारण सार्वजनिक हित के रास्ते में बाधा उत्पन्न करता है। इसे दूर करने के लिए कानून का बहुत महत्त्व है। कानून का शासन ही सर्वोच्च होता है। इसलिए शासकों को कानून का ही अनुकरण करना चाहिए, अन्यथा सार्वजनिक हित की हानि होगी ओर राज्य का पतन हो जाएगा। प्लेटो के अनुसार कानून सार्वभौतिक होता है, इसलिए इसका कठोर व संहिताकरण होना जरूरी है। कानून का शासन ही दार्शनिक शासक के अभाव में शासक व जनता का मार्गदर्शक बनकर उन्हें सद्‌मार्ग पर चलाता है। कानून निर्माण समाज सुधार के लिए ही होता है, इसलिए उसे ईमानदारी से लागू किया जाना चाहिए। प्लेटो का कहना है कि- "राज्य को कानून के अनुसार होना चाहिए, कानून को राज्य के अनुसार नहीं। सरकार को भी कानून के शासन का संचालन करना चाहिए। सरकार कानून की दास व सेविका होती है, स्वामी नहीं। सरकार कानून में परिवर्तन नहीं कर सकती। इसे तो जनता एवं देववाणियों द्वारा स्वीकृत होने पर ही बदला जा सकता है।" अतः हम कह सकते हैं कि प्लेटो ने लॉज में कानून को सर्वोच्च मानकर कानून के शासन का ही समर्थन किया है।

3. **इतिहास का महत्त्व (Importance of History)** : प्लेटो ने लॉज में ऐतिहासिक अनुभवों से लाभ प्राप्त करने के लिए ऐतिहासिक विधि का सहारा लिया है। वह हमें अनुभवों पर आधारित शिक्षा देता है। प्लेटो ने लॉज में इतिहास के आधार पर एक निश्चित शासन प्रणाली का समर्थन किया है जिसमें राज्य की सत्ता और जनता की सहमति को स्वीकार किया

जाता है। प्लेटो ने इतिहास के उदाहरणों के आधार पर कानून के नियम और मिश्रित संविधान की व्यवस्था का समर्थन किया है। प्लेटो ने बताया है कि राज्यों के आत्मसंयम न रहने और सत्ता के एक ही व्यक्ति के हाथ में आ जाने पर ही आरगोस (Argos) एवं मैसिना (Messina) जैसे राज्यों का उसी तरह पतन हो गया जिस तरह अधिक पालों वाले जहाज तथा अधिक माँस वाला शरीर नष्ट हो जाता है। एथेन्स के लोकतन्त्र का पतन भी आत्म-संयम के अभाव के कारण ही हुआ था। इस प्रकार अनेक ऐतिहासिक द ष्टातों के आधार पर प्लेटो ने अपने राजनीतिक विचारों को 'लॉज' में पुष्ट किया है।

4. **शान्ति एवं युद्ध (Peace and War)** : प्लेटो ने अपने ग्रन्थ 'लॉज' में युद्ध की निन्दा व शान्ति का समर्थन किया है। प्लेटो ने 'लॉज' की प्रारम्भिक पुस्तकों में सैनिकवाद की कटु आलोचना करते हुए, स्पार्टा के पतन का कारण वहाँ के सैनिक संगठन को माना है। उसकी मान्यता है कि 'साहस' युग पर आधारित राज्य विकृत होकर युद्ध-प्रेमी हो जाता है। युद्ध निरर्थक होता है। इससे शान्ति का पतन होता है और समाज में अशान्ति व अराजकता का सूत्रपात होता है। युद्ध से साहस विकसित होता है और अनुशासन की भावना बढ़ती है, परन्तु यह साहस अविवेक पर आधारित होने के कारण जनकल्याणकारी नहीं होता। प्लेटो कहता है कि वास्तविक साहस तभी सम्भव है, जब वह विवेक द्वारा अनुशासित होकर जन-कल्याण के लिए कार्य करे। प्लेटो युद्ध को एक व्याधि मानता है। उसका कहना है कि रोगग्रस्त, रुग्ण और अपूर्ण राज्य ही युद्ध का सहारा लेता है। आंतरिक शान्ति व लोककल्याण के लिए युद्ध की अपेक्षा शान्ति अधिक जरूरी होती है। इस प्रकार प्लेटो ने 'रिपब्लिक' में वर्णित सैनिकवाद की लॉज में कटु आलोचना करके शान्ति को ही अधिक महत्त्व दिया है।

5. **प्रशासनिक व्यवस्था (Administrative System)** : 'रिपब्लिक' की तरह प्लेटो ने लॉज में सरकार की सर्वोच्चता को महत्त्व न देकर कानून के शासन को महत्त्व दिया है। कानून के शासन के पालन के लिए एक सुद ढ़ प्रशासनिक व्यवस्था का ढाँचा भी लॉज में पेश किया गया है। प्लेटो ने उपादर्श राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था की रूपरेखा निम्न प्रकार से प्रस्तुत की हैः-

(क) जन-सभा (Popular Assembly) : यह राज्य की नगर सभा है। इसमें नगर-राज्य के सभी 5040 सदस्य शामिल होते हैं और यह राज्य के उच्च संस्थाओं और पदाधिकारियों का चयन करती है। यह कानूनों में परिवर्तन और न्याय भी करती है। इसकी बैठक वर्ष में एक बार जरूरी होती है।

(ख) विधि-संरक्षक अथवा परामर्शदाता बोर्ड (Guardians of Law or Advisory Board) : इस संस्था के सदस्य केवल 50 वर्ष से अधिक आयु के नागरिक ही बन सकते हैं। उनका कार्यकाल 20 वर्ष होता है। उनकी कुल संख्या 37 होती है। उनका चुनाव तिहरी चुनाव प्रणाली द्वारा साधारण सभा के 5040 सदस्यों में से किया जाता है। ये कानून के संरक्षक होते हैं। राज्य के प्रशासन में शिक्षामन्त्री का विशेष स्थान होता है।

(ग) प्रशासनिक परिषद् (Administrative Council) : प्रशासनिक परिषद् में 360 सदस्य होते हैं। इनका चुनाव एक वर्ष के लिए किया जाता है। नागरिकों के चारों वर्गों में से 9o-90 सदस्य निर्वाचित किए जाते हैं। प्रशासनिक परिषद् के 360 सदस्यों को 12 भागों में बाँटा जाता है। विधि-संरक्षकों के परामर्श अनुसार प्रशासनिक परिषद् शासन करती है।

(घ) न्याय-व्यवस्था (Administration of Justice) : प्लेटो ने 'लॉज' में सभी विवादों को व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक दो भागों में बाँटकर उनके समाधान हेतु तीन न्यायालयों की स्थापना की गई है - (i) पंचायती न्यायालय (ii) श्रेत्रीय न्यायालय (iii) विशेष चुने हुए न्यायाधीशों का न्यायालय। इस सम्पूर्ण न्याय विभाग का संरक्षक शिक्षा-मन्त्री होता है।

(ङ) स्थानीय शासन (Local Administration) : प्लेटो ने 'लॉज' में स्थानीय शासन की व्यवस्था में नगरों में दो प्रकार के अधिकारी - नगर निरीक्षक एवं बाजार निरीक्षक का उल्लेख किया है। नगर निरीक्षक तीन तथा बाजार निरीक्षक पाँच हैं। नगर निरीक्षक का चुनाव नागरिकों के प्रथम वर्ग से तथा बाजार निरीक्षकों का चुनाव द्वितीय व त तीय वर्ग के नागरिकों में से किया जाता है। स्थानीय प्रशासन को सुविधापूर्ण ढंग से चलाने के लिए सम्पूर्ण नगर-राज्य को 12 भागों में बाँटकर प्रत्येक भाग में 5 ग्रामीण निरीक्षक नागरिकों द्वारा चुने जाते हैं।

उपर्युक्त संस्थाओं के अतिरिक्त 'लॉज' में प्लेटो ने दोष निरीक्षक, परीक्षा मण्डल, रात्रि-परिषद् आदि का भी उल्लेख किया है।

6. **सामाजिक और आर्थिक ढाँचा** (Social and Economic Structure) : प्लेटो ने 'लॉज' में उप-आदर्श राज्य के सामाजिक संगठन पर विचार करते हुए परिवार एवं विवाह की संस्थाओं पर विचार किया है। वह परिवार को एक नैतिक एवं धार्मिक सत्ता मानता है। वह विवाह को एक धर्म तथा अविवाहित रहने को अधर्म मानता है। उसने विवाह की संस्था पर राय के नियन्त्रण को स्वीकार किया है। उसने विवाह-उत्सवों का समर्थन किया है। वह विपरीत गुण व प्रकृति वाले विवाहों को उत्तम मानता है। विवाह से पूर्व स्वास्थ्य प्रमाण-पत्र चिकित्सक से अवश्य लेना चाहिए। वह जनसंख्या को स्थिर रखने के लिए सन्तानोत्पत्ति को राज्य द्वारा नियन्त्रित करने का समर्थक है। वह स्त्री-शिक्षा को अनिवार्य मानता है। वह स्त्री को सामाजिक जीवन में भाग लेने के लिए कहता है। वह सह-शिक्षा का विरोध करता है।

   'रिपब्लिक' के विपरीत लॉज में प्लेटो ने व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने की छूट अवश्य दी है, लेकिन उसके प्रयोग और उसकी मात्रा को निश्चित कर दिया है। वह सार्वजनिक हित में सम्पत्ति पर राज्य का नियन्त्रण आवश्यक मानता है। वह लॉज के सम्पत्ति सम्बन्ध ढाँचे पर कहता है कि नागरिकों को भूमि एवं मकान तो निजी रूप में प्राप्त होंगे। उसकी भूमि को उपज का उपभोग सार्वजनिक भोजनालयों में पंचायती ढंग से होगा। नागरिकों में भूमि का वितरण इस प्रकार से होगा कि नागरिकों में आर्थिक असमानता सीमित मात्रा में रहेगी। नागरिक केवल भूमि से उत्पन्न धन ही रखेंगे। उन्हें सोना, चाँदी अथवा विलास की वस्तुएँ रखने का अधिकार नहीं होगा। दास खेती करेंगे और विदेशी व्यापार करेंगे। नगर राज्य में तीन वर्ग - दास, विदेशी व नागरिक होंगे। इस प्रकार प्लेटो ने कुछ विशेषाधिकार प्राप्त व्यक्तियों को ही नागरिक माना है। इस ग्रन्थ में भी प्लेटो की मौलिक समस्या यह है कि व्यक्ति अपने व्यक्तिगत कार्यो को करते हुए सामाजिक कार्यों में भाग कैसे ले। इस समस्या का समाधान करने में प्लेटो 'लॉज' में असफल ही रहा।

7. **शिक्षा व्यवस्था** (Education System) : प्लेटो ने 'लॉज' में भी 'रिपब्लिक' की तरह शिक्षा को बहुत महत्त्व दिया है। उसने स्त्री व पुरुषों के लिए समान पाठ्यक्रम स्वीकार किया है लेकिन सह-शिक्षा प्रणाली का विरोध किया है। वह शिक्षा का उद्देश्य नागरिकों को सद्गुणी बनाना बताता है। वह समान शिक्षा प्रणाली अपनाने का सुझाव देता है। उसने शिक्षा को प्राथमिक, माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा तीन भागों में बाँटकर सब नागरिकों के लिए शिक्षा को अनिवार्य मानता है। वह कला और साहित्य पर कठोर नियन्त्रण की बात करता है। उसने पाठ्यक्रम में संगीत और व्यायाम को पूर्ण महत्त्व दिया है। उसका 'लॉज' में वर्णित शिक्षा-सिद्धान्त वास्तव में शिक्षा-संगठन का सिद्धान्त है।

8. **धार्मिक संस्थाएँ** (Religious Institutions) : प्लेटो ने 'लॉज' के दसवें अध्याय में धर्म की विस्त त व्याख्या की है। उसकी धर्म के प्रति रुचि उसकी व द्धावस्था के अनुभव की परिचायक है। उसे धर्म का अव्यवस्थित तथा व्यक्तिगत रूप पसन्द नहीं है और वह धार्मिक आडम्बरों का विरोध करता है। वह नास्तिकता को दण्डनीय अपराध मानता है तथा धर्म को राज्य के नियन्त्रण में रखता है। उसका मानना है कि धर्म का रूप राज्य द्वारा निश्चित होना चाहिए। उसके धार्मिक विचारों के कारण उसकी पुस्तक 'लॉज' को धार्मिक उत्पीड़न का प्रतिपादन करने वाला प्रथम ग्रन्थ कहा है।

   उपर्युक्त विचारों के आधार पर कहा जा सकता है कि 'लॉज' प्लेटो के राजनीतिक चिन्तन और अनुभवों का सारांश है। लॉज के इन अनुभवों पर आधारित सिद्धान्तों ने परवर्ती चिन्तकों को बहुत अधिक प्रभावित किया है और इतिहास में अपनी गहरी व अमिट छाप छोड़कर अपनी प्रतिभा का लोहा मनवाया है। 'लॉज' में प्लेटो ने अपने उपादर्श राज्य में अपने राजनीतिक अनुभवों को प्रतिस्थापित किया है। प्लेटो की विचारधारा का अरस्तू पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा और रोमन कानून को तो 'लॉज' की ही सन्तान कहा गया। अतः प्लेटो की पुस्तक 'लॉज' प्लेटो के उपादर्श राज्य का व्यावहारिक ढाँचा प्रस्तुत करती है। इससे प्लेटो को यथार्थवादी होने का गौरव प्राप्त हुआ और उसका यह ग्रन्थ एक ऐतिहासिक धरोहर बन गया।

रिपब्लिक व लॉज में अन्तर
(Difference between the Laws and Republic)

1. 'रिपब्लिक' में प्लेटो के विचार आदर्शवादी हैं, जबकि 'लॉज' में यथार्थवादिता का पुट है।
2. 'रिपब्लिक' में सुधारवादी चिन्तक की देन है, जबकि 'लॉज' प्लेटो के मन की गम्भीरता एवं निर्णय की प्रौढ़ता की परिचायक है।
3. 'रिपब्लिक' में प्लेटो ने दार्शनिक राजा के शासन का समर्थन किया है, जबकि 'लॉज' में कानून के शासन की सर्वोच्चता को महत्त्व दिया है।

4. 'रिपब्लिक' का आदर्श राज्य काल्पनिक वस्तु है, जबकि 'लॉज' में वर्णित उपादर्श राज्य इस प थ्वी पर प्राप्त करने योग्य व्यावहारिक राज्य है।
5. 'रिपब्लिक' में प्लेटो सम्पत्ति व परिवार की साम्यवादी व्यवस्था करते हैं, लेकिन 'लॉज' में कुछ शर्तों के साथ निजी सम्पत्ति व परिवार का समर्थन करते हैं।
6. 'रिपब्लिक' में न्याय ही राज्य का भौतिक गुण है, लेकिन 'लॉज' में आत्म-नियन्त्रण ही एक आवश्यक मौलिक गुण है।
7. 'रिपब्लिक' में प्लेटो ने दार्शनिक राजा की निरंकुशता का समर्थन किया है, जबकि 'लॉज' में लोकतन्त्र को महत्त्व दिया है।

प्लेटो प्रथम फासीवादी के रूप में
(Plato as the First Fascist)

राजनीतिक दर्शन में प्लेटो के सिद्धान्तों के आधार पर उन्हें प्रथम फासीवादी मानने पर विचार किया जाता है। प्लेटो के कुछ आलोचक उसे फासीवाद का अग्रदूत और मुसोलिनी का पूर्वज कहते हैं। पॉपर, क्रासमेन, रसेल, अलफ्रेड हार्नल जैसे विद्वान् उसे विश्व का प्रथम फासिस्ट और सर्वसत्ताधिकारवादी मानते हैं। प्लेटो के फासीवाद को जानने से पहले फासीवादी विचारधारा का अर्थ जानना आवश्यक है। फासीवाद का जनक मुसोलिनी था जो इटली का तानाशाह था। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद सर्वाधिकारवादी विचारधारा का जन्म हुआ, फासीवाद एक ऐसी विचारधारा है जो व्यक्ति के स्थान पर समूह को व्यक्तिगत हित के स्थान पर राष्ट्रहित को सर्वोपरि मानकर चलती है। यह विचारधारा सर्वसत्ताधिकारवादी राष्ट्र की जान होती है। इसमें उग्र-राष्ट्रवाद वैयक्तिक स्वतन्त्रता का विरोध, लोकतन्त्र व उदारवाद का विरोध, बुद्धिवाद का विरोध, हिंसा व शक्ति में विश्वास आदि प्रव त्तियाँ पाई जाती हैं। प्लेटो को इन फासीवादी विचारों का प्रेरणा-स्रोत मानकर उन पर प्रथम फासीवादी होने का लेबल लगा दिया गया। प्लेटो ने भी अपने आदर्श राज्य में दार्शनिक शासक की निरंकुशता, राज्य का महत्त्व, विवेक पर आधारित कुलीनवर्ग का प्रभुत्व, यूनानी जाति की श्रेष्ठता का गुणगान, लोकतन्त्र की भर्त्सना करके अपने ऊपर फासीवादी होने का आरोप लगवा लिया। प्लेटो के फासीवादी होने के तर्क को स्पष्ट करने के लिए प्लेटो के विचारों की फासीवादी विचारधारा से तुलना करना आवश्यक हो जाता है। दोनों में कुछ समानताएँ हैं, जिनके आधार पर उसे प्रथम फासीवादी माना जाता है।

प्लेटो फासीवादी के रूप मे
(Plato as the Fascist)

अनेक विद्वान् प्लेटो को प्रथम फासीवादी कहते हैं। इसके निम्नलिखित कारण हैं :-

1. **सर्वाधिकारवादी राज्य में विश्वास** **(Belief in Totalitarian State)** : प्लेटो का सर्वसत्तावाद उसके साम्यवादी सिद्धान्त में स्पष्ट हो जाता है। वह विवाह जैसे व्यक्तिगत मामलों में भी व्यक्ति को राज्य के अधीन कर देता है। प्लेटो का विश्वास है कि जो कुछ है राज्य के अन्दर है, बाहर नहीं। वह व्यक्ति को पूर्णतया राज्य के अधीन कर देता है। फासीवादी नेता मुसोलिनी का भी यही तर्क थ कि- "सब कुछ राज्य के अन्दर है, राज्य के विरुद्ध या राज्य के बाहर कुछ नहीं।"
2. **निरंकुश शासन** **(Dictatorial Rule)** : दोनों का विश्वास है कि आम जनता में शासन करने की क्षमता नहीं होती। शासन करने की योग्यता तो कुछ ही व्यक्तियों में होती है। अतः श्रेष्ठ व्यक्ति ही शासन करने के योग्य हो सकते हैं। प्लेटो ने दार्शनिक राजा के निरंकुश नेत त्व में विश्वास किया है। उसने दार्शनिक राजा को सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ तथा बुद्धिमान मानकर उसकी आज्ञाओं का पालन जनता द्वारा करना अनिवार्य बना दिया है। उसने स्पष्ट कर दिया है कि दार्शनिक शासक स्वयं कानूनों, जनमत व परम्पराओं से परे है। इसी प्रकार फासीवादी भी एक नेता के शासन में विश्वास करते हैं जो सर्वसत्तावादी होता है।
3. **लोकतन्त्र व उदारवाद का विरोध** **(Opposition to Democracry and Liberalism)** : दोनों विचारधाराएँ लोकतन्त्र व उदारवाद की घोर विरोधी हैं। प्लेटो ने अपने ग्रन्थ 'रिपब्लिक' में लोकतन्त्र की आलोचना करते हुए कहा है- "लोकतन्त्र के कानून म तक शब्द रहते हैं, उसकी स्वतन्त्रता निरंकुशता है, उसकी समानता असमानों की समानता है।" फासीवादियों के लिए प्रजातन्त्र मूर्खतापूर्ण, भ्रष्ट, धीमी, काल्पनिक तथा अव्यावहारिक प्रणाली है। प्लेटो प्रजातन्त्र को अज्ञानी लोगों का शासन कहता है। इसी प्रकार दोनों उदारवादी विचारधारा का भी विरोध करते हैं।

4. **उग्र-राष्ट्रवाद का समर्थन** (Favour of Radical Nationalism) : प्लेटो के लिए नगर राज्य पूर्ण और सर्वश्रेष्ठ है। फासीवाद भी अपने इटली राष्ट्र को सर्वेसर्वा मानकर उसके लिए त्याग तथा बलिदान की माँग करता है। दोनों ही राष्ट्र के हित में सब कुछ बलिदान करने पर जोर देते हैं।
5. **जातीय श्रेष्ठता** (Racial Supremacy) : प्लेटो यूनानियों को सभ्य व सुसंस्कृत मानकर उन्हें दास बनाने का विरोधी है। उसका मानना है कि यूनानी जाति विश्व में सर्वश्रेष्ठ है। इसी प्रकार फासीवादी नेता मुसोलिनी जातीय श्रेष्ठता में विश्वास रखते हैं। इस प्रकार दोनों में काफी समानता है।
6. **राज्य की सर्वोच्चता** (Supremacy of State) : प्लेटो व फासीवादी दोनों ही राज्य को सर्वोपरि मानते हैं। दोनों का रूप अधिनायकवादी है। दोनों राज्य-हित को सर्वोपरि मानते हैं। दोनों राज्य को साध्य व व्यक्ति को साधन मानते हैं। व्यक्ति राज्य हित में व द्धि का साधन मात्र होता है। इसलिए राज्य को साध्य मानकर दोनों राज्य के हित में व्यक्ति के हितों की बलि दे देते हैं।
7. **अन्तरराष्ट्रीयवाद का विरोध** (Against Internationalism) : प्लेटो को चिन्तन का केन्द्र यूनानी नगर राज्य एथेन्स था। वह अपने चिन्तन में एथेन्स की राजनीतिक समस्याओं का वर्णन करता है। फासीवाद का जनक इटली नगर था। मुसोलिनी ने इटली की राजनीतिक स्थिरता के लिए ही फासीवाद का नारा दिया। दोनों विचारधाराएँ अन्तरराष्ट्रीय सन्धियों व समझौते की कट्टर विरोधी हैं।
8. **कर्त्तव्यों की प्रधानता** (Emphasis on Duties) : दोनों विचारधाराओं में कर्त्तव्यों पर ही बल दिया गया है। फासीवाद का यह मानना है कि नागरिकों को अपने नेता की बात आँख बन्द करके माननी चाहिए। इस तरह दोनों व्यक्ति के अधिकारों की मांग की उपेक्षा करके कर्त्तव्यों पर ही बल देते हैं। प्लेटो ने तो राज्य की आज्ञा का पालन करने के लिए नागरिकों से प्राण तक त्यागने की बात की है।
9. **शिक्षा पर नियन्त्रण** (Control on Education) : फासीवादी राष्ट्र की आवश्यकतानुसार ही पाठ्यक्रम निर्धारित करते है।। फासीवाद में फासीवादी सिद्धान्तों की ही शिक्षा दी जाती है। राज्य का शिक्षा पर पूरा नियन्त्रण रहता है। इसी प्रकार प्लेटो ने भी राज्य की आवश्यकतानुसार पाठ्यक्रम निर्धारित किया हैं शिक्षा द्वारा सैनिक और शासक तैयार किए जाते हैं। राज्य का शिक्षा पर पूरा नियन्त्रण रहता है। इस प्रकार दोनों में बहुत अधिक समानता है।
10. **अभिजन-वर्ग का शासन** (Rule of Elites) : प्लेटो का मानना है कि शासन करने की क्षमता थोड़े ही व्यक्तियों में होती है। यह अल्पसंख्यक वर्ग ही शासन कर सकता है। इसी प्रकार फासीवादी भी थोड़े से व्यक्तियों के शासन में विश्वास करते है।। उनका मानना है कि बहुमत का शासन भ्रष्ट व अयोग्य होता है। अतः दोनों कुलीनतन्त्र में विश्वास करते हैं, जो बुद्धिजीवियों का समूह है।
11. **समानता के सिद्धान्त का विरोध** (Against Principle of Human Equality) : दोनों असमानता में विश्वास करते हैं। उनका मानना है कि प्रकृति ने सबको समान नहीं बनाया। इसलिए कुछ तो शासक बनने के लिए पैदा होते हैं और कुछ शासित होने के लिए। सभी व्यक्तियों की बौद्धिक क्षमता व कार्य करने की क्षमता समान नहीं होती। अतः दोनों समानता के सिद्धान्त के घोर विरोधी हैं।

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्लेटो एक फासीवादी चिन्तक थे। बार्कर ने प्लेटो के शासन को योग्य व्यक्तियों की निरंकुशता माना है। रसेल ने भी प्लेटो के शासक को तानाशाह कहा है। लेकिन कुछ विद्वानों ने प्लेटो को फासीवादी मानने से इन्कार किया है। उनका मानना है कि दोनों में मौलिक अन्तर है। एच॰ बी॰ एक्टन, ई॰ अंगर, जी॰ सी॰ फील्ड, आदि विद्वानों का कहना है कि प्लेटो को फासिस्ट मानना एक मिथ्या धारणा है। सी॰ ई॰ एम॰ जोड ने अपने प्रसिद्ध 'गाइड टु फिलासफी ऑफ मोरलस एण्ड पॉलिटिक्स' (Guide to Philosophy of Morals and Politics) में दिखाया है कि फासीवाद और प्लेटोवाद में मौलिक अन्तर है। इसलिए फासीवादी सिद्धान्तवादियों का यह दावा अतिशयोक्तिपूर्ण है कि प्लेटो फासीवादी थे। प्लेटो के प्रथम फासीवादी न होने के पक्ष में निम्न तर्क हैं :-

1. दोनों सिद्धान्तों के उद्भव काल में 2300 वर्ष का अन्तर है। दोनों जिन परिस्थितियों से जन्मे उनमें बिलकुल अन्तर है।
2. प्लेटो का दर्शन एक पूर्ण व व्यवस्थित दर्शन है, जबकि फासीवाद एक सम्पूर्ण दर्शन न होकर नीत्शे, प्रेटो, हेगल, मुसोलिनी आदि फासीवादियों के सिद्धान्तों का समूह है जो इधर-उधर बिखरे हुए हैं।

3. फासीवाद में तर्क के विरुद्ध विद्रोह है, जबकि प्लेटो आदर्श राज्य में मुक्ति को एक गौरवपूर्ण स्थान देते हैं।
4. प्लेटो साम्राज्यवाद का विरोधी था जबकि फासीवादी साम्राज्यवाद का समर्थन करते हैं।
5. प्लेटो का राज्य हमेशा एक विचार ही रहा जबकि फासीवादी विचार एक तथ्य है। प्लेटोवाद राजनीतिक आदर्शवाद का जबकि फासीवाद राजनीतिक यथार्थवाद का प्रतीक है।
6. प्लेटो ने राजनीति विज्ञान को नीतिविज्ञान के अधीन किया है, जबकि फासीवादी नीति-विज्ञान को ही राजनीति-विज्ञान के अधीन कर देते हैं।
7. प्लेटो साम्यवाद की बात करता है, जबकि फासीवादी साम्यवाद व समाजवाद के घोर शत्रु हैं।
8. प्लेटोवाद एक शान्तिवादी विचारधारा है, जबकि फासीवाद हिंसा व युद्ध में विश्वास रखता है।
9. प्लेटोवाद संयम व विवेक पर आधारित है। वह किसी भी प्रकार से विरोधियों के दमन की अनुमति नहीं देता, परन्तु फासीवादी विचारधारा विरोधियों के दमन व शोषण का समर्थन करती है।
10. प्लेटोवाद नैतिकता में विश्वास करता है, जबकि फासीवादी किसी प्रकार की नैतिकता में विश्वास नहीं करते। उनका लक्ष्य तो सदैव अवसरवादिता के आधार पर हित-साधना है।
11. प्लेटो शासक में सद्‌गुणों का होना आवश्यक बताता है, जबकि फासीवादी शासक के लिए शारीरिक और धूर्ततापूर्ण बल पर जोर देते हैं।
12. फासीवाद 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' की उक्ति में विश्वास करते हैं, जबकि प्लेटो शक्ति के किसी भी रूप का घोर विरोधी है।
13. प्लेटो के शासक का उद्देश्य जनकल्याण करना है, जबकि फासीवादी शासक का उद्देश्य स्वार्थ-सिद्धि करना है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्लेटो न तो फासिस्ट था और न फासीवाद का अग्रगामी। यद्यपि उसक कुछ बातें फासीवाद से मिलती है, लेकिन दोनों के चिन्तन में असमझौतावादी अन्तर है। उसे हिटलर व मुसोलिनी की तरह सर्वसत्ताधिकारवादी नहीं माना जा सकता। दोनों सिद्धान्तों का उद्‌भव भिन्न-भिन्न कालों व परिस्थितियों में हुआ है। दोनों श्को एक साथ मिलाना सर्वथा अनुपयुक्त है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्लेटो न तो फासीवादी थे और न ही फासीवाद के अग्रदूत। उन्हें फासिस्ट कहना केवल अनैतिहासिक ही नहीं, बल्कि असत्य व अनुचित भी है।

अध्याय-2

अरस्तू

(Aristotle)

परिचय
(Introduction)

यूनानी राजदर्शन के इतिहास में सुकरात और प्लेटो के बाद अरस्तू का ही नाम प्रसिद्ध है। इन तीनों दार्शनिक ने न केवल यूनान की गरिमा बढ़ाई बल्कि मानव ज्ञान के विकास में भी महान् योगदान दिया। अरस्तू प्लेटो के सबसे प्रिय शिष्य थे और राजनीतिक दर्शन में अपने गुरु से प्रेरित थे, किन्तु दोनों के राजनीतिक विचारों में विशेषकर अध्ययन पद्धति में मौलिक अन्तर मिलता है। जहाँ प्लेटो एक आदर्शवादी तथा क्रान्तिकारी विचारक थे, अरस्तू अपने चिन्तन में एक यथार्थवादी और यथास्थिति के समर्थक थे। राजनीतिशास्त्र के अध्ययन में जहाँ प्लेटो ने चिन्तन की निगमन प्रणाली (Deductive Method) अपनाई, वहीं अरस्तू ने आगमन पद्धति (Inductive Method) का प्रयोग किया। प्लेटो के दर्शन में जहाँ आदर्श और कवित्व का पुट है, अरस्तू के दर्शन में यथार्थवादिता और वैज्ञानिकता का समावेश है। प्लेटो की तरह अरस्तू का दर्शन भी बहुमुखी है। राजनीतिशास्त्र के अतिरिक्त नीतिशास्त्र, दर्शनशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, प्रकृतिविज्ञान जैसे विषयों का भी उनको महान् ज्ञाता माना जाता है।

जीवन परिचय
(Life History)

अरस्तू का जन्म एथेन्स से 200 मील उत्तर में स्थिति यूनानी उपनिवेश स्तागिरा में 384 ई॰ में हुआ था। अरस्तू के पिता निकोमाकस एक राजवैद्य थे और उनकी माता फैस्टिस एक ग हिणी थी। उसका बचपन मेसीडोनिया की राजधानी पेल्ला में बीता जहाँ उसके पिता राजवैद्य थे। उसकी बाल्यावस्था में ही उसके सिर से माँ-बाप का साया उठ गया। अरस्तू की शारीरिक बनावट एक कुरूप की तरह थी। अरस्तू ने बचपन से ही चिकित्सा विज्ञान में रुचि लेनी शुरु कर दी और उसने इस अनुभव का अपनी रचनाओं में फायदा उठाया। अरस्तू के जीवन काल को तीन भागों में बाँटा जा सकता है।

अपने जीवन के प्रथम काल में उसने अठारह वर्ष की आयु में प्लेटो का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। इस समय एथेन्स में प्लेटो की अकादमी की ख्याति जोरों पर थी। अरस्तू एक प्रतिभाशाली छात्र था और प्लेटो का सबसे प्रिय शिष्य बन गया। अरस्तू को नई-नई पुस्तकें एकत्रित करने का शौक था। प्लेटो ने अरस्तू के घर को पाठक का घर कहा। वह प्लेटो का पिय शिष्य होने के बावजूद भी स्वतन्त्र चिन्तन में विश्वास रखता था, इसलिए उसने अपने गुरु प्लेटो के कुछ आदर्शों का विरोध भी किया। अरस्तू ने स्वयं कहा कि प्लेटो के साथ ही ज्ञान का अन्त नहीं होगा। लेकिन उसने अपने गुरु की म त्यु तक अकादमी नहीं छोड़ी और उसकी म त्यु पर उसे एक महान् चिन्तक बताया।

अपने जीवन के दूसरे काल में प्लेटो की म त्यु (347 ई॰ पू॰) के बाद वह अकादमी में प्रधान पद प्राप्त करने में असफल रहने पर एथेन्स छोड़कर अपने मित्र जेनोक्रेटिज के साथ एस्सास नामक नगर में चला गया। वहाँ पर उसने सम्राट हरमियास के दरबार में राजवैद्य का पद स्वीकार कर लिया। कालान्तर में उसने सम्राट की सहायता से एक अकादमी की स्थापना की। अरस्तू ने सम्राट हरमियास की भानजी और दत्तकपुत्री से विवाह भी किया। 432 ई॰ पू॰ में सम्राट की म त्यु के बाद वह एस्सास छोड़कर स्तागिरा चला गया और वहाँ पर उसने हर्पलिस नामक सुन्दरी से गुप्त विवाह कर लिया। 342 ई॰ पू॰ में ही वह मेसीडोनिया के राजा फिलिप द्वारा आमन्त्रित किए जाने पर सिकन्दर महान् को पढ़ाने हेतु मेसीडोनिया चला गया। 344 ई॰ पू॰ जब सिकन्दर विश्व विजय अभियान पर निकला तो वह वापिस एथेन्स चला गया।

अपने जीवन के तीसरे काल में मेसीडोनिया के राजा फिलिप की म त्यु के बाद वह एथेन्स में 12 वर्ष तक रहा और उसमें 'लाइसियम' नामक अकादमी की स्थापना की। 323 ई॰ पू॰ सिकन्दर की म त्यु होने पर एथेन्सवासियों ने मेसीडोनिया के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। अरस्तू मेसिडोनिया समर्थक होने के कारण देशद्रोह का आरोप लगने पर अपने प्राण बचाने हेतु यूबोइया टापू के कैल्सिस नामक नगर में चला गया। यहीं पर इस महान् दार्शनिक की 322 ई॰ पू॰ में जीवन ज्योति बुझ गई।

महत्त्वपूर्ण रचनाएँ
(Important Works)

अरस्तू की महानता उसके जीवन से नहीं, अपितु उसकी रचनाओं से स्पष्ट होती है। उसने गणित को छोड़कर मानव- जीवन और प्राकृतिक विज्ञान के हर क्षेत्र को छुआ है। उसने दर्शन, साहित्य, यन्त्र-विज्ञान, भौतिकशास्त्र, शरीर विज्ञान, खगोल विद्या, शासन कला, आचारशास्त्र, लेखन कला, भाषण कला, इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति आदि विषयों पर लेख लिखे हैं। उसके गम्भीर और प्रभावशाली लेखन कार्य को देखकर यह कहा जाता है कि सबसे महान् दार्शनिक चिन्तक है। मैक्सी ने उसे 'सर्वज्ञ गुरु' और दाँते ने उसे 'ज्ञाताओं का गुरु' की संज्ञा दी है। कैटलिन ने उसे सामान्य बुद्धि और स्वर्ण मार्ग का सर्वोच्च धर्मपूत कहा है। उसके लेखन कार्य की महानता को देखकर फोस्टर ने कहा है- "अरस्तु की महानता उसकी रचनाओं में है, न कि उसके जीवन में।" उस की महत्त्वपूर्ण रचनाएँ इस कथन को स्पष्ट करती हैं कि वह अपने समय के यूनानी ज्ञान-विज्ञान का विश्वकोष था।

अरस्तू ने लगभग 400 ग्रन्थों की रचना की। ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय ने उसके समस्त ग्रन्थों को 12 खण्डों में प्रकाशित किया है, जिसमें प ष्ठों की संख्या 3500 है। उसकी सर्वश्रेष्ठ कृति 'पॉलिटिक्स' है। उसकी रचनाओं को सामान्य रूप से तार्किक, वैज्ञानिक, सौन्दर्यशास्त्रीय एवं दार्शनिक चार वर्गों में बाँटा जा सकता है। 'कैटेगरीज' (Categories), 'टॉपिक्स' (Topics), 'प्रायर एनालीटिक्स' (Prior Analytics), 'पोस्टेरियर एनालीटिक्स' (Posterior Analytics), 'प्रोपोजीशन्स' (Propositions), 'सोफिस्टिकल रेफुटेशन' (Sophistical Refutation) आदि रचनाएँ तार्किक रचनाएँ हैं। उसने भौतिकशास्त्र, जीव-विज्ञान, ऋतुविज्ञान आदि वैज्ञानिक विषयों पर भी लिखा। 'मैटरोलॉजी' (Meterology) तथा 'हिस्ट्री ऑफ एनीमल' (History of Animals) आदि रचनाएँ वैज्ञानिक कोटि की हैं। 'रेटोरिक' (Rhetoric) और 'पोएटिक्स' (Poetics) रचनाएँ सौन्दर्यशास्त्र के अन्तर्गत आती हैं। 'मेटाफिजिक्स' (Metaphysics), 'निकोमाकियन एथिक्स' (Nicomachean Ethics) एवं 'पॉलिटिक्स' (Politics), 'दॉ कॉन्स्टीट्यूशन ऑफ एथेन्स' (The Constitution of Athens) दर्शनशास्त्र की रचनाएँ हैं। 'यूडेमस' (Eudemus), 'काइलो' (Caelo) तथा 'डी अनिमा' (De Anima) अरस्तू की अन्य प्रसिद्ध रचनाएँ हैं।

अध्ययन की पद्धति
(Method of Study)

अरस्तू राजनीति दर्शन के इतिहास में ऐसा प्रथम चिन्तक है जिसने एक परिपक्व विद्वान की तरह क्रमबद्ध ढंग से साहित्य का सर्जन किया। इसी कारण उसे प्रथम राजनीतिक वैज्ञानिक होने का श्रेय प्राप्त हुआ। अरस्तू की रचनाएँ कल्पना की उड़ान न होकर वास्तविकता से सम्बन्ध रखती हैं और उनमें प्रौढ़ावस्था का अनुभव है। मैक्सी के अनुसार- "अरस्तु ने प्रायः वैज्ञानिक पद्धति (Scientific Method) का अनुसरण किया है।" इसी प्रकार बार्कर ने भी लिखा है- "अरस्तु ने एक वैज्ञानिक की तरह लिखा है, उसके ग्रन्थ क्रमबद्ध, समीक्षात्मक एवं सतर्क हैं। उसमें कल्पना की उड़ान नहीं यथार्थ का पुट है।" अरस्तू ने अपनी पारिवारिक प ष्ठभूमि के कारण बचपन से विशेष घटनाओं और तथ्यों के निरीक्षण के आधार पर प्राप्त अनुभवों का पूरा लाभ उठाया और सामान्य सिद्धान्त कायम करने में सफल रहा। उसने अपने चिन्तन में जीव-विज्ञान और वैज्ञानिक पद्धति में जो अभिरुचि दिखाई, वह उसके पारिवारिक वातावरण की ही देन है। अतः उसको वैज्ञानिक अनुभव विरासत के रूप में प्राप्त हुआ था जिस पर उसने अपना लेखन कार्य आधारित किया। अरस्तू की अध्ययन पद्धति की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :-

अरस्तू ने सर्वप्रथम राजनीतिशास्त्र का अध्ययन करते समय आगमनात्मक पद्धति (Inductive Method) का ही प्रयोग किया। यह पद्धति विशेष से सामान्य की ओर बढ़ती है। इसमें घटनाओं का सामान्यीकरण किया जाता है। अरस्तू ने भी घटनाओं का सामान्यीकरण किया है। बार्कर ने अरस्तू की आगमनात्मक पद्धति के बारे में लिखा है- "इस अध्ययन पद्धति का सार था निरीक्षण करना तथा सम्बन्धित आँकड़े एकत्रित करना और इसका उद्देश्य था, प्रत्येक विचार्य विषय का कोई सामान्य सिद्धान्त खोज निकालना।" अरस्तू ने इस पद्धति का प्रयोग तथ्यों के निरीक्षण, संग्रह, समायोजन, तुलनात्मक अध्ययन तथा उसके आधार

पर निष्कर्ष निकालने में किया है। अतः अरस्तू द श्यमान जगत् के वास्तविक पदार्थों को अपने विचार का आधार बताते हुए स्थूल सूक्ष्म की ओर बढ़ता है।

अरस्तू की पद्धति विश्लेषणात्मक (Analytical) भी है। इस पद्धति के अन्तर्गत किसी विषय या वस्तु के निर्माणकारी अंगों को अलग करके उनका अध्ययन किया जाता है। उदाहरण के लिए अरस्तू ने राज्य के स्वभाव का अध्ययन करने से पहले उसके निर्माणकारी तत्त्वों - परिवारों और गाँवों का अध्ययन किया है। जीवन का अध्ययन करने के लिए अरस्तू ने जीवन को तीन भागों - पौष्टिक (Nutrative), संवेदनशील (Sensitive), और बौद्धिक (Rational) में बाँटकर सामान्य सिद्धान्त की खोज की है। इसी प्रकार अरस्तू ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'पालिटिक्स' के तीसरे अध्याय में नागरिकों को निर्माणकारी तत्त्व मानकर राज्य का अध्ययन किया है। अपनी इसी पद्धति के आधार पर अरस्तू ने विभिन्न शासन प्रणालियों में क्रान्ति के कारणों का अध्ययन किया है। इस प्रकार विश्लेषण अरस्तू की अध्ययन पद्धति की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

अरस्तू ने अपने समय के विविध विषयों के बारे में जानने के लिए ऐतिहासिक घटनाओं का भी सहारा लिया है। उसने यूनानी समाज में प्रचलित 158 देशों की राजव्यवस्थाओं के ऐतिहासिक और तत्कालीन कार्य-कारण का अध्ययन किया है। अरस्तू के इन विचारों के कारण उसे ऐतिहासिक विधि (Historical Method) का जनक भी कहा जाता है।

अरस्तू ने तत्कालीन यूनानी समाज में प्रचलित 158 देशों की शासन पद्धतियों का तुलनात्मक अध्ययन है। इस कारण अरस्तू को तुलनात्मक पद्धति (Comparative Method) का जनक कहा जाता है। इस पद्धति के अन्तर्गत उसने प्रत्येक किस्म के संविधान के गुणों व दुर्बलताओं का अध्ययन करके तुलनात्मक निष्कर्ष निकाले हैं।

अतः निष्कर्ष तौर पर यह कहा जा सकता है कि अरस्तू ने अनुभवमूलक तथ्यों पर आधारित वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया है। उसकी पद्धति आगमनात्मक, ऐतिहासिक तथा विश्लेषणात्मक है। वह तथ्यों का अध्ययन करके ही किसी निष्कर्ष पर पहुँचा है। उसने इतिहास और घटनाओं का व्यापक विश्लेषण किया है। उसने विभिन्न देशों के संविधानों का तुलनात्मक अध्ययन करके तुलनात्मक पद्धति को जन्म दिया हैं उसने राजनीतिशास्त्र को एक स्वतन्त्र और सम्पूर्ण विज्ञान का रूप प्रदान किया है। उसने राजनीतिशास्त्र को नीतिशास्त्र से अलग करके एक सर्वोच्च विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित किया है। इसलिए अरस्तू को यथार्थवादियों, वैज्ञानिकों, व्यवहारवादियों एवं उपयोगितावादियों का जनक माना जाता है।

अरस्तू पर प्रभाव
(Influence on Aristotle)

प्रत्येक राजनीतिक चिन्तक अपने काल की परिस्थितियों की उपज होता है। वह अपने समय की परिस्थितियों, वातावरण तथा प्रचलित विचारों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। अरस्तू भी इसका अपवाद नहीं था। उस पर निम्न तथ्यों का प्रभाव पड़ा :-

1. **प्लेटो के विचार (Plato's Ideas)** : अरस्तू ने अपना अधिकांश समय प्लेटो के पास ही व्यतीत किया। प्लेटो की संगति ने ही अरस्तू के दर्शन का राजनीतिक और नैतिक निर्माण किया था। डनिंग व फॉस्टर जैसे लेखक अरस्तू के दर्शन पर प्लेटो का अधिक प्रभाव मानते हैं। स्वयं प्लेटो अरस्तू को अपनी 'अकादमी का मस्तिष्क' कहा करता था। अरस्तू प्लेटो का 20 वर्ष तक शिष्य रहा। फॉस्टर के अनुसार- "अरस्तु प्लेटो के शिष्यों में महान् था।" अरस्तू प्लेटो के विचारों से इतने अभिभूत हुए जितने कि उनके अतिरिक्त कोई अन्य नहीं हुआ अर्थात् अरस्तू के विचार दर्शन को जितना प्लेटो ने प्रभावित किया, उतना किसी ने नहीं। अरस्तू पर प्लेटो का प्रभाव निम्नलिखित हैः-

   (i) राज्य का सद्‌गुण व्यक्ति के सद्‌गुण से अभिन्न है।

   (ii) राज्य एक स्वाभाविक, नैतिक एवं आध्यात्मिक सत्ता है जो व्यक्ति को नैतिक रूप से बलवान बनाती है।

   (iii) मनुष्य स्वभाव से ही एक सामाजिक प्राणी है।

   (iv) राजनीतिक समस्या नैतिक समस्या है क्योंकि राज्य का उद्देश्य व्यक्ति का नैतिक विकास करना है।

   (v) एक मिश्रित संविधान वाला राज्य अव्यावहारिक नहीं होता है।

   (vi) अरस्तू ने अपने विचारों में अनिवार्य शिक्षा के सिद्धान्त को मान्यता दी है।

(vii) प्लेटो की तरह अरस्तू भी प्रजातन्त्र का विरोध करता है।

(ix) प्लेटो के समय अरस्तू व्यक्ति धर्म को सर्वोच्च मानता है।

(x) छोटे आकार का नगर राज्य ही जीवन के लिए अच्छा होता है।

(xi) राज्य के कार्यों को क्रियान्वित करना कुछ एक नागरिकों का एकाधिकार होना चाहिए।

(xii) 'लॉज' में प्लेटो की तरह अरस्तू भी कानून की सम्प्रभुता (Sovereignty of Law) में विश्वास करता है। वह शासकों को विधि का संरक्षक मानता है।

यद्यपि अरस्तू ने प्लेटो से बहुत कुछ सीखा, लेकिन उसका अन्धाधुंध अनुसरण नहीं किया। वे आवश्यकता पड़ने पर प्लेटो की आलोचना भी करते थे। प्लेटो के दर्शन और अरस्तू के दर्शन में कुछ विभिन्नताएँ भी हैं, लेकिन उनका ज्याद महत्त्व नहीं है। अतः अरस्तू पर प्लेटो का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है जिसके बारे में मैक्सी ने कहा है- "दोनों में नैतिक जीवन के प्रति आस्था है। न्याय की व्यवस्था तथा बुद्धिमता के प्रति अगाध अनुराग है। शिक्षा द्वारा मनुष्य को सुधारने में अमिट विश्वास है, दोनों उत्तम जीवन की प्राप्ति को अपना लक्ष्य मानते हैं, राज्य को मनुष्य के विकास के लिए आवश्यक मानते हैं और समाज का निर्माण न्याय, तर्क एवं बुद्धि के आधार पर करने के लिए उत्सुक है।" स्पष्टतया अरस्तू ने अपने दर्शन के मूल तत्त्व प्लेटो से ही लिए हैं। इससे सिद्ध होता है कि अरस्तू प्लेटो का सबसे अधिक निष्ठावान शिष्य था। प्रो॰ रास का विचार है- "प्लेटो की दार्शनिक और अरस्तू की वैज्ञानिक धारणा की विभिन्नता को छोड़कर अरस्तू की विचारधारा का कोई ऐसा पन्ना नहीं है, जिस पर प्लेटो का प्रभाव न पड़ा हो। जब वह प्लेटो के सिद्धान्त की आलोचना भी कर रहा होता है तब भी यह प्रभाव दिखाई देता है।" अतः अरस्तू द्वारा प्लेटो की आलोचना भी एक रचनात्मक कार्यक्रम था। उससे भी अरस्तू ने कुछ न कुछ अवश्य ग्रहण किया। इस प्रकार वे प्लेटो के ऋणी बन गए।

2. **यूनानी सभ्यता का प्रभाव (Influence of Greek Civilization)** : अरस्तू यूनानी धारणाओं से अच्छी तरह परिचित थे। उसने अपने दर्शन में निम्नलिखित धारणाओं को शामिल किया :

(i) यूनानी जाति अन्य सभी जातियों में श्रेष्ठ व सभ्य है।

(ii) दास-प्रथा प्रकृति के अनुकूल है।

(iii) नगर-राज्य ही सर्वश्रेष्ठ सामाजिक व राजनीतिक संगठन है।

(iv) समाज व्यक्ति से पहले है तथा समाज हित में व्यक्ति का हित त्यागा जा सकता है।

(v) नागरिकता एक स्वतन्त्र मानव की सबसे बड़ी विशेषता है।

(vi) प्रकृति विकास की दिशा में चल रही है।

3. **पिता का प्रभाव (Influence of His Father)** : अरस्तू का पिता एक राजवैद्य था। अरस्तू की भी इस पेशे के प्रति रुचि जाग त होना उसके पिता के पेशे का ही प्रभाव है। उसने अपना वैज्ञानिक द ष्टिकोण अपने पिता से ग्रहण किया है। उसने जीव विज्ञान सम्बन्धी बातें अपने पिता से सीखीं जो उसके ग्रन्थों में स्पष्ट दिखाई देती है। राज्य की बार-बार किसी प्राणी से तुलना करना उसके इस प्रभाव को स्पष्ट करता है। बार्कर के अनुसार- "चूँकि चिकित्सक का पेशा अरस्तू के परिवार में पीढ़ियों से चला आ रहा था। अतएव अपने चिन्तन में अरस्तू ने जीव विज्ञान और वैज्ञानिक पद्धति में जो दिलचस्पी दिखाई है, उसका कारण उस पर पारिवारिक वातावरण का ही प्रभाव है।"

4. **पारिवारिक जीवन (Family Life)** : अरस्तू का दाम्पत्य जीवन अत्यधिक सुखी था। उसने इसी अनुभव के कारण परिवार की संस्था का समर्थन तथा प्लेटो के पत्नियों के साम्यवाद का विरोध किया है। अरस्तू सम्पत्ति को व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक मानते हैं। उसने अपने सफल वैवाहिक जीवन के कारण अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। उसके राज्य, व्यक्ति, दास-प्रथा, सम्पत्ति, परिवार आदि पर विचार उसके पारिवारिक वातावरण से प्राप्त विचारधारा के ही परिणाम हैं।

5. **राजदरबारों का वातावरण (Conditions of Royal Courts)** : चूँकि अरस्तू का पिता राजवैद्य था, जिसके कारण बचपन में ही उसे राजदरबारों में जाने का मौका मिलने लगा। वह स्वयं भी हरमियास तथा मैसिडोनिया के राजा फिलिप के

राज दरबार में उच्च पदों पर रहा। उसने राजा फिलिप के दरबार में रहने के कारण अपनी पुस्तक 'पोलिटिक्स' में राजतन्त्र तथा निरंकुशतन्त्र पर टीका-टिप्पणी की है। उसने संवैधानिक राजतन्त्र का समर्थन राजदरबारों के वातावरण से प्रभावित होकर ही किया है।

6. **तत्कालीन परिस्थितियाँ** **(Contemporary Conditions)** : कोई भी विचारक तत्कालीन सामाजिक व राजनीतिक वातावरण से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। अरस्तू पर भी तत्कालीन परिस्थितियों का गहरा प्रभाव पड़ा। उस समय यूनान की राजनीति में बड़ी उथल-पुथल हो रही थी। नगर-राज्यों में परिवर्तन हो रहे थे। मकदूनिया के सम्राट ने नगर-राज्यों की स्वतन्त्रता समाप्त कर दी थी। यह यूनानी नगर राज्यों के जीवन में ह्रास का युग थां इस काल में स्पार्टा का पतन हुआ था। इन परिस्थितियों ने अरस्तू को सोचने के लिए बाध्य किया कि यूनानी नगर राज्यों के पतन के क्या कारण थे। अरस्तू ने इसका कारण यूनानियों में एकता का अभाव बताया। समकालीन परिस्थितियों में राजनीतिक चिन्तन का आदर्श नगर-राज्य थे। यद्यपि अरस्तू ने मेसोडोनिया के साम्राज्यवाद के दर्शन कर लिए थे, लेकिन फिर भी वह यूनानियों के हृदय से नगर-राज्यों का अथाह प्रेम व लगाव की भावना को नहीं निकाल सका। उसने नगर-राज्य को ही अपने अनुशीलन का केन्द्र बनाया। इस प्रकार तत्कालीन राजनीतिक व सामाजिक वातावरण ने भी अरस्तू के मानस-पटल पर गहरा प्रभाव डाला।

अतः हम कह सकते हैं कि अरस्तू का चिन्तन किसी एक तत्त्व से प्रभावित न होकर अनेक तत्त्वों से प्रभावित हुआ। उस पर सबसे अधिक प्रभाव अपने गुरु प्लेटो व पारिवारिक प ष्ठभूमि का पड़ा। इनके अतिरिक्त यूनानी सभ्यता, राजदरबारों के वातावरण व तत्कालीन परिस्थितियों ने भी उसे प्रभावित किया। अतः अनेक तत्त्वों ने उसके मौलिक चिन्तन पर प्रभाव डाला है।

राज्य की उत्पत्ति व प्रकृति का सिद्धान्त
(Theory of Origin and Nature of State)

अपने ग्रन्थ 'पोलिटिक्स' (Politics) में अरस्तू ने राज्य की उत्पत्ति, स्वरूप तथा लक्ष्य के सम्बन्ध में विस्त त चर्चा करते हुए कहा है कि 'मनुष्य एक सामाजिक तथा राजनीतिक प्राणी है' (Man is a Social and Political Animal)। अरस्तू के अनुसार मनुष्य का अस्तित्व और विकास राज्य में ही सम्भव है। तत्कालीन यूनान के सोफिस्टों का मानना था कि राज्य मनुष्य निर्मित कृत्रिम संस्था है, परन्तु अरस्तू सोफिस्टों के इस विचार का खण्डन करते हुए राज्य को एक ऐसी स्वाभाविक संस्था मानता है जो एक ऐतिहासिक विकास का परिणाम है। अरस्तू राज्य को एक सावयिक संगठन मानता है और व्यक्ति को उसकी एक इकाई मानता है जिसको राज्य से अलग नहीं किया जा सकता। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अरस्तू ने व्यक्ति को राज्य में मिला दिया है।

राज्य की उत्पत्ति
(Origin of State)

अरस्तू ने राज्य की उत्पत्ति के बारे में प्रचलित तत्कालीन समझौता सिद्धान्त तथा दैवीय सिद्धान्त का खण्डन करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि राज्य एक ऐसे ऐतिहासिक विकास का परिणाम है, जिसकी शुरुआत परिवार से होती है। अरस्तू के अनुसार मनुष्य की दो मूलभूत आवश्यकताएँ होती हैं। अरस्तू के अनुसार मनुष्य की दो मूलभूत आवश्यकताएँ होती हैं - भौतिक आवश्यकता तथा प्रजनन की आवश्यकता। भौतिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए वह दास के सम्पर्क में आता है तथा प्रजनन की आवश्यकता के कारण स्वामी और स्त्री परस्पर एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं। इस प्रकार स्वामी, स्त्री और दास से पहला सामाजिक संगठन कुटुम्ब का निर्माण होता है। कुटुम्ब से ग्राम तथा ग्राम से राज्य की उत्पत्ति होती है। अरस्तू ने अपने राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त को कुछ मूलभूत मान्यताओं पर खड़ा किया है। उसके मुख्य मूल वैचारिक आधार निम्नलिखित हैं :-

सर्वप्रथम अरस्तू का मानना है कि मनुष्य के दो प्राथमिक एवं स्वाभाविक सहजबोध (Natural Instincts) हैं जिनके कारण वह दूसरों के साथ संगति करने पर बाध्य होता है। ये मूल प्रव त्तियाँ या सहजबोध हैं - आत्मरक्षा (Self-preservation) तथा यौन-सन्तुष्टि (Reproductive Instinct)। आत्म-रक्षा की प्रव त्ति के कारण स्वामी और सेवक का तथा यौन-सन्तुष्टि या प्रजनन की प्रव त्ति के कारण स्वामी और स्त्री (स्त्री-पुरुष) का मिलन होता है। इन दो मूल प्रव त्तियों के कारण परिवार का जन्म होता

है। परिवार व्यक्ति की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता। अपनी सामाजिक आवश्यकता की प्रव त्ति एवं अच्छे जीवन की आकांक्षा से प्रेरित होकर मनुष्य मात्र का निर्माण करता है। परन्तु गाँव भी मनुष्य की सारी आवश्यकताएँ पूरी नहीं कर सकता। इसलिए अपने जीवन की पूर्णता के लिए वह राज्य का निर्माण करता है। राज्य में व्यक्ति को जीवन, समाज तथा नैतिकता तीनों वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं। राज्य में ही व्यक्ति की उच्चतम आध्यात्मिक क्षमता का विकास होता है। अतः अरस्तू के अनुसार- "राज्य का अस्तित्व केवल जीवन के लिए नहीं, बल्कि उत्तम जीवन के लिए है।" इस प्रकार राज्य ही व्यक्ति को सच्चे अर्थ में पूर्ण मनुष्य बनाता है।

अरस्तू की दूसरी मान्यता यह है कि किसी वस्तु का अन्तिम रूप ही उसका सही रूप होता है। यह उसका अनोखा सोद्देश्यवादी (Teleological) तर्क है। अरस्तू का मानना है कि सभी वस्तुएँ अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अग्रसर होने में द ढ़ संकल्प हैं। सभी वस्तुएँ अपने अन्त को प्राप्त करने पर ही सच्चे स्वरूप को प्राप्त करती हैं। राज्य मनुष्य का सच्चा स्वरूप है। मनुष्य पूर्ण पशु नहीं है। वह अपने स्वभाव के आधार पर पशुओं से अलग है। उसका सच्चा स्वरूप युक्तिपरक (Rational Logical) है। फोस्टर ने कहा है - "अरस्तु के अनुसार राज्य केवल इस अर्थ में स्वाभाविक नहीं है कि वह मनुष्य की पाशविक आवश्यकताओं को पूरा करता है, परन्तु इस अर्थ में भी स्वाभाविक है कि वह व्यक्ति के उच्चतर स्वभाव के विकास के लिए आवश्यक प्रकृति तथा वातावरण प्रदान करता है।" राज्य के अन्दर ही व्यक्ति अपना सम्पूर्ण विकास कर सकता है। बार्कर का कहना है- "राज्य के बिना और राज्य से भिन्न व्यक्ति का कोई अस्तित्व नहीं है।" इसका अर्थ यह है कि मनुष्य प्रकृति से ही राजनीतिक प्राणी है। अतः राज्य ही मानव का स्वाभाविक ध्येय है। इस तर्क के आधार पर अरस्तू सिद्ध करता है कि राज्य के बिना व्यक्ति या तो पशु होगा या देवता। अतः व्यक्ति का सही और पूर्ण रूप राज्य ही है।

राज्य को स्वाभाविक संस्था सिद्ध करने के लिए अरस्तू का तीसरा तर्क यह है कि राज्य एक आंगिक संस्था है और उसका विकास और व द्धि लगातार हो रही है। राज्य एक पूर्ण वस्तु है जिसके व्यक्ति अंग हैं। अरस्तू के अनुसार- "राज्य एक स्वाभाविक संस्था है, वह एक ऐसी आंगिक इकाई है, जिसमें प्राणी के सभी गुण मौजूद हैं।"

उपर्युक्त तीनों तर्कों के आधार पर अरस्तू यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि राज्य एक स्वाभाविक संस्था है। मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है और राज्य एक स्वाभाविक संस्था है - ये दोनों कथन एक-दूसरे में निहित हैं। राज्य मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बने मानव समुदायों के निरन्तर विकास का अन्तिम परिणाम है। मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है, जो स्वभाव से ही राजकीय जीवन के लिए बना है। अरस्तू की ये दो बातें कि मनुष्य एक राजनीतिक पशु है तथा राज्य एक स्वाभाविक संस्था है, अरस्तू की राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में महत्त्वपूर्ण देन हैं।

राज्य का विकास
(Development of State)

राज्य के विकास-क्रम को निम्न आधारों पर समझा जा सकता है :-

अरस्तू का मानना है कि मनुष्य एक सामाजिक और राजनीतिक प्राणी है, अतः वह एकाकी जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरों पर निर्भर रहता है। सामाजिकता का गुण अन्य जीवधारियों में भी पाया जाता है, किन्तु मनुष्य की सामाजिकता का गुण अन्य से अधिक है। मनुष्य की सामाजिक प्रव त्ति केवल उसकी दो मूलभूत आवश्यकताओं - भौतिक व प्रजनन को पूरा नहीं करती, बल्कि उसकी बौद्धिक एवं नैतिक आवश्यकताओं को भी पूरा करती है। इस सामाजिकता के गुण के कारण राज्य की उत्पत्ति की शुरुआत होती है।

अरस्तू के अनुसार राजनीतिक संस्थाओं के विकास क्रम में पहली संस्था परिवार या कुटुम्ब है। इसमें पति-पत्नी एवं संतान के अतिरिक्त दास भी शामिल है। अन्य सभी जीवधारियों की तरह स्त्री व पुरुष भी नस्लव द्धि को प्राकृतिक भावना से ग्रस्त होते हैं। इस भावना तथा अन्य भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए परिवार नामक संस्था का जन्म होता है। अपनी उत्पत्ति व कार्य की द ष्टि से परिवार एक प्राकृतिक संस्था है। अरस्तू ने परिवार में दास की गणना प्राकृतिक नियमों के अनुकूल मानी है। अतः मनुष्य भौतिक व प्रजनन की प्रव त्तियों के कारण परिवार का उदय होता है।

जब परिवारों की संख्या में निरन्तर व द्धि होती है तो इसके साथ-साथ उनकी आवश्यकताओं में भी व द्धि होती है। कालांतर में मूल परिवार से ही अनेक परिवार बन जाते हैं और वे लगातार एक ही स्थान पर बसते जाते हैं। वे परस्पर आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सहयोग करते हैं और ग्राम नामक संगठन का उदय होता है। अरस्तू के अनुसार- "जब अनेक परिवार

एक-साथ रहते हैं तथा उनके साथ-साथ रहने का उद्देश्य रोजाना की आवश्यकताओं की पूर्ति करने मात्र से कुछ अधिक होता है, तब ग्राम अस्तित्व में आता है। ग्राम के सबसे प्राकृतिक रूप एक ऐसे उपनिवेश (Colony) के रूप में रहा होगा जिसे रक्त सम्बन्ध के परिवारों ने बसाया होगा।" सम्भवतः इन रक्त सम्बन्ध वाले परिवारों का सबसे व द्ध पुरुष राजा की तरह कार्य करता रहा होगा। ग्राम के स्तर पर मनुष्य अपनी निम्नतम आवश्यकताओं के साथ ही अपनी अनेक मनोरंजन, धार्मिक-उत्सव तथा विकसित आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति भी करने लगता है। इससे राज्य के जन्म की प ष्ठभूमि तैयार होती है।

कालांतर में मनुष्य ने यह अनुभव किया कि उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति मात्र ग्राम से समभव नहीं अपितु विभिन्न ग्रामों के पारस्परिक सहयोग से सम्भव है। तब ही राज्य का जन्म होता है। अरस्तू के अनुसार- "जब अनेक ग्राम मिलकर पर्याप्त आकार वाले एक ऐसे पूर्ण समुदाय का रूप धारण कर लेते हैं जो लगभग पर्याप्त आत्म-निर्भर हो, जीवन की कठोर आवश्यकताओं से राज्य अस्तित्व में आता है। वस्तुतः ग्राम की तुलना में राज्य व्यक्ति व समुदाय की शान्ति-व्यवस्था, अर्थ, सुरक्षा एवं न्याय सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति अधिक अच्छे ढंग से पूरी करता है और उनके अधिकतम बौद्धिक व नैतिक विकास में भी मदद करता है। अरस्तू की नजर में व्यक्ति की वास्तविक आवश्यकताओं की पूर्ति ही आत्म-निर्भर जीवन है और यह मात्रा राज्य में ही सम्भव है। अतः अरस्तू राज्य की उत्पत्ति को मानव-स्वभाव का परिणाम मानता है। मनुष्य की अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सर्वप्रथम परिवार की उत्पत्ति होती है, फिर ग्राम की और अन्त में राज्य की।

प्रकृति एवं विशेषताएँ
(Nature and Characteristics)

1. **राज्य प्राकृतिक है (State is Natural)** : अरस्तू ने सोफिस्ट विचारधारा का खण्डन करते हुए राज्य को एक स्वाभाविक या प्राकृतिक संस्था माना है। अरस्तू मनुष्य को सामाजिक-राजनीतिक प्राणी मानता है। राज्य व्यक्ति की दो मूलभूत आवश्यकताओं - यौन-संतुष्टि व आत्मरक्षण से जन्म लेता है। इन दो प्रव त्तियों के कारण राज्य का जन्म होता है। मनुष्य यौन-सन्तुष्टि या प्रजनन की प्रव त्ति के कारण स्त्री के सम्पर्क में आता है तथा आत्मरक्षण या भौतिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए दास का सहारा लेता है। इससे स्त्री, पुरुष व दास से मिलकर समाज बन जाता है। इसे परिवार कहा जाता है। जब परिवार का आकार बड़ा हो जाता है तो ग्राम तथा ग्राम से राज्य का उदय होता है। अरस्तू राज्य को स्वाभाविक सिद्ध करने के लिए सोद्देश्यता का सिद्धान्त भी पेश करता है। उसका कहना है कि सभी वस्तुएँ अपने अन्तिम तथ्य को प्राप्त करने के लिए अग्रसर होती है। सेब का फल सेब के बीज का अन्तिम रूप है। इसी पूर्णता को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति से राज्य का जन्म होता है। इसलिए राज्य व्यक्ति का पूर्ण रूप है। किसी वस्तु का अन्त ही उसका लक्ष्य है। अरस्तू का यह भी तर्क है कि प्रकृति सदा सर्वोत्तम को पाना चाहती है। राज्य ही व्यक्ति का सर्वोत्तम लक्ष्य है। यह सर्वोत्तम लक्ष्य ही मनुष्य की शारीरिक, मानसिक व नैतिक पूर्णता को प्राप्त कराता है। राज्य में ही व्यक्ति रूप अंगीकार होकर पूर्णता को प्राप्त करता है। अतः राज्य एक स्वाभाविक संस्था है और व्यक्ति उसकी एक इकाई है।

2. **राज्य सर्वोच्च समुदाय है (State is the Supreme Association)** : अरस्तू राज्य को सर्वोच्च समुदाय मानता है। अरस्तू के अनुसार व्यक्ति के सभी उद्देश्य राज्य के ध्येय में निहित है। राज्य सबसे ऊपर है। राज्य विभिन्न प्रकार के समुदायों के ऊपर समुदाय है क्योंकि इसमें सामाजिक विकास का चरम रूप निहित है, जो व्यक्ति की बौद्धिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। राज्य इसलिए सर्वोच्च है कि उसका लक्ष्य की सर्वोच्च है और वह है अपने नागरिकों के जीवन को अच्छा बनाना। अन्य सामाजिक संस्थाएँ व्यक्ति को आंशिक आवश्यकताओं को पूरा करती हैं जबकि राज्य व्यक्ति को आत्मनिर्भर बनाता है। अरस्तू के अनुसार- "प्रत्येक सहयोग का ध्येय कोई न कोई भलाई करना है। राज्य अथवा राजनीतिक समुदाय जो सबसे ऊँचा है और जिसमें बाकी सब समाये हुए हैं, अन्य किसी भी सहयोग से बढ़कर भलाई अर्थात् सर्वोच्च भलाई को अपना ध्येय बनाए हुए है।" अरस्तू के अनुसार राज्य दो प्रकार से सर्वोच्च समुदाय होता है- (i) राज्य सामाजिक विकास की पराकाष्ठा है (ii) मनुष्य राज्य में ही अपनी सर्वोच्च नैतिक पूर्णता का अनुभव करता है। राज्य व्यक्ति के अच्छे जीवन के लिए विद्यमान है। उसका उद्देश्य व्यक्ति को सद्गुणी बनाना है। राज्य से बढ़कर कोई अन्य समुदाय नहीं हो सकता क्योंकि यह परिवार, परिवार से ग्राम तथा ग्राम से विकसित व्यवस्था है। अतः राज्य का उद्देश्य परम शुभ और सम्पूर्ण विकास को प्राप्त करना है। इसलिए राज्य एक सर्वोच्च समुदाय है।

3. **राज्य व्यक्ति से पहले है (State is Prior to the Individual)** : यदि उपर्युक्त कथन तार्किक द ष्टि से देखा जाए तो ठीक है, अन्यथा नहीं। यह कथन उलझन पैदा करता है। साधारणतया सभी जानते हैं कि व्यक्ति से परिवार, परिवार

से ग्राम, ग्राम से राज्य का जन्म हुआ है। इस आस्था में राज्य व्यक्ति से पहले कैसे हो सकता है। लेकिन अरस्तू का यह कथन तार्किक एवं मनोवैज्ञानिक द ष्टि से सही हैं अरस्तू राज्य को एक समग्र मानता है। यदि समग्र को नष्ट कर दिया जाए तो इकाई का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। अरस्तू राज्य को एक जीवित प्राणी मानता है। इसके विभिन्न अंग होते हैं जिनमें से व्यक्ति भी प्रमुख है। अतः व्यक्ति राज्य की महत्त्वपूर्ण इकाई है। यदि व्यक्ति रूपी अंग को राज्यरूपी समग्र से अलग कर दिया जाए तो वह राज्य की अनुपस्थिति में या तो पशु रहेगा या देवता। व्यक्ति अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति भी राज्य में ही करता है। राज्य ही व्यक्ति को पूर्णता के स्तर पर पहुँचाता है। अरस्तू का मानना है कि किसी वस्तु का अन्त ही उसका सच्चा रूप है। इस द ष्टि से भी राज्य व्यक्ति से पहले आता है। फोस्टर का कहना है कि- "राज्य का स्थान प्रकृतिवश परिवार और व्यक्ति से पहले है। क्योंकि अवयवी (समग्र) अनिवार्यतः अवयव (अंग) से पहले आता है। राज्य प्रकृति की रचना है और वह व्यक्ति से पहले आया है - इसका प्रमाण है कि जब व्यक्ति को राज्य से प थक् कर दिया जाए तो वह आत्म-निर्भर नहीं रह जाता। अतः उसकी स्थिति अवयवी की तुलना जैसी होती है।" इस प्रकार फोस्टर ने अरस्तू के कथन की पुष्टि की है कि समय की द ष्टि से परिवार पहले है, परन्तु प्रकृति की द ष्टि से राज्य पहले है। इस प्रकार राज्य न केवल व्यक्ति से पहले आता है, बल्कि अन्य सभी समुदायों से भी पहले आता है। यह व्यक्ति की अन्तिम परिणति है। अपने अन्तिम रूप में यह व्यक्ति का सम्पूर्ण विकास है। अपने चरम लंक्ष्य के कारण यह व्यक्ति से पहले है। अतः राज्य व्यक्ति से पहले है।

4. **राज्य प्रकृति से सावयवी है** (State is Organic in Nature) : अरस्तू राज्य को सावयवी जीवधारी मानता है। प्रत्येक सावयवी जीव का विकास स्वाभाविक रूप से होता है। उसके कार्य उसके सभी अंगों द्वारा किए जाते हैं। इस प्रकार सावयवी सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण (राज्य) के विभिन्न अंग (व्यक्ति) होते हैं। प्रत्येक अंग का अलग-अलग कार्य होता है और प्रत्येक अंग अपने अस्तित्व एवं जीवन के लिए सावयवी पर निर्भर है। इस द ष्टि से राज्य एक सावयवी है जो विभिन्न व्यक्तियों, ग्रामों तथा परिवारों से मिलकर बना है। इस प्रकार विभिन्न व्यक्ति अंग के रूप में राज्य पर ही आश्रित हैं। यदि शरीर (राज्य) का कोई अंग (व्यक्ति) अनुपात से घट जाता है तो समस्त शरीर (राज्य) निर्बल हो जाता है। जिस प्रकार शरीर के सभी अंगों क महत्त्व उनकी जैविक एकता से है, उसी प्रकार व्यक्ति का महत्त्व भी राज्य की संजीवनी शक्ति के कारण है। राज्य के विभिन्न घटक अपने अस्तित्व के लिए राज्य पर ही निर्भर है। राज्य के अभाव में उनका विनाश उसी प्रकार सम्भव है जिस प्रकार राज्य विभिन्न अंगों वाला जीव है। राज्य में निवास करने वाले व्यक्ति, परिवार, गाँव, संस्थाएँ राज्य रूपी जीवन के विभिन्न अंग हैं। तात्पर्य यह है कि अरस्तू के राज्य विषयक दर्शन में जो बात एक सावयवी जीवधारी के साथ लागू होती है, यह बात विभिन्न अंगों वाले राज्य के साथ भी लागू होती है।

5. **राज्य आत्म-निर्भर संस्था है** (State is a Self-Sufficient) : अरस्तू की नजर में राज्य की प्रमुख विशेषता उसका आत्मनिर्भरता का गुण हैं इससे हमारा तात्पर्य मनुष्य की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति से ही नहीं होना चाहिए। अरस्तू ने आत्मनिर्भरता शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया है। वह उन समस्त परिस्थितियों और वातावरण को शामिल करता है जो व्यक्ति के व्यक्तित्व के सम्पूर्ण विकास में योगदान देते हैं। राज्य में ही मनुष्य का शारीरिक, बौद्धिक और मानसिक विकास होता है। राज्य में ही व्यक्ति सुखी एवं सम्मानपूर्वक जीवन व्यतीत करता है। मनुष्य का मनुष्यत्व अपने विशेष गुणों का विकास करने में है और यह केवल राज्य के आत्म-निर्भरता के गुण में है। अरस्तू का कहना है- "राज्य की उत्पत्ति जीवन की आवश्यकता के कारण हुई, किन्तु उसकी सत्ता अच्छे जीवन की संप्राप्ति के लिए बनी हुई है।" इस प्रकार व्यक्ति का सम्पूर्ण विकास राज्य में ही सम्भव है। राज्य परिवार व ग्राम स्तर से गुजरकर पूर्णता की प्राप्ति है। इस प्रकार राज्य सामाजिक विकास की पूर्णता है। राज्य में ही व्यक्ति के समस्त अभाव समाप्त होकर व्यक्ति के जीवन को सुखमय व सम्मानजनक बनाते हैं। मनुष्य की इन्द्रियपरक आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ-साथ उसकी बौद्धिक आवश्यकताओं की पूर्ति राज्य में ही सम्भव है। अतः राज्य एक आत्मनिर्भर संस्था है।

6. **विविधता में एकता** (Unity in Diversity) : अरस्तू ने प्लेटो के विपरीत विभिन्नता में ही एकता का समर्थन किया है। प्लेटो के अनुसार राज्यों में अवयवी एकता होनी चाहिए अर्थात् जिस प्रकार पैर में काँटा चुभने पर उसकी अनुभूति सारे शरीर को होती है, उसी प्रकार एकता की अनुभूति सारे व्यक्तियों व राज्य में होनी चाहिए। परन्तु अरस्तू का मत प्लेटो के विपरीत है। अरस्तू का कहना है कि राज्य कुछ बातों का नियन्त्रण व नियमन करे तथा कुछ बातों के लिए वह उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करे। इस प्रकार अरस्तू ने विभिन्नता में एकता का समर्थन किया है। वह एकत्व को ही राज्य का

आदर्श स्वरूप नहीं मानता। वह राज्य का स्वरूप बहुत्व में मानता है। उसके अनुसार राज्य विभिन्न प्रकार के तत्त्वों से मिलकर बना है। यदि उसकी भिन्नता का अन्त करके एकता स्थापित की जाएगी तो राज्य का प्राणान्त हो जाएगा। अरस्तू राज्य को एक समुदाय मानता है जिसकी रचना विभिन्न सदस्यों से हुई है। राज्य की सर्वोच्च समुदाय की धारणा तभी कायम रह सकती है, जब विभिन्नता में एकता का सिद्धान्त अपनाया जाए। यदि राज्य की पूर्ण एकता स्थापित करने का प्रयास किया जाएगा तो राज्य विभिन्नताओं का राज्य न होकर चरम सत्तावादी बन जाएगा। राज्य द्वारा विभिन्न व्यक्तियों की आवश्यकता की पूर्ति की द ष्टि से भी राज्य में विभिन्नता का होना आवश्यक है। इस प्रकार अरस्तू ने राज्य को सम्पूर्ण परिवार का रूप देने का प्रयास किया है। वह राज्य राज्यरूपी सावयव में विभिन्न अंगों के रूप में विभिन्न समुदायों के बीच एकता का समर्थन करता है। उसका कहना है- "राज्य तो स्वभाव से ही बहु-आयामी होता है। एकता की ओर अधिकाधिक बढ़ना तो राज्य का विनाश करना होगा।"

7. **नगर-राज्य** (City State) : अरस्तू के लिए नगर-राज्य सर्वश्रेष्ठ राजनीतिक संगठन है। उसने राजा फिलिप द्वारा यूनान के नगर राज्यों का अन्त करके शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना करते हुए देखा था। उसे साम्राज्यवाद से घ णा थी। उसने अपने आदर्श राज्य के चित्रण में नगर-राज्य को ही सर्वश्रेष्ठ मानकर उसका समर्थन किया है। अरस्तू का यह नगर-राज्य समस्त विज्ञान, कला, गुणों और पूर्णता में एक साँझेदारी है। अतः अरस्तू का राज्य नगर-राज्य है।
8. **विवेक से उत्पत्ति** (Product of Reason) : अरस्तू के अनुसार व्यक्ति तर्कशील प्राणी है। वह अच्छे-बुरे में भेद करने में सक्षम है, इसलिए वह नैतिक प्राणी के रूप में जीवन व्यतीत करने के लिए सामुदायिक जीवन जीता है। इससे क्रमिक विकास द्वारा राज्य का जन्म होता है। वह यूनानी जाति को विवेक का प्रतिबिम्ब मानकर उसे सर्वश्रेष्ठ जाति मानता है। वह अन्य जातियों को असभ्य मानकर उनसे घ णा करता है। उसका नगर-राज्य यूनानी लोगों की विवेकशीलता से उत्पन्न संस्था है। इस प्रकार अरस्तू राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक समझौता सिद्धान्त व दैवीय सिद्धान्तों का खण्डन करते हुए राज्य की उत्पत्ति को मानवीय विवेक का परिणाम मानता है।
9. **क्रमिक विकास** (Gradual Evolution) : अरस्तू के अनुसार राज्य का क्रमिक विकास हुआ है जो मानवीय विवेक का प्रतिफल है। व्यक्ति की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति न हो पाने की स्थिति में परिवार, परिवार से ग्राम की रचना हुई। मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति होने पर व्यक्ति की अन्य आवश्यकताओं ने जन्म लिया और ग्राम से राज्य की उत्पत्ति हुई जिससे व्यक्ति की बौद्धिक आवश्यकताएँ पूरी हुईं। इस प्रकार व्यक्ति से राज्य की उत्पत्ति तक का सफर मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं का बौद्धिक विकास की ओर क्रमिक विकास का सफर है। राज्य का विकास सावयवी जीवधारी की तरह हुआ है। व्यक्ति, परिवार और ग्राम इस सावयवी जीवधारी के अंग हैं।ये सब एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। इन अंगों का पूर्ण क्रमिक विकास होने पर ही राज्य के दर्शन होते हैं।

राज्य के कार्य और लक्ष्य
(Functions and Ends of State)

अरस्तू राज्य को एक सर्वोच्च समुदाय मानता है जिसमें व्यक्ति का हित निहित है। राज्य का लक्ष्य सर्वोच्च हित को पूरा कर सर्वोत्तम जीवन बिताना है। राज्य की उत्पत्ति जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होती है और श्रेष्ठ जीवन से अरस्तू का तात्पर्य व्यक्ति के बौद्धिक और नैतिक विकास से है। अरस्तू के राज्य का लक्ष्य केवल भौतिक न होकर व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास करना भी है। उसका द ष्टिकोण व्यक्तिवादियों से भिन्न है। अरस्तू का राज्य के कार्यों व लक्ष्य सम्बन्धी द ष्टिकोण सकारात्मक व रचनात्मक है। अरस्तू के राज्य के कार्य व लक्ष्यों को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है :-

1. **नागरिकों का कल्याण** (Welfare of Citizens) : अरस्तू के अनुसार राज्य व्यक्ति के कल्याण का साधन है। राज्य का लक्ष्य मनुष्य की शक्तियों के अधिकतम विकास हेतु उन्हें जीवन-संचालन की कुछ स्वतन्त्रता प्रदान करना होना चाहिए।
2. **सर्वोत्तम गुणों का विकास** (Development of Best Qualities) : अरस्तू का मानना है कि राज्य अपने नागरिकों में उत्तम गुण विकसित करता है। वह नागरिकों को सद्‌गुणी बनाता है। वह नागरिकों को चरित्रवान बनाता है।
3. **बौद्धिक और नैतिक आवश्यकताओं की संतुष्टि** (Satisfaction of Intellectual and Moral Needs) : अरस्तू के अनुसार व्यक्ति राज्य में ही रहकर अपने को पशु-स्तर से ऊपर उठाकर सही मनुष्यत्व को प्राप्त कर सकता है। राज्य ही व्यक्ति की मूलभूत आवश्यकताओं के साथ-साथ व्यक्ति की नैतिक और बौद्धिक आवश्यकताओं की भी पूर्ति करता है।

4. **अवकाशपूर्ण जीवन** (Comfortable Life) : अरस्तू के अनुसार राज्य का उद्देश्य नागरिकों को 'अवकाश' प्राप्ति के अवसर प्रदान करना होना चाहिए। 'अवकाश' शब्द से अरस्तू का तात्पर्य निष्क्रियता या अकर्मण्यता से नहीं है। अरस्तू के दर्शन में अवकाश शब्द से ऐसे कार्यों का बोध होता है जिससे सद्गुणों का विकास होता है, जैसे शासन करना, विज्ञान और दर्शन का ज्ञान प्राप्त करना, सार्वजनिक सेवा करना, सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना करना आदि।

5. **अच्छाई को प्रोत्साहन** (Encourage Goodness) : अरस्तू के अनुसार राज्य को अच्छाई को प्रोत्साहन देना चाहिए। नागरिकों को नेक बनाना राज्य का कार्य है और न्यायनिष्ठा की स्थापना उसका लक्ष्य। अरस्तू के अनुसार राज्य का अस्तित्व श्रेष्ठ जीवन के लिए है अर्थात् अच्छे जीवन के लिए राज्य विद्यमान है।

आलोचनाएँ
(Criticisms)

अरस्तू की राज्य की अवधारणा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपलब्धि होते हुए भी अनेक आलोचनाओं का शिकार हुई। उसकी आालेचना के निम्न आधार हैं :-

1. **राज्य की अवधारणा काल्पनिक व अव्यावहारिक है** (Conception of State is Utopian) : अरस्तू ने अपने दर्शन में जिस राज्य का चित्रण किया है, वह एक वास्तविक राज्य नहीं, बल्कि आदर्श राज्य है। यह आदर्श व्यावहारिक नहीं हो सकता। अतः अरस्तू की राज्य की अवधारणा काल्पनिक व अव्यावहारिक है।

2. **परिवार प्रथम सामाजिक संगठन नहीं है** (Family is not the First Social Organization) : अरस्तू ने परिवार को राज्य की उत्पत्ति में सबसे पहली इकाई माना है। किन्तु आलोचकों का कहना है कि समाज की सबसे पहली इकाई समूह थी और एक लम्बी सामाजिक प्रक्रिया से ही परिवार की स्थापना हुई।

3. **राजनीतिक तत्त्व की उपेक्षा** (Neglect of Political Factor) : अरस्तू ने राज्य की उत्पत्ति के बारे में समाजशास्त्रीय द ष्टिकोण अपनाया है। वह राज्य को परिवार तथा ग्राम जैसी सामाजिक संस्थाओं से विकसित मानता है। उसने राज्य की उत्पत्ति में सहायक राजनीतिक चेतना की उपेक्षा की है।

4. **राज्य व्यक्ति से पहले नहीं** (State is not Prior to Man) : इस उक्ति के आधार पर व्यक्ति राज्य का साधन बन जाता है। इससे राज्य के महत्त्व और अधिकारों में अनावश्यक व द्धि होती है। आलोचकों का मानना है कि जब राज्य का जन्म व्यक्ति को अच्छा बनाने के लिए ही हुआ है तो राज्य को साध्य कैसे माना जा सकता है। इस प्रकार राज्य व्यक्ति के बाद अस्तित्व में आया है, पहले नहीं।

5. **आधुनिक द ष्टि से आलोचना** (Criticism from Modern Point of View) : अरस्तू नगर-राज्य को सर्वोत्तम संगठन मानता है। उसने राज्य को स्वयं में पूर्ण तथा आत्मनिर्भर संस्था बताया हैं वह राज्य की सर्वोच्चता की बात भी करता है। ये सब बातें आधुनिक युग में मान्य नहीं हो सकतीं। अरस्तू ने जिस नगर राज्य की अवधारणा को प्रस्तुत किया है, वह तत्कालीन यूनान की राजनीतिक-सामाजिक संस्कृति के ही अनुरूप हो सकती है। आधुनिक युग में अरस्तू की कोई भी धारणा जो जातीय द्वेष पैदा करने वाली हो, मान्य नहीं हो सकती। अरस्तू ने यूनानी जाति को सभ्य बताकर शेष विश्व की जातियों के प्रति बर्बरता का द ष्टिकोण आधुनिक द ष्टि से अमानवीय व अप्रजातान्त्रिक है।

6. **राज्य एक सावयव नहीं है** (State is not an Organ) : अरस्तू ने राज्य को एक सावयव तथा व्यक्ति को उसका अंग बताया है। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। व्यक्ति की चेतना राज्य से अलग एवं स्वतन्त्र है। व्यक्ति को राज्यरूपी शरीर का अंग मानना बिलकुल अनुचित है।

7. **राज्य द्वारा नैतिकता का विकास अनुचित** : आलोचकों का मानना है कि यदि राज्य स्वयं प्रत्यक्ष रूप से नैतिकता की भावना का विकास करेगा, तो नैतिकता की भावना समाप्त हो जाएगी। नैतिकता एक ऐसी वस्तु है जो बाहर से लादी नहीं जा सकती। यह तो मनुष्य की इच्छा व आत्मा का परिणाम है। यह एक आन्तरिक वस्तु है, बाह्य नहीं।

यद्यपि अरस्तू की राज्य की अवधारणा की अनेक आलोचनाएँ हुई हैं, लेकिन यह निर्विवाद सत्य है कि अरस्तू ही एक ऐसा प्रथम चिन्तक है जिसने राजनीतिक-दर्शन में राज्य की उत्पत्ति के विकासवादी सिद्धान्त का बीजारोपण किया है। उसने राज्य को मानव-प्रकृति पर आधारित करके एक महान् ओर शाश्वत सत्य का रहस्योद्घाटन किया है। उसने एक

ओर तत्कालीन यूनान में सोफिस्ट विचारधारा द्वारा राज्य के बारे में पैदा की गई भ्रान्तियों का अन्त किया और दूसरी ओर राज्य की आदर्शवादी धारणा का भी खण्डन किया। यदि उसके चिन्तन में कोई दोष है तो उसका कारण उसके चिन्तन का यूनानी नैतिक मान्यताओं से प्रभावित होना है। फिर भी उसने अपने दर्शन को यथासम्भव वैज्ञानिक एवं यथार्थवादी बनाए राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में अमूल्य योगदान दिया है।

दासता का सिद्धान्त
(Theory of Slavery)

अरस्तू के अनुसार दास-प्रथा नगर-राज्यों के सम्पूर्ण विकास के अति आवश्यक है। यूनानी जगत् में यह प्रथा होमर के समय से ही प्रचलित थी। ग्रीक सभ्यता के विकास में दासों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। दास को तत्कालीन यूनानी समाज का एक महत्त्वपूर्ण योगदान है। दास की तत्कालीन यूनानी समाज का एक महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता था जो कुलीनवर्ग के लिए जी-तोड़ परिश्रम करता था। इस वर्ग में दरिद्र व्यक्ति या युद्ध बन्दी सैनिक शामिल होते थे। दासों की विशाल सेना को राष्ट्रीय सम्पत्ति माना जाता था। यूनान में यह प्रथा रोमन साम्राज्य की तरह अमानवीय नहीं थी, एक सामाजिक बुराई अवश्य थी। इस अमानवीय प्रथा के विरुद्ध सोफिस्ट विद्वानों ने सर्वप्रथम यूनान में आवाज उठाई। सोफिस्टों ने कहा कि "मनुष्य स्वतन्त्र पैदा हुआ है।" (Man is born free)। सभी मानव समान होते हैं और इसलिए समाज से दास प्रथा का बहिष्कार किया जाना चाहिए। लेकिन अरस्तू जैसे विद्वानों ने सोफिसट विचारकों का विरोध करते हुए इसे ग्रीक सभ्यता की उन्नति के लिए अति आवश्यक बताया। अरस्तू ने यह अनुभव किया कि दास-प्रथा के बिना नगर-राज्यों का सम्पूर्ण आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन ही नष्ट हो जाएगा, इसलिए उसने इसका बौद्धिक और व्यावहारिक स्तर पर औचित्य सिद्ध करने का प्रयास किया। उसने इसे स्वाभाविक, उपयोगी व समयानुकूल बताकर उचित ठहराया। यदि वह ऐसा नहीं करता तो यूनानी सभ्यता का आधार-स्तम्भ समाप्त हो जाता।

दास कौ है ?
(Who is a Slave ?)

अरस्तू ने अपनी पुस्तक 'पोलिटिक्स' में दासता सम्बन्धी विचार प्रकट करते हुए दास को पारिवारिक सम्पत्ति का एक हिस्सा माना है। अरस्तू के अनुसार राज्य ग हस्थियों के संयोग से बनता है। अतः दास-प्रथा को समझने के लिए ग हस्थी के प्रबन्ध को समझना चाहिए। अरस्तू के अनुसार ग हस्थी की व्यवस्था के लिए दो उपकरण आवश्यक होते हैं- सजीव (Animate) (ii) निर्जीव (Inanimate)। घोड़ा-कुत्ता तथा अन्य पशु व दास सजीव उपकरण हैं तथा अचल सम्पत्ति निर्जीव उपकरण है। इस तरह परिवार की सम्पत्ति का अनिवार्य अंग होने के नाते दासता अनिवार्य है।

दास कौन है, इस सम्बन्ध में अरस्तू का कहना है कि- "जो व्यक्ति प्रकृति से अपना नहीं अपितु दूसरे का है, लेकिन फिर भी आदमी है, वह प्रकृति से दास है।" अरस्तू का मानना है कि- "दास अपनी प्रकृति से एक सम्पत्ति है और एक सम्पत्ति के रूप में होने के कारण दास का स्वयं पर अपना कोई अधिकार भी नहीं होता है। उनका तर्क है कि कोई भी सम्पत्ति स्वयं की स्वामी नहीं होती, अपितु प्रत्येक सम्पत्ति को सदैव ही किसी स्वामी की आवश्यकता होती है। वस्तुतः स्वामी के अभाव में सम्पत्ति से अलग अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। किन्तु इससे भिन्न स्थिति स्वामी की होती है। स्वामी की सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार होता है। वस्तुतः सम्पत्ति का अस्तित्व ही स्वामी के लिए होता है और एक सम्पत्ति के रूप में दास का अस्तित्व भी मात्र स्वामी के लिए होता है।" अरस्तू के अनुसार- "स्वामी अपने दास का स्वामी तो होता है, पर वह उसी का नहीं होता। इसके विपरीत दास न केवल अपने स्वामी का दास होता है बल्कि पूरा का पूरा उसी का होता है। यहीं से पता चलता है कि दास का स्वरूप क्या है। जो प्रकृति से ही अपना नहीं बल्कि किसी और का है, वह प्रकृति से दास है और जो मनुष्य होते हुए भी किसी और का है, वह भी सम्पत्ति है। अतः सम्पत्ति को कार्य सम्पादन का उपकरण कह सकते हैं जिसका अपने स्वामी से अलग अस्तित्व हो सकता है।"

अरस्तू ने दास को एक सजीव सम्पत्ति मानते हुए उसे पशुओं से श्रेष्ठ बताया है। दास स्वामी के विवेक व दर्शन की थोड़ी सी झलक पा लेने की समझदारी रखता है। इसलिए दास के साथ सौम्यता का प्रहार किया जाना चाहिए। अरस्तू लिखता है- "जो दूसरे का गुण है, जिसके पास विवेक नहीं परन्तु विवेक को समझने में हिस्सा लेता है, वह प्रकृतिवश दास है।" इस आधार

पर वह पशुओं से अच्छा है कि पशु अपनी मूल प्रव त्तियों के अनुसार कार्य करते हैं, जबकि दास विवेक को समझ सकता है और अपने स्वामी की इच्छानुसार कार्य करता है। इस प्रकार अरस्तू की दासता सम्बन्धी परिभाषा में तीन मुख्य बाते हैं :- (i) जो व्यक्ति अपनी प्रकृति से अपना नहीं, बल्कि किसी दूसरे का है, फिर भी मनुष्य है, दास है। (ii) वह मनुष्य होते भी सम्पत्ति की एक वस्तु है और दूसरे के अधीन रहता है, दास है। (iii) वह सम्पत्ति की वस्तु, जो कार्य का उपकरण है और जिसे सम्पत्ति के स्वामी से प थक् किया जा सकता है, दास है।

दासता के पक्ष में अरस्तू के विचार
(Aristotle's Defence of Slavery)

अरस्तू ने दास-प्रथा का समर्थन निम्न आधारों पर किया है :-

1. **दासता स्वाभाविक है** **(Slavery is Natural)** : अरस्तू ने सोफिस्टों का खण्डन करते हुए दासता को स्वाभाविक माना है। सोफिस्टों का मानना था कि सभी मनुष्य समान व स्वतन्त्र हैं। अरस्तू ने कहा कि दास प्रकृति की देन है। कुछ व्यक्ति प्रकृति से ही दास होते हैं। अरस्तू का कहना है कि कुछ व्यक्ति शासन करने के लिए पैदा होते हैं, जबकि कुछ शासित होने के लिए। प्रकृति जिन व्यक्तियों को विवेक देती है वे शासक होते हैं और जिनको केवल शारीरिक शक्ति देती है और जिनमें दूसरों के विवेक को समझने का गुण होता है, वे शासित होते हैं। अरस्तू प्रकृति के नियम के अनुसार मानता है कि श्रेष्ठ सदा निकृष्ट पर शासन करता है। प्रथम श्रेणी के श्रेष्ठ व्यक्ति स्वामी होते हैं और निकृष्ट व्यक्ति दास होते हैं। यह प्रकृति का नियम है कि- "श्रेष्ठतर निम्नतर पर शासन करे।" स्वामी दासों से श्रेष्ठ होते हैं, इसलिए उनका दासों पर नियन्त्रण स्थापित होना चाहिए। मनुष्यों की बुद्धि, गुण, योग्यता व मानसिक शक्तियों में अन्तर होता है। प्रकृति ने सभी को समान नहीं बनाया है। संसार में प्रत्येक व्यक्ति या वस्तु का अपना कार्य है क्योंकि प्रकृति ने प्रत्येक व्यक्ति या वस्तु को ऐसे गुण प्रदान किए हैं जो उस कार्य को पूरा कर सके। दास शारीरिक श्रम करने तथा अपने स्वामी की दासता करने के योग्य है। दासता प्रकृति के नियमों पर आधारित होने के कारण स्वाभाविक है।

2. **दासता स्वामी के लिए लाभदायक है** **(Slavery is Useful for the Master)** : अरस्तू का मानना है कि स्वामी का कार्यक्षेत्र नगर-राज्य की राजनीति है। नगर के राजकार्यों में भाग लेकर स्वामी अपना नैतिक उत्थान करता है। इस कार्य के लिए स्वामी को अवकाश चाहिए। यह अवकाश तभी सम्भव है, जब दास उसके लिए घर के कार्यों को करे। यहाँ अवकाश से अरस्तू का तात्पर्य अकर्मण्यता से न होकर एक विशेष प्रकार की क्रियाशीलता से है। अरस्तू के अनुसार अवकाश का अर्थ उन कार्यों से है जिनको सम्पादित कर मनुष्य अपने सद्गुणों का विकास कर सकता है। इस अवकाश का प्रयोग स्वामी नागरिक जीवन का भागीदार बनकर अपने बौद्धिक और नैतिक जीवन के विकास के लिए करता है। आर्थिक और भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किए गए कार्य अवकाश में शामिल नहीं हैं। इसके अन्तर्गत शासन करना, सार्वजनिक सेवा करना, धार्मिक कार्यों में भाग लेना, नागरिकों के साथ सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करना आदि कार्य शामिल हैं। अरस्तू के अनुसार इन कार्यों के लिए व्यक्ति के पास फुर्सत का होना आवश्यक है। इन कार्यों को करने से ही व्यक्ति नागरिक बनता है। अरस्तू ने नागरिकता के लिए अवकाश को अनिवार्य माना है और अवकाश के लिए दास को। अरस्तू का मानना है कि यदि दास नहीं होंगे तो स्वामियों को सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने के लिए अवकाश नहीं मिलेगा और वे श्रेष्ठ गुणों का विकास भी नहीं कर सकेंगे। अतः दासता स्वामी के लिए अति आवश्यक है।

3. **दासता दास के लिए लाभदायक है** **(Slavery is Useful fot the Slave)** : दास-प्रथा स्वामियों की तरह दासों के स्वयं के लिए भी लाभकारी है। दासों में त ष्णा अधिक होने के कारण नैतिक गुणों का अभाव रहता है। इसके विपरीत स्वामी बौद्धिक स्तर पर श्रेष्ठ होते हैं। दास बुद्धि व कौशल से हीन होने के कारण स्वभावानुसार सद्गुण प्राप्त करने में सक्षम नहीं होते हैं। दास अपने स्वामी के साथ रहते हुए उन सभी गुणें को सीख सकता है जो प्रकृति ने उसे नहीं दिए हैं। जिस प्रकार घर में रहकर पशु भी अनुशासित रहना सीख जाता है तो दास के लिए यह काम मुश्किल नहीं है क्योंकि दास में मालिक के विवेक की एक झलक पाने की योग्यता होती है। अरस्तू ने कहा है कि जिस प्रकार शरीर आत्मा के नियन्त्रण में रह कर, नारी पुरुष के नियन्त्रण में रहकर, पशु मनुष्य के नियन्त्रण में रहकर भलाई का गुण सीख लेता है, उसी प्रकार स्वामी की देख-रेख में ही दास का कल्याण सम्भव है। इस प्रकार दासता लाभकारी व न्यायसंगत दोनों है।

4. **दासता समाज के लिए उपयोगी है** **(Slavery is Useful for the Society)** : दासता के कारण स्वामी को समाज कल्याण के कार्यों के लिए कुछ अवकाश प्राप्त हो जाता है। नाटकों और धार्मिक कार्यों में भाग लेना, सार्वजनिक सेवा

कार्य करना, नागरिकों के साथ सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करना आदि कार्यों के लिए दास की आवश्यकता है। यदि स्वामी के पास समय नहीं होगा तो वह सामाजिक कार्यों में भाग नहीं ले सकेगा और उसका समाज उपयोगी कार्यों में योगदान का स्वप्न पूरा नहीं होगा। इस प्रकार दास-प्रथा से कुछ श्रेष्ठ व्यक्तियों को घरेलू धन्धों से मुक्ति मिल जाती है और वे निश्चिन्त होकर अपना सारा समय समाज हित के कार्यों में लगा सकते हैं। अतः दास-प्रथा समाज के लिए भी उपयोगी है।

5. **दासता नैतिक है (Slavery is Moral)** : अरस्तू ने अपने सिद्धान्त में दासता को नैतिक रूप दिया है। वह दासता को आत्मिक मानता है क्योंकि आत्मा शरीर के ऊपर प्रशासन कर इस आत्मिक उद्देश्य को पूरा करती है। शरीर का इस प्रकार आत्मिक विकास होता है। अरस्तू इसी प्रकार यह मानते हैं कि स्वामी के निर्देशन में रहकर उसके कार्यों को करते रहने से ही दास की नैतिकता का विकास होता है। दूसरी ओर स्वामी को भी घरेलू कार्यों से निश्चिन्तता प्राप्त हो जाने पर वह भी अपनी आत्मिक उन्नति कर सकता है। इस प्रकार दासता नैतिक उन्नति का उपाय है।

6. **दास शरीर की बनावट से ही स्वतन्त्र लोगों से भिन्न होता है (Slave Differes from Freeman Even in his Bodily Constitution)** : अरस्तू के अनुसार दास को शरीर की बनावट से ही पहचाना जा सकता है। वह तो शारीरिक श्रम के लिए ही होता है। उसके शरीर और स्वतन्त्र व्यक्ति के शरीर में प्रायः वैसा ही अन्तर होता है जैसा देवता की मूर्ति और मनुष्य के शरीर में और जब शरीर में ही इतना अन्तर होता है तो आत्मा में भी अन्तर होता ही होगा। यद्यपि आत्मा का अन्तर स्पष्ट तौर पर दिखाई नहीं देता जितना शरीर का अन्तर दिखाई देता है। प्रकृति दास के शरीर को स्वामी के सेवा कार्यों के लिए बलवान बनाती है, जबकि स्वामी के शरीर को सरल व सीधा बनाती है। इस प्रकार असाधारण शरीर वाले को दास मान लेना न्यायपूर्ण ही है।

7. **दास अपने स्वामी का ही अंग है (Slave is a Part of His Master)** : अरस्तू के विचारों में दास का शरीर अपने स्वामी से अलग अवश्य है, लेकिन फिर भी वह उसका अंग है। इसलिए दास की परवाह व रक्षा भी स्वामी को उसी प्रकार करनी चाहिए, जिस प्रकार वह अपने शरीर के अंगों की जो उसके शरीर के अभिन्न अंग हैं। दोनों के हितों में बहुत अधिक एकता और सामंजस्य है। इसलिए दोनों की स्थिति बिलकुल प्राकृतिक ओर आंगिक है। अरस्तू के अनुसार- "एक दास से सत्ता की स्थिति में मित्रता का सम्बन्ध तो नहीं हो सकता क्योंकि स्वामी और दास में मित्रता का कोई तुक नहीं है, पर दास भी मानव है यदि ऐसा मान लिया जाए तो उससे मित्रता सम्भव है।" अरस्तू के अनुसार दास स्वामी का एक ऐसा सजीव अंग है जो स्वामीरूपी शरीर से प थक् रहता है, फिर भी दास का अस्तित्व स्वामी पर निर्भर है। अतः दास अपने स्वामी का ही अंग है।

दासता के प्रकार
(Kinds of Slavery)

अरस्तू ने दासता के दो प्रकार बताएँ हैं :- (i) प्राकृतिक दासता (Natural Slavery) (ii) वैधानिक दासता (Legal Slavery)

जो व्यक्ति जन्म से ही मन्दबुद्धि, अकुशल एवं अयोग्य होते हैं वे प्राकृतिक या स्वाभाविक दास होते हैं। ये व्यक्ति प्रकृति द्वारा ही शासित होने के लिए बनाए जाते हैं। प्रकृति की स्वाभाविक व्यवस्था दासता है। प्रकृति में सर्वत्र असमानता है; उत्कृष्ट स्वभावतः निकृष्ट पर शासन करता है, अपने स्वभाव के अनुकूल सबका अपना विशिष्ट कार्य होता है, अतः दासता प्राकृतिक होती है। इस प्रकार की दासता को अरस्तू सबसे अधिक महत्त्व देता है।

इसके अतिरिक्त युद्धबन्दी भी दास बनाए जा सकते हैं। यह दासता वैधानिक दासता कहलाती है। प्राचीन काल में युद्धबन्दियों को दास बनाने की कुप्रथा प्रचलित थी। इस दासता का आधार शक्ति होती है। यह युद्ध का प्रतिफलन है। युद्ध में हार जाने पर किसी भी व्यक्ति को दास बनाया जा सकता है। परन्तु अरस्तू के अनुसार यूनानियों को युद्ध में हार जाने पर भी दास भी नहीं बनाया जा सकता। अरस्तू का मानना है कि युद्ध में जीतने वाला शक्तिशाली तो हो सकता है, लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि वह न्यायी भी हो। युद्ध का कारण भी अन्यायपूर्ण हो सकता है। इसलिए यूनानी लोगों को बन्दी बनाकर दास नहीं बनाया जा सकता क्योंकि वे सर्वश्रेष्ठ जाति के लोग हैं। इस प्रकार अरस्तू ने यूनानियों के लिए कानूनी दासता को अनुचित व निकृष्ट माना है। यह बर्बर जातियों के लिए ही उचित एवं न्यायसंगत है।

उपर्युक्त दासता के दोनों प्रकारों में अन्तर बताते हुए आर॰ के॰ मिश्रा ने कहा है- "स्वाभाविक दासता का आधार मानसिक और आध्यात्मिक गुण है, जबकि वैधानिक दासता का आधार श्रेष्ठ शक्ति या विजय है। प्राकृतिक दासता स्वाभाविक है, कानूनी दासता परम्परागत है। कानूनी दासता का आधार शक्ति है, प्राकृतिक दासता का आधार गुण है। कानूनी दासता युद्ध का प्रतिफल है, प्राकृतिक दासता मानव-स्वभाव का। प्राकृतिक दासता आन्तरिक है, कानूनी दासता बाह्य है। इस प्रकार दोनों दासताओं में दिन-रात का अन्तर है।

दास-प्रथा में सुधार के लिए सूत्र

अरस्तू ने दास-प्रथा का समर्थन जरूर किया है, परन्तु वह दासों के प्रति किसी भी अमानवीय व्यवहार की निन्दा करता है। बार्कर के अनुसार- "अरस्तु ने अपनी वसीयत में लिखा था कि किसी भी दास को बेचा न जाए, उन्हें मुक्त कर दिया जाए।" उसने दासों के प्रति कुछ मानवीय व्यवहार के शत्रु बताएँ हैं ताकि उन्हें समाज की अविरल धारा से जोड़ा रखा जाए। अरस्तू ने दासों के प्रति किए जाने वाले मानवीय व्यवहार के लिए निम्नलिखित सूत्र बताता है :-

1. स्वामी का कर्त्तव्य है कि वह दास की भौतिक एवं शारीरिक सुविधाओं का ध्यान रखे।
2. अपनी म त्यु के समय स्वामी को अपने दासों को मुक्त कर देना चाहिए।
3. दासों को उनकी कार्यक्षमता के अनुसार कार्य देना चाहिए।
4. स्वामी को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि दासों की संख्या सीमित रहे।
5. दासों के प्रति अमानवीय व्यवहार करने वाले स्वामी को राज्य द्वारा दण्डित किया जाना चाहिए।
6. यूनानी नागरिकों को दास नहीं बनाना चाहिए।
7. दासता वंशानुगत नहीं होती। यदि दास का पुत्र बुद्धिमान व योग्य है तो उसे दासता से मुक्त कर देना चाहिए।
8. स्वामी को दास को अपने शरीर का अंग समझकर अच्छा व्यवहार करना चाहिए।
9. स्वामी को वचनबद्ध होना चाहिए कि यदि दास अच्छे कार्य करता है तो उसे मुक्त कर दिया जाएगा।

आलोचना
(Criticism)

अरस्तू के दासता सम्बन्धी विचार अप्राकृतिक व अनुचित से लगते हैं। दास-प्रथा को आवश्यक मानना, वर्तमान मौलिक अधिकारों के प्रतिकूल लगता है। आलोचकों ने अरस्तू के सम्पूर्ण दर्शन में उसके दासता विषयक विचारों को ही त्यागने योगय बताया है। आलोचकों के अनुसार अरस्तू के दासता सम्बन्धी विचार अविश्वसनीय, अप्राकृतिक, अमानवीय, संकीर्ण एवं क्रूर हैं। ये विचार न तो तर्कसंगत हैं, न वैज्ञानिक, न परोपकारी और न ही कल्याणकारी। वह एक दार्शनिक की तरह विचारन करके एक यूनानी की तरह व्यवहार करता है। उसने जातीय श्रेष्ठता में विश्वास व्यक्त करते हुए किसी भी यूनानी को दास बनाने के विचार का विरोध किया है। उसके दासता विषयक विचारों की आलोचना के निम्न आधर हैं :-

1. **दास-प्रथा अप्राकृतिक है (Slavery is not Natural)** : दास-प्रथा किसी भी तरह प्राकृतिक नहीं है। मनुष्य में विभिन्नता तथा कुशाग्र बुद्धि के आधार पर अन्तर होते हुए भी एक प्राकृतिक समानता होती है जिसकी आलोचना करना मानव व्यक्तित्व का अपमान है। अरस्तू ने अपनी पुस्तक 'Politics' में दास-प्रथा का वर्णन किया है। इस वर्णन को देखकर मैक्सी कहता है- "इस पुस्तक को भी अवैध घोषित कर दिया जाना चाहिए।" अतः दास-प्रथा प्राकृतिक नहीं मानी जा सकती।
2. **विरोधाभास (Contradiction)** : अरस्तू के दासता सम्बन्धी विचार विरोधाभासों से भरपूर हैं। एक ओर तो अरस्तू दास को विवेकशून्य मानते हैं और दूसरी ओर कहते हैं कि दास सीमित रूप में स्वामी के विवेक को समझ सकता है, इसलिए वह पशुओं से श्रेष्ठ है। एक तरफ तो वह दासता को प्राकृतिक मानता है, तो दूसरी तरफ वह दासता से मुक्ति की बात कहता है। वह यह बताने में असफल रहता है कि जब प्रकृति ने मनुष्य को दास बना दिया है तो उसकी मुक्ति कैसे सम्भव है। अरस्तू का दास को एक साथ पशु और स्वामी के साथ मित्र और हिस्सेदार बनाना युक्तिसंगत नहीं है। श्रेष्ठता और निकृष्टता में साँझेदारी असम्भव है। अतः अरस्तू का सिद्धान्त अनेक विरोधाभासों से भरा हुआ है।

3. **समाज में संघर्ष और अशान्ति की सम्भावना** (Possibility of Struggle and Disharmonry in Society) : आलोचकों का मानना है कि समाज का बुद्धिमानों और बुद्धिहीनों के आधार पर स्वामी और दास, शासक व शासित में विभाजन खतरनाक सिद्ध होगा। इससे समाज में असन्तोष, अशान्ति और अराजकता को बढ़ावा मिलेगा।

4. **अरस्तू का दासता का सिद्धान्त उसके सोद्देश्यता के सिद्धान्त का विरोधी है** (Aristotle's Theory of Slavery is Against His Theory of Teleology) : अरस्तू का दासता का सिद्धानत उसके सोद्देश्यता के सिद्धान्त से मेल नहीं खाता, इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक मनुष्य को जीवन का लक्ष्य श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति है। अच्छाई को प्राप्त करने की क्षमता मानव स्वभाव में छिपी हुई है। दासता की बेड़ियों में जकड़ा जाने पर व्यक्ति अपनी अन्तर्निहित क्षमता का विकास नहीं कर पाता, इसलिए दासता अप्राकृतिक है। प्रकृति और सोद्देश्यता एक दूसरे की सहयोगी है, विरोधी नहीं। अरस्तू ने लोगों को दास बनाकर यह सिद्ध कर दिया है कि लोगों के जीवन का लक्ष्य श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति न होकर, पशुतुल्य जीवन व्यतीत करना है। अतः अरस्तू अपने ही सोद्देश्यता के सिद्धान्त के विरुद्ध काम करता है। इसलिए उसका दासता का सिद्धान्त अतार्किक और असंगत है।

5. **अवैज्ञानिक** (Unscientific) : अरस्तू इस बात को मानता है कि कुछ व्यक्ति जन्म से ही मूर्ख व मूढ़ होते हैं, परन्तु इस वैज्ञानिक तथ्य को भूल जाता है कि अच्छे वातावरण, उचित दशाओं तथा उचित शिक्षा या अन्य साधनों को प्राप्त करने पर वे बुद्धिमानी हो जाते हैं। ऐसा कोई भी सिद्धान्त जो मनुष्य को पशुतुल्य मानता हो, वैज्ञानिक कभी नहीं हो सकता।

6. **यह नैतिकता के सभी सिद्धान्तों के विरुद्ध है** (Against Total Moral Values) : एक मनुष्य के द्वारा दूसरे मनुष्य को दास बनाया जाना एक जघन्य व घ णास्पद विचार है। अरस्तू ने इस विचार का प्रतिपादन करके घोर अनैतिकता का पक्ष लिया है। समाज में ऐसा कोई भी कार्य जो सामाजिक मानदण्डों के विरुद्ध हो, नैतिक नहीं हो सकता। यह मानवता की द ष्टि से घोर अपराध है जो नैतिकता की बलि दे देता है।

7. **समुचित अवकाश सभी को मिलना चाहिए** (Everyone Needs Liesure) : अरस्तू ने दास-प्रथा के समर्थन में यह भी तर्क प्रस्तुत किया है कि श्रेष्ठ व्यक्तियों को अपने सार्वजनिक जीवन के लिए अवकाश की आवश्यकता होती है। परन्तु ऐसा अवकाश सभी वर्गों को प्राप्त होना चाहिए ताकि सभी वर्गों में व्यक्ति अपना बौद्धिक विकास करने, राजनीतिक व सामाजिक क्रियाकलापों में भाग लेने तथा कला व साहित्य का आनन्द उठाने का अवसर प्राप्त कर सकें। केवल किसी वर्ग विशेष को यह अधिकार देना सामाजिक विषमता को जन्म देता है।

8. **अनुचित एवं अन्यायपूर्ण** (Unjust) : मानव-जाति को शासक और शासित में बाँटना अनुचित है। प्रो॰ रास ने कहा है- "मानव जाति को कुल्हाड़े के साथ दो भागों में काट डालना अनुचित है। इससे भी अधिक अनुचित यह है कि अरस्तू दास को 'पशु' और 'कार्य' को उपकरण मानता है।" अरस्तू के विचार का पक्ष यह है कि वह मानव को पशु का दर्जा दे देता है। यह अनुचित ही नहीं, अन्यायपूर्ण भी है। दास को स्वामी की इच्छापूर्ति का साधन मानना घोर अन्याय है।

9. **दास पारिवारिक सम्पत्ति नहीं** (Slave is not a Family Property) : दास को सजीव सम्पत्ति मानना मानवीय द ष्टि से अनुचित है। दास की पशु से तुलना करना और मानवीय अपराध है। अतः दास परिवार की सम्पत्ति नहीं हो सकता।

10. **शारीरिक श्रम की उपेक्षा** (Neglects Physical Works) : अरस्तू ने दासता के विवेचन में शरीर के काम करने वाले सभी श्रमिकों को दास की संज्ञा दी है। परन्तु यह द ष्टिकोण असन्तोषजनक है। शरीर से काम करने वाले यूनानी नागरिकों में भी होंगे जब अरस्तू यूनानी नागरिकों को दास नहीं बनाना चाहता। अरस्तू द्वारा शारीरिक कार्य करने वाले सभी लोगों को दास बनाना शारीरिक श्रम की उपेक्षा करता है, जो अनुचित है। मैकलवेन ने ठीक ही कहा है- "अरस्तु श्रम करने वाले को दण्डित करता है।"

11. **मानव-समूह का विभाजन सम्भव नहीं** (The Separation of Human Groups is not Possible) : मानव जाति को कुल्हाड़ी से दो भागों - स्वामी और दास में बाँटना न तो सराहनीय है, न ही वांछनीय। यदि श्रेष्ठता व निकृष्टता के आधार पर स्वामी और दास का निर्णय किया जाए तो मानव जाति विभिन्न श्रेणियों में बँट जाएगी। प्रत्येक मनुष्य का एक दास होगा और दूसरे का स्वामी। इस प्रकार की स्थिति भयंकर होगी। अतः मानव-समूह का विभाजन तर्कहीन है।

12. **प्रजातन्त्रीय श्रेष्ठता के सिद्धान्त पर आधारित** (Based on the Principle of Social Supremacy) : अरस्तू ने स्पष्ट कहा है कि यूनानियों को दास नहीं बनाया जा सकता। इसमें जातीय श्रेष्ठता की गन्ध आती है। थियोडोर गोम्पर्ज का

कहना है- "दासता के बचाव के नाम पर यहाँ जातिगत अहंकार की पुष्टि की गई है।" जिसके नाम पर जर्मनी में हिटलर ने तथा इटली में मुसोलिनी ने अपने राजनीतिक विरोधियों पर अमानवीय अत्याचार किये थे। अरस्तू का यह मानना कि बर्बर लोग ही दास बनाए जा सकते हैं, पक्षपात है। यह उसके जातीय अहंकार और संकीर्ण राष्ट्रवाद का परिचायक है।

13. **यह सामाजिक एकता के लिए घातक है** (It is Harmful for Social Unity) : जिस समाज में दास-प्रथा होगी, उसमें आंगिक एकता कभी नहीं होगी जोकि एक आदर्श सामाजिक जीवन का आधार है। इसके बारे में राष्ट्रपति इब्राहिम लिंकन का कथन है- "जिस प्रकार अपने ही विरुद्ध विभक्त एक घर जीवित नहीं रह सकता, उसी प्रकार वह राष्ट्र भी जीवित नहीं रह सकता जो आधा स्वतन्त्र हो और आधा गुलाम।" अतः दास-प्रथा सामाजिक एकता के मार्ग में एक भयंकर बाधा है।
14. **अलोकतान्त्रिक सिद्धान्त** (Undemocratic Theory) : अरस्तू का दासता का सिद्धान्त आधुनिक लोकतन्त्र के दो आधारों - समानता और स्वतन्त्रता के विपरीत है। जिस समाज में श्रम का महत्त्व नहीं, उस समाज में न्याय की आशा नहीं की जा सकती। एक तरफ तो अरस्तू ने स्वामी को अधिकारों से पूर्ण कर दिया है और दूसरी तरफ दासों के सभी अधिकार छीन लिए हैं। अरस्तू का दासता का सिद्धान्त आधुनिक लोकतन्त्र के सभी सिद्धान्तों के विपरीत है।
15. **अमनोवैज्ञानिक सिद्धान्त** (Unpsychological Theory) : अरस्तू ने दास के व्यक्तित्व को स्वामी के व्यक्तित्व में लीन कर दिया है। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी कुछ अनुभूतियाँ व इच्छाएँ होती हैं। दास की भावनाओं की अनदेखी करना गलत है। अतः यह सिद्धान्त अमनोवैज्ञानिक है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार परर कहा जा सकता है कि अरस्तू का दासता का विचार न तो तर्कसंगत है, न व्यावहारिक और न कल्याणकारी। आज के प्रजातन्त्र के युग में दास-प्रथा को किसी भी स्थिति में स्वीकार नहीं किया जा सकता। यद्यपि अरस्तू ने दासता के उदारवादी पक्ष का समर्थन किया है लेकिन उसके दासता के सिद्धान्त को किसी भी द ष्टि से संगतपूर्ण व वैज्ञानिक नहीं माना जा सकता। परन्तु फिर भी यह निर्विवाद सत्य स्वीकारना ही पड़ेगा कि अरस्तू एक सच्चे यूनानी थे जिन्होंने नगर-राज्य को मजबूत बनाने की द ष्टि से दास-प्रथा को उचित बताया। दास-प्रथा नगर-राज्यों की आवश्यकता थी। अतः अरस्तू ने भी युग के वातावरण से प्रभावित होकर इस प्रथा का पक्ष लिया ताकि यूनानी समाज में स्थायित्व का गुण पैदा हो और जातीय श्रेष्ठता कायम रह सके। अरस्तू का दास-प्रथा का सिद्धान्त तत्कालीन यूनानी दर्शन के इतिहास में अमूल्य देन है।

नागरिकता का सिद्धान्त
(Theory of Citizenship)

अरस्तू के नागरिकता सम्बन्धी विचार उसके ग्रन्थ 'पॉलिटिक्स' (Politics) की तीसरी पुस्तक में वर्णित हैं। उसके अनुसार राज्य (Polis) नागरिकों (Polita) का एक समुदाय (Kainonia) है। वह कहता है कि राज्य स्वतन्त्र मनुष्यों का एक समुदाय है। अतएव राज्य को समझने के लिए नागरिकता की व्याख्या करना आवश्यक हो जाता है। इसकी व्याख्या से प्रश्न उठता है कि नागरिक कौन है तथा नागरिकता किसे कहते हैं ? अपने इन प्रश्नों का उत्तर अरस्तू ने विश्लेषणात्मक विधि का प्रयोग करके दिया है। अरस्तू ने नागरिकता की परिभाषा नकारात्मक द ष्टिकोण अपनाकर दी है। वह स्पष्ट करता है कि नागरिक कौन नहीं है ? इस बारे में उसने कुछ तर्क दिए हैं।

नागरिक कौन नहीं है ?
(Who is not a Citizen ?)

अरस्तू ने निम्नलिखित व्यक्तियों को नागरिक नहीं माना है :-

1. राज्य में निवास करने मात्र से ही नागरिकता नहीं मिलती। स्त्री, दास और विदेशी नागरिक नहीं हैं।
2. अल्पायु के कारण बच्चे तथा नागरिकता के कर्त्तव्य से मुक्त व द्ध नागरिक नहीं हो सकते।
3. राज्य से निष्कासित व्यक्ति तथा मताधिकार से वंचित व्यक्ति भी नागरिक नहीं हो सकते।
4. अभियोग चलाने और अभियुक्त बनाने का अधिकार रखने वाला कोई भी व्यक्ति नागरिक नहीं होता क्योंकि संधि द्वारा यह अधिकार तो विदेशी भी प्राप्त कर सकता है।

2. **नागरिकता की प्रकृति संविधान की प्रकृति पर निर्भर है (Nature of Citizenship Depends of the Nature of Constitution)** : अरस्तू की नागरिकता की परिभाषा लोकतन्त्र के लिए तो सही हो सकती है, अन्य राज्यों के लिए नहीं। राजतन्त्र, निरंकुशतन्त्र, कुलीनतन्त्र, अल्पतन्त्र आदि व्यवस्थाओं के सन्दर्भ में अरस्तू द्वारा नागरिकता को दी गई परिभाषा मान्य नहीं हो सकती। प्रत्येक संविधान आवश्यकतानुसार ही नागरिकता को परिभाषित करता है।

3. **नागरिकता के लिए योग्यताएँ (Qualifications for Citizenship)** : अरस्तू के अनुसार- (i) नागरिकता के लिए शासन करने की योग्यता के साथ ही शासन करने का गुण भी होना चाहिए। (ii) जिन व्यक्तियों की राज्य के कार्यों में रुचि हो, उन्हें ही नागरिक बनाया जाना चाहिए। (iii) नागरिकता के लिए व्यक्ति के पास निजी सम्पत्ति व अवकाश का होना अनिवार्य है। (iv) नागरिक बनने के लिए व्यक्ति में बौद्धिक और नैतिक योग्यताएँ भी होनी चाहिएं। उपर्युक्त योग्यताएँ प्राप्त व्यक्ति ही नागरिक बन सकता है।

4. **नागरिकता के लिए अयोग्यताएँ (Disqualifications for Citizenship)** : अरस्तू के अनुसार दास, विदेश मे जन्मे व्यक्ति, श्रमिक, कारीगर, शिल्पी, विदेशी, नागरिक कार्यों की अयोग्यता प्राप्त व्यक्ति, राज्य से निष्कासित, मताधिकार से वंचित, व द्धों, स्त्रियों, बच्चों को नागरिकता प्रदान नहीं की जा सकती, क्योंकि वे या तो बौद्धिक शक्ति से हीन होते हैं या उनके पास अवकाश नहीं होता।

5. **अवकाश का महत्त्व (Importance of Leisure)** : अरस्तू के अनुसार उन्हीं व्यक्तियों को नागरिकता प्राप्त हो सकती है जिनके पास अवकाश होता है। अरस्तू अवकाश का अर्थ छुट्टी या आराम से न लेकर एक प्रकार की सक्रियता से लेता है। अरस्तू के अनुसार शासन करना, सार्वजनिक क्रियाओं में भाग लेना, समाज सेवा के कार्य करना, विज्ञान और दर्शन का ज्ञान प्राप्त करना आदि कार्य अवकाश के अन्तर्गत आते हैं। जो व्यक्ति इन कार्यों में भाग लेता है, वह नागरक बन सकता है, अन्यथा नहीं। इस प्रकार अरस्तू अवकाश प्राप्त व्यक्तियों को ही नागरिकता प्रदान करता है।

प्लेटो तथा अरस्तू के नागरिकता सम्बन्धी विचारों में अन्तर

(Difference Between the Views of Plato and Aristotle on Citizenship) :-

प्लेटो के विचारों में अन्तर निम्नलिखित हैं :-

1. अरस्तू नागरिकता के लिए शासन में सक्रिय सहभागिता को अनिवार्य मानता है, जबकि प्लेटो के लिए ऐसा अनिवार्य नहीं है।
2. प्लेटो ने नागरिकता की न तो सुव्यवस्थित परिभाषा दी और न ही योग्यताएँ निर्धारित कीं। अरस्तू इस बारे विस्त त रूप में लिखता है।
3. प्लेटो के राज्य में दासों और नागरिकों में कोई अन्तर नहीं है, परन्तु अरस्तू दासो ं व श्रमिकों को नागरिकता से वंचित करता है।
4. प्लेटो इस प्रश्न पर चुप है कि स्त्रियों को नागरिकता देनी चाहिए या नहीं, अरस्तू स्त्रियों को नागरिकता से वंचित करता है।

उपर्युक्त अन्तरों के बाद भी प्लेटो और अरस्तू नागरिकता के बारे में एक ही स्थान पर आकर विश्राम करते हैं। दोनों ने नागरिकता को उच्च वर्गों तक ही सीमित कर दिया है। दोनों सीमित नागरिकता के पक्षधर है।।

नागरिकता सम्बन्धी आधुनिक एवं अरस्तू का द ष्टिकोण

(Views of Aristotle on Citizenship Campared with Modern Approach to Citizenship)

आधुनिक युग की सरकारों को नागरिकता के बारे में बहुत ही उदारवादी द ष्टिकोण अपनाकर चलना पड़ता है। यदि अरस्तू की तरह विधानपालिका और न्यायपालिका में व्यक्ति की सहभागिता को नागरिकता का आधार बनाया जाए तो अधिकांश जनता नागरिकता से वंचित रह जाएगी। आज नागरिकता का निर्धारण करने का मूल आधार व्यक्ति का वह अधिकार है जिसके होने पर व्यक्ति अपने प्रतिनिधियों के चुनाव कार्य में भाग ले सकता है, स्वयं प्रतिनिधि बन सकता है तथा राजकीय सेवा का अवसर प्राप्त कर सकता है। आज नागरिकता अभिजात वर्ग तक ही सीमित न होकर समाज के प्रत्येक वर्ग तक फैली हुई है। अरस्तू की तरह नागरिकता को सीमित करना प्रजातन्त्रीय सिद्धान्तों के विरुद्ध जाता है। इसलिए अरस्तू के नगर राज्य में खोई गई

नागरिकता आधुनिक राज्यों में आसानी से प्राप्त हो गई है। इस प्रकार अरस्तू की नागरिकता सीमित है, जबकि आधुनिक युग में नागरिकता सार्वभौमिक है।

आलोचना
(Criticisms)

अरस्तू के नागरिकता सम्बन्धी विचारों की निम्न आधारों पर आलोचना की गई है :

1. **आधुनिक प्रजातन्त्र पर लागू नहीं** (Not fit for Modern Democracy) : अरस्तू द्वारा दी गई परिभाषा आधुनिक प्रजातन्त्र पर सही नहीं बैठती। आधुनिक युग लोकतन्त्र का युग है। आधुनिक लोकतन्त्र में सभी नागरिक न तो विधि-निर्माण में भाग ले सकते हैं, न ही न्याय के प्रशासन में।
2. **सैद्धान्तिक अन्तर्विरोध** (Theoretical Contradiction) : अरस्तू के अनुसार राज्य का उद्देश्य सार्वजनिक हित में व द्धि करना है। इससे यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि राज्य की जनसंख्या के सभी वर्गों को शासन क्रियाओं में भाग लेने का अवसर मिलना चाहिए अर्थात् सभी को नागरिकता का अधिकार मिलना चाहिए। परनतु अरस्तू ने सीमित नागरिकता की व्यवस्था करके जनसंख्या के एक बड़े भाग को सार्वजनिक हित की व द्धि करने से रोक दिया है।
3. **कठोर सिद्धान्त** (Rigid Theory) : अरस्तू की नागरिकता सम्बन्धी अवधारणा अपनी प्रकृति से एक कठोर सिद्धान्त है। उसने इस प्रकार की कोई व्यवस्था स्वीकार नहीं की है कि यदि कोई अनागरिक उचित व आवश्यक योग्यताएँ प्राप्त कर ले तो उसे नागरिक बना दिया जाएगा। राज्य में ऐसे श्रमिक, जो बाद में आवश्यक योग्यता (शिक्षा व सम्पत्ति) प्राप्त कर लें, वे भी नागरिक बनने का दावा नहीं कर सकते।
4. **संकुचित परिभाषा** (Narrow Definiton) : अरस्तू की नागरिकता की परिभाषा अत्यन्त संकीर्ण है। यदि शासन क्रियाओं में भाग लोने मात्र से ही नागरिकता मिले तो राजतन्त्र और कुलीनतन्त्र में यह संख्या बहुत कम होगी।
5. **श्रमिकों को राजनीतिक अधिकारों से वंचित करना** (Labourers are deprived of Political Rights) : अरस्तू ने श्रमिकों और दासों को नागरिकता से वंचित रखा है। एक ओर तो वह नागरिकता की समानता की बात करता है, दूसरी तरफ श्रमिक वर्ग को इस अधिकार से वंचित करता है।
6. **धन व सत्ता का प्रयोग** (Combination of Wealth and Power) : अरस्तू के अनुसार निजी सम्पत्ति धारक ही नागरिक बनने के योग्य हैं। वह धनी वर्ग के हाथों में सत्ता सौंपता है। जब धन व सत्ता का गठबन्धन हो जाएगा तो सार्वजनिक हित की व द्धि के नाम पर वर्गीय हितों की रक्षा ही होगी। इससे विशाल गरीब तबका नागरिकता के अधिकार से वंचित रह जाता है। अतः ऐसे राज्य का पतन निश्चित है।
7. **राज्य की एकता व स्थिरता को भय** (Danger to the Unity and Stability of State) : अरस्तू राज्य को नागरिक व अनागरिक दो वर्गों में बाँट देता है। एक धनी-वर्ग है तो दूसरा निर्धन व असन्तुष्ट वर्ग है। दोनों के हित परस्पर विरोधी होते हैं। इससे दोनों वर्गों में ईर्ष्या व द्वेष की भावना बढ़ती है जो राज्य की एकता व स्थिरता के लिए घातक है।
8. **अस्पष्ट विवरण** (Vague) : अरस्तू ने यह स्पष्ट नहीं किया है कि राज्य के उपनिवेश में बसने वाले व्यक्तियों को उस नगर-राज्य का नागरिक बनने का अधिकार प्राप्त होगा या नहीं। व्यावहारिक द ष्टि से यह सिद्धान्त दोषपूर्ण है।
9. **सीमित नागरिकता** (Limited Citizenship) : अरस्तू ने अपनी नागरिकता की अवधारणा में बच्चे, बूढ़े, स्त्रियों, श्रमिक, विदेशी, मताधिकार से वंचित आदि को शामिल करके केवल शासन क्रियाओं में भाग लेने वाले अवकाश प्राप्त उच्च-वर्ग के लोगों को ही शामिल किया है। अतः यह व्यवस्था कुलीनतन्त्र की पोषक है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि अरस्तू का नागरिकता का सिद्धान्त अधिक संकीर्ण, रूढ़िवादी, अभिजाततन्त्रीय, अप्रजातांत्रिक, अमानवीय और कुछ हद तक घ णित भी है। आज के प्रजातन्त्र के युग में सीमित नागरिकता की धारणा कभी भी स्वीकार्य नहीं हो सकती। फॉस्टर ने कहा है कि- "नागरिकता के सम्बन्ध में अरस्तू की बजाय प्लेटो अधिक प्रगतिशील है।" अरस्तू ने बहुसंख्यक वर्ग को अल्पसंख्यक वर्ग (धनी वर्ग) का साधन मात्र बना दिया है। अरस्तू ने ऐसा करके अमानवीय द ष्टिकोण का ही परिचय दिया है। फिर भी, अरस्तू ने नागरिकता के गुणात्मक पक्ष पर जोर देकर एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

क्रान्ति का सिद्धान्त
(Theory of Revolution)

अरस्तू के समय में ही यूनान में क्रान्तियों द्वारा राजनीतिक सत्ता में परिवर्तन होने लगे थे। इससे यूनान में राजनीतिक अराजकता व अस्थिरता का वातावरण पैदा हो गया था। अरस्तू के लिए राजनीतिक स्थिरता के उपाय व अस्थिरता के कारण खोजना आवश्यक हो गया था। अरस्तू ने इन राजनीतिक परिवर्तनों को क्रान्तिया विद्रोह (Revolution) का नाम दिया है। अरस्तू ने अपनी पुस्तक 'पॉलिटिक्स' (Politics) के पाँचवें भाग में क्रान्ति के कारणों व उन्हें रोकने के साधनों की चर्चा की है। अरस्तू ने 158 देशों के संविधानों का अध्ययन करके क्रान्ति के कारण व उपायों का वर्णन किया है। अतः अरस्तू का क्रान्ति की समस्या का अध्ययन काल्पनिक न होकर व्यावहारिक है। अरस्तू ने अल्पतन्त्रवादियों, प्रजातन्त्रवादियों, कुलीनतन्त्रवादियों, राजतन्त्रों व निरंकुश शासकों को क्रान्ति रोकने के उपदेश दिए हैं। सेबाइन ने लिखा है- "क्रान्तियों से सम्बन्धित 'पॉलिटिक्स' के ये प ष्ठ अरस्तू की राजनीतिक अन्तर्द ष्टि तथा यूनानी शासन-प्रणालियों के बारे में उसके अधिकारपूर्ण ज्ञान को प्रकट करते हैं।" इसी प्रकार अरस्तू के अध्ययन की श्रेष्ठता स्वीकार करते हुए गैटेल कहता है- "पॉलिटिक्स राजनीतिक दर्शन का क्रमबद्ध अध्ययन नहीं है, अपितु शासन की कला पर लिखा गया ग्रन्थ है। इसमें अरस्तू ने यूनानी नगर राज्यों में प्रचलित बुराइयों तथा उनकी राजनीतिक प्रणालियों के दोषों का विश्लेषण किया है, और ऐसे व्यावहारिक सुझाव दिए हैं जिनके द्वारा भविष्य में आने वाले भयोत्पादक संकटों से सर्वोत्तम ढंग से बचा जा सकता है।"

अरस्तू के अनुसार क्रान्ति का अर्थ
(Aristotle's Meaning of Revolution)

अरस्तू का क्रान्ति से अभिप्राय आधुनिक अर्थ से अलग है। आधुनिक युग में क्रान्ति से तात्पर्य उन सभी सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक परिवर्तनों से है जिनसे समाज की काया पलट जाती है और समाज को विकास की नई दिशा मिलती है। फ्रांसीसी क्रान्ति, रूसी क्रान्ति, चीन की क्रान्ति विश्व प्रसिद्ध क्रान्तियाँ हैं। इन्होंने वहाँ की शासन-व्यवस्था को पूरी तरह बदल दिया था।

अरस्तु के अनुसार जनता द्वारा राज्य के किसी भाग या सम्पूर्ण भाग में विद्रोह का नाम क्रान्ति नहीं है। अरस्तू के अनुसार- "क्रान्ति का अर्थ संविधान में छोटा या बड़ा परिवर्तन है।" अरस्तू क्रान्ति का दोहरा अर्थ स्वीकार करता है। अरस्तू सर्वप्रथम छोटे-मोटे हर परिवर्तन को क्रान्ति का नाम देते हैं। जैसे राजतन्त्र से कुलीनतन्त्र, लोकतन्त्र कम लोकतन्त्र, लोकतन्त्र द्वारा अल्पतन्त्र को हटा देना, अल्पतन्त्र द्वारा लोकतन्त्र को हटा देना, ये सभी घटनाएँ चाहे बड़ी हों या छोटी क्रान्ति के अन्तर्गत आती हैं। ये घटनाएँ संविधान के बदलने पर आधारित होती है। किन्तु कई बार शासन बदल गया है, लेकिन संविधान में कोई परिवर्तन नहीं होता। इसे अरस्तू क्रान्ति के दूसरे अर्थ में प्रयुक्त करता है। अरस्तू कहता है कि यदि संविधान को बदले बिना शासन दूसरे के हाथ में चला जाए तो समझो क्रान्ति हो गई हैं उदाहरण के लिए एक निरंकुश शासक के स्थान पर दूसरे निरंकुश शासक का आ जाना क्रान्ति है। इस प्रकार अरस्तू हर छोटे बड़े परिवर्तन को क्रान्ति मानते हैं।

क्रान्ति के प्रकार
(Kinds of Revolution)

अरस्तू ने क्रान्ति के निम्नलिखित प्रकारा बताए हैं :

1. **पूर्ण और आंशिक क्रान्ति (Complete and Partial Revolution)** : जब क्रान्ति द्वारा संविधान को सम्पूर्ण रूप में बदल दिया जाए अथवा राज्य के सम्पूर्ण सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं प्रशासनिक ढाँचे में परिवर्तन आ जाए तो ऐसी क्रान्ति पूर्ण क्रान्ति होती है। यदि यह परिवर्तन संविधान के एक भाग हो तो उसे आंशिक क्रान्ति कहा जाता है। अरस्तू ने 'पालिटिक्स' के पाँचवें अध्याय में लिखा है कि- "पूर्ण क्रान्ति वह है जब उससे शासन-व्यवस्था में पूर्ण परिवर्तन होता हो, जैसे निरंकुशतन्त्र, जनतन्त्र में बदल जाए। आंशिक क्रान्ति तब होती है, जब शासन के किसी विभाग में उग्र परिवर्तन हो जाए।"

2. **व्यक्तिगत और अव्यक्तिगत क्रान्ति (Personal and Impersonal Revolution)** : अरस्तू के अनुसार जब संविधान में परिवर्तन किसी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति को पदच्युत करने से होता है तो उसे वैयक्तिक क्रान्ति कहा जाता है। जब संविधान में परिवर्तन का उद्देश्य गैर-व्यक्तिगत होता है तो उसे व्यक्तिगत क्रान्ति की संज्ञा दी जाती है।

3. **रक्तपूर्ण और रक्तहीन क्रान्ति** (Bloody and Bloodless Revolution) : अरस्तू के अनुसार राज्य में शासन या संविधान में विद्रोह, खून-खराबा या रक्तपात द्वारा परिवर्तन लाया जाए तो उसे रक्तपूर्ण या हिंसक क्रान्ति कहा जाता है। जब संविधान में परिवर्तन संवैधानिक व शान्तिपूर्वक तरीके से किया जाए तो उसे रक्तहीन या अहिंसक क्रान्ति कहा जाता है।
4. **जनतन्त्रीय और धनतन्त्रीय क्रान्ति** (Democratic and Oligarchic Revolution) : जब राज्य के निर्धन व्यक्ति राजा या धनी व्यक्तियों के विरुद्ध विद्रोह करके राज्य में जनतन्त्र की स्थापना करते हैं तो उसे जनतन्त्रीय क्रान्ति कहा जाता है। जब राज्य के धनी व्यक्ति जनतन्त्रीय या राजतन्त्रीय शासन के विरुद्ध विद्रोह करके अपने शासन की स्थापना करते हैं तो उसे धनतन्त्रीय क्रान्ति कहा जाता है।
5. **किसी वर्ग विशेष के विरुद्ध क्रान्ति** (Revolution Against a Particular Class) : यदि क्रान्ति का उद्देश्य किसी वर्ग विशेष को सत्ता से हटाकर संवैधानिक परिवर्तन करना है तो ऐसी क्रान्ति वर्ग विशेष के विरुद्ध क्रान्ति कहलाती है।
6. **बौद्धिक क्रान्ति** (Intellectual Revolution) : जब किसी राज्य में कुछ नेता लोग अपने जोशीले व्याख्यानों व भाषणों से जनता की भावना उभार कर क्रान्ति ला दें तो ऐसी क्रान्ति बौद्धिक क्रान्ति कहलाती है।

क्रान्तियों के उद्देश्य
(Aims of Revolution)

अरस्तू के अनुसार कोई भी क्रान्ति निम्नलिखित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए की जाती है :-

1. प्रचलित संविधान के स्थान पर अन्य संविधान की स्थापना; जैसे राजतन्त्र को हटाकर कुलीनतन्त्र की स्थापना करना।
2. प्रचलित संविधान में ही शासक-वर्ग के व्यक्तियों को बदल देना; जैसे पुराने राजा के स्थान पर नए राजा की नियुक्ति करना।
3. प्रचलित संविधान में गुणात्मक परिवर्तन करना; जैसे लोकतन्त्र को उदारवादी लोकतन्त्र बनाना,
4. प्रचलित संविधान के रहते हुए ही किसी नए पद की स्थापना करना या पुराने पद को समाप्त करना।

क्रान्ति के कारण
(Causes of Revoloution)

अरस्तू ने क्रान्ति के तीन कारण बताए हैं :-

(क) सामान्य कारण (General Causes)

(ख) विशिष्ट कारण (Particular Causes)

(ग) विशिष्ट शासन प्रणालियों में क्रान्तियों के विशिष्टीकरण (Causes of Revolution in Differecnt Kinds of State)

(क) सामान्य कारण
(General Causes)

1. **सामाजिक असमानता** : अरस्तू के अनुसार क्रान्ति का मुख्य कारण समानता और न्याय की इच्छा है। जब सामाजिक असमानता पैदा होती है तो साथ में ही क्रान्ति या विद्रोह की ज्वाला भी सुलगने लगती है। अरस्तू के अनुसार- "विद्रोह या क्रान्ति का कारण सदैव असमानता में पाया जाता है।" अरस्तू का मानना है कि प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के समान बनना चाहता है। आम व्यक्ति भी विशेष अधिकारी, शक्तियों और अवसरों को प्राप्त करना चाहता है। बहुसंख्यक वर्ग सम्पन्न अल्पसंख्यक वर्ग से घ णा करने लगता है। ऐसे में क्रान्ति का वातावरण अल्पसंख्यक वर्ग से घ णा करने लगता है। ऐसे में क्रान्ति का वातावरण तैयार हो जाता है। उस राज्य में क्रान्तियाँ बार-बार होती हैं जिसमें असमानता की मात्रा ज्यादा होती है।
2. अरस्तू के अनुसार लाभ तथा सम्मान के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भी क्रान्ति या विद्रोह होता है। कई बार असम्मान या हानि से बचने के लिए भी विद्रोह होता है।

3. कई बार ध ष्टता या भय की भावना भी क्रान्ति को जन्म देती है।
4. राज्य के किसी अंग का असमानुपाती विस्तार भी क्रान्ति को जन्म देता है।
5. कई बार व्यक्ति अपनी श्रेष्ठता की भावना के कारण भी क्रान्ति या विद्राह करते हैं।

(ख) क्रान्ति के विशिष्टीकरण

(Particular Causes)

अरस्तू ने सामान्य कारणों की व्याख्या करने के बाद क्रान्ति के विशेष कारणों का वर्णन किया है। ये कारण निम्नलिखित हो सकते हैं :-

1. **शासकों की ध ष्टता** (Insolence on the Part of Authority) : जब शासक जनता के हितों की अनदेखी करके संविधान का उल्लंघन करते हैं तो ऐसी स्थिति में राज्य का अस्तित्व व जनता का जीवन दोनों खतरे में पड़ जाते हैं; जिसके परिणामस्वरूप जनता ऐसे धूर्त शासक के विरुद्ध विद्रोह कर बैठती है।
2. **लाभ एवं सम्मान की इच्छा** (Desire of Gain and Honour) : प्रत्येक व्यक्ति लाभ व सम्मान चाहता है। जिस राज्य में अयोग्य व्यक्ति लाभान्वित एवं सम्मानित किए जाते हैं, तो स्वाभाविक है कि लाभ व सम्मान की योग्यता व इच्छा रखने वाला व्यक्ति विद्रोह कर बैठता है।
3. **किसी रूप में श्रेष्ठता का अस्तित्व** (Feeling of Superiority) : जब कुछ लोग धन या यश के कारण स्वयं को श्रेष्ठ समझने लगते हैं तो वे जनता का विश्वास खो देते हैं और विद्रोह का शिकार होते हैं।
4. **भय की भावना** (Feeling of Fear) : अरस्तू के अनुसार भय भी क्रान्ति को जन्म देता है। अपराधी व्यक्ति भय के कारण दण्ड से बचने के लिए क्रान्ति करते हैं या ऐसे व्यक्ति जिन्हें अन्याय की आशंका हो वे भी विद्रोह करते हैं। इस तरह अविश्वास से भय और भय से क्रान्ति का जन्म होता है।
5. **घ णा** (Contempt) : धनिकतन्त्र में जब धनिक शासक वर्ग अधिकार वंचित गरीब जनता को तिरस्कारपूर्ण ढंग से देखता है तो दरिद्र वर्ग उससे नाराज होकर उसके विरुद्ध विद्रोह कर देता है। जनतन्त्र में भी धनी व्यक्ति राज्य में व्याप्त अव्यवस्था और अराजकता के कारण निर्धन वर्ग से घ णा करने लगते हैं तो क्रान्ति का सूत्रपात होता है।
6. **राज्य के किसी अंग का असमानुपाती विस्तार** (Disproportionate Increase of a Part of the State) : यह विस्तार प्रादेशिक, सामाजिक, आर्थिक या अन्य किसी भी प्रकार का हो सकता है। राज्य का असमानुपाती विस्तार राज्य के लिए उसी प्रकार घातक है, जिस प्रकार शरीर के लिए किसी अंग में अनावश्यक व द्धि।
7. **शासक की असावधानी** (Wilful Neglect of Rulers) : कई बार शासक अयोग्य व्यक्तियों को उच्च पदों पर नियुक्त कर देता है जो संविधान के प्रति जागरूक नहीं होते। ऐसे व्यक्ति भी अवसर मिलने पर विद्रोह कर देते हैं।
8. **विदेशियों का बाहुल्य** (Large Inflow of Foreigners) : कई बार जरूरत से ज्यादा विदेशी राज्य में आ जाएं तो वहाँ परस्पर विरोधी संस्कृतियों की टकराहट भी विद्रोह को जन्म देती है। जैसे भारत में पुर्तगालियों व अंग्रेजों के हितों का टकराव भी इसका कारण था।
9. **अल्प परिवर्तनों की उपेक्षा** (Neglect of Minor Changes) : शासन में समयानुसार छोटे-मोटे परिवर्तन शासक के लिए अपरिहार्य होते हैं। यदि शासक वर्ग इनकी उपेक्षा करता है तो वह विद्रोह को जन्म दे सकता है। जैसे अम्ब्रेसिया में पहले ऑफिस के लिए निम्नतम योग्यता निर्धारित की गई; किन्तु बाद में इसे हटा दिया या कुछ परिवर्तन किया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि अम्ब्रेसिया की जनता ने क्रान्ति कर दी।
10. **जातीय विभिन्न** (Racial Differences) : यदि किसी राज्य में आवश्यकता से अधिक जातियों के लोग रहते हों तो उससे द्वेष, कलह और फूट के कारण राज्य में विद्रोह के आसार हो जाते हैं।
11. **भौगोलिक स्थिति** (Geographical Situation) : यदि राज्य नदियों, घाटियों और पर्वतों से विभिन्न टुकड़ों में बँटा हो तो उससे जनता का आपसी सम्पर्क टूट जाता है। राज्य का कोई भी हिस्सा किसी समस्या को लेकर क्रान्ति कर सकता है।

12. **मध्यमवर्ग की अनुपस्थिति** (Absence of Middle Class) : अरस्तू ने मध्यम वर्ग को राज्य की सुरक्षा व शान्ति के लिए आवश्यक माना है। जिस राज्य में यह वर्ग नहीं होता वहाँ पर अमीर और गरीब के बीच का अन्तर संघर्ष को जन्म देता है और विद्रोह का आधार बनता है।
13. **राजवंशीय झगड़े** (Dynastic Quarrels) : शासकों के आन्तरिक मतभेद और कलह कभी-कभी सारे राज्य को हानि पहुँचाते हैं। अरस्तू ने इसके लिए सिराक्यूज का उदाहरण दिया है।
14. **शक्ति का दुरुपयोग** (Misuse of Power) : जब शासक अत्याचारी होकर जनता व अपने राजनीतिक विरोधियों पर दमनचक्र चलाता है तो उनमें आक्रोश की भावना पैदा होती है। राजशक्ति के प्रति इस आक्रोश से क्रान्ति का बिगुल बज उठता है।
15. **निर्वाचन सम्बन्धी विवाद** (Election Intrigues) : अरस्तू के अनुसार जब चुनाव प्रक्रिया में धाँधली होती है तो लोकमत का सम्मान नहीं किया जाता तो सत्तारूढ़ पक्ष के खिलाफ जनता व विपक्ष मिलकर विद्रोह कर देते हैं।
16. **प्रणय-सम्बन्धी झगड़ा** (Quarrel Related to Marriage) : अरस्तू के अनुसार प्रणय विवाद भी क्रान्ति का कारण बन सकता है। सिरक्यूज के संविधान में परिवर्तन का मूल कारण यही था।

(ग) विशिष्ट शासन प्रणालियों में क्रान्ति के विशिष्ट कारण

(I) प्रजातन्त्र में क्रान्ति
(Revolution in Democracy)

अरस्तू ने प्रजातन्त्र में क्रान्ति के निम्न कारण बताए हैं :-

1. प्रजातन्त्र में क्रान्ति का मूल आधार जनांदोलन है। जब जनांदोलक व्यक्तिगत रूप से धनिक वर्ग पर अत्याचार करता है तो संघर्ष की स्थिति पैदा होती है।
2. जब धनिकों पर ज्यादा करों का भार डाल दिया जाता है तो तब भी क्रान्ति के आसार होते हैं।
3. जब जनांदोलक सेनापति हो, तब भी क्रान्ति का आसार बनता है। एथेन्स व मेगरा की प्रजातन्त्रीय सरकारें इसी प्रकार के आंदोलक के कारण तानाशाही में बदल गई थी।
4. प्रजातन्त्र को अधिक उदारवादी बनाने के लिए भी क्रान्ति की जाती है। यूनान के नगर-राज्यों में ऐसी क्रान्तियाँ भी हुई थीं।

(II) धनिकतन्त्र में क्रान्ति
(Revolution in Oligarchy)

धनिकतन्त्र में क्रान्ति के निम्न कारण हो सकते हैं।

1. जब जनता का अधिक शोषण होता है तो लोकनायक द्वारा क्रान्ति कर दी जाती है। यदि क्रान्ति सफल होती है तो जनता का शासन स्थापित हो जाता है।
2. व्यक्तिगत प्रतिस्पर्धा भी क्रान्ति का कारण बनती है। यह स्पर्धा धनी शासक वर्ग में ही पाई जाती है।
3. जब धनी व्यक्ति फिजूलखर्ची करते हैं तो उससे भी क्रान्ति के आसार बनते हैं।
4. जब धनिकतन्त्र में शासन सत्ता सीमित रहती है तो शासन के अधिकार से वंचित व्यक्ति विद्रोह कर सकते हैं।

(III) कुलीनतन्त्र में क्रान्ति
(Revolution in Aristocracy)

कुलीनतन्त्र में क्रान्ति के निम्न कारण होते हैं :

1. जब शासन की बागडोर कुछ व्यक्तियों के हाथ में आ जाए तो क्रान्ति होती है। शासन से वंचित व्यक्ति विद्रोह करते हैं।
2. जब महान् पुरुषों का अनादर किया जाता है तो क्रान्ति होती है।

3. जब युद्ध के कारण अमीर-गरीब का अन्तर बढ़ जाता है तो क्रान्ति होती है।
4. जब कोई महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति सम्पूर्ण शासन को अपने हाथ में लेना चाहता हो तो क्रान्ति होती है।
5. जब न्याय प्रणाली विकृत होती है तो क्रान्ति होती है।

(IV) राजतन्त्र में क्रान्ति

(Revolution in Monarchy)

राजतन्त्र में क्रान्ति के निम्न कारण हो सकते हैं :-

1. जब राजा जनहित में कार्य न करे और जनता पर अन्याय करे तो क्रान्ति होती है।
2. जब साहसी व न्यायी व्यक्ति का अपमान किया जाता है तो क्रान्ति होती है।
3. तिरस्कार की भावना भी क्रान्ति को जन्म देती है।
4. षड्यन्त्र का भय भी क्रान्ति को जन्म देता है।
5. जब राजवंश के सदस्यों में आपसी झगड़ा हो जाए तो क्रान्ति होती है।
6. जब राजा तानाशाह बन जाता है तो क्रान्ति होती है।

(V) निरंकुशतन्त्र में क्रान्ति

(Revolution in Tyranny)

1. शासक परिवार के आपसी झगड़े भी क्रान्ति को जन्म देते हैं।
2. घ णा और तिरस्कार की भावना भी क्रान्ति को भड़काती है।
3. शासक के व्यक्तिगत स्वार्थ भी क्रान्ति को जन्म देते हैं।
4. योग्य व्यक्ति का अपमान भी क्रान्ति को जन्म देते हैं।

इस प्रकार अरस्तू ने विस्तारपूर्वक क्रान्ति के विभिन्न कारणों पर प्रकाश डाला है। साथ में ही उसने क्रान्ति को रोकने के उपाय भी बताए हैं।

रोकने के उपाय

(Remedies)

अरस्तू ने उन सभी कारणों को जानने का प्रयास किया है जो संविधान को नष्ट करते हैं। अरस्तू ने क्रान्तियों को रोकने के लिए जो उपाए बताए हैं, वस्तुतः उनके अतिरिक्त अन्य कोई उपचार नहीं हो सकता। मैक्सी ने लिखा है- "क्रान्तियों के विषैले तत्त्वों को रोकने के लिए आधुनिक राजनीतिक विज्ञान कहीं और विश्वसनीय उपाधारों को नहीं बता सकता।" अरस्तू ने क्रान्तियों को रोकने के उपायों को दो भागों में बाँटा है -

(क) सामान्य उपाय

(ख) विशेष शासन पद्धतियों के लिए उपाय।

(क) सामान्य उपाय

(General Remedies)

अरस्तू ने क्रान्ति को रोकने के सामान्य उपाय निम्न प्रकार से बताये हैं :-

1. **संविधान के अनुरूप शिक्षा (Education according to Constitution)** : संविधान को स्थायी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि बच्चों तथा नागरिकों को संविधान के अनुरूप शिक्षा दी जाए। अरस्तू का कथन है कि यदि बच्चों को शिक्षण-संस्थाओं में ही संविधान का महत्त्व समझा दिया जाए तो वे संविधान की रक्षा तथा सफलता हेतु अपने को उत्सर्ग भी कर सकते हैं। वर्तमान समय में शासन प्रणालियों के अनुरूप ही शिक्षा की व्यवस्था है। उदाहरण के लिए साम्यवादी

देशों में साम्यवाद की शिक्षा बच्चों को शिक्षण-संस्थाओं में दी जाती है। अतः राज्य में स्थायित्व लाने के लिए बच्चों व नागरिकों को संविधान के अनुरूप शिक्षा देना अति आवश्यक है।

2 **अच्छा शासन** (Good Administration) : जिस राज्य की शासन व्यवस्था दूषित होती है, वह शीघ्र ही पतन की ओर जाता है। प्रशासक तथा प्रशासनिक पदाधिकारी योग्य, ईमानदार, कर्मठ एवं न्यायी हो। घूसखोरी का नामोनिशान नहीं होना चाहिए। जिस राज्य में अच्छा शासन होता है, वहाँ क्रान्ति की सम्भावना नहीं होती।

3 **शुद्ध आचरण** (Good Behaviour) : जिस शासन व्यवस्था में शासकों का आचरण छल-कपट रहित होता है, वहाँ क्रान्ति के आसार नहीं होते। अतः शासक वर्ग को जनता को धोखे में नहीं डालना चाहिए।

4. **कानून का पालन** (Obedience to Law) : सरकार के सभी अंगों के कार्यों व शक्तियों का वर्णन संविधान में होता है। इसमें नागरिकों के अधिकारों व कर्त्तव्यों का भी वर्णन रहता है। प्रत्येक नागरिक व शासक का कर्त्तव्य है कि वह संविधान के कानून का पालन करे। कानून का पालन न करने से समाज व शासन में अराजकता फैल जाएगी। अतः कानून का पालन करने में ही राज्य व समाज की भलाई है। जहाँ पर कानून का शासन होता है, वहाँ पर सभी सुख व शान्ति से रहते हैं।

5 **राज्यभक्त नागरिक** (Loyal Citizen) : प्रत्येक राज्य में कुछ देशद्रोही होते हैं। वे संविधान व राज्य के प्रति निष्ठावान नहीं होते। स्थायी शासन प्रणाली के लिए राजभक्त नागरिकों का होना जरूरी है।

6. **आंतरिक फूट नहीं** (No Internal Frictions) : राज्य में नागरिकों का शासक वर्ग में आपसी दलबन्दी नहीं होनी चाहिए। राज्य में शान्ति बनाए रखने के लिए आपस में प्रेम एवं सद्भाव का होना आवश्यक है।

7. **सद्भावनापूर्ण सम्बन्ध** (Harmonious Relationship) : राज्य में शांति बनाए रखने के लिए शासक व शासितों में आपसी सम्बन्ध मधुर होने चाहिए। योग्य व्यक्तियों को पूरा सम्मान मिलना चाहिए।

8. **शक्तियों का केन्द्रीकरण नहीं** (No Concentration of Power) : शक्ति शासक वर्ग को भ्रष्ट करती है। यदि सारी शक्ति एक ही व्यक्ति के हाथ में आ जाए तो वह निरंकुश बन सकता है और अत्याचारी बन सकता है। अतः राज्य में शान्ति बनाए रखने के लिए शक्ति का समान वितरण किया जाए तथा किसी व्यक्ति या वर्ग को शक्तिशाली नहीं होने दिया जाए।

9. **न्याय** (Justice) : जिस राज्य में न्याय का अभाव होता है, वहाँ जनता विद्रोह करती है। जन विद्रोह से बचने के लिए न्याय-व्यवस्था मजबूत होनी जरूरी है। न्याय पर आधारित शासन ही स्थायी होता है।

10. **समानता** (Equality) : समाज में अमीर व गरीब का अन्तर अधिक नहीं होना चाहिए। राजनीतिक क्षेत्र में समानता का सिद्धान्त लागू करना चाहिए। विषमता ही क्रान्ति को जन्म देती है। अतः समाज में 'समानता का सिद्धान्त' का पालन करना चाहिए।

11. **सरकारी कोष का गबन नहीं** (No Misuse of Public Money) : शासक वर्ग को सरकारी धन का जनता की भलाई के लिए ही प्रयोग करना चाहिए। जिस शासन-व्यवस्था में सरकारी धन का प्रयोग स्वार्थ-सिद्धि के लिए किया जाता है, वहाँ अक्सर विद्रोह फैलने का डर रहता है।

12. **राजकीय सेवाएँ** (Administrative Services) : प्रशासन को चुस्त-दुरस्त रखने के लिए उच्च अधिकारियों की सेवा अवधि कम होनी चाहिए तथा निम्न अधिकारियों की सेवा अवधि अधिक होनी चाहिए। इससे वे स्वेच्छाचारी बनने का स्वप्न नहीं लेंगे और प्रशासन में स्थायित्व व निष्पक्षता पैदा होगी।

13. **सर्वोच्च पदों की योग्यताएँ** (Qualifications for Higher Posts) : अरस्तू के अनुसार सर्वोच्च पदों पर नियुक्त होने वाले पदाधिकारियों में संविधान के प्रति भक्ति, प्रशासनिक क्षमता तथा गुणी व न्याय की योग्यता होनी चाहिए। अधिकारियों का चयन पदानुरूप योग्यतानुसार किया जाना चाहिए।

(ख) विशिष्ट शासन प्रणालियों में क्रान्ति रोकने के उपाय

अरस्तू ने क्रान्ति को रोकने के सामान्य उपायों के वर्णन के बाद विशेष शासन प्रणालियों में क्रान्ति रोकने के कुछ उपाय दिए हैं जो निम्नलिखित हैं :-

(I) प्रजातन्त्र
(Democracy)

अरस्तू ने प्रजातन्त्र में क्रान्ति रोकने के निम्न उपाए बताए हैं :-

1. शासन को जनता के स्वतन्त्रता के अधिकार पर किसी प्रकार का आघात नहीं पहुँचना चाहिए।
2. समानता के सिद्धान्त द्वारा सभी नागरिकों को एकता के सूत्र में बाँधने का प्रयास करना चाहिए।
3. प्रजातन्त्र में बहुमत-शासन-व्यवस्था कायम रखी जाए।
4. धनिकों के प्रति कोई अन्याय नहीं होना चाहिए।
5. सेनाध्यक्ष शासन नहीं होना चाहिए।
6. जनांदोलक का अन्त किया जाए।
7. शासक को शक्ति व धन का पुजारी नहीं होना चाहिए।

यदि उपर्युक्त उपायों पर विचार किया जाए तो लोकतन्त्र सुरक्षित रह सकता है।

(II) धनिकतन्त्र
(Oligarchy)

अरस्तू ने धनिकतन्त्र में क्रान्ति को रोकने के निम्न उपाय बताये हैं :-

1. राज्य में बाह्य या आन्तरिक फूट या विवाद नहीं होना चाहिए।
2. गरीबों के प्रति उदार द ष्टिकोण अपनाया जाना चाहिए।
3. शासन को धन कमाने का साधन नहीं समझना चाहिए।
4. सरकारी कोष का सदुपयोग किया जाना चाहिए।

(III) कुलीनतन्त्र
(Aristocracy)

कुलीनतन्त्र में अरस्तू ने क्रान्ति रोकने के निम्न उपाय सुझाए हैं :-

1. शासक के जनता के साथ अच्छे सम्बन्ध होने चाहिए।
2. महान् पुरुषों को पूरा सम्मान मिलना चाहिए।

(IV) राजतन्त्र
(Monarchy)

राजतन्त्र में क्रान्ति रोकने के लिए निम्नलिखित उपाए बताए गए हैं :-

1. राजा को संविधान के प्रति निष्ठावान होना चाहिए।
2. राजा को जनता के साथ सद्व्यवहार करना चाहिए।

(IV) निरंकुशतन्त्र
(Tyranny)

अरस्तू ने निरंकुश तन्त्र की सुरक्षा व स्थायित्व के लिए निम्नलिखित तरीके बताए हैं :-

1. शासक, शासक की तरह ही शासन करे। उसे जनहित की भावना का ख्याल रखने का बहाना करना चाहए। उसे एक राजा का स्वाँग रचना चाहिए।
2. उसका आचरण शुद्ध होना चाहिए।

3. उसे देवता का उपासक होना चाहिए
4. उसे अपने जीवन की रक्षा का सदैव ध्यान रखना चाहिए।
5. उसे पक्षपातपूर्ण ढंग से जनता के साथ व्यवहार करना चाहिए।
6. उसे सार्वजनिक राजस्व का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए।

आलोचनाएँ

(Criticisms)

अरस्तू के क्रान्ति सम्बन्धी विचारों की कुछ आलोचनाएँ भी हुई हैं :-

1. वह एक तरफ तो निरंकुश तन्त्र को सबसे निकृष्ट शासन-प्रणाली मानता है, लेकिन दूसरी तरफ इसे स्थायित्व प्रदान करने के उपाय बताता है जो अनावश्यक और अवांछनीय प्रतीत होता है।
2. अरस्तू क्रान्ति को एक बुराई की नजर से देखता है, अच्छाई की नजर से नहीं। आलोचकों के मत में क्रान्ति द्वारा सुधार व वांछनीय परिवर्तन लाए जा सकते हैं और किसी भी व्यवस्था को उचित दिशा में स्थायित्व प्रदान किया जा सकता है।
3. अरस्तू ने 'क्रान्ति' शब्द का प्रयोग केवल संविधान और शासन प्रणालियों में परिवर्तन के अर्थ में किया है। आलोचकों का मत है कि 'क्रान्ति' शब्द इतना व्यापक है कि इसका प्रयोग किसी भी क्षेत्र में किया जा सकता है।
4. अरस्तू ने अपने विचारों से निरंकुश शासक के हाथ में कुछ ऐसी खतरनाक, क्रूर और अमानुषिक युक्तियाँ दी हैं जिनसे जनता के सारे अधिकार, सारी मान-मर्यादाएँ और सम्पत्ति लूटी जा सकती है।

उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद भी इन विचारों का अपना विशेष महत्त्व है। अरस्तू ने क्रान्ति के कारणों व उसे रोकने के उपायों की वास्तविक, वैज्ञानिक और व्यावहारिक व्याख्या कर राजनीतिक दर्शन के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ा है। अरस्तू द्वारा बताए गए क्रान्ति के कारण आधुनिक शासन-प्रणालियों के लिए भी मार्गदर्शक का कार्य करते हैं। यदि शासकों द्वारा अरस्तू बताए गए उपचारों का पालन किया जाए तो आधुनिक राजनीतिक व्यवस्थाओं में स्थायित्व का गुण पैदा किया जा सकता है। मैक्सी ने कहा है- "क्रान्ति को रोकने के जिन साधनों का प्रतिपादन अरस्तू ने किया है क्या आधुनिक राजनीतिक-विज्ञान उनसे अधिक उपयोगी व कारगार साधन प्रस्तुत कर सकता है।" अतः यह अरस्तू की महत्त्वपूर्ण देन है।

संविधानों का वर्गीकरण

(Classification of Constitution)

राज्य की अनिवार्य वस्तु संविधान है और जब संविधान बदल जाता है तो राज्य की पहचान भी बदल जाती है। संविधान किसी राज्य का रूप होता है, इसलिए वह राज्य से अभिन्न माना जा सकता है। इसका अर्थ यह निकलता है कि संविधान ही राज्य है। अरस्तू ने अपनी पुस्तक 'पॉलिटिक्स' की तीसरी पुस्तक के छठे से आठवें अध्याय तक संविधान की व्याख्या की तथा विभिन्न संविधानों का उल्लेख करते हुए उनका वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। अरस्तू से पहले भी प्लेटो ने राज्यों के बारे में लिखा है। प्लेटो ने तीन अच्छे राज्यों - राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा प्रजातन्त्र का वर्णन किया है और राज्य के तीन विकृत रूप - निरंकुशतन्त्र, अल्पतन्त्र तथा प्रभावसमूह तन्त्र का भी वर्णन किया है। अतः स्पष्ट है कि प्लेटो का वर्गीकरण ही अरस्तू के वर्गीकरण का आधार है। इसलिए अरस्तू के संविधानों के वर्गीकरण में मौलिकता का अभाव है। अरस्तू का संविधानों के वर्गीकरण विश्लेषणात्मक द ष्टिकोण पर आधारित है। अरस्तू ने 158 देशों के संविधानों का अध्ययन करने के बाद ही संविधानों का वर्गीकरण किया हैं अरस्तू का यह वर्गीकरण शाश्वत महत्त्व रखता है।

संविधान क्या है ?

(What is a Constitution ?)

अरस्तू 'संविधान' के लिए यूनानी शब्द 'पॉलिटिया' Politeia) का प्रयोग किया है। इसका अंग्रेजी रूपान्तर है- 'कॉन्स्टीट्यूशन' (Constitution)। अरस्तू 'Politeia' शब्द को राज्य का निर्धारक तत्त्व मानता है। अरस्तू कहता है कि किसी राज्य का स्वरूप

निर्धारण उसकी दीवारों, परकोटों अथवा नदी-नालों द्वारा नहीं किया जाता। यह संविधान का स्वरूप है जो राज्य के स्वरूप की पहचान कराता है। संविधान को परिभाषित करते हुए अरस्तू लिखता है कि- "संविधान सामान्यतः राज्य के पदों के संगठन की एक व्यवस्था है, विशेषतः ऐसे पद की जो सभी मुद्दों में सर्वोच्च है।" संविधान द्वारा राज्य के विभिन्न पदों का संगठन किया जाता है। अरस्तू राज्य और संविधान में कोई अन्तर नहीं करता है। अरस्तू के अनुसार संविधान में परिवर्तन आने से राज्य के पदों में परिवर्तन के साथ-साथ राज्य के सामाजिक, आर्थिक व नैतिक मूल्यों में भी परिवर्तन आ जाता है। इस प्रकार अरस्तू ने संविधान की व्याख्या दो तरह से की है - प्रथम, अरस्तू कहता है कि राज्य के विभिन्न मनुष्यों के जीवन-निर्वाह के विशेष नियमों का नाम ही संविधान है। इस प्रकार संविधान एक जीवन-पद्धति है। द्वितीय, 'पॉलिटिक्स' की चतुर्थ पुस्तक में अरस्तू ने संविधान को परिभाषित करते हुए इसे विभिन्न पदों के संगठन की व्यवस्था मानता है। पहली परिभाषा में अरस्तू के संविधान के नैतिक रूप की और द्वितीय परिभाषा में राजनीतिक स्वरूप की ओर ध्यान देता है। संविधान केवल जीवन-निर्वाह की पद्धति ही नहीं, राज्य के प्रशासन की व्यवस्था का नाम है। संविधान द्वारा शासन के विभिन्न अंगों का वर्णन किया जाता है; उन अंगों का स्वरूप निर्धारित किया जाता है तथा उनका परस्पर सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। अरस्तू द्वारा प्रस्तुत परिभाषाओं के विश्लेषण से निम्न बातें स्पष्ट होती हैं :-

1. संविधान ही सर्वोच्च सत्ता को निश्चित करता है।
2. संविधान ही राज्य तथा लोगों के लक्ष्य को निश्चित करता है।
3. संविधान ही राज्य का सार है, संविधान के आधार पर ही राज्य का निर्माण अथवा अन्त होता है।
4. संविधान ही राज्य के पदों तथा उनके स्वरूप को निश्चित करता है।
5. अरस्तू के संविधान सम्बन्धी विचार से राजनीतिक जीवन के तरीके, सामाजिक आचारशास्त्र एवं आर्थिक संगठन की आधारशिला का निश्चय हो जाता है।
6. संविधान द्वारा ही राज्य का आकार-प्रकार या रूपरेखा निश्चित होती है। संविधान ही इस बात को निर्धारित करता है कि राज्य लोकतन्त्रात्मक होगा या राजतन्त्रात्मक।

संविधान सम्बन्धी अरस्तू के विचारों से राज्य और संविधान में अन्तर दिखाई देता है। परन्तु अरस्तू ने ऐसा नहीं किया है। वह कहता है कि संविधान से राज्य का स्वरूप निर्धारत होता है। संविधान राज्य का प्रतिरूप है। संविधान में परिवर्तन का अर्थ है - राज्य में परिवर्तन। अरस्तू संविधान के वर्गीकरण को ही राज्य का वर्गीकरण कहता है। इस प्रकार अरस्तू के विचारों में अन्तर्विरोध द ष्टिगोचर होता है।

संविधानों का वर्गीकरण
(Classification of Constitution)

अरस्तू ने संविधान का अर्थ स्पष्ट करने के बाद संविधानों का वर्गीकरण किया है। उसके वर्गीकरण के निम्न आधार हैं:-

1. **संख्यात्मक आधार** (Numerical Basis) : इसका अर्थ यह है कि कितने लोग शासन में भाग लेते हैं, अर्थात कितने व्यक्ति प्रभुसत्ता का प्रयोग करते हैं। इसका सम्बन्ध शासकों की संख्या से है जिनके हाथों में सत्ता रहती है। अरस्तू के अनुसार ऐसे व्यक्तियों की संख्या क्रमशः एक, या कुछ या अनेक हो सकती है।
2. **नैतिक एवं गुणात्मक आधार** (Moral and Quantitative Basis) : इसका अर्थ है कि शासन सामान्य हित की पूर्ति के लिए किया जा रहा है या नहीं। इस आधार पर अरस्तू ने संविधान (राज्यों), को पुनः दो वर्गों में बाँटा है :-

   (i) स्वाभाविक रूप (Normal Form)

   (ii) विकृत रूप (Perverted Form)

अरस्तू के अनुसार जब शासक वर्ग सामान्य हित के लिए शासन करता है तो संविधान का रूप शुद्ध या स्वाभाविक होता है। संविधान का विकृत रूप तब होता है, जब शासक वर्ग सत्ता का प्रयोग स्वार्थ-सिद्धि में करता है। इस प्रकार संविधान (राज्य) के रूप का निर्धारक सामाजिक हित का विचार है।

संविधानों का वर्गीकरण (तालिका)

शासकों की संख्या (No of Rulers)	सामान्य रूप (Normal Form)	विकृत रूप (Perverted Form)
एक (One)	राजतन्त्र (Monarchy)	निरंकुशतन्त्र (Tyranny)
कुछ (Few)	कुलीनतन्त्र (Aristocracy)	धनिकतन्त्र (Oligarchy)
अनेक (Many)	बहुतन्त्र (Polity)	प्रजातन्त्र (Democracy)

अरस्तू ने उपर्युक्त तालिका में संविधान के तीन शुद्ध तथा तीन विकृत रूप बताए हैं जिनका वर्णन इस प्रकार है :-

1. **राजतन्त्र (Monarchy)** : अरस्तू के अनुसार एक व्यक्ति द्वारा सार्वजनिक हित में किया जाने वाला शासन राजतन्त्र कहलाता है। यह शासन व्यवस्था सर्वोत्तम व्यवस्था है। यदि व्यावहारिक द ष्टि से सद्‌गुणी व्यक्ति मिल जाए तो उसे शासक बनाने में संकोच नहीं करना चाहिए। ऐसे व्यक्ति को सभी द्वारा स्वीकार किया जाना चाहिए। परन्तु अरस्तू का मत है कि ऐसा आदर्श व्यक्ति मिलना कठिन होता है। यदि ऐसे शासक का उत्तराधिकारी भी सद्‌गुणी है तो राजतन्त्र विकृत होरक निरंकुशतन्त्र में बदल जाता है। अरस्तू राजतन्त्र के 5 प्रकार बताता है-

   (i) स्पार्टा मॉडल के राजतन्त्र में शासक को केवल सैन्य कार्यों का संचालन करना पड़ता है।

   (ii) बर्बर जातियों में पाए जाने वाले राजतन्त्र में पाए जाने वाले राजतन्त्र में राजा के अधिकार निरंकुशतन्त्र की तरह होते हैं। इसमें राजा कानून के अनुसार ही इच्छुक जनता पर शासन करता है।

   (iii) तानाशाही अथवा निर्वाचित राजतन्त्र में शासक अत्याचारी एवं स्वेच्छाचारी राजा की तरह शासन करता है।

   (iv) वीरयुग के राजतन्त्र में राजा के कार्य-युद्धों में सेना की अध्यक्षता करना, यज्ञों में पुरोहित का कार्य करना तथा अभियोगों में निर्णय करना होता है।

   (v) सम्पूर्ण राजतन्त्र में राजा अपनी सन्तान की तरह सब विषयों का अधिकार प्रजा पर रखता है। यही राजतन्त्र सम्पूर्ण राजतन्त्र है।

   संक्षेप में अरस्तू के राजतन्त्र की धारणा आदर्श राजतन्त्र की है। अरस्तू का शासक सद्‌गुणी व्यक्ति होता है जो जनहित में शासन करता है। यद्यपि वह निरपेक्ष (सम्पूर्ण) राजतन्त्र को सर्वश्रेष्ठ मानता है लेकिन यह भी स्वीकार करता है कि इस प्रकार का शासक सम्भव नहीं है।

2. **निरंकुशतन्त्र (Tyranny)** : यह राजतन्त्र का विकृत रूप है। इसमें शासक जनता के हितों की अनदेखी करके स्वार्थ-सिद्धि के लिए शासन करता है। अरस्तू ने निरंकुश शासक के तीन प्रकार बताए हैं :- (i) जिसमें राजा कानून का पालन करते हुए संयम से शासन करता है। (ii) जिसमें शासक धन प्राप्ति को अपना लक्ष्य बना लेते हैं। (iii) इस प्रकार के निरंकुश तन्त्र में शासक कानून की उपेक्षा करते हुए पूर्ण स्वेच्छाचारी होते हैं।

3. **कुलीनतन्त्र (Aristocracy)** : जिस राज्य में शासन सत्ता का प्रयोग कानून के अनुसार किया जाता है, कुलीनतन्त्र कहलाता है। जे० एल० मिरेस के अनुसार- "कुलीनतन्त्र से अरस्तू का अभिप्राय उस प्रकार के राज्य से है जिसमें जन्माधिकार ही कम या अधिक रूप में राजनीतिक सुविधाओं की अनिवार्य शर्त है।" अरस्तू की धारणा है कि कुलीनतन्त्र

भी, राजतन्त्र की तरह बुद्धि, गुण तथा संस्कृति द्वारा संचालित कानूनप्रिय प्रणाली है। कुलीनतन्त्र वंशानुगत भी हो सकता है और आयु के अनुसार भी। अरस्तू ने आयु पर आधारित कुलीनतन्त्र को ही अपनाया है।

4. **अल्पतन्त्र या धनिकतन्त्र** (Oligarchy) : यह कुलीनतन्त्र का विकृत रूप है। इसमें शासक वर्ग स्वाथ-सिद्धि के लिए शासन करता है। यह थोड़े से धनी व्यक्तियों का वर्ग होता है जिनका उद्देश्य राजसत्ता का प्रयोग धन इकट्ठा करना होता है। यह शासन की स्थायी व्यवस्था नहीं है। अरस्तू इससे घ णा करता है।

5. **सर्वजनतन्त्र या बहुतन्त्र** (Polity) : अरस्तू के अनुसार जब शासन का संचालन समाल की भलाई के लिए किया जाता है तो बहुतन्त्र होता है। सम्पूर्ण जनता अपनी इच्छा से 'शुभ' (Good) के ज्ञान के आधार पर कानून के अनुसार शासन करती है। इसमें किसी वर्ग विशेष का सम्पत्ति पर अधिकार नहीं हेता। यह शोषण रहित प्रणाली है। अरस्तू का सर्वजनतन्त्रवाद, धनिकतन्त्र और भीड़तन्त्र के बीच का मार्ग है।

6. **लोकतन्त्र या भीड़तन्त्र** Democracy) : संविधान का यह रूप संवैधानिकतन्त्र का विकृत रूप है। इसके अन्तर्गत राज्य की प्रभुसत्ता निर्धन-वर्ग के हाथ में होती है। इसे बहुमत का शासन भी कहा जाता है। निर्धन-वर्ग अशिक्षित व साधन सम्पन्न न होने के कारण धनी वर्ग से घ णा करता है। इसमें गरीब वर्ग स्वाथ-सिद्धि के लिए शासन करता है। इसमें सामान्य हित की उपेक्षा की जाती है।

उपर्युक्त दो आधारों के अतिरिक्त अरस्तू ने संविधान के वर्गीकरण को आर्थिक, गुणात्मक व कार्य-प्रणाली सम्बन्धी आधार भी बताए हैं। अल्पतन्त्र वहाँ होता है, जहाँ प्रभुसत्ता अमीरों के हाथ में हो और इसके विपरीत प्रजातन्त्र में निर्धनों का शासन होता है। यह वर्गीकरण का आर्थिक आधार है। अरस्तू गुणात्मक आधार पर भी धनिकतन्त्र का मुख्य गुण धन, प्रजातन्त्र में धर्म-निरपेक्षता, समानता व स्वतन्त्रता तथा कुलीनतन्त्र में विद्वता को मुख्य गुण मानता है। अरस्तू कार्यप्रणाली के आधार पर भी वर्गीकरण करता हैं अरस्तू का कहना है कि धनिकतन्त्र में उच्च शासकीय पदों के लिए निर्वाचन में धनी व्यक्ति ही भाग ले सकते हैं जबकि शुद्ध जनतन्त्र में साधारण व्यक्ति भी भाग ले सकते हैं।

सरकार का चक्रीय सिद्धान्त

(Cyclic Theory of Government)

अरस्तू ने संविधान के वर्गीकरण के साथ-साथ राजनीतिक परिवर्तनों का एक कालचक्र भी प्रस्तुत किया है जिसे 'Cyclic Theory of Government' कहते हैं। अरस्तू की धारणा है कि जिस प्रकार ऋतुएँ स्वाभाविक रूप में बदलती हैं, उसी प्राकर शासनों में भी परिवर्तन का चक्र चलता रहता है। राजनीतिक परिवर्तन का यह चक्र राजतन्त्र से प्रारम्भ होता है और क्रमशः निरंकुशतन्त्र, कुलीनतन्त्र, धनिकवर्गतन्त्र, पॉलिटी और प्रजातन्त्र (भीड़तन्त्र) के बाद अन्त में फिर से राजतन्त्र के रूप में परिणत हो जाता है। यह परिवर्तन एक निश्चित क्रम में होता है। जिस प्रकार साइकिल का पहिया आगे की तरफ घूमता हुआ दूरी तय करता है, इसी प्रकार से शासन प्रणालियाँ भी आगे की ओर घूमते हुए दूरी तय करती हैं अर्थात् अपना रूप बदलती हैं। इसे निम्नलिखित रेखाचित्र से समझा जा सकता है :-

राजतन्त्र

लोकतन्त्र निरंकुशतन्त्र

सर्वजनतन्त्र कुलीनतन्त्र

धनिकतन्त्र

उपर्युक्त रेखाचित्र के अनुसार सर्वप्रथम राजतन्त्र की स्थापना होती है। उसके विकृत होने पर यह निरंकुशतन्त्र में बदल जाता है। निरंकुशतन्त्र के अत्याचारों से दुःखी जनता सामान्य हित में उसका अन्त करके कुलीनतन्त्र की स्थापना करते हैं। कालांतर में कुलीनतंत्र के विकृत होने पर धनिकतन्त्र की स्थापना होती है। मध्यवर्गीय नागरिक धनिकतन्त्र का अन्त करके सर्वजनतन्त्र की स्थापना करते हैं जो अपने विकृत रूप लोकतन्त्र या भीड़तन्त्र में बदल जाता है। इसके कुशासन का अन्त किसी ऐसे वीर पुरुष द्वारा किया जाता है जो सर्वगुण सम्पन्न होता है। वह जनता का नायक होता है। वह पुनः राजतन्त्र की स्थापना करता है। इस तरह संविधानों में परिवर्तन का चक्रीय क्रम निरन्तर चलता रहता है।

आलोचना
(Criticism)

अरस्तू के संविधानों के वर्गीकरण की सीले व बलंटशली जैसे विद्वानों ने आलोचना की है। डनिंग भी इसे अनिश्चित सिद्धान्तों पर आधारित मानता है। सीले इसे नगर-राज्यों का वर्गीकरण मानता है। बलंटशली इसे लौकिक राज्यों का वर्गीकरण मानता है। गार्नर इसे वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित नहीं मानता है। इसकी प्रमुख आलोचनाएँ निम्न प्रकार से हैं :-

1. **वर्गीकरण का अनिश्चित आधार (Vague Basis of Classification)** : अरस्तू के वर्गीकरण का कोई निश्चित आधार नहीं है। कभी आर्थिक तत्त्व (सम्पन्नता और विपन्नता), कभी गुण (स्वतन्त्रता, समानता और धन) और कभी व्यावसायिक (कार्यात्मक) तत्त्व ही प्रधान हैं। प्रो॰ डनिंग ने ठीक कहा है- "अरस्तु के लिए यह बताना कठिन है कि अमुक प्रकार का शासन अमुक प्रकार के सिद्धान्त पर आधारित है।"

2. **अरस्तू का चक्र अनैतिहासिक (Aristotle's Cycle is Unhistorical)** : अरस्तू के संविधान के वर्गीकरण का चक्रीय सिद्धान्त ऐतिहासिक विकास-क्रम पर आधारित नहीं है। व्यवहार में यह जरूरी नहीं कि राजतन्त्र में परिवर्तन हमें निरंकुशतन्त्र कुलीनतन्त्र में तथा कुलीनतन्त्र अल्पतन्त्र में और अल्पतन्त्र संवैधानिक तन्त्र में तथा संवैधानिक तन्त्र प्रजातन्त्र में और प्रजातन्त्र पुनः राजतन्त्र में परिवर्तित हो जाए। अतः यह सिद्धान्त अनैतिहासिक है।

3. **मौलिकता का अभाव (Lack of Originality)** : अरस्तू से पहले भी हेरीडोटस, सुकरात तथा प्लेटो ने संविधानों के वर्गीकरण पर लिखा है। प्लेटो ने अपने ग्रन्थ 'स्टेट्समैन' में जो वर्गीकरण प्रस्तुत किया है, अरस्तू ने प्रायः उसी का अनुकरण किया है। अतः अरस्तू का वर्गीकरण मौलिक नहीं है।

4. **अवैज्ञानिक (Unscientific)** : गार्नर का मत है कि - "सरकार के वर्गीकरण के रूप में यह असंगत है, क्योंकि वह ऐसे किसी सिद्धान्त पर आधारित नहीं है, जिसके अनुसार सरकार के परस्पर आधारभूत विशेषताओं तथा संगठन के रूप में सम्बन्ध स्थापित किया जा सके।" वॉन महल का कथन है- "जिस सिद्धान्त पर यह आधारित है उसका स्वरूप राज्य के गठन से सम्बन्धित न होकर गणित से सम्बन्धित है तथा वह गुण विषयक न होकर संस्था विषयक है।" शासकों की संख्या वर्गीकरण के लिए वैज्ञानिक आधार नहीं है। इस वर्गीकरण में अरस्तू ने आध्यात्मिक तत्त्व की उपेक्षा की है। परन्तु यह आलोचना उचित नहीं है, क्योंकि अरस्तू ने वर्गीकरण का दूसरा आधार नैतिकता को बनाया है। अरस्तू ने राज्यों के सामान्य तथा विकृत रूप का भी दर्शन किया है। बर्गेस ने ठीक ही कहा है- "अरस्तु का वर्गीकरण आध्यात्मिक है, संस्थात्मक नहीं।"

5. **अरस्तू का वर्गीकरण राज्यों का न होकर सरकारों का है (Aristotle's Classification is a Classification of Governemnts not of States)** : प्रो॰ गार्नर ने कहा है- "अरस्तु ने राज्य तथा सरकार में कोई अन्तर नहीं किया। यह वर्गीकरण राज्यों का न होकर सरकारों का है।" यद्यपि उस समय राज्य और सरकार में कोई अन्तर नहीं था। यह भेद आधुनिक विचारधारा का परिणाम है। बर्गेस का विचार है- "यदि हम राज्य तथ प्रभुसत्ता के स्थान पर शासन शब्द का प्रयोग कर लें तो अरस्तू का दिया गया वर्गीकरण उचित तथा प्रगतिवादी प्रतीत होगा।"

6. **राज्य, संविधान तथाा शासन में अन्तर नहीं (No Distinction Between State, Constitution amd Government)**: अरस्तू ने राज्य व संविधान में कोई अन्तर नहीं किया है और अपने संविधानों के वर्गीकरण को ही राज्यों का वर्गीकरण बताया है। इससे स्पष्ट है कि अरस्तू राज्य, शासन व संविधान में कोई अन्तर नहीं किया है। यह अन्तर न करना आधुनिक द ष्टि से गलत है।

7. **मिश्रित सरकार के लिए कोई व्यवस्था नहीं** (No place for mixed forms of Government) : आधुनिक युग में सरकारों के मिश्रित रूप ज्यादा लोकप्रिय हो रहे हैं। भारत में संघात्मक, लोकतन्त्रीय और संसदीय सरकारों का मिश्रण है। इंगलैण्ड में राजतन्त्र, प्रजातन्त्र और कुलीनतन्त्र का मिश्रण है। सरकार के ये मिश्रित रूप अरस्तू के वर्गीकरण में नहीं जाए जाते।

8. **प्रजातन्त्र सबसे बुरी सरकार नहीं** (Democracy is not the wrost form of Government) : अरस्तू ने लोकतन्त्र को भीड़तन्त्र कहते हुए सबसे बुरा बताया है। आधुनिक युग में प्रजातन्त्र ही सबसे प्रिय सरकार मानी जाती है। वह लोकतन्त्र को गरीब आदमियों की सरकार कहता है। व्यावहारिक द ष्टि से अरस्तू का यह कथन सर्वथा गलत है। लोकतन्त्र में ही व्यक्ति को अपने नैतिक गुणों का विकास करने का सबसे अधिक अवसर मिलता है।

9. **आधुनिक राज्यों पर लागू नहीं** (Not applicable to the Modern States) : सीले के अनुसार- "अरस्तु का वर्गीकरण यूनान के नगर-राज्यों का वर्गीकरण है।" आधुनिक युग में राजतन्त्र तथा कुलीनतन्त्र जैसी शासन प्रणालियाँ मौजूद नहीं हैं। आधुनिक युग के संसदीय व अध्यक्षात्मक शासन को अरस्तू के वर्गीकरण के अन्तर्गत शामिल नहीं किया जा सकता। अतः यह आधुनिक द ष्टि से उपयोगी नहीं है।

10. रास के अनुसार अरस्तू ने व्यावसायिक आधार पर संविधान का वर्गीकरण करने का प्रयास तो किया लेकिन इसका स्पष्ट, पूर्ण और विस्त त विश्लेषण नहीं किया।

11. **राजतन्त्र का काल्पनिक चित्रण** : अरस्तू ने मेसोडोनिया के राजा फिलिप की शासन व्यवस्था से प्रभावित होकर कल्पना के आधार पर राजतन्त्र को ही सर्वश्रेष्ठ शासन घोषित किया है। अतः इसमें वास्तविकता का पुट नहीं है।

 उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद भी अरस्तू के इस योगदान को नकारा नहीं जा सकता कि राज्यों सम्बन्धी इतने विस्त त व गहरे विश्लेषण का आज तक किसी भी विचारक ने अतिक्रमण नहीं किया है। अरस्तू ने ही सर्वप्रथम व्यवस्थित वर्गीकरण का प्रयास किया था। पोलिबियस, मैकियावेल्लि, बोंदा, मान्टेस्क्यू जैसे विचारकों ने अरस्तू से प्रेरणा ग्रहण की है। अरस्तू का वर्गीकरण एक शाश्वत सत्य प्रस्तुत करता है। अरस्तू ने स्पष्ट किया है कि प्रत्येक शासन प्रणाली में उसके अन्त के बीज विद्यमान रहते हैं। जब स्थितियाँ बदल जाती हैं तो एक शासन प्रणाली की जगह दूसरी शासन प्रणाली ले लेती है। यह विचार शाश्वत महत्त्व का है। प्रो॰ रास की मान्यता है कि अरस्तू का वर्गीकरण आज भी सामान्यतः संविधानों के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए प्रयुक्त होता है। अरस्तू के वर्गीकरण के सिद्धान्त के आधार पर आज भी वैधानिक और निरंकुश संविधानों में अन्तर किया जाता है। अन्त में कहा जा सकता है कि अनेक त्रुटियों के बावजूद भी यह वर्गीकरण आधुनिक काल के लिए उपयोगी है।

सर्वोत्तम व्यावहारिक राज्य का सिद्धान्त : मिश्रित राज्य

(Theory of Best Practical State : Mixed State)

संविधानों का वर्गीकरण करने के बाद अरस्तू इस बात पर विचार करता है कि कौन-सा संविधान अधिकांश राज्यों के लिए अधिक मान्य हो सकता है और व्यावहारिक द ष्टि से अधिक उपयोगी हो सकता है। अरस्तू की नजर में ऐसा राज्य वही है जिसमें शासन सत्ता सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित हो। इसलिए वह प्लेटो के आदर्शवाद के विपरीत यथार्थवादी धरातल पर उतर कर विचार करता है कि ऐसा राज्य काफी प्रयत्न से ढूँढा जा सकता है। ऐसा राज्य लोकतन्त्र तथा अल्पतन्त्र की तीव्रताओं को त्यागने से ही प्राप्त हो सकता है। इसलिए अरस्तू व्यावहारिक धरातल पर उतरकर समाज के लिए उपयोगी शासन प्रणाली का विकल्प तलाश करते हैं। यह उपयोगी व उत्तम शासन-प्रणाली मध्य मार्ग में ही प्राप्त हो सकती है। अरस्तू का मानना है कि अति के मार्ग की अपेक्षा मध्यमार्ग अधिक उपयोगी हो सकता है। अरस्तू ने मध्यम मार्ग को 'गोल्डन मीन' (Golden Dream) कहा है, जो परस्पर विरोधी तत्त्वों का औसत है। अरस्तू न तो धनी वर्ग के शासन को श्रेष्ठ मानता है और न ही अति निर्धन एवं निर्बुद्धि लोगों के शासन को ही आदर्श मानता है। अरस्तू का विश्वास है कि मध्य वर्ग के लोग विवेकशील; व्यावहारिक, मैत्री-भाव वाले तथा स्वातन्त्र्य-प्रिय होते हैं। इन गुणों के आधार पर ही राज्य का स्थायित्व निर्भर करता है। अरस्तू की मूल धारणा यह है कि श्रेष्ठता मध्यमान में पाई जाती है, अतियों में नहीं। अरस्तू के विचारनुसार यह निष्कर्ष निकलता है कि वह राज्य जो मध्यम-वर्ग पर आधारित है, अवश्यम्भावी रूप से श्रेश्ठ होगा। अरस्तू का मानना है कि अमीर व्यक्ति अनुशासनहीन,

अहंकारी व महत्त्वाकांक्षी होते हैं। दूसरी तरफ गरीब लोग हीनता की भावना से ग्रसित होते हैं। वे अपनीदास मनोव त्ति के कारण विवेक का अनुसरण नहीं करते। निर्धनों में शासन करने की योग्यता नहीं होती। वे घ णा और द्वेष के पुजारी होते हैं। अतः न तो अत्यधिक अमीरों का शासन ही उचित है और न ही अत्यधिक गरीबों का। इन दोनों वर्गों में परस्पर स्नेह न होने के कारण उनमें किसी तरह की कल्पना भी नहीं की जा सकती। अरस्तू का विचार है कि इन दोनों वर्गों में एकता पैदा करने के लिए मध्यम-वर्ग का विकास करना जरूरी है। मध्यम वर्ग में सदैव मित्रता तथा समानता रहती है। अरस्तू इस मध्यम वर्ग के शासन को 'पॉलिटी' (Polity) का शासन कहता है। यद्यपि उत्कृष्टता की द ष्टि से पॉलिटी (संवैधानिक सरकार) का स्थान चौथा है फिर भी अरस्तू उसे 'सर्वोत्तम व्यावहारिक राज्य' मानता है। अरस्तू का कहना है कि- "राजनीतिक समाज का सर्वोत्तम रूप वह है जिसमें सत्ता मध्यम वर्ग में निहित हो।" ऐसा राज्य स्थायी, सुखी व सम द्ध राज्य होगा, जहाँ न तो कोई असमानता होगी और न ही कोई अराजकता तथा अशान्ति। इस प्रकार अरस्तू को 'पॉलिटी' के शासन में न तो धनी वर्ग व निर्धन वर्ग आपस में धन की कामना करते हैं और न ही वे एक-दूसरे के विरुद्ध षड्यन्त्र करते हैं। अरस्त स्वयं स्वीकार करता है कि अधिकांश राज्यों में या तो भीड़तन्त्र होता है या कुलीनतन्त्र। संयत प्रजातन्त्र (Polity) तो कम ही राज्यों में पाया जाता है। फिर भी राजनीतिक व मानवीय जगत् की वास्तविकताओं की द ष्टि से 'पालिटी' एक उत्तम व्यावहारिक शासन है।

मध्यवर्गीय शासन के पक्ष में तर्क

(Arguments for Middle-Class Rule)

अरस्तू उस शासन-प्रणाली को सर्वोत्तम मानता है जिसमें मध्यम-वर्ग की प्रधानता हो अर्थात् एक मिश्रित राज्य हो। अरस्तू अपने मिश्रित राज्य के पक्ष में निम्न तर्क प्रस्तुत करता है :-

1. **धनी या निर्धन वर्ग का राज्य दूषित होता है** : अत्यधिक निर्धन तथा धनी व्यक्तियों की प्रव त्ति धूर्ततापूर्ण कार्यों की ओर होती है। ये दोनों वर्ग आपराधिक प्रव त्ति के होते हैं। इनमें विवेक व ज्ञान का अभाव होता है। अतः जिस राज्य में इनका बाहुल्य होता है वह राज्य दूषित होता है।

2. **मिश्रित राज्य स्वतन्त्र होते हैं (Mixed State is an Independent State)** : धनी वर्ग अनुशासनहीन व अवज्ञाकारी होता है ओर निर्धन वर्ग हीनता की भावना के कारण दास मनोव त्ति से ग्रसित रहते हैं जिसके वे अच्छे शासक नहीं बन सकते। अतः जिस राज्य में केवल इन्हीं दो वर्गों की प्रधानता हो वह राज्य स्वतन्त्र मनुष्यों का राज्य बनने की बजाय केवल दासों और स्वामियों का ही राज्य होता है।

3. **मध्यमवर्ग धनी और निर्धन वर्गों का विश्वासपात्र होता है (Middle Class is Trustworthy)** : अरस्तू का विचार है कि धनी और निर्धन दोनों ही वर्ग मध्यम-वर्ग पर समान रूप से विश्वास करते हैं, लेकिन वे एक-दूसरे पर विश्वास नहीं करते। इस प्रकार धनी-निर्धन के झगड़ों से समाज का कभी भी भला नहीं हो सकता। अतः मध्यम-वर्ग ही धनी-गरीब के मतभेदों को समाप्त करने में अहम् भूमिका निभा सकता है।

4. **मिश्रित राज्य संघर्षमुक्त, स्थायी और सुरक्षित होते हैं (Mixed State is Free of Conflict; Stable and Safe)** : दासों और स्वामियों में विभाजित राज्यों में निर्धनों से सम्पन्न व्यक्तियों के प्रति द्वेष-भावना उत्पन्न होती है और धनी लोग गरीबी से घ णा करते हैं। ऐसे में राज्य में कलह और संघर्ष की भावना का विकास होता है जिससे उस राज्य की शान्ति और एकता की भावना नष्ट होती है। अतः मध्यम वर्ग वाला राज्य ही अधिक स्थिर व सुरक्षित रहता है।

5. **मिश्रित राज्य विधिकर राज्य है (Rule of Law)** : व्यावहारिक द ष्टि से अरस्तू किसी व्यक्ति या व्यक्तियों की सम्प्रभुत्ता में विश्वास नहीं रखता तथा विधि की सम्प्रभुता और शासन समझता है। मिश्रित राज्य कानून पर आधारित राज्य होता है जिसे अरस्तू सर्वोत्तम मानता है।

6. **मिश्रित राज्य समानता पर आधारित होता है (Equality)** : राज्य का मुख्य लक्ष्य समाज में व्याप्त विषमताओं का अन्त करके समानता स्थापित करना है। जिस राज्य में मध्यम-वर्ग की प्रधानता रहती है, वहाँ विषमताओं का अन्त करके समानता पर आधारित समाज की स्थापना का लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है।

7. **सामाजिक न्याय पर आधारित होता है (Social Justice)** : अरस्तू का मिश्रित राज्य कुलीनतन्त्र व भीड़तन्त्र दोनों के दोषों से मुक्त होता है। इसमें अमीर-गरीब का कोई भेद नहीं रहता। शासन स्वर्णिम मध्यमार्ग पर टिका होता है। इसलिए

सामाजिक अन्याय की गुंजाइश ही नहीं रहती। अतः मध्यमार्ग पर आधारित राज्य सामाजिक न्याय का संस्थापक होता है।

8. मध्यवर्ग का शासन उत्तरदायी शासन होता है। इसमें जनता की भावनाओं का पूरा ख्याल रखा जाता है।

इन सब कारणों से अरस्तू मध्यमवर्ग पर आधारित शासन व्यवस्था को श्रेष्ठ मानता है। इसमें दोनों शासन प्रणालियों (भीड़तन्त्र व कुलीनतन्त्र) के दोषों से छुटकारा मिल जाता है। इसलिए व्यावहारिक द ष्टि से भी यह अधिक उपयोगी रहती है। अतः ऐसी शासन-व्यवस्था ही सुरक्षा, सुव्यवस्था और स्थिरता की द ष्टि से सबसे अधिक उपयुक्त होती है।

शासन प्रणालियों का श्रेष्ठता क्रम

अरस्तू के मतानुसार वही शासन व्यवस्था सबसे अच्छी है जिसमें सम्प्रभुता मध्यम वर्ग में निहित है। अरस्तू ने ऐसी शासन व्यवस्था को शुद्ध जनतन्त्र (Polity) का नाम दिया है। अरस्तू का निष्कर्ष व्यावहारिकता पर आधारित है, सैद्धान्तिकता पर नहीं। सैद्धान्तिक द ष्टि से तो अरस्तू राजतन्त्र को ही श्रेष्ठ मानता है। उत्कृष्टता की द ष्टि में 'पॉलिटी' का चौथा स्थान है। अरस्तू ने उत्कृष्टता के क्रम में सरकारों या शासन प्रणालियों का निम्न वर्गीकरण किया है :-

1. आदर्श राजतन्त्र (Ideal Royalty)
2. विशुद्ध कुलीनतन्त्र (Pure Aristocracy)
3. मिश्रित कुलीनतन्त्र (Mixed Aristocracy)
4. शुद्ध जनतन्त्र (Polity)
5. अधिकतम उदार जनतन्त्र (Most Moderate Democracy)
6. अधिकतम उदार धनिकतन्त्र (Most Moderate Oligarchy)
7. जनतन्त्र और धनिकतन्त्र के बीच दो प्रकार (Two Forms in between Democracy and Oligarchy)
8. अतिवादी जनतन्त्र (Exreme Democracy)
9. अतिवादी धनिकतन्त्र (Extreme Oligarchy)
10. निरंकुशतन्त्र (Tyranny)

इस श्रेष्ठता क्रम से स्पष्ट है कि प्राथमिकता की द ष्टि से शुद्ध जनतन्त्र चौथे स्थान पर है लेकिन व्यावहारिकता के आधार पर यह सबसे अच्छी व्यवस्था है क्योंकि इसमें संख्या और सद्गुण दोनों का अच्छा मिश्रण और सन्तुलन है। यह शासन पद्धति जनतन्त्र के अनुसार नागरिकों की संख्या को तथा कुलीनतन्त्र के अनुसार उनके विभिन्न सद्गुणों को उचित महत्त्व देती है। इसमें उग्र वर्गों का आधिपत्य समाप्त हो जाता है। यह शासन प्रणाली दोनों शासन प्रणालियों के गुणों का समन्वित रूप है। इसमें संघर्ष और क्रान्ति की सम्भावनाएँ समाप्त हो जाती हैं। यह स्थायी और सर्वोत्तम शासन प्रणाली है।

अरस्तू का मानना है कि राज्य के विभिन्न कार्यों को करने के लिए शासन व्यवस्था के तीन अंग होने चाहिएं। ये तीन अग - राजनीति का निर्धारण करने वाला अंग विधायी, उसे कार्यान्वित करने वाला अंग कार्यकारी तथा न्याय प्रदान करने वाला अंग न्यायिक होने चाहिए। विधायी कार्यों को सम्पन्नकरने के लिए नागरिकों की एक लोकप्रिय सभा होनी चाहिए। कार्यकारी कार्यों को सम्पन्न करने के लिए प्रशासकों का एक वर्ग होना चाहिए जो विधायिका द्वारा निर्मित कानून के अनुसार शासन संचालन का कार्य करे तथा न्यायिक कार्य करने हेतु एक न्याय व्यवस्था होनी चाहिए। इन अंगों में पदाधिकारियों की नियुक्ति के बारे में अरस्तू का विचार है कि अतिवादी या भ्रष्ट जनतन्त्र के अनुसार सभी को सभी प्रकार के पदों पर नियुक्त किए जाने की प्रथा उचित नहीं है। इससे राज्य की दक्षता, स्थिरता और एकता नष्ट होती है। अतः विभिन्न शासकीय अंगों में नियुक्ति की वही प्रथा अच्छी समझी जाती है जहाँ पर विभिन्न पदों की नियुक्ति हेतु नागरिकों के लिए सम्पत्ति तथा अन्य प्रकार की योग्यताएँ निर्धारित की जाती हैं और उनकी पूर्ति करने वाले नागरिकों को उन पर नियुक्त किया जाता है।

आलोचनात्मक मूल्यांकन
(Critical Evaluation)

प्रो॰ मैक्सी के अनुसार- "अरस्तु के मध्यवर्गीय शासन के सिद्धान्त की सैद्धान्तिक स्तर पर सत्यता विवादास्पद हो सकती है, क्योंकि मध्यवर्गीय शासन सामान्यतः राज्य की नींव के लिए कोई उज्ज्वल आदर्श नहीं है।" इस आलोचना का कोई विशेष आधार नहीं है। इसलिए अरस्तू का मिश्रित राज्य का सिद्धान्त भीड़तन्त्र तथा कुलीनतन्त्र के वर्गगत् दोषों को दूर करने का सर्वोत्तम प्रयास है। यह सन्तुलित और स्थिर शासन-व्यवस्था का आधार है। अरस्तू ने तत्कालीन यूनानी राज्यों में व्याप्त बुराइयों को दूर करने के लिए इसका प्रतिपादन किया था। उस समय धनी वर्ग स्वार्थ-सिद्धि में लगा हुआ था। गरीब वर्ग भी शासन में भागीदार बनने पर सत्ता का प्रयोग अमीरों के विरुद्ध करता था। इस प्रकार समाज में संघर्ष की स्थिति थी। अरस्तू ने तत्कालीन यूनानी समाज को वर्ग-संघर्ष और अशान्ति से छुटकारा दिलानेके लिए मिश्रित राज्य के सिद्धान्त की योजना प्रस्तुत की थी। यद्यपि यह सिद्धान्त अपनी भी कुछ त्रुटियों का शिकार था लेकिन इसके बावजूद भी इस सिद्धान्त को तत्कालीन यूनान में ही नहीं, बल्कि आधुनिक युग में भी महत्त्व दिया गया है। यह मध्यम वर्ग को जनतन्त्र की रीढ़ बताकर मिश्रित राज्य को सर्वोत्तम व्यावहारिक राज्य का दर्जा देता हैं ऐतिहासिक प्रमाणों से सिद्ध हो चुका है कि मध्यवर्ग के लोगों का शासन अधिक स्थायी, टिकाऊ और सुशासित राजनीतिक समाज की स्थापना करने में अग्रणी रहा है। यदि हमें आधुनिक युग में लोकतन्त्र को सुरक्षित बनाना है तो हमें अरस्तू के सर्वोत्तम व्यावहारिक राज्य की नींव मजबूत बनाना होगा और राजनीतिक चिन्तन में अरस्तू के इस योगदान को महत्त्वपूर्ण रूप से स्वीकारना होगा।

आदर्श राज्य की अवधारणा
(Conception of Ideal State)

अरस्तू वैसे तो वैधानिक जनतन्त्र (Polity) को ही अच्छा मानता है, लेकिन कुछ परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं जहाँ वैधानिक जनतन्त्र का विकास सम्भव नहीं है। ऐसी परिस्थितियों में सर्वोत्तम आदर्श है। सर्वोत्तम राज्य का उद्देश्य उत्तम जीवन की प्राप्ति होता है। उत्तम जीवन का अर्थ आनन्दमय जीवन से है जो आत्मानुभूति पर आधारित है। उत्तम जीवन एक चिन्तनात्मक जीवन है। अरस्तू ने उत्तम जीवन के लिए आवश्यक विशेष प्रकार की परिस्थितियों को आदश्र राज्य कहा है। प्लेटो ने जिस आदर्श राज्य की अवधारणा को प्रतिपादित किया था, आगे चलकर अरस्तू ने उसे ही विकसित करने का प्रयास किया है। अरस्तू ने अपनी महान् रचना 'Politics' की सातवीं व आठवीं पुस्तक में आदर्श राज्य का सुन्दर चित्रण किया है। अरस्तू ने आदर्श राज्य की अवधारणा पर यथार्थवादी एवं व्यावहारिक ढंग से प्रस्तुत किया है। इसलिए अरस्तू का आदर्श राज्य प्लेटो द्वारा 'रिपब्लिक' में वर्णित आदर्श राज्य से सर्वथा भिन्न है। 'रिपब्लिक' में वर्णित प्लेटो का आदर्श राज्य जहाँ सिर्फ अयथार्थवादी काल्पनिक सिद्धान्तों पर आधारित है, वहाँ प्लेटो का आदर्श राज्य जीवन की वास्तविकता से सम्बन्ध रखता है। इस प्रकार अरस्तू का आदर्श राज्य प्लेटो द्वारा 'लॉज' में वर्णित 'द्वितीय उत्तम राज्य' से अलग है। सेबाइन के अनुसार- "जिसे अरस्तू आदर्श राज्य मानता है वह प्लेटो का उपादर्श या द्वितीय सर्वश्रेष्ठ राज्य है।" इसका अर्थ यह है कि अरस्तू का आदर्श राज्य प्लेटो के उपादर्श राज्य का ही संशोधित संस्करण है।" सिन्क्लेयर के अनुसार- "अरस्तु वहाँ से प्रारम्भ करता है जहाँ से प्लेटो छोड़ देता है।

आदर्श राज्य के उद्देश्य
(Objectives of the Ideal State)

अरस्तू के अनुसार आदर्श राज्य का उद्देश्य "उत्तम जीवन की उपलब्धि है तथा ऐसे जीवन की प्राप्ति के लिए आवश्यक भौतिक और आध्यात्मिक साधनों की व्यवस्था करना है।" उत्तम जीवन की परिभाषा देते हुए बार्कर कहता है- "एक ऐसा जीवन जो उत्तम कार्य और उत्तम आचरणों से गढ़ा जाता है। नैतिक और बौद्धिक सद्‌गुण ही उत्तम जीवन का निर्माण करते हैं।" ऐसा जीवन, जो व्यक्ति को भौतिक, नैतिक और आत्मिक सम्पन्नता प्रदान करता हो, प्राप्त करना आदर्श राज्य का उद्देश्य होना चाहिए। अरस्तू का कथन है- "जो राज्य स्वयं अपने जीवन को और नागरिकों के जीवन को इन श्रेष्ठ तत्त्वों से परिपूर्ण कर सकता है, वही आदर्श राज्य कहा जा सकता है।"

अरस्तू के आदर्श राज्य का स्वरूप और रचना
(The Form and Structure of Aristotle's Ideal State)

1. **राज्य की जनसंख्या (Population of the State)** : अरस्तू ने आदर्श राज्य के लिए सन्तुलित जनशक्ति पर जोर दिया है। अरस्तू का कहना है कि राज्य की महानता नागरिकों की संख्या में नहीं, बल्कि उनके गुणों में होती है। दासों और विदेशियों से भरा हुआ अत्यधिक जनसंख्या वाला राज्य श्रेष्ठ नहीं हो सकता। अरस्तू कहता है कि राज्य की महानता उसके नागरिकों द्वारा कर्त्तव्य पालन में होती है। जिस प्रकार हियोक्ट्रीज अपने शरीर के कारण नहीं, बल्कि अपनी गुणात्मक योग्यता के कारण प्रसिद्ध था, उसी पर एक राज्य अपनी क्षमताओं अर्थात् नागरिकों की कर्त्तव्यपरायणता और अन्य चरित्र के कारण महान् बनाता है, आबादी के कारण नहीं। आबादी इतनी होनी चाहिए कि राज्य आत्मनिर्भर बन सकें और प्रशासनिक कार्यों में कोई असुविधा उत्पन्न न हो। इसलिए सबसे अच्छा राज्य वही होगा जिसमें जनसंख्या और व्यवस्था में आपसी तालमेल और सामंजस्य हो। अतः जनसंख्या न तो ज्यादा होनी चाहिए और न ज्यादा कम।

2. **राज्य का आकार (The Size of State)** : अरस्तू का मानना है कि भौगोलिक द ष्टि से बहुत अधिक विस्त त राज्य महान् राज्य नहीं होता। इसलिए राज्य का भू-भाग न बहुत बड़ा हो और न बहुत छोटा। उसका विस्तार इतना अवश्य हो कि वह निवास करने वालों की आवश्यकता पूरी कर संयम और उदारतापूर्वक जीवन व्यतीत कराने में सक्षम हो। परन्तु उसका क्षेत्रफल इतना ही बड़ा हो कि वह आसानी से नजर आ सके। राज्य एक आत्मनिर्भर समाज होता है। उसका विस्तार व जनसंख्या इतनी जरूर होनी चाहिए कि राज्य आत्मनिर्भर बन सके। राज्य की भूमि उपजाऊ हो ताकि अन्न के मामले में आत्मनिर्भरता हो सके। भू-भाग शहरी और ग्रामीण क्षेत्र में बँटा होना चाहिए। इससे राज्य में एकता की भावना बढ़ेगी और राज्य की आत्मरक्षा की क्षमता भी बढ़ेगी। अरस्तू का कहना है कि- "चहुँमुखी विकास के लिए बहुत जनशक्ति या विस्त त सीमा की आवश्यकता नहीं होती। इसके लिए सन्तुलित जनसंख्या और विस्तार की आवश्यकता होती है जिसमें शान्ति व व्यवस्था की आसानी से कायम रखा जा सके तथा लोगों के बीच व्यक्तित्व सम्बन्ध स्थापित हो सके। विस्तार नाप-तौल के योग्य हो तथा सुरक्षा की आवश्यक योजना तैयार की जा सके, उसका सम्बन्ध राजधानी से और मुख्य सुरक्षा शक्ति से जोड़ा जा सके। उसकी आर्थिक स्थिति मजबूत हो।" राज्य का स्थान समुद्र और स्थल दोनों के निकट अवस्थित होना चाहिए जिससे वहाँ जल और थल दोनों मार्गों की सुविधा हो।

3. **राज्य का आर्थिक स्वरूप (The Economic Structure of the State)** : अरस्तू ने राज्य को समुद्र के निकट होने को श्रेयस्कर माना है। इससे व्यापारिक व यातायात की सुविधा रहती है। शत्रु पर हमला होने की सुविधा रहती है। आयात-निर्यात की द ष्टि से समुद्र के निकट के राज्य लाभ में होते हैं। अरस्तू का मनना है कि राज्य में नौ-सैनिक शक्ति भी आत्म-रक्षा की द ष्टि से जरूरी होती है। अरस्तू प्रत्येक नागरिक के लिए व्यक्तिगत सम्पत्ति आवश्यक मानता है लेकिन भूमि पर वह शासक वह सैनिक वर्ग का स्वामित्व चाहता है। वह भूमि का स्वामित्व व कब्जा अलग-अलग वर्गों के हाथ में सौंपता है। वह कहता है कि सही किसान खेत का मालिक नहीं होना चाहिए। अरस्तू कहता है- "भूमि का मालिक केवल नागरिक बन सकता है क्योंकि यदि नागरिक वर्ग खेत जोटेंगे तो उन्हें परिश्रम के अनुसार हिस्सा मिलेगा और परिश्रम के लिए उन्हें दासों और सर्फो को लगाना होगा जो अधिक परिश्रम कर थोड़ा हिस्सा मिलने पर असन्तोष व्यक्त करेंगे और समाज में अशान्ति पैदा हो जाएगी।" अरस्तू का कहने का तात्पर्य यह है कि दास और कृषक तो खेतों में कार्य करेंगे तथा खेत के मालिक अवकाश करेंगे जिससे इनको नागरिकों के रूप में बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास के लिए पर्याप्त समय प्राप्त होगा।

4. **राज्य का सामाजिक स्वरूप (The Social Structure of the State)** : अरस्तू के राज्य में पूर्ण अंग नागरिक और आवश्यक साधन के रूप में प्रयुक्त नागरिक दो प्रकार के निवासी हैं। ये दोनों निवासी एक-दूसरे के पूरक हैं। उदाहरण के लिए सम्पत्ति राज्य संचालन का एक साधन है, अंग नहीं। यह नागरिकों से अलग वस्तु है। इसमें जीव और निर्जीव दोनों ही वस्तुएँ शामिल हैं। दास और सर्फ सम्पत्ति के अन्तर्गत आते हैं, परन्तु वे नागरिक नहीं हैं। अरस्तू के अनुसार- "भोजन की व्यवस्था, कला और दस्तकारी को प्रोत्साहन, सुरक्षा, सम्पत्ति के कुल प्रकारों का संचय, देवाराधना, लोकहित और व्यक्तिगत हित के मध्य निर्णय की व्यवस्था - ये छः प्रकार के राजकीय कार्य हैं। एक सक्षम राज्य वह होता है जो इन सेवाओं को उपलब्ध करा कसे। इन सेवाओं की उपलब्धि के लिए राज्य में श्रम का विभाजन इस प्रकार होना - खेती ओर दस्तकारी का कार्य सहायक वर्ग अर्थात दास और सर्फ तथा बाकी के चार चार कार्य नागरिक करेंगे। सुरक्षा,

सार्वजनिक आराधना और न्याय का कार्य सभी नागरिक अपनी आयु के अनुसार अलग-अलग करेंगे अर्थात् सभी नागरिक आयु के अनुसार सैनिक, प्रशासक, न्यायाधीश, विधायक और पुरोहित बन सकेंगे। इस प्रकार के कार्यों को करने वाले नागरिकों के पास सम्पत्ति का होना आवश्यक है ताकि वे अपना आत्मिक विकास व राजनीतिक कार्यों का सम्पादन सरलता से कर सकें।

5. **नागरिकों का चरित्र** (Character of Citizens) : अरस्तू का कहना है कि राज्य के कार्यों को कहरे के लिए सद्‌गुणी नागरिकों का होना जरूरी है। अपने कार्यों को करने के लिए नागरिक का बुद्धिमान व साहसी होने के साथ-साथ इन गुणों में समन्वय का होना भी जरूरी है। अरस्तू मानव स्वभाव के अनुसार नागरिकों को तीन भागों में बाँटता है। अरस्तू की मान्यता है कि जलवायु का भी मानव-स्वभाव पर प्रभाव पड़ता है। उसका मानना है कि शीत प्रधान यूरोप के निवासियों में साहस व शौर्य का गुण तो होता है लेकिन उनमें विवेक और कौशल की कमी होती है। अतः उनका उचित राजनीतिक विकास नहीं हो पाता। एशिया की गर्म जलवायु में रहने वाले लोग दूरदर्शी तो होते हैं, परन्तु साहसी नहीं होते। यूनान इन दोनों के बीच में बसा हुआ है, इसलिए यूनानियों में इन दोनों के गुणों का समावेश है। इसलिए यूनानियों की तरह सफल और समर्थ नागरिक बनने के लिए इन दोनों के गुणों का समावेश जरूरी है जिससे उनमें एकता और सहयोग की भावना विकसित हो सके। ऐसे उच्च आदर्श वाले ही आदर्श राज्य के आधार होते हैं।

6. **विवाह** (Marriage) : अच्छे स्वास्थ्य के लिए विवाह का राज्य द्वारा नियमन आवश्यक है। अरस्तू के अनुसार स्त्री-पुरुष का मेल उचित व परिपक्व आयु में ही होना चाहिए। इसके लिए राज्य को विवाह की आयु तय करनी चाहिए ताकि व द्धों व अल्पायु वालों को विवाह से रोका जा सके। विवाह के समय स्त्री की आयु 18 वर्ष और पुरुष की आयु 37 वर्ष से कम नहीं होनी चाहिए। दोनों का संयोग, सन्तान उत्पन्न करना आदि बातें भी राज्य द्वारा नियन्त्रित होनी चाहिएं। जनसंख्या व द्वि रोकने के लिए गर्भपात का कानून होना चाहिए। स्वास्थ्य को बनाए रखने के लिए स्त्री-पुरुष दोनों को शारीरिक व्यायाम करना चाहिए।

7. **विधि की सम्प्रभुता** (Sovereignty of Law) : अरस्तू के अनुसर आदर्श राज्य वही है जहाँ कानून की सम्प्रभुता स्थापित है। यह नागरिकों की समानता का द्योतक है क्योंकि उसका आधार मानवीय विवेक और उसी उपज रीति-रिवाज़ और जन परम्पराएँ हैं। विधि की सम्प्रुभता का समर्थन अरस्तू आदर्श राज्य में क्रान्ति की सम्भावना समाप्त करने के लिए करता है। अरस्तू कहता है कि विधि के शासन की कोई भी ज्ञानवान व्यक्ति या दार्शनिक बराबरी नहीं कर सकता। अतः आदर्श राज्य में कानून ही सम्प्रभु होना चाहिए।

8. **शिक्षा** (Education) : अरस्तू आदर्श राज्य के निर्माण के लिए शिक्षा को आवश्यक मानता है। राज्य का स्थायित्व शिक्षा पर ही निर्भर करता है। अरस्तू के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को विवेकी और गुणी बनाना है। अरस्तू के अनुसार शिक्षा नागरिकों के चरित्रों को संविधान के ढाँचे के अनुरूप ढालती है। अरस्तू की शिक्षा का उद्देश्य नागरिकों का सर्वांगीण विकास करना है। शिक्षा से ही नागरिक आज्ञा पालन करना और शासन करना सीखते हैं। अरस्तू शिक्षा को तीन चरणों में बाँटकर 21 वर्ष तक चलाता है। इस शिक्षा क्रम में नागरिक गुणी, विनम्र, उदार, साहसी, आत्मसंयमी, न्यायप्रिय और नियमपालक हो जाता है। अरस्तू व्यक्ति के लिए नैतिक, सैनिक, बौद्धिक, शारीरिक शिक्षा का प्रावधान करता है।

9. **अन्य व्यवस्थाएँ** (Other Requirements) : अरस्तू का कहना है कि राज्य को बाह्य आक्रमणों से बचाने के लिए सुरक्षा के अच्छे साधन होने चाहिएं। राज्य में जल, सड़कों और किलों की पर्याप्त व्यवस्था होनी चाहिए। इनके अतिरिक्त परिषद् होनी चाहिए जिसके सामने शासन के सभी निर्णय प्रस्तुत किए जाने चाहिएं। इसके अतिरिक्त प्रशासनिक अधिकारियों व न्यायपालिका की भी व्यवस्था होनी चाहिए।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्लेटो की तरह अरस्तू का आदर्श राज्य का विवरण काल्पनिक न होकर यथार्थवादी है। अरस्तू का कहना है कि अच्छा राज्य वही है जो अतियों (Extremists) से बचता हुआ अपने आप को निर्मित करने वाले लोगों की चारित्रिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखता है और उन्हें सद्‌गुणयुक्त जीवन-निर्वाह के साधन और अवसर प्रदान करता है और इस तरह उनके जीवन को आनन्ददायक व आदर्श बनाता है।

आदर्श राज्य की आलोचना
(Criticism of Ideal State)

1. **मौलिकता का अभाव (Lack of Orginality) :** अरस्तू से पहले भी प्लेटो ने आदर्श राज्य पर अपने विचार दिए हैं। अरस्तू ने प्लेटो के विचारों को तर्कसंगत और स्पष्ट करने के लिए उसके स्वरूप में परिवर्तन कर दिया है। अतः अरस्तू आदर्श राज्य के सिद्धान्त का परिमार्जक है, मौलिक निर्माता नहीं।

2. **अरस्तू का आदर्श राज्य का विचार अस्पष्ट है (Aristotle's Concept of Ideal State is not Clear) :** अरस्तू ने आदर्श राज्य के लिए कोइनोनिय (Koinonia) शब्द का प्रयोग किया है जिसके अनुसार सभी व्यक्ति समान होने चाहिएं। क्योंकि इस शब्द का का अर्थ 'साँझेदारी' के रूप में होता है। परन्तु अरस्तू के राज्य में या राजनीतिक साँझेदारी में सभी स्त्री-पुरुष समान नहीं हैं। राज्य स्वामी और दास तथा स्त्री व पुरुष में असमानता को परिलक्षित करता है। अरस्तू स्वामियों को दासों का शोषण करने की छूट देता हैं अरस्तू के आदर्श राज्य में कहीं भी स्पष्टता नहीं है। अतः अरस्तू के विचार अस्पष्ट हैं।

3. **आदर्श राज्य में एकता और राज्य की सर्वोपरिता के सिद्धान्तों को जोड़ने का असफल प्रयास है (There is an Unsuccessful Attempt to Reconcile the Principles of Unity in Diversity and the Hegemony of the State):** अरस्तू एक तरफ तो अपने राज्यों को फलने-फूलने देता है क्योंकि राज्य में अत्यधिक एकरूपता स्वयं राज्य के अस्तित्व के लिए घातक हो जाती है। दूसरी ओर मजदूर, सर्फ और दास वर्ग को कृषि और शारीरिक श्रम के सिवाय आत्मिक और बौद्धिक विकास का कोई अवसर नहीं दिया जाता। दास नागरिकों की उसी तरह सम्पत्ति है, जैसे कुत्ते, बिल्ली, बैल। शिक्षा के क्षेत्र में राज्य का पूर्ण नियन्त्रण है। राज्य के विरुद्ध व्यक्ति कुछ करने का अधिकारी नहीं है, फिर भी यह कैसी अनेकता है।

4. **अरस्तू का आदर्श राज्य प्लेटो का उपादर्श राज्य है :** अरस्तू ने प्लेटो के 'लॉज' की नकल करके ही छोटे-मोटे परिवर्तनों के साथ अपदे आदर्श राज्य का चित्रण किया है। राज्य की जनसंख्या, विस्तार, आर्थिक और सामाजिक स्थिति, समुद्र से दूरी, कानून की सम्प्रभुता आदि तत्त्व प्लेटो के उपादर्श राज्य में भी विद्यमान हैं।

5. **अरस्तू ने आदर्श राज्य को सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किया बल्कि राज्य के गुणों का वर्णन किया है :** अरस्तू ने राज्य के उद्देश्य, अच्छाई, उत्तमता, आनन्द और सुखमय जीवन की कल्पना 'पोलिटिक्स'की 7 वीं पुस्तक के प्रथम दो अध्यायों में की है और उसने बाह्य उत्थान की उपेक्षा चेतना के विकास तथा उच्चतम नैतिकता की उपलब्धि पर जोर दिया है। उसने राज्य के व्यावहारिक स्वरूप का जो चित्र तीसरी, पाँचवीं तथा छठी पुस्तक में खींचा है, वहाँ ये सारे आदर्श लुप्त हो जाते हैं।

6. **अव्यावहारिक :** अरस्तू जैसे-जैसे सैद्धान्तिक से व्यावहारिकता की तरफ बढ़ता है तो उसकी व्यावहारिकता शून्य होती जाती है। इसका उदाहरण उसका ग्रन्थ 'पालिटिक्स' है। उसने इसकी तीसरी पुस्तक आदर्श राज्य की भूमिका के रूप में लिखी लेकिन उसकी सातवीं व आठवीं पुस्तक के अध्ययन से पता चलता है कि उसकी सारी योजना असन्तोषजनक थी, इसलिए उसने आदर्श राज्य की योजना को पूरा नहीं किया। यह उसकी अव्यावहारिकता का ही उदाहरण है।

7. **आयु के अनुसार वर्ग और कार्य विभाजन :** अरस्तू ने कार्य-विभाजन का आधार आयु को बनाया है। एक नागरिक युवावस्था में सैनिक का, प्रौढ़ावस्था में शासक का तथा व द्धावस्था में पुरोहित का कार्य करेगा तो इससे एक आयु वर्ग में कार्य करने वालों की संख्या आवश्यकता से अधिक हो जाएगी जिससे अव्यवस्था पैदा होगी। इससे विशेषज्ञों का भी अकाल पड़ जाएगा क्योंकि सभी व्यक्ति सभी कार्यों के जानकार होंगे।

8. **आदर्श राज्य में नैतिकता, उत्तमता और विवेक की कोई निश्चित परिभाषा नहीं है :** अरस्तू का कहना है कि जो नैतिक है, सुखी है। राज्य का उद्देश्य उत्तमता है क्योंकि उत्तमता में ही आनन्द है। नैतिकता, सुख और उत्तमता निरपेक्ष गुण नहीं है। ये समयानुसार बदलते हैं। अतः इनको परिभाषित करना आवश्यक होता है। अतः अरस्तू के आदर्श में इनको स्पष्ट नहीं किया गया है।

उपर्युक्त आलोचनाओं से स्पष्ट है कि अरस्तू का आदर्श राज्य का विचार न तो वैज्ञानिक है और न ही व्यावहारिक। लेकिन वह एक सच्चा यूनानी होने के नाते जिस आदर्श राज्य का वर्णन करता है, वह प थ्वी पर प्राप्त किया जा सकता है। अरस्तू

ने आदर्श राज्य का मौलिक चिंतक न होते हुए भी इस विचार के कारण यूनान में काफी प्रसिद्धि प्राप्त की है। यही कारण है कि आज भी अनेक विद्वान अरस्तू को प्लेटो के आदर्श राज्य के परिमार्जक के रूप में देखते हैं।

सम्पत्ति पर विचार
(Views on Property)

अरस्तू ने प्लेटो के सम्पत्ति के साम्यवाद की आलोचना करते हुए अपने सम्पत्ति पर विचारों को व्यक्त किया है। अरस्तू द्वारा प्लेटो के सम्पत्ति के साम्यवाद की आलोचना में काफी सच्चाई है। सम्पत्ति सम्बन्धी विचार अरस्तू ने 'पॉलिटिक्स'की प्रथम पुस्तक के तीन अध्यायों में व्यक्त किए हैं। अरस्तू निजी सम्पत्ति को अनिवार्य मानता है। अरस्तू का कहना है कि निजी सम्पत्ति के बिना व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास नहीं हो सकता। यह व्यक्ति के आनन्द का स्रोत है और उसे अनेक उत्तम व नैतिक कार्य करने के अवसर प्रदान करती है। यदि व्यक्ति को निजी सम्पत्ति से वंचित किया जाए तो उससे राज्य को ही हानि होगी।

सम्पत्ति का अर्थ
(Meaning of Property)

सम्पत्ति को परिभाषित करते हुए अरस्तू ने लिखा है- "सम्पत्ति उन वस्तुओं का संग्रह है जो राज्य या परिवार में जीवन व्यतीत करने के लिए आवश्यक व उपयोगी होती है।" अरस्तू ने इसे मानव-जीवन को आनन्ददायक बनाने वाला साधन माना है। वह लिखता है- "सम्पत्ति परिवार व राज्य में प्रयोग किए जाने वाले साधनों या उपकरणों का संग्रह है।" सम्पत्ति के अन्तर्गत वे सारी वस्तुएँ आ जाती हैं जो परिवार के सदस्यों के दैनिक जीवन के लिए आवश्यक है। अरस्तू के अनुसार- "सम्पत्ति परिवार का अंग होती है तथा सम्पत्ति प्राप्त करने की कला ग ह प्रबन्ध का एक अंग होती है।"

सम्पत्ति का औचित्य
(Justification for Property)

अरस्तू निजी सम्पत्ति का प्रबल समर्थक है। उसने इसके पक्ष में निम्न तर्क प्रस्तुत किए हैं :'

1. **सम्पत्ति नैतिक और आध्यात्मिक वस्तु है (Property is Related with Morality and Spiritutality)** : अरस्तू के अनुसार सम्पत्ति मानव में सहनशीलता, सद्भावना, उदारता, भ्रात भाव आदि के सद्गुण उत्पन्न करती है। अरस्तू कहता है- "न्यायपरायणता कुछ निजी सम्पत्ति की पूर्व कल्पना करती है।"

2. **सम्पत्ति अनिवार्य है (Property is inevitable)** : अरस्तू सम्पत्ति को परिवार के अस्तित्व और समुचित कार्यान्विति के लिए मानव में सद्गुणों का विकास करने वाली वस्तु मानता है। यह जीविका है। यह राज्य या परिवार के लिए आवश्यक निर्जीव उपकरणों का संचयन है।

3. **आनन्द प्राप्ति का साधन (Means of Pleasure)** : अपने घर में रहने और भोजन प्राप्त करने का जो आनन्द है वह न तो किराए के मकान में रहने और न होटल में भोजन करने से प्राप्त हो सकता है। आत्म-सम्मान निजी सम्पत्ति पर ही निर्भर है। निजी सम्पत्ति व्यक्ति के व्यक्तित्व का दर्पण है।

4. **निजी सम्पत्ति व्यक्ति को अवकाश प्रदान करती है (Private property provides rest to his Owner)** : अरस्तू का कहना है कि सम्पत्तिहीन व्यक्ति नागरिक कार्यों में भाग नहीं ले सकता क्योंकि उसके पास अवकाश नहीं होता। अरस्तू कहता है कि प्रत्येक व्यक्ति विशेष हित के कारण ही अपने कार्य पर पूरा ध्यान देता है। सम्पत्ति के निजी स्वामित्व में जो उत्पादन व अवकाश सम्भव है वह उसके सार्वजनिक स्वामित्व में नहीं।

सम्पत्ति के प्रकार
(Kinds of Property)

अरस्तू के अनुसार सम्पत्ति दो तरह की होती है :-

1. **सजीव सम्पत्ति (Animate Property)** : इसमें दास, गाय, बैल, घोड़े, हाथी आदि सजीव प्राणी आते हैं। ये परिवार की आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन के रूप में प्रयुक्त होते हैं।

2. **निर्जीव सम्पत्ति (Inanimate Property)** : इसमें खेत, खलिहान, मकान, मुद्रा, कृषि के औजार आदि निर्जीव वस्तुएँ आती हैं।

सम्पत्ति की विशेषताएँ

(Characteristics of Property)

अरस्तू के अनुसार सम्पत्ति की दो विशेषताएँ होती हैं :-

1. राज्य का संरक्षण।
2. सामाजिक स्वीकृति।

ये दोनों बातें सम्पत्ति के आधार-स्तम्भ हैं।

सम्पत्ति-संग्रह की सीमाएँ

Limitations of Property)

अरस्तू असीमित मात्रा में सम्पत्ति-अर्जन के विचार का विरोध करता है। वह सम्पत्ति को साधन मानता है, साध्य नहीं। साधन का साध्य से सीमित होना चाहिए। अरस्तू का मानना है कि असीमित सम्पत्ति नैतिकता का हनन करती है। यह मनुष्य को उसके असल उद्देश्यों से विमुख करती है। इसके चंगुल में पड़कर व्यक्ति लोभी, कृपण, विलासी तथा अन्य कई दुर्गुणों का शिकार हो जाता है। अतः जीवन को सुचारू ढंग से चलाने लायक ही सम्पत्ति का संचय करना चाहिए।

सम्पत्ति अर्जन

(Aquisition of Property)

अरस्तू ने सम्पत्ति अर्जन के दो तरीके बताए हैं :

1. **प्राकृतिक ढंग** (Natural Way) : इस प्रकार के सम्पत्ति के अर्जन में मनुष्य प्रकृति की सहायता लेकर परिश्रम करके भूमि में अनाज पैदा करके व पशु चराकर सम्पत्ति अर्जित करता है। भौतिक जगत् की सभी वस्तुएँ इसके अन्तर्गत आती हैं।
2. **अप्राकृतिक ढंग** (Unnatural Way) : इसमें प्रकृति का कोई हाथ नहीं होता है। यह लाभ के लालच में अर्जित की जाती है। ऋण देकर ब्याज कमाना, व्यापार में लाभ कमाना इसके उदाहरण हैं। इस प्रकार की सम्पत्ति अर्जन करने में मनुष्य सारे मानवीय तरीके छोड़कर दानवीय तरीके अपनाता है। यहाँ सक्षम धर्म की भावना विद्यमान नहीं रहती। अरस्तू सूदखोर को हेय द ष्टि से देखता है। अतः यह धनार्जन का अवैध व अमानवीय तरीका है।

सम्पत्ति विनिमय

(Exchange of Property)

अरस्तू सम्पत्ति विनिमय के दो रूप बताता है :-

1. **नैतिक विनिमय** (Moral Exchange) : जब सम्पत्ति का विनिमय न्याय-सिद्धान्त के अनुसार हो। इसमें नैतिकता का पूरा ध्यान रखा जाए और वस्तुओं का आदान-प्रदान का आधार समान मूल्य हो।
2. **अनैतिक विनिमय** (Immoral Exchange) : जब किसी की विवशताओं का लाभ उठाकर विनिमय किया जाए तो अनैतिक विनिमय कहलाता है। जब व्यापार पर धनी वर्ग का प्रमुख होता है तो इस प्रकार के विनिमय का जन्म होता है। राज्य का कर्त्तव्य है कि वह अनैतिक विनिमय पर रोक लगाए।

सम्पत्ति-वितरण

(Distribution of Property)

अरस्तू सम्पत्ति वितरण के तीन प्रकार बताता है :-

1. सार्वजनिक अधिकार और सार्वजनिक प्रयोग (Common Ownership and Common Use)
2. सार्वजनिक अधिकार और व्यक्तिगत प्रयोग (Common Ownership and Individual Use)
3. व्यक्तिगत अधिकार और सार्वजनिक प्रयोग (Individual Ownership and Common Use)

सार्वजनिक अधिकार और व्यक्तिगत प्रयोग को किसी भी विचारक के लिए स्वीकार करना कठिन होगा। अरस्तू ने भी इसका खण्डन किया है कि जो वस्तु सभी की है, वह किसी की भी नहीं है, क्योंकि जिस सम्पदा के सभी स्वामी होते हैं, उसकी ओर सभी लापरवाह होते हैं। जिसमें व्यक्ति का अपनत्व होता है, उसमें वह उत्साह, तत्परता तथा कुशलता दिखाता है। सार्वजनिक स्वामित्व के कलह तथा संघर्ष उत्पन्न होने की आशंकाएँ होती हैं। अरस्तू ने सम्पत्ति के तीसरे प्रकार के वितरण को लाभदायक व व्यावहारिक बताते हुए कहा है- "व्यक्तिगत स्वामित्व से सम्पत्ति का उत्पादन बढ़ेगा। उसमें उदारता, दानशीलता, तथा आतिथ्य-सत्कार जैसे सद्गुणों का अभ्युदय होगा।" अरस्तू मनुष्य की नैतिक इच्छाओं की पूर्ति के लिए निजी सम्पत्ति का होना जरूरी मानता है। वह कहता है कि जिस नागरिक के पास कुछ भी निजी सम्पदा नहीं है, उसके लिए सम्पूर्ण नागरिक जीवन जीना असम्भव ही नहीं, उससे वंचित भी रहना है। इस प्रकार अरस्तू निजी सम्पत्ति के सिद्धान्त द्वारा व्यक्ति को अधिक से अधिक नैतिक बनाना चाहता है और साव्रजनिक कल्याण के लिए उसके उपयोग पर बल देता है। वह वर्ग-संघर्ष को टालने के लिए निजी सम्पत्ति को सीमित करना चाहता है।

उपर्युक्त विचारों के आधारपर यह कहा जा सकता है कि अरस्तू प्लेटो के सम्पत्ति के साम्यवाद को अस्वीकार करता है। वह प्लेटो की तरह ही सम्पत्ति के प्रति अत्यधिक प्रेम को सभी बुराइयों की जड़ मानता है। उसका निजी सम्पत्ति सम्बन्धी द ष्टिकोण आज भी सही है। उनकी यह कल्पनाकि सम्पत्ति अच्छे जीवन का साधन है, ध्येय नहीं, आज भी शाश्वत महत्त्व रखती है। सम्पत्ति के बारे में ऐसी अन्तर्द ष्टि बहुत ही कम राजनीतिक विचारकों में पाई जाती है। वह सम्पत्ति अर्जन व विनिमय के जो तरीके बताता है, वे शांतिपूर्ण जीवन के लिए अति आवश्यक है। उनका नैतिक द ष्टि से बहुत महत्त्व है। वह एक समन्वयवादी चिन्तक है। अरस्तू का सम्पत्ति सम्बन्धी द ष्टिकोण आधुनिक राजनीतिक दर्शन में एक महत्त्वपूर्ण और अमूल्य देन है।

परिवार सम्बन्धी विचार
(Views of Family)

अरस्तू के चिन्तन में परिवार सम्बन्धी विचारों का बहुत महत्त्व है। अरस्तू ने प्लेटो की तरह राज्य को महत्त्व देने की धुन में परिवार की उपेक्षा नहीं की है। अरस्तू का मानना है कि परिवार राज्य की तरह ही एक स्वाभाविक सहयोग है जिसके द्वारा मनुष्य की नितांत प्रारम्भिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। अरस्तू के परिवार नामक संस्था के सम्बन्ध में विचार यथार्थवादी व व्यावहारिक हैं। अरस्तू प्लेटो के विपरीत सभी वर्गों के लिए निजी परिवार की व्यवस्था का समर्थन किया है। प्रो॰ फोस्टर के अनुसार- "प्लेटो ने संरक्षकों के लिए पत्नियों के साम्यवाद की व्यवस्था करके, निजी परिवारों को उन्मूलन करके उन्हें घोर-नीरसता का दण्ड दे दिया था और उनकी सन्तानों को माता-पिता के स्वाभाविक स्नेसे वंचित करके उनके प्रति घोर अन्याय किया था। उसके महान् शिष्य अरस्तू ने यह सब कुछ बदल दिया। उसने व्यक्तिगत परिवार की आवश्यकता, महत्ता तथा उपयोगिता पर बल देकर न केवल यथार्थवाद वरन् मनुष्य की मानवीयता के प्रति अधिक सहृदयता का भी परिचय दिया।"

अरस्तू के अनुसार परिवार एक स्वाभाविक और नैसर्गिक संस्था है। सन्तान उत्पत्ति की इच्छा ही परिवार का आधार है। मानव में शासक और शासित होने की भावना विवेक पर आधारित होती है। विवेक स्वामी तथा अविवेकी दास बनकर परिवार का अंग बन जाते हैं। इस प्रकार स्त्री-पुरुष, स्वामी और दास से परिवार का निर्माण होता है। इस तरह परिवार, स्त्री, स्वामी तथा दास तीनों के पारस्परिक सम्बन्धों का नाम है। स्वामी पत्नी का परामर्शदाता, बच्चों का पद-प्रदर्शक और दासों का निर्देशक होता है।

मानव आवश्यकताओं की पूर्ति
(To fulfill the Human Needs)

अरस्तू की धारणा है कि केवल सन्तानोत्पत्ति का विचार ही परिवार को संगठित नहीं रखता बल्कि मानव की आवश्यकताएँ भी उसे संगठित रखती है। बार्कर ने लिखा है- "परिवार वह प्रथम समुदाय है जिसे मानव द्वारा अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संगठित किया गया।" परिवार में सभी व्यक्ति अपनी नैतिक और भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। परिवार में ही मानव व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होती है और उस पर ही मानव का अस्तित्व टिका है। फॉस्टर ने कहा है- "परिवार मानव विकास में बाधक नहीं, साधक है, यह घोंसले के समान है, पिंजरे के समान नहीं।"

सामाजिक एवं नागरिक सद्‌गुणों का विकास
(Development of Social and Civil Virtues) :

अरस्तू का कहना है कि परिवार सामाजिक सद गुणों की प्रथम पाठशाला है। व्यक्ति परिवार में ही दया, परोपकार, सहानुभूति, त्याग, प्रेम आदि भावनाएँ सीखता है। अरस्तू ने लिखा है- "परिवार प्राकृतिक स्नेह की शाश्वत पाठशाला है।" अरन्तु निजी सम्पत्ति व परिवार की संस्था को बनाए रखने का पक्षधर है। उसका मानना है कि प्रकृति ने इन्हें अनावश्यक रूप में प्रदान नहीं किया है, यह तो युगों-युगों के अनुभव का परिणाम है। अतः परिवार एक ऐसी महत्त्वपूर्ण संस्था है जिसके सामाजिक तथा नागरिक सद्‌गुणों का पाठ पढ़ाया जाता है और व्यक्ति को सद्‌गुणी बनाया जाता है।

राज्य परिवार का विकसित रूप है
(State is the Developed Form of Family)

अरस्तू के अनुसार लोग सबसे पहले परिवारों के रूप में संगठित हुए। कई परिवारों के मिलने से ग्राम की रचना हुई और ग्रामों का विकसित रूप राज्य बन गया। इस प्रकार सामाजिक और राजनीतिक विकास की सर्वप्रथम संस्था से कालांतर में राज्य का जन्म हुआ। अतः राज्य परिवार का ही विकसित रूप है।

परिवार का रूप पैत क
(Patriarchal Form of Family)

अरस्तू ने परिवार को पैत क माना है। उसने इसके पक्ष में निम्न तर्क प्रस्तुत किए हैं :-

1. स्त्री को अपने पति से परामर्श लेने की आवश्यकता होती है।
2. बच्चों को अपने पिता से पथ-प्रदर्शन की जरूरत होती है।
3. दासों को अपने स्वामी के निर्देशन में रहना पड़ता है।
4. परिवार में वयोव द्ध पुरुष के पास अनुभव और व्यावहारिक ज्ञान होता है जिसमें सभी पारिवारिक कार्यों को करने-कराने की योग्यता व क्षमता होती है। इन तर्कों के आधार पर अरस्तू ने वयोव द्ध व्यक्ति को ही परिवार का मुखिया और प्रधान बनाने के अधिकार को सही ठहराया है।

स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध में भिन्नता
(Dissimilarities on the Ralationship Between Men and Women)

जहाँ प्लेटो स्त्रियों के सुधार और उद्धार का समर्थक है, वहाँ अरस्तू रूढ़िवादी है। अरस्तू स्त्री-पुरुष की समानता का विरोध करता हैं वह स्त्री को पुरुष के अधीन मानता है। वह कहता है कि जिस प्रकार ज्येष्ठ और प्रौढ़ किशोर और अपरिपक्वों से उच्च है, उसी तरह पुरुष प्रकृतिवश स्त्री की तुलना में आदेश देने के लिए अधिक उपयुक्त है। इस प्रकार अरस्तू स्त्री को पुरुष से कम शक्तिशाली व योग्य मानता है।

पत्नियों का साम्यवाद अप्राकृतिक एवं अवांछनीय
(Communism of Wives is Unnatural and Impractical)

अरस्तू प्लेटो के पत्नियों के साम्यवाद को अप्राकृतिक, असंगत, अवांछनीय और मूर्खता की संज्ञा देता है। अरस्तू लिखता है कि स्नेह का आधार निजी स्वामित्व, सम्बन्ध व अनन्यता है। ज्योंही अनन्यता साम्यवाद के कारण नष्ट होती है तो स्नेह का आधार ही समाप्त हो जाता है। बच्चों के साम्यवाद में वह स्नेह प्राप्त नहीं हो सकता जो निजी परिवार में मिलता है। शिशु सदन घर का स्थान नहीं ले सकते और परिचारिकाएँ माँ का स्थान नहीं ले सकतीं। अरस्तू की धारणा है कि पत्नियों का साम्यवाद राज्य में एकता और समन्वय पैदा न करके कलह, संघर्ष और ईर्ष्या को जन्म देगा। प्रत्येक स्त्री प्रत्येक पुरुष की पत्नी होगी। इससे अव्यवस्था व अराजकता की स्थिति पैदा होगी। स्त्रियों के साम्यवाद से अनैतिक कार्यों में व द्धि होगी। इससे नैतिक सम्बन्धों का पतन हो जाएगा। काई भी यह नहीं जान सकेगा कि वह जिससे सम्बन्ध स्थापित कर रहा है, वह उसकी माँ है या बहिन। इससे मात -हत्या, पित -हत्या तथा भ्रात -हत्या जैसे अपराधों का जन्म होगा। अरस्तू का कहना है कि प्लेटो का साम्यवाद अप्राकृतिक तथा आवांछनीय है। इसको व्यवहार में लागू नहीं किया जा सकता।

अरस्तू के परिवार सम्बन्धी विचारों की आलोचना

1. अरस्तू के परिवार सम्बन्धी विचार तथ्यों से अधिक कल्पनाओं पर आधारित हैं।
2. अरस्तू ने स्वामी और दास तथा सम्पत्ति का तो विवेचन किया है, परन्तु परिवार में माता-पिता और बालकों के सम्बन्ध में तथा पति-पत्नी के सम्बन्ध में विस्त त विचार नहीं किया है।
3. अरस्तू के स्त्रियों के सम्बन्ध में विचार निकृष्ट हैं। वह नारी को पुरुष की दासी समझता है।
4. यह अरस्तू की मौलिक देन नहीं है। वह प्लेटो के 'लॉज' में दी गई योजना को ज्यों का त्यों पेश करता है।

अरस्तू के परिवार सम्बन्धी विचारों का अध्ययन करने पर यह पता चलता है कि अरस्तू ने परिवार को प्लेटो के साम्यवाद के गर्त से निकालकर सम्मानजनक स्थान पर प्रतिष्ठित किया है। यह विवेचन सामाजिक और आर्थिक, सिद्धान्त एवं इतिहास में महत्त्वपूर्ण सामग्री परिवार व उसके तत्त्वों के सम्बन्ध में शामिल करता है। अरस्तू के विचार आधुनिक सन्दर्भ में सजीव और शाश्वत हैं। निस्सन्देह परिवार राज्य की आधारशिला है और राज्य के अस्तित्व व निर्माण के लिए एक अनिवार्य शर्त भी है, लेकिन अरस्तू ने स्त्री को पुरुष से हीन बताकर अनुदारवादी होने का परिचय दिया है।

कानून सम्बन्धी विचार
(Views on Law)

अरस्तू के 'कानून सम्बन्धी विचारों' का राजनीतिक चिन्तन में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्लेटो ने 'रिपब्लिक' में तो कानून की उपेक्षा की है लेकिन उन्होंने अपनी पुस्तक 'लॉज' में इस भूल को स्वीकारते हुए 'कानून' की आवश्यकता पर जोर दिया है। प्लेटो के शिष्य होने के नाते अरस्तू ने भी 'कानून के शासन' का द ढ़ समर्थन किया है। प्लेटो ने कानून से ऊपर दार्शनिक शासक को माना है, लेकिन अरस्तू का मानना है कि बुद्धिमानी शासक भी कानूनों से सर्वोत्तम नहीं हो सकता। अरस्तू ने कानून को एक आवश्यक बुराई के रूप में नहीं, बल्कि एक अच्छाई के रूप में स्वीकार किया है। उसकी धारणा है कि श्रेष्ठ राजनीतिक जीवन के लिए कानून अनिवार्य है। कानून संविधान के अनुकूल होना चाहिए तभी कानून न्यायपूर्ण होगा। अरस्तू के अनुसार- "विधि का शास्त्र किसी एक व्यक्ति के शासन से अच्छा है, भले ही वह उचित लगता हो कि व्यक्तियों का शासन हो, तब भी व्यक्तियों को विधि का संरक्षक अथवा सेवक ही बनाना चाहिए।" इससे स्पष्ट है कि अरस्तू कानून के शासन का द ढ़ समर्थक है और जितनी निष्ठा कानून के प्रति अरस्तू की है, अन्य की नहीं है।

कानून से अभिप्राय
(Meaning of Law)

अरस्तू कानून को ही विवेक का दूसरा रूप मानता है। उसका मानना है कि कानून वासनाओं से मुक्त विवेक है। उसके अनुसार कानून उन सभी आध्यात्मिक प्रतिबन्धों का योग है जिनका मनुष्य मर्यादापूर्वक आचरण करता है। मनुष्य में विवेक के साथ-साथ भावना, लालसा, प्रलोभन, आवेग आदि का भी समावेश होता है। इसलिए वह गलत कार्यो की ओर प्रेरित होता है। इसलिए कानून उन सामान्य सिद्धान्तों का रूप बनकर मनुष्य को व्यावहारिक जीवन में अच्छे, नैतिक, सामाजिक और न्यायोचित कार्यों की ओर मोड़ता है। अरस्तू का मानना है कि कानून नैतिकता का भी सहधर्मी है। विवेकपूर्ण आचरण में ही नैतिकता भी निहित है। इस प्रकार अरस्तू कानून को आवेगों और आवेशों से रहित विशुद्ध विवेक के रूप में स्वीकारता है। उसने कहा है- "कानून आवेगहीन विवेक होता है।" अरस्तू के अनुसार कानून विशुद्ध विवेक के साथ-साथ उत्कृष्ट नैतिकता का भी प्रतीक है। अतः कानून मानव जीवन के सभी पहलुओं का नियामक है।

कानून की आवश्यकता
(Need of Law)

कानून न केवल व्यक्ति के लिए बल्कि समाज के लिए भी आवश्यक होता है। अरस्तू का मानना है कि मनुष्यों को सदाचार की मर्यादाओं में रखने के लिए संयम और अनुशासन में रखने के लिए, स्वार्थ तथा वासनाओं से प्रेरित नहोने के लिए, अपराधों व अन्याय को रोकेने के लिए, राज्य में शान्ति व व्यवस्था बनाए रखने के लिए कानून अति आवश्यक है। कानून व्यक्ति की पाश्विक व त्तियों का दमन करके उन्हें अनुशासन में रखता है। कानून स्वार्थी और भावना प्रेरित कार्यों पर रोक लगाता है। इसलिए कानून व्यक्ति तथा समाज दोनों के लिए जरूरी है।

कानून के स्रोत
(Sources of Law)

अरस्तू ने कानून के दो स्रोत - वैयक्तिक तथा अवैयक्तिक माने हैं। अरस्तू के मत में विधायक या विधि निर्माता कानून का वैयक्तिक स्रोत होता है। यह लिखित कानूनों के साथ-साथ अतिरिक्त कानूनों और प्रथाओं का भी निर्माण कर सकता है। वह शिक्षा के सिद्धान्तों का निरूपण कर नागरिकों को स्वभावतः कानून का पालन करने योग्य बनाता है। विधि निर्माता को ही कानून निर्माण का एकमात्र अधिकार प्राप्त है। अरस्तू ने प्रथाओं और परम्पराओं को कानून का अवैयक्तिक स्रोत माना है।

कानून का स्वरूप
(Nature of Law)

अरस्तू ने कानून के प्राकृतिक स्वरूपको स्वीकार किया है। उसके मत में कानून शाश्वत और अपरिवर्त्य नैतिक नियम होते हैं। विधि-निर्माता, जो कानूनों को बनाता है मूलतः कानूनों की स ष्टि नहीं करता बल्कि मात्र उनकी खोज करता है। कानून प्राकृतिक रूप से विद्यमान है। यह अव्यावहारिक तत्त्व है। विधिकार अपनी दिव्य द ष्टि और अलौकिक प्रतिभा द्वारा उन तत्त्वों की खोज करता है, वह किसी नए नियम का निर्माण नहीं करता। उसने स्वीकार किया है कि वास्तविक कानून तथा प्राकृतिक कानून में अन्तर है। ये एक-दूसरे के विरोधी न होकर, एक-दूसरे के पूरक हैं।

कानूनों का वर्गीकरण
(Classification of Laws)

अरस्तू ने अपनी पुस्तक 'वक्त त्वकला शास्त्र' (Rhetoric) में कूनन को दो भागों - विशिष्ट कानून तथा सार्वजनिक कानून में विभाजित किया है। अरस्तू ने विशिष्ट कानून उन कानूनों को कहा है जो किसी विशिष्ट राज्य द्वारा बनाए जाते हैं और उस राज्य के व्यक्तियों पर लागू किए जाते हैं। ये लिखित भी हो सकते हैं और अलिखित भी। अरस्तू ने सार्वभौमिक कानून प्राकृतिक नियमों को माना है। अरस्तू का मानना है कि ये कानून मनुष्य के हृदय में अलौकिक ज्योति के रूप में सदा उपस्थित रहते हैं। इन पर देशकाल का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ये सभी देशों के लिए समरूप होते हैं। ये कानून न्याय और औचित्य का मूल सिद्धान्त होते हैं। ये शाश्वत और सार्वभौम होते हैं। विवेक पर आधारित होने के कारण ये कानून पालना योग्य होते हैं।

कानून का स्थान
(Place of Law)

अरस्तू का कहना है कि कानून सदैव संविधान के अनकूल होते हैं। बुरे संविधान में बुरे कानून होते हैं। जिस देश में कोई कानून नहीं, वहाँ पर संविधान का अभाव होगा। अरस्तू के विचार में संविधान और सरकार एक हैं। वह सरकार को कानून की प्रभुता में रखना चाहता है। सरकार चाहे कैसी भी हो उसे स्वार्थ रहित रखने के लिए कानून आवश्यक है। कानून सरकार के अनुचित कार्यों पर रोक लगाते हैं। कानून का शासन सदैव अच्छा होता है। कानून सब के लिए समान होते हैं। किसी भी नागरिक को कानून का उल्लंघन करने की अनुमति नहीं दी जा सकती। अतः कानून का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। ये सामाजिक मापदण्डों के निर्धारक हैं।

कानून की सर्वोच्चता
(Supremacy of Law)

अरस्तू ने निम्न तर्कों के आधार पर कानून की सर्वोच्चता का समर्थन किया है :

1. कानून के शासन का अर्थ है - विवेक का शासन। यह स्वयं ईश्वर के शासन के समान होता है। किसी व्यक्ति का शासन इसकी बराबरी नहीं कर सकता क्योंकि वह क्रोध के कारण पथ-भ्रष्ट हो सकता है।
2. कानून ही राज्य में एकता व सुव्यवस्था स्थापित कर सकता है। यह व्यक्ति के आचरण को सीमाबद्ध करके अन्याय व अपराधों को रोकता है।
3. यह सदैव सार्वजनिक कल्याण का उद्देश्य रखता है जबकि निरंकुश शासक स्वार्थ-पूर्ति के लिए शासन करता है।

4. यह पक्षपातविहीन और निर्वैयक्तिक होता है। दूसरी तरफ राज्य के अच्छे से अच्छे शासक भी अपनी इच्छाओं व भावनाओं के दास होते हैं।
5. कानून की प्रभुता में कार्य करने से सरकारी पदाधिकारियों के स्वेचछाचार से छुटकारा मिल जाता है।
6. यह जन-इच्छा पर आधारित है, भय या दण्ड पर नहीं।

अतः हम कह सकते हैं कि कानून का शासन अरस्तू की एक महत्त्वपूर्ण देन है। अरस्तू ने कानून की सर्वोच्चता को श्रेष्ठ शासन का अभिन्न अंग स्वीकार किया है। कानून का शासन व्यक्ति में नैतिक और सभ्य व्यक्ति के गुण पैदा करता है। कानून के महत्त्व पर अरस्तू ने लिखा है- "मनुष्य परिष्कृत होने पर एक सर्वश्रेष्ठ है, लेकिन कानून और न्याय से अलग होने पर वह निकृष्टतम प्राणी है।" अरस्तू की कानून की सर्वोच्चता की धारणा मध्ययुग में बहुत लोकप्रिय रही है। इसी सिद्धान्त ने जर्मनी की राजनीति को सभ्य और उदार बनाने में योगदान दिया हैं यह सिद्धान्त आगे चलकर अमेरिका, इंगलैण्ड आदि देशों के संविधान तन्त्र का आधार बना। आधुनिक युग में अधिकांश देशों ने इसे मूलमन्त्र के रूप में स्वीकार कर लिया है। निष्कर्ष तौर पर कहा जा सकता है कि कानून की सर्वोच्चता का विचार अरस्तू की राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण देन है।

न्याय सम्बन्धी विचार

(Views on Justice)

अरस्तू ने अपनी न्याय-सम्बन्धी धारणा का प्रतिपादन अपने ग्रन्थ 'रैटोरिक' (Rhetoric) में किया है। अरस्तू की न्याय सम्बन्धी धारणा प्लेटो की ही भाँति यूनानी न्याय की धारणा से प्रभावित है। यूनानी विचारक न्याय को राज्य का ही नहीं बल्कि समाज और व्यक्ति का भी आवश्यक गुण मानते हैं। उनके लिए न्याय वैधानिक सम्बन्धों की वस्तु होने के साथ-साथ नैतिक सम्बन्धों और आचरण की वस्तु भी है। इसलिए अरस्तू का न्याय का अर्थ और क्षेत्र आधुनिक युग में प्रचलित न्याय के अर्थ व क्षेत्र से व्यापक है।

न्याय का अर्थ

(Meaning of Justice)

अरस्तू ने न्याय का अर्थ सद्‌गुण और उसके व्यावहारिक प्रयोग के रूप में ग्रहण किया है। विवेकी होना सद्‌गुण है परन्तु जब यह सद्‌गुण विवेकपूर्ण आचरण में परिणत होता है तो न्याय की उत्पत्ति होती है। अरस्तू के अनुसार - "विवेकी होना सद्‌गुण है, परन्तु दूसरों के साथ विवेकपूर्ण आचरण करना न्याय है।" अरस्तू के अनुसार न्याय अन्य सद्‌गुणों से श्रेष्ठ है। अरस्तू के विचार में न्याय एक ऐसा सदगुण है जिसका अनुसरण सभी अन्य सद्‌गुण करते हैं। अतः न्याय एक ऐसा सामाजिक गुण है जिसमें सारे अन्य सद्‌गुण समा जाते हैं। प्रो॰ बार्कर के अनुसार- "अरस्तु के लिए न्याय कानूनी न्याय से अधिक है। इसमें कुछ नैतिक विचार शामिल हैं जो हमार साधुता शब्द में निहित हैं।" इस प्रकार न्याय राजनीतिक समुदाय का एक नितान्त आवश्यक गुण है। न्याय की उपस्थिति राज्य को विकाग्रस्त होने से बचाती है और राजनीतिक जीवन को स्वस्थ एवं कल्याणकारी बनाती है।

न्याय के प्रकार

(Kinds of Justice)

अरस्तू ने अपने ग्रन्थ 'एथिक्स' (Ethics) में न्याय का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उसके दो प्रकार बताए हैं :

1. सामान्य न्याय (General Justice)
2. विशिष्ट न्याय (Particular Jusitce)

सामान्य न्याय सम्पूर्ण अच्छाई का नाम है। इसमें सब सद्‌गुण और साधुता (Righteousness) का समावेश है। अरस्तू ने 'Ethics' की पाँचवीं पुस्तक में लिखा है- "सामान्य न्याय सम्पूर्ण अच्छाई है। यह पूर्णरूपेण सम्पूर्ण अच्छाई है क्योंकि यह सम्पूर्ण अच्छाई का अभ्यास हैं सम्पूर्ण इस अर्थ में कि इससे युक्त व्यक्ति अपनी अच्छाई का अभ्यास न केवल अपने लिए करता है, बल्कि पड़ोसियों के साथ भी वह इसका प्रयोग करता है।

विशिष्ट न्याय सामान्य न्याय का ही अंग है। यह सम्पूर्ण अच्छाई का एक पहलू है जिसकी उपस्थिति मनुष्य को अन्य लोगों के साथ उचित एवं सामान्य व्यवहार करने की प्रेरणा देती है। इसके कारण व्यक्ति समभाव या समता के साथ व्यवहार करता है। इस प्रकार यह न्याय नितान्त सीमित है। यह मात्र सामान्य न्याय के उस अंश का द्योतक है जिसके रहने से एक व्यक्ति दूसरों के साथ उचित व्यवहार करता है। विशिष्ट न्याय सामाजिक व्यवहार संहिता का प्रतिरूप है। विशिष्ट न्याय से युक्त व्यक्ति वह होता है जो श्रेष्ठ कानून का समुचित पालन करता है और इस प्रकार समाज के सन्दर्भ में अपने लिए उचित मात्रा से अधिक सुखों की माँग नहीं करता। अरस्तू ने विशिष्ट न्याय को दो भागों में बाँटा है :-

(क) वितरणात्मक न्याय (Distributive Justice)

(ख) सुधारात्मक न्याय (Corrective Justice)

वितरणात्मक न्याय से अभिप्राय है कि राज्य अपने नागरिकों में राजनीतिक पदों, सम्मानों तथा अन्य लाभों और पुरस्कारों का बँटवारा या वितरण न्यायपूर्ण रीति से करे। परन्तु यह वितरण समानता के आधार पर नहीं बल्कि योग्यता और क्षमता के आधार पर होना चाहिए। अरस्तू ने अपनी पुस्तक 'पोलिटिक्स' में वितरक न्याय पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि मानव प्रकृतिवश - असमान है, उनकी योग्यताएँ और क्षमताएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। अतः जिस मात्रा में कोई नागरिक अपना योगदान देता है उसी अनुपात में उसे पद, स्थान या सम्मान प्राप्त होना चाहिए। अरस्तू का मानना है कि वितरणात्मक न्याय असमानता का अन्त करता है और राज्य को स्थायित्व प्रदान करता है। यदि उच्च पदों पर किसी वर्ग विशेष का अधिकार हो तो राज्य असन्तोष, संघर्ष और क्रान्ति को जन्म देगा। इसलिए राज्य में सुख-सम द्धि व स्थायित्व कायम रखने के लिए आनुपातिक या वितरणात्मक न्याय जरूरी है। राज्य में पदों का वितरण जन्म, धन, स्वतन्त्रता और समानता के आधार पर नहीं होना चाहिए बल्कि सद्‌गुणों के आधार पर होना चाहिए। थियोडोर गोमपर्ज ने वितरणात्मक न्याय के बारे में कहा है- "आनुपातिक न्याय प्रत्येक का उसकी योग्यता और पात्रता के अनुसार भाग निश्चित करता है।" यह नागरिकों में पूर्ण समानता की बजाय आनुपातिक समानता की स्थापना करता है। इस प्रकार आनुपातिक समानता के आधार पर वितरण करना ही वितरक न्याय है।

सुधारात्मक न्याय का सम्बन्ध नागरिकों के पारस्परिक सम्बन्धों से है। इसका मूल उद्देश्य नागरिकों के जीवन, सम्पत्ति और स्वतन्त्रता की रक्षा करना है अर्थात् व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों में उत्पन्न होने वाली भ्रष्टताओं को सुधारना है। अरस्तू ने इस न्याय का उल्लेख अपनी पुस्तक 'Ethics' में किया है। उसने कहा है कि इसका क्षेत्र दीवानी और फौजदारी दोनों प्रकार के मामलों एवं ऐच्छिक व अनैच्छिक व्यवहारों तक फैला हुआ है। इस आधार पर सुधारात्मक न्याय के दो उपभेद - ऐच्छिक व अनैच्छिक सुधारात्मक न्याया हैं। ऐच्छिक सुधारात्मक न्याय का सम्बन्ध सम्पत्ति सम्बन्धी समझौतों से होता है। यदि इस समझौते को कोई नागरिक तोड़ता है तो उसे न्यायालय दण्डित करता है और पीड़ित पक्ष को मुआवजा दिलाता है। लेकिन अनैच्छिक न्याय का सम्बन्ध धोखा, मारपीट, चोरी, डकैती, हत्या आदि से सम्बन्धित अपराधों से होता है। राज्य के न्यायालय अपराधी को दण्ड देते हैं। इसका सम्बन्ध फौजदारी मुकद्दमों से है जबकि ऐच्छिक का दीवानी झगड़ों से है। अतः सुधारात्मक न्याय का सम्बन्ध राज्य का सम्पूर्ण दण्ड विधान है जिसको न्यायालय द्वारा लागू किया जाता है।

निष्कर्ष तौर पर कहा जा सकता है कि अरस्तू की सुधारात्मक न्याय की अवधारणा का महत्त्व आज भी है। आज भी प्रत्येक देश का शासक नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करता है और उल्लंघन करने वालों को सजा देता है। वर्तमान कल्याणकारी राज्य में यह आवश्यक है कि उच्च शासकीय पद और पुरस्कार योग्यता के आधार पर बाँटे जाएँ ताकि नागरिकों को सामाजिक न्याय प्राप्त हो सके और राज्य में स्थायित्व व एकता कायम रह सके। इस प्रकार अरस्तू न्याय के वितरणात्मक रूप द्वारा समानता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है जिससे राज्य का स्थायित्व बना रह सके।

अरस्तू राजनीति विज्ञान के जनक के रूप में

(Aristotle as the Father of Political Science)

प्लेटो के शिष्य अरस्तू को ही राजनीतिक विज्ञान का जनक होने का गौरव प्राप्त है। अरस्तू ही एक ऐसे व्यावहारिक राज्य का विचार देने वाला प्रथम वैज्ञानिक है जो प्लेटो से अधिक महत्त्वपूर्ण, उपयोगी व वास्तविकता पर आधारित विचारों का खजाना है। मैक्सी ने अरस्तू को ही प्रथम वैज्ञानिक विचारक माना है। डनिंग अरस्तू की कृति 'पालिटिक्स' (Politics) को राजनीति विज्ञान की अनुपम निधि मानता है। यद्यपि प्लेटो ने भी राजनीति पर विचार किया था लेकिन उसके विचार अरस्तू की तरह

यथार्थवादी नहीं हैं। अरस्तू ने राज्य, क्रान्ति, संविधान, सरकारों के वर्गीकरण और परिवर्तन, नागरिकता आदि पहलुओं पर जो विचार प्रकट किए हैं, वे आज भी समसामयिक और प्रासंगिक हैं। प्लेटो की तुलना में अरस्तू के विचार अधिक शाश्वत मूल्य के हैं। आधुनिक राजनीति विज्ञान का क्षेत्र उन्हीं सिद्धान्तों पर टिका हुआ है जो अरस्तू ने हजारों वर्ष पूर्व प्रतिपादित किए थे। राजनीति विज्ञान का वर्तमान ढाँचा अरस्तू की ही परिकल्पना पर आधारित है। अरस्तू के विचारों में जितनी सजीवता, परिपक्वता और स्थायित्व है, उसके आधार पर ही अरस्तू को राजनीति विज्ञान का जनक माना जाता है।

प्लेटो को यह श्रेय प्राप्त क्यों नहीं है ?
(Why Plato does not get this Credit ?)

यद्यपि प्लेटो ने भी राजनीति विज्ञान को कुछ महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है, लेकिन उसे राजनीति विज्ञान का जनक नहीं कहा जा सकता। इसके कुछ कारण निम्नलिखित हैं :-

1. राजनीतिशास्त्र के अध्ययन में प्लेटो ने वैज्ञानिक पद्धति (Scientific Method) का प्रयोग नहीं किया है। प्लेटो का नगर राज्यों की समस्याओं की ओर द ष्टिकोण अवैज्ञानिक है। वह कल्पना के आधार पर समस्याओं का समाधान करना चाहता है। वह एक चित्रकार की तरह आदर्श प्रस्तुत करता है। उसके विचारों का वास्तविक जीवन से कोई सरोकार नहीं है। उसके विचार तत्त्वों के निरीक्षण व परीक्षण पर आधारित नहीं हैं। अतः प्लेटो को राजनीति विज्ञान का जनक नहीं माना जा सकता।
2. प्लेटो ने राजनीति शास्त्र को स्वतन्त्र अनुशासन के रूप में प्रतिष्ठित नहीं किया। उसने राजनीतिशास्त्र को नीतिशास्त्र की एक उप-शाखा माना है।
3. प्लेटो ने तत्कालीन ज्ञान-प्रणाली का खण्डन किया। उसने युगों के अनुभव को मान्यता नहीं दी। उन्होंने राज्य में रीति-रिवजों को सही स्थान नहीं दिया।

उपर्युक्त कारणों से प्लेटो को राजनीति विज्ञान का जनक नहीं माना गया। यह श्रेय अरस्तू को ही प्राप्त हुआ। इसके निम्नलिखित कारण हैं :

1. **वैज्ञानिक पद्धति (Scientific Method)** : अरस्तू ने राजनीतिशास्त्र के अध्ययन में वैज्ञानिक विधि का प्रयोग किया है। इस विधि में एक विचारक जो कुछ देखता है या जिन ऐतिहासिक तथ्यों की खोज करता है। उनका निष्पक्ष रूप से बिना अपने किसी पूर्वाग्रह के अध्ययन करता है और इस अध्ययन के फलस्वरूप जो कुछ निष्कर्ष निकलता है वह वैज्ञानिक होता है। बार्कर ने अरस्तू की अध्ययन-पद्धति के बारे में लिखा है- "उनकी प्रक्रिया का सारांश सभी संगत (Relevant) आंकड़ों का संग्रह, पंजीकरण और निरीक्षण करना था और प्रत्येक सन्दर्भ में उनके अध्ययन का ध्येय किसी सामान्य सिद्धान्त की खोज करना था।" समस्याओं के प्रति अरस्तू का द ष्टिकोण वैज्ञानिक है। अरस्तू का ज्ञान विश्वकोषीय है। उसने अपने समय में प्रचलित 158 देशों के संविधानों का अध्ययन करने के लिए आंकड़े एकत्रित करके सामान्य निष्कर्ष निकाले हैं। उन्होंने तथ्यों का संग्रह व निरीक्षण सूक्ष्मता के करके वैज्ञानिक निष्कर्ष निकाले हैं। यही सच्चे वैज्ञानिक तरीके का सार होता है। अतः अरस्तू की पद्धति वैज्ञानिक है जो विशेष से सामान्य की ओर जाती है। इसलिए अरस्तू को राजनीति विज्ञान का जनक मानने के पीछे मूल कारण उनके द्वारा वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग है।
2. **राजनीति को नीतिशास्त्र से अलग किया (Distinguished Politics from Ethics)** : अरस्तू ने सर्वप्रथम राजनीतिशास्त्र को नीतिशास्त्र से अलग करके उसे एक स्वतन्त्र अनुशासन के रूप में प्रतिष्ठित किया। उसके अनुसार नीतिशास्त्र का सम्बन्ध उद्देश्यों से है, जबकि राजनीतिशास्त्र का उन साधनों से है जिनके द्वारा उद्देश्यों को प्राप्त किया जाता है। अरस्तू ने राजनीति को नीतिशास्त्र से अलग करते हुए श्रेष्ठतम विज्ञान माना है। अरस्तू ने प्लेटो के उस विचार का खण्डन किया जिसके अनुसार राजनीतिशास्त्र नीतिशास्त्र की दासी था। अरस्तू ने दोनों को ठीक तरह से समझकर यह निष्कर्ष निकाला कि राजनीति अलग विषय है। डनिंग ने लिखा है- ""राजनीतिक सिद्धान्तों के इतिहास में अरस्तू की सबसे बड़ी महानता इस बात में निहित है कि उसने राजनीति को स्वतन्त्र विज्ञान का स्वरूप प्रदान किया है।"
3. **कानून की सम्प्रभुता (Sovereignty of Law)** : अरस्तू ने कानून की सर्वोच्चता में विश्वास व्यक्त किया है। उसके अनुसार कानून में सामूहिक विवेक, अवैयक्तिकता एवं सार्वभौमिकता का गुण होता है। कानून निष्पक्ष होता है और समान रूप से

लागू होता है। अरस्तू विवेक के स्थान पर कानून के शासन को ज्यादा न्यायसंगत मानता है। प्लेटो आदर्श राज्य में व्यक्तियों के शासन (दार्शनिक शासक) में विश्वास करता है जबकि अरस्तू कानून के शासन पर करता है। अरस्तू का कहना है कि श्रेष्ठ व्यक्ति की तुलना में भी कानून का शासन ही उचित होता है क्योंकि यह शासक वर्ग में अनावश्यक अहंकार व सत्ता के दुरुपयोग को रोकता है तथा शासित वर्ग में हीनभावना पैदा नहीं होने देता। कानून की सर्वोच्चता तथा संवैधानिक शासन ही वांछनीयता में विश्वास अरस्तू की ऐसी धारणाएँ हैं जिनके आधार पर उसे संविधानवाद का जनक कहा जाता है। अरस्तू के कानून की सम्प्रभुता के सिद्धान्तके बारे में एवन्सटीन ने लिखा है- "कानून के शासन का सिद्धान्त सम्भवतः अरस्तू की ऐसी सबसे महत्त्वपूर्ण देन है जो उसने आगामी पीढ़ियों को प्रदान की है।" ग्रोशियस, बेन्थम, लास्की आदि ने अरस्तू की धारणाओं के आधार पर ही अपने वैधानिक सम्प्रभुता के विचारों को खड़ा किया है। कानून की सम्प्रभुता अरस्तू की महत्त्वपूर्ण देन है।

4. **तुलनात्मक पद्धति** (Comparative Method) : अरस्तू ही ऐसा प्रथम विचारक है जिसने राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग किया है। उन्होंने तत्कालीन नगर-राज्यों की समस्याओं का विश्लेषण करने के लिए विश्व के 158 संविधानों का अध्ययन किया। उसे निष्कर्ष तुलनात्मक होने के कारण वैज्ञानिक और सही हैं। अतः राजनीति विज्ञान के जनक के रूप में अरस्तू की पदवी राजनीतिक घटनाओं के अध्ययन में उनके द्वारा तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग किए जाने के कारण है।

5. **राज्य के पूर्ण सिद्धान्तों का क्रमबद्ध निरूपण** (Complete and Systematic Theory of State) : राज्य का पूर्ण सैद्धान्तिक वर्णन करने वाला पहला विचारक अरस्तू ही है। राज्य के जन्म और विकास से लेकर उसके स्वरूप, संविधान की रचना, सरकार का निर्माण, नागरिकता की व्याख्या और कानून की सम्प्रभुता, क्रान्ति आदि महत्त्वपूर्ण विषयों पर अरस्तू ने विस्तार से लिखा है। अरस्तू के ये सभी विषय आधुनिक राजनीतिक विचारकों के लिए सामग्री प्रदान करते हैं। इन सिद्धान्तों का क्रमबद्ध विवेचन प्लेटो तथा अन्य विचारकों में दिखाई नहीं देता है। बार्कर का कहना है- "अरस्तु के विचार प्रायः आधुनिकतम हैं चाहे भले ही अरस्तू का राज्य केवल नगर-राज्य ही रहा हो। अरस्तू के राजदर्शन का आधार मानव-प्रकृति बनी क्योंकि अरस्तू ने यह सिद्ध किया कि जो व्यक्ति के लिए आदर्श और श्रेयस्कर है, वही राज्य के लिए भी है।" इसी तरह अरस्तू ने मनुष्य को एक राजनीतिक प्राणी बताकर राजनीतिशास्त्र को ऋणी बना दिया है। इस प्रकार अरस्तू ने एक प्रबुद्ध विचारक की तरह लिखकर अमूल्य सामग्री राजनीतिक चिन्तन को भेंट की है।

6. **मध्यम मार्ग** (Golden Mean) : अरस्तू का विश्वास था कि विकास के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा असन्तुलन है। यह असन्तुलन चाहे राजनीतिक हो, चाहे सामाजिक हो, चाहे आर्थिक। असन्तुलन अतियों (Extremes) के कारण उत्पन्न होता है। साम्यवाद, निरंकुशता, आंगिक समानता और पूंजीवाद सभी अत का ही रूप है। उसने कुलीनतन्त्र व भीड़तन्त्र को अतिवादी बताकर संयत लोकतन्त्र का मध्यम मार्ग अपनाने का सुझाव दिया। अरस्तू का विश्वास था कि मध्यवर्ग शासन को सुचारू रूप से चला सकता है। यह वर्ग ही सामाजिक व राजनीतिक संघर्ष को समाप्त करा सकता है। उसने इतिहास से उदाहरण लेकर अपने इस तथ्य की पुष्टि की कि मध्यमवर्ग का शासन अधिक स्थायी व टिकाऊ होता है। उसका मानना है कि मध्यम वर्ग ही एक ऐसा वर्ग है जो विवेक के पालन में अग्रणी होता है। यह वर्ग ही समाज में शान्ति व स्थायित्व पैदा कर सकता है। इसी कारण केटलिन ने अरस्तू को मध्यम-वर्ग का दार्शनिक कहा है।

7. **नागरिकता** (Citizenship) : अरस्तू ने नागरिकता की व्याख्या अपने ग्रन्थ 'पॉलिटिक्स' (Politics) की तीसरी पुस्तक में की है। यह अरस्तू की मौलिक देन है। अरस्तू ने नागरिकता की जो व्याख्या की है, वह राजनीति के लिए बहुत सहायक तथा आधुनिक नागरिकता की व्याख्या करने में मार्गदर्शक सिद्ध हुई है। अतः आधुनिक राजनीतिक चिन्तन में अरस्तू के नागरिकता सम्बन्धी विचारों का एक महत्त्वपूर्ण योगदान है।

8. **शिक्षा का सिद्धान्त** (Principle of Education) : अरस्तू ने राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना के लिए शिक्षा को एक महत्त्वपूर्ण साधन माना है जो वर्तमान युग में भी प्रासंगिक है। शिक्षा ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विकास करके उसे सच्चा नागरिक बनाती है। शिक्षा से ही मानव सही मानव बनता है। शिक्षा ही व्यक्ति के आत्मिक पक्ष का विकास करती हैं यह व्यक्ति की पाशविक व त्तियों पर रोक लगाकर उसे सद्‌गुणी बनाती है।

9. **संविधान का अध्ययन** (Study of Constitution) : अरस्तू ने 'संविधान' की विस्तारपूर्वक व्याख्या की है। अरस्तू ने 'संविधान' शब्द का विस्त त वर्णन अपनी पुस्तक 'Politics' में किया है। बार्कर ने अरस्तू की महान् रचना 'पालिटिक्स' के अनुवाद में लिखा है- "अगर कोई पूछे कि अरस्तू की 'पालिटिक्स' ने सामान्य यूरोपीय विचारधारा को उत्तराधिकार में क्या दिया है तो इसका उत्तर होगा - संविधान शास्त्र। अरस्तू को संविधान के लिए किए गए विस्त त अध्ययन के कारण ही संविधान और संविधानवाद का जनक कहा जाता है। अरस्तू ने प्लेटो से प्राप्त संविधानों के वर्गीकरण को व्यावहारिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया है। उसने राज्यों का वर्गीकरण संविधान से जोड़कर ही किया। अरस्तू की इस देन के कारण राजनीतिक चिन्तन का इतिहास उनका ऋणी है।
10. **सरकार के अंगों का निरूपण** (Determination of the Organs of Government) : अरस्तू ने सरकार के तीन अंगों- नीति-निर्धारक, प्रशासकीय और न्यायिक का विस्तारपूर्वक निरूपण किया है। उसने इन अंगों के परस्पर सम्बन्धों व क्षेत्राधिकार का भी वर्णन किया है। 'शक्ति प थक्करण सिद्धान्त' तथा 'नियन्त्रण और सन्तुलन' के सिद्धान्त में अरस्तू की ही झलक दिखाई देती है। अरस्तू के सरकार के तीनों अंग वर्तमान समय में व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के समान हैं।
11. **ऐतिहासिक द ष्टिकोण** (Historical Approach) : अरस्तू ने वैज्ञानिक द ष्टिकोण के साथ-साथ ऐतिहासिक द ष्टिकोण का भी प्रयोग किया है। उसने राज्य को परिवार का विकसित रूप बताया है। उसने व्यक्ति से परिवार, परिवार से गाँव तथा गाँवों से राज्य बनने तक के ऐतिहासिक विकास-क्रम पर अपने विचार व्यक्त किए हैं। बाद में आइंस्टाइन, मैकियावेल्लि, माण्टेस्क्यू, बर्क, हीगल व मार्क्स ने अरस्तू के ऐतिहासिक द ष्टिकोण को ही अपनाया है। इसलिए अरस्तू को सार्वभौमिक ऐतिहासिक पद्धति का जनक माना जाता है।
12. **स्वतन्त्रता व समानता** (Liberty and Equality) : अरस्तू ने सर्वप्रथम स्वतन्त्रता व समानता के परस्पर विरोधी दावों के मध्य संतुलन स्थापित करने का प्रयास किया है। आधुनिक द ष्टि से यह विचार लोकप्रिय है। इसी आधार पर उसने संवैधानिक लोकतन्त्र की स्थापना का समर्थन किया है।
13. **शाश्वत उद्देश्य** (Eternal Objective) : अरस्तू ने राज्य का उद्देश्य सुखी और आत्म-निर्भर की खोज करना बताया है। उसने राज्य का उद्देश्य जनकल्याण बताकर आधुनिक युग के दर्शन किए हैं। आज सभी देशों में राज्य का उद्देश्य अपने नागरिकों के जीवन को सुखी बनाना है। अतः अरस्तू के विचार शाश्वत सत्य के हैं।
14. **राजनीतिक अर्थव्यवस्था** (Political Economy) : अरस्तू ने आर्थिक परिस्थितियों का राजनीतिक क्रिया-कलापों पर प्रभाव स्वीकार किया है। अरस्तू ने स्पष्ट किया कि सम्पत्ति का लक्ष्य और वितरण शासन व्यवस्था के रूप में निश्चित करने में निर्णायक भूमिका निभाता है। राज्य की समस्याओं का कारण अमीर-गरीब के मध्य अधिक असमानता का होना है। यदि सम्पत्ति पर स्वामित्व व्यक्तिगत रहे और उसका उपयोग सार्वजनिक हो जाए तो राज्य की समस्याएँ आसानी से हल की जा सकती हैं। यह विचार आधुनिक राजनीति का महत्त्वपूर्ण अंग बन गया है। आज राजनीतिक अर्थशास्त्र के रूप में उसका महत्त्वपूर्ण अंग बन गया है। आज राजनीतिक अर्थशास्त्र के रूप में उसका अध्ययन किया जा सकता है। अरस्तू ने राज्य की स्थिरता एवं आत्मनिर्भरता के लिए मध्यम वर्ग की उपस्थिति स्वीकार की है। यह मध्यम-वर्ग पूंजीपति वर्ग व गरीब के बीच के लोग हैं जो सारी अर्थव्यवस्था का संचालन करते हैं।

स्पष्ट है अरस्तू ने अपने अध्ययन में वैज्ञानिक, आगमनात्मक और तुलनात्मक पद्धति को बनाया है। ये तथ्य अरस्तू को राजनीति विज्ञान के जनक के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। वह प्लेटो की तरह कल्पनावादी न होकर यथार्थवादी है। उसने राजनीतिशास्त्र की नीतिशास्त्र से अलग कर उसे एक स्वतन्त्र विज्ञान का रूप प्रदान किया। अतः कहा जा सकता है कि राजनीति विज्ञान अरस्तू से शुरु होता है, प्लेटो से नहीं।

अध्याय-3
सेण्ट आगस्टाइन
(St. Augustine)

परिचय
(Introduction)

ईसाई दर्शन के इतिहास में सेण्ट अम्ब्रोज (St. Ambrose) के महान शिष्य सेण्ट आगस्टाइन का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। फोक्स जैक्सन के अनुसार चर्च के इतिहास में सेण्ट पाल के बाद सेण्ट आगस्टाइन सबसे महत्त्वपूर्ण हस्ती हैं। उसने मध्ययुग में चर्च और राज्य के सम्बन्ध में अपने विचार देते हुए 'चर्च की सर्वोच्चता' के सिद्धान्त की आधारशिला रखी। उन्होंने समकालीन तथा परवर्ती चिन्तन को भी विशेष रूप में प्रभावित किया। सेबाइन का मत है कि उनकी रचना 'The City of God' एक ऐसी 'विचारों की खान' (A mine of Ideas) है, जिसको खोदकर परवर्ती ईसाई विचारकों ने मूल्यवान विचार रत्न निकाले।

जीवन परिचय
(Life Sketch)

सेण्ट आगस्टाइन का जन्म उत्तरी अफ्रीका के रोमन प्रान्त न्यू मीडिया (अल्जीरिया) के थिगस्ते नामक स्थान पर 354 ई॰ में हुआ। उसके पिता एक मूर्तिपूजक (Pagan) थे और एक बड़े जमींदार थे। उसकी माँ ईसाइधर्म में विश्वास रखने वाली महिला थी। वह बचपन से ही एक प्रतिभाशाली बालक था। उसकी प्रतिभा से प्रभावित होकर उसके पिता ने उसे अच्छी शिक्षा दिलाने का प्रबन्ध किया। सेण्ट आगस्टाइन ने अपनी प्रतिभा के बल पर शीघ्र ही वह यूनानी और रोमन साहित्य में निपुण हो गया। 370 ई॰ में उसने कार्थेज विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया। वहाँ से अपनी पढ़ाई पूरी करके उसने अपनी मात भूमि की सेवा का निश्चय किया और अपने प्रान्त में पढ़ाने लगा। कुछ समय बाद उसने कार्थेज विश्वविद्यालय में ही अलंकारशास्त्र पढ़ाना शुरू कर दिया। उसने यहाँ से नौकरी छोड़ने के बाद 384 ई॰ में मीलान में अलंकारशास्त्र पढ़ाया। यहाँ पर उनका सम्पर्क सेण्ट अम्ब्रोज से हुआ। सेण्ट अम्ब्रोज की रोमन विरोधी विचारधारा के प्रभाव में आकर उसने उनको अपना गुरु स्वीकार कर लिया और उसने 387 ई॰ में ईसाई धर्म को ग्रहण कर लिया। ईसाई धर्म के सम्पर्क में आने पर उसने एक क्रियाशील और सच्चा ईसाई बन कर ईसाई धर्म का प्रचार किया। 388 ई॰ में वह अफ्रीका वापिस लौटकर हिप्पो विशप बन गया। उसने आजीवन इस पद को सुशोभित किया। 430 ई॰ में वणडाल नामक बर्बर जाति द्वारा हिप्पो नगर पर आक्रमण में उसकी म त्यु हो गई।

समकालीन परिस्थितियाँ
(Contemporary Situations)

सेण्ट आगस्टाइन का जन्म ऐसे समय में हुआ जब दक्षिणी और पश्चिमी यूरोप के बर्बरों के कारण ईसाई धर्म के लिए एक गम्भीर संकट पैदा हो गया था। सभ्यता और कैथोलिक वाद दोनों का भाग्य अधर में लटका हुआ था। वह एक ऐसे संक्रमणकाल का प्रतीक था, जब व्रात्यवाद का अन्त हो रहा था और ईसाई धर्म का मध्ययुग प्रारम्भ हो रहा था। आगस्टाइन के समय में ईसाई धर्म तथा गैर ईसाई धर्म का विवाद जोरों पर था। लगातार ईसाई धर्म की आलोचनाएँ की जा रही थीं। 410 ई॰ में गॉथों (Goths) और असभ्य बर्बरों (Barbarians) ने रोम के सुन्दर नगर को तहस-नहस कर दिया। चर्च के विरोधी इस प्रचार में लग गए कि रोम का पतन ईसाई धर्म के कारण हुआ है। विरोधी विचारधारा के प्रबल प्रभावस्वरूप स्वयं ईसाई धर्म में विश्वास रखने वालों को भी आत्मरक्षा के उपाय सोचने पर विवश होना पड़ा। गैर-ईसाई (Pagams) लेखक इस बात पर जोर दे रहे थे कि जब तक जनता ईसाई धर्म से दूर रही, रोम का साम्राज्य विकास की ओर चलता रहा और रोम का पतन उस दिन शुरू

हो गया जब ईसाई धर्म को रोम का राजकीय धर्म बना दिया। गैर-ईसाई लेखकों का विश्वास था कि ईसाई धर्म ने परलोक सुधार पर अधिक बल दिया और सांसारिक लक्ष्यों की उपेक्षा की, इसलिए उसका पतन हुआ। ईसाई धर्मावलम्बी भी व्रात्यों की ही तरह भयग्रस्त होकर इस बात के लिए दुःखी थे कि वे रोमन साम्राज्य के पतन को नहीं रोक सके। आगस्टाइन ईसाई धर्मावलम्बी होने के नाते इससे बहुत दुःखी हुआ और उसने ईसाई धर्म की आलोचना का विरोध करना शुरू कर दिया।

पूर्ववर्ती विचारकों का प्रभाव
(Influence of Predecessors)

किसी भी विचारक पर पूर्ववर्ती लेखकों का प्रभाव अवश्य पड़ता है। आगस्टाइन भी इसके अपवाद नहीं थे। आगस्टाइन के दर्शन को प्लेटो, सिसरो, स्टोइको आदि विचारकों ने प्रभावित किया। उन्होंने पूर्ववर्ती लेखकों की विचारधारा का ज्यों का त्यों अपने चिन्तन में प्रयोग नहीं किया। उन्होंने तर्कपूर्ण ढंग से आवश्यकतानुसार अपने पूर्ववर्ती विचारकों के चिन्तन में परिवर्तन किया और अपने चिन्तन के अनुरूप ढाला। उन्होंने प्लेटो से न्याय का सिद्धान्त, सिसरो से राष्ट्रमण्डल की अवधारणा तथा स्टोइको से एक सार्वत्रिक (Universal) राज्य की नागरिकता की धारणा ग्रहण की। इन धारणाओं में आगस्टाइन ने ईसाई धर्म की आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर दिया। इस प्रकार उन्होंने अपने पूर्ववर्ती विचारकों से प्रभावित होकर ईसाई धर्म की सुरक्षा में अपने को लगा दिया।

महत्त्वपूर्ण रचनाएँ
(Important Works)

आगस्टाइन ने ईसाई धर्म को संकट से उभारने के लिए अपनी रचनाओं से प्रयास शुरू किए। उसने ईसाई धर्म का द ढ़ और व्यवस्थित समर्थन किया। उसने बताया कि रोम का पतन दैवीय इच्छा का परिणाम है, न कि ईसाई धर्म के कारण इसका पतन हुआ। उसने अपने इस विचार को प्रबल बनाने के लिए 'ईश्वर की नगरी' (The City of God) नामक पुस्तक की रचना की। इसमें 22 खण्ड हैं। उसने इस ग्रन्थ को 413 ई॰ में लिखना शुरू किया था और 426 ई॰ में उसको पूरा किया। शुरू के 10 खण्डों में प्रात्यों के आपेक्षपूर्ण आक्रमणों से ईसाई धर्म की रक्षा की गई और शेष 12 खण्डों में 'ईश्वर की नगरी' के निर्माण की रूप-रेखा का वर्णन किया गया है। अपनी इस पुस्तक में आगस्टाइन ने बताया कि यद्यपि ईसाई धर्म रोम के पतन को नहीं रोक सका, परन्तु उसने ही रोम के पतन के दुःखों और परेशानियों से जनता को छुटकारा दिलाया। उसने तक दिया कि रोम के पुराने देवता भी रोम को संकट से नहीं बचा पाए थे। यह सिद्ध करने के लिए उसने इतिहास का क्रमबद्ध वर्णन किया। इस तरह आगस्टाइन ने अपने इस अमर ग्रन्थ की रचना करके ईसाई धर्म की रक्षा का बीड़ा उठाया। उसका अन्य ग्रन्थ 'Confessions' है जो राजनीतिक चिन्तन की द ष्टि से ज्यादा महत्त्वपूर्ण नहीं है।

राजनीतिक विचार
(Political Ideas)

आगस्टाइन के महत्त्वपूर्ण राजनीतिक विचार उसकी प्रमुख रचना 'The City of God' में ही केन्द्रित है। उनके प्रमुख राजनीतिक विचार निम्नलिखित हैं :-

1. **इतिहास का दर्शन (Philosophy of History)** : आगस्टाइन ने अपने ग्रन्थ 'The City opf God' के प्रारम्भिक 10 खण्डों में इतिहास का क्रमबद्ध विवेचन करके ईसाई धर्म की आलोचनाओं का प्रतिवाद किया है। आगस्टाइन ने रोम के पतन का कारण दैवीय इच्छा का परिणाम मानते हुए ईसाई धर्म की रक्षा का प्रयास किया है। आगस्टाइन के अनुसार- "रोम का पतन एक दैवी न्याय है जिसका प्रयोजन वास्तविक ईश नगर की स्थापना के लिए मार्ग प्रशस्त करना था। जो ईश्वर व्यवस्था, नियमितता और प्रकृति में सौन्दर्य का नियमन करता है, वह सांसारिक घटनाओं का भी संचालन करता है और राष्ट्रों का उत्थान और पतन इसी में सम्मिलित है।"

   आगस्टाइन ने बताया कि यह मानना मूर्खतापूर्ण है कि रोम के पतन के लिए ईसाई धर्म उत्तरदायी था। उसने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि गैर-ईसाई देवताओं का तिरस्कार करने के कारण रोम का पतन नहीं हुआ था। उसने कहा कि यह तो पूर्व नियोजित ईश्वरीय इच्छा का परिणाम था ताकि प थ्वी पर ईश्वर का साम्राज्य कायम किया जा सके। उसने बताया कि मानव का इतिहास अच्छाई और बुराई की शक्तियों के मध्य संघर्ष का इतिहास है। विभिन्न भौतिक

साम्राज्यों के रूप में बुराइयों के चरम सीमा पर पहुँचने पर उनका अन्त करना आवश्यक होता है क्योंकि भौतिक साम्राज्य अस्थायी होते हैं। ये साम्राज्य मानव के अकल्याणकारी कार्यों पर आधारित होने के कारण पारस्परिक संघर्ष द्वारा नष्ट हो जाते हैं। उसका कहना है कि इन्हें नष्ट होना ही चाहिए क्योंकि यही दैवीय इच्छा है और इनके स्थान पर स्थापित ईश्वर का साम्राज्य ही वास्तविक साम्राज्य है जो कभी नष्ट नहीं हो सकता। इस प्रकार आगस्टाइन ने अपने इतिहास के दर्शन द्वारा यह सिद्ध करने की चेष्टा की। रोम का पतन ईश्वरीय चेष्टा का परिणाम है ताकि प थ्वी पर ईश-नगरी की स्थापना की जा सके। उसने मानव इतिहास का क्रमबद्ध विवेचन प्रस्तुत करके यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि मानव इतिहास की प्रगति पूर्व आयोजित लक्ष्य की तरफ हो रही थी और वह लक्ष्य था ईसाई राष्ट्रमण्डल की स्थापना। इसी लक्ष्य के मार्ग में रोमन साम्राज्य एक बाधा बनकर खड़ा था; इसलिए उसका नाश कर दिया गया। आगस्टाइन कहता है कि रोम के पतन में सन्तोषजनक अच्छी बात यह है कि अब यहाँ के शासक और जनता ईसाई धर्म अपनाकर राज्य के रास्ते में आने वाली किसी भी बाधा को रोक पाने में सफल होंगे। ईसाई राष्ट्रमण्डल की स्थापना से रोम आध्यात्मिक मुक्ति के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच जाएगा।

2. **दो नगरियों का सिद्धान्त (The Theory of Two Cities)** : आगस्टाइन ने अपनी पुस्तक 'The City of God' के खण्ड 11 से 22 तक ईश-नगरी का चित्रण किया है। इसमें वह दो नगरों का चित्रण करते हुए कहता है कि भौतिक नगर नष्ट होते रहते हैं लेकिन एक स्थायी नगर भी है, वह ईश्वर का नगर है। प थ्वी पर इसका नवीनतम और सर्वांगपूर्ण भौतिक रूप ईसाई चर्च है। आगस्टाइन कहता है कि इन दो नगरियों में से एक तो सांसारिक नगरी (The City of Earth) है और दूसरी ईश्वर की नगरी (The City of God) है। ईश-नगर सार्वदेशिक व सार्वकालिक है लेकिन सांसारिक नगरी नश्वर व अस्थायी है। आगस्टाइन मानव स्वभाव के दो रूपों शरीर और आत्मा से अपने दो नगरों के सिद्धान्त को जोड़ते हुए कहते हैं कि ईश्वरीय नगर का सम्बन्ध आत्मा से है लेकिन सांसारिक नगर का सम्बन्ध शरीर से है। सांसारिक नगरी का सम्बन्ध मनुष्य की वासनाओं से है, इसलिए यह शैतान की नगरी है। पाप की नगरी होने के कारण इसका पतन होना निश्चित है। इस पाप की शुरूआत देवताओं की अवज्ञाओं से शुरू होती है और बाद में गैर-ईसाइयत के रूप में प्रकट होती है। रोम साम्राज्य का पतन भी इस पापमय जीवन के कारण हुआ है। ईश्वरीय नगरी अविनाशी तथा स्थायी है। इस नगरी में धर्मपरायण लोग ही रहते हैं। इस नगरी के सभी लोग ईश्वर के प्रति अपने सर्वनिष्ठ प्रेम के कारण बँधे हुए हैं। इस नगरी की आधारशिला स्वर्गीय शान्ति और आध्यात्मिक मुक्ति है। जिस प्रकार सांसारिक नगरी बुराई का प्रतीक है, उसी प्रकार ईश्वरीय नगरी अच्छाई का प्रतीक है। ईश्वरीय नगरी का सदस्य बनने के लिए सच्ची योग्यता ईश्वर का अनुग्रह है, न कि जाति, राज्य या वर्ग है। ईश-नगरी के सदस्य प्रेम द्वारा ईश्वर से बँधे रहते हैं और सभी एक समाज के सदस्य होते है। ईश्वरीय नगरी की सदस्यता विशाल है क्योंकि इसमें सभी देवदूत, सन्त तथा सद्‌गुणी व्यक्ति शामिल होते हैं। आगस्टाइन का माननाहै कि ये दोनों नगरियाँ एक-दूसरे के आस-पास ही रहती हैं। ये आपस में मिलती रहती हैं और एक-दूसरे को अतिछादित (Overlap) करती रहती है। इनमें संघर्ष होने पर ईश्वरीय नगरी की ही विजय होती है। चर्च ईश्वरीय नगरी के प्रतिनिधि के रूप में सर्वोच्च व सर्वशक्तिमान है और केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है। ईश्वरीय नगरी का सदस्य बनने के लिए ईश्वर की कृपा अनिवार्य है। इस प्रकार आगस्टाइन ने स्पष्ट किया है कि सांसारिक नगरी (रोम साम्राज्य) का पतन आवश्यक था क्योंकि यह ईश्वरीय नगरी (चर्च) की विरोधी हो गई थी।

ईश्वरीय नगरी के दो सद्‌गुण
(Two Virtues of the City of God)

आगस्टाइन ने ईश्वरीय नगरी के दो सद्‌गुणों का भी वर्णन किया है। ये दो सद्‌गुण हैं - न्याय (Justice) और शान्ति (Peace)। आगस्टाइन कहता है कि व्यवस्था के अनुकूल आचरण ओर इस व्यवस्था से उत्पन्न होने वाले कर्त्तव्यों का पालन करना न्याय है। आगस्टाइन कहता है कि पूर्ण न्याय न तो परिवार की व्यवस्था में है और न ही राज्य की में। राज्य व परिवार में परस्पर संघर्ष होता रहता है, इसलिए मनुष्य केवल एक के प्रति न्यायपूर्ण हो सकता है। इसलिए राज्य व परिवार में न्याय सापेक्षिक (Relative) होता है, पूर्ण न्याय नहीं। सम्पूर्ण न्याय तो सार्वत्रिक समाज (सार्वदेशिक व्यवस्था) में पाया जाता है। समाज मनुष्य मात्र का समाज है जिसका शासक ईश्वर है। इसका संचालन सब मनुष्यों के लिए ईश्वर की इच्छा द्वारा निर्धारित एक सार्वदेशिक (राज्य से बाहर) व्यवस्था द्वारा किया जाता है। एक राज्य इस व्यवस्था का उल्लंघन कर सकता है और वह तब अन्यायपूर्ण होगा। उस स्थिति में व्यक्तियों द्वारा अपने राज्य की अवज्ञा करना और

सार्वदेशिक व्यवस्था का पालन करना न्यायसंगत होगा। इस प्रकार राज्य के व्यक्ति ईश्वर के साथ प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित करने में सफल सिद्ध होंगे। आगस्टाइन की यह धारणा प्लेटो से अधिक व्यापक है। यह समय और स्थान की सीमा से बँधी नहीं है। अतः यह अधिक पूर्ण धारणा है। आगस्टाइन का सार्वदेशिक समाज ईसाई राष्ट्रमण्डल (Christian Commonwealth) के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इस धारणा द्वारा आगस्टाइन राज्य को गिरजाघर (चर्च) के अधीन कर देते हैं। राज्य चर्च के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं कर सकता। गैर ईसाई राज्यों में न्याय नहीं था क्योंकि वे चर्च के कार्यों में हस्तक्षेप करते थे। अतः सच्चा न्याय ईसाई धर्म के आविर्भाव से ही सम्भव हो सकता है। इस प्रकार आगस्टाइन ने इस सद्‌गुण के द्वारा ईश्वरीय नगरी की प्रशंसा करके ईसाई राष्ट्रमण्डल का समर्थन किया है।

आगस्टाइन ईश्वरीय नगरी का दूसरा सद्‌गुण शान्ति (Peace) को मानता है। वह संघर्ष की अनुपस्थिति को ही शान्ति नहीं मानता। उसकी नजर में शान्ति एक सामंजस्यपूर्ण ठोस सम्बन्ध है। भौतिक राज्य और ईश नगर दोनों का लक्ष्य शान्ति स्थापित करना है। राज्य केवल सापेक्षिक (Relative) शान्ति स्थापित करता है। ऐसी शान्ति साध्य न होकर साधन होती है। राज्य की शान्ति का अर्थ एक-दूसरे के साथ व्यवस्थाबद्ध सम्बन्धों का सामंजस्य है जबकि ईश्वरीय नगरी की द ष्टि में सर्वाधिक व्यवस्थित और सामंजस्यपूर्ण तरीके से ईश्वर की प्राप्ति और ईश्वर में लीन होने में एक-दूसरे का हाथ बँटाना ही शान्ति है। भौतिक राज्य (सांसारिक नगरी) द्वारा स्थापित शान्ति नकारात्मक शान्ति है और वह पूर्ण शान्ति नहीं है। यह कानूनों पर आधारित शान्ति है जो बदलते रहते हैं। पूर्ण और सार्वदेशिक शान्ति ईश्वर में लीन होन पर ही प्राप्त हो सकती है।

इस प्रकार आगस्टाइन ईश्वरीय नगरी के दो सद्‌गुणों की व्याख्या करके ईश्वरीय नगरी के महत्त्व को सिद्ध करता है। उसके विचारानुसार ईश्वरीय नगरी में ही न्याय व शान्ति जो मनुष्य व राज्य के ध्येय हैं, प्राप्त किए जा सकते हैं।

3. **राज्य का सिद्धान्त (Theory of State)** : आगस्टाइन का कहना है कि न्याय राज्य का आधार नहीं होता। राज्य तो ऐसे भी हो सकते हैं जो ईसाई धर्म को न मानते हों किन्तु न्याय तो केवल ईसाई राज्य में ही हो सकता है। इसलिए न्याय चर्च का लक्षण है, न कि राज्य का। चर्च का अधिकार राज्य के अधिकार से बड़ा होता है। सेण्ट आगस्टाइन ने कहा है कि समूह में रहने की मनुष्य की प्रव त्ति ओर मूल पाप से उत्पन्न मनुष्य के पाप के कारण ही राज्य की उत्पत्ति हुई। उसके मतानुसार राज्य की स्थापना ईश्वर द्वारा मनुष्य को पापमय जीवन से मुक्ति दिलाने के लिए की गई है। यद्यपि राज्य की उत्पत्ति मनुष्य को पापमुक्त करने के लक्ष्य को लेकर हुई है, फिर भी राज्य पाप का प्रतीक नहीं है। राज्य की उत्पत्ति स्वयं ईश्वर ने की है। राज्य स्वयं ईश्वर का प्रतिनिधि है। इसलिए उसकी आज्ञा का पालन करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्य है। आगस्टाइन का मानना है कि मनुष्य सामाजिक सहज प्रव त्ति के कारण शान्ति प्राप्त करना चाहता है। राज्य कम सांसारिक शान्ति व व्यवस्था प्रदान करता है। परन्तु सांसारिक शान्ति अपने आप में साध्य नहीं है। वह तो सार्वत्रिक (Universal) शान्ति की उपलब्धि के लिए एक आधार है। सार्वत्रिक शान्ति तो ईश्वरीय नगरी में ही सम्भव है। इस प्रकार वह दैवीय सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है अर्थात् वह राज्य की उत्पत्ति का दैवीय सिद्धान्त पेश करता है। राज्य ईश्वरीय नगरी के लिए न्याय प्रदान करता है। चर्च को सम्पत्ति और इमारत राज्य ही प्रदान कर सकता है। राज्य ही चर्च को इसका अधिकार दे सकता है। राज्य को दैवी मान्यता होती है इसलिए उसके आदेशों का पालन करना चाहिए। यदि राज्य धर्म और नैतिकता का पालन न करे तो उसकी अवज्ञा करनी चाहिए। आगस्टाइन ने लौकिक राज्य की अपेक्षा ईश्वरीय राज्य को सम्पूर्ण शान्ति व न्याय पर आधारित राज्य मानकर उसके पालन पर बल दिया है। वह कहता है कि गैर-ईसाई राज्य लौकिक राज्य है तथा उसका ईसाई राज्य ईश्वरीय राज्य है जो अन्य से सर्वोत्तम है। उसने अपने इस सिद्धान्त द्वारा रोम के पतन पर हर्ष व्यक्त करते हुए कहा कि रोम का राज्य लौकिक राज्य था। उसके पतन से ईश्वरीय राज्य (ईसाई राज्य) का मार्ग प्रशस्त हो गया है। आगस्टाइन ने अप्रत्यक्ष रूप से चर्च को राज्य से श्रेष्ठ घोषित कर दिया है।

4. **चर्च ओर राज्य में सम्बन्ध (Relation Between Church and State)** : राज्य की उत्पत्ति के बाद आगस्टाइन ने चर्च और राज्य के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट किया है। उनका मानना है कि चर्च ईश्वर का प्रतिनिधि है। ईश्वर की अधिक ऊँची सत्ता होने के नाते चर्च के आदेशों का पालन करना आवश्यक है। उनका मानना है कि राज्य के कानूनों का पालन और उसमें सत्ता का सम्मान तभी न्यायसंगत है जब तक वे ईश्वर के प्रति अपने कर्त्तव्य से विपरीत न जाएँ। राज्य को सार्वभौम रोमन कैथोलिक चर्च के अधीन करते हुए भी वे राज्य के कानूनों का पालन करने का प्रचार करते हैं। परन्तु

यह कानून निरपेक्ष नहीं है। यदि यह कानून व्यक्ति को सच्ची शान्ति व न्याय प्रदान करने में सक्षम नहीं है तो उसका विरोध किया जा सकता है। वह कहता है कि राज्य की गिरजाघर के धर्मनिरपेक्ष (Secular) अंग के रूप में राज्याधिकार सम्भालना चाहिए। परन्तु आगस्टाइन ऐहिक व आध्यात्मिक मामलों में स्पष्ट विभाजन रेखा खींचकर नागरिकों को ऐहिक मामलों में ही राज्य के आदेश का पालन करने की बात कहते हैं। यदि राज्य धर्म या आध्यात्मिक मामलों में हस्तक्षेप करे तो नागरिकों को उस राज्य के आदेशों से मुँह मोड़ लेना चाहिए। चर्च और राज्य एक दूसरे पर आश्रित होते हुए भी चर्च सर्वोच्च संस्था है जो ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में प थ्वी पर विराजमान है। आगस्टाइन का कहना है कि चर्च और राज्य में परस्पर सहायता व सहयोग का सम्बन्ध होना चाहिए। ईसाई सम्राट का चर्च के आध्यात्मिक मार्गदर्शन की जरूरत होती है तथा र्चा को विधि व व्यवस्था के लिए राज्य की आवश्यकता होती है। अतः दोनों को सामंजस्यपूर्ण ढंग से कार्य करना चाहिए तभी ईश-नगर की स्थापना सम्भव है। इस प्रकार आगस्टाइन चर्च को आध्यात्मिक क्षेत्र में सर्वोच्च बनाने के साथ-साथ उसे ऐहिक मामलों में भी राज्य को चर्च के अधीन कर देते हैं।

5. **सम्पत्ति और दासता सम्बन्धी विचार (Views on Property and Slavery)** : आगस्टाइन ने भी अन्य ईसाई विचारकों की तरह सम्पत्ति रखना वैध माना है। उसका मत है कि सम्पत्ति रखना कोई प्राकृतिक अधिकार न होकर परम्परागत परिपाटी है और यह अधिकार राज्य प्रदान करता है। उसका विचार है कि सम्पत्ति के अभाव में मनुष्य अपने लौकिक और आध्यात्मिक जीवन के उत्तरदायित्वों को पूरा नहीं कर सकता। परन्तु उसका कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति को उतनी ही सम्पत्ति रखने का अधिकार है जितनी इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति का प्रयोग जनहित के लिए करना चाहिए।

आगस्टाइन दास-प्रथा को उचित ठहराता है क्योंकि उसका विचार है कि मूल पाप से उत्पन्न मनुष्य के पाप का दण्ड दासता है। आगस्टाइन इस बात से इन्कार करता है कि मनुष्य जन्म से दास होता है। उसका मानना है कि यदि ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त हो जाए तो मनुष्य का उत्कर्ष हो सकता है। आगस्टाइन का कहना है कि- "दासता एक प्रकार का आदि-मानव के पतन के कारण होने वाले मनुष्यता के पतन के लिए मानव जाति को दिया गया सामूहिक दण्ड है।" उसका मानना है मालिक दास से अच्छा नहीं होता। मालिक पर ईश्वर की कृपा होती है। यदि दास भी ईश्वर की कृपा का पात्र बन जाए तो वह भी दासता से मुक्त हो सकता है। लेकिन आगस्टाइन दासता का औचित्य सिद्ध करने में असफल रहे हैं। उन्होंने यह बताया कि यदि कोई मनुष्य पाप करता है तो उसके पाप के बदले में उसे दास बनाया जाना तो उचित है, लेकिन यदि सम्पूर्ण मानवता पाप करे तो उसे ही दास क्यों बनाया जाए जबकि अन्य कोई दास नहीं बनाया जाता। अतः दासता का सिद्धान्त असन्तोषजनक है।

योगदान एवं प्रभाव
(Contribution and Influence)

आगस्टाइन ने धर्मसत्ता तथा राजसत्ता को अलग-अलग मानते हुए धर्मसत्ता (चर्च) को सर्वोच्च माना है। राजसत्ता के औचित्य तथा अधिकार क्षेत्र को उसने ईश्वरीय इच्छा पर प्रतिष्ठित करके इसके प्रति समुचित द ष्टिकोण अपनाया है। उसने 'ईश्वरीय नगर' के विचार का प्रतिपादन कर ईसाई जगत् के सामने एक आदर्श प्रस्तुत कर उसकी प्राप्ति के एकमात्र साधन के रूप में चर्च को प्रतिष्ठित कर एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। उसकी पुस्तक 'The City of God' कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेण्ट धर्मावलम्बियों के लिए एक प्रेरणा-स्त्रोत बन गई और परवर्ती ईसाइ चिन्तन को प्रभावित किया। उसकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण धारणा इतिहास के दर्शन पर आधारित ईसाई प्रजाधिपत्य (Christian Commonwealth) की स्थापना थी जो मानव के आध यात्मिक विकास के चरमोत्कर्ष का प्रतीक है। उसके महत्त्वपूर्ण योगदान निम्नलिखित हैं :-

1. पवित्र रोमन साम्राज्य का निर्माण सेण्ट आगस्टाइन की पुस्तक 'ईश्वर की नगरी' (The City of God) पर भी आधारित किया है। वास्तव में आगस्टाइन ही ईसाई राष्ट्रमण्डल के पिता हैं। यह अवधारणा मध्ययुग में एक विवाद का विषय रही।
2. आगस्टाइन का चर्च को सर्वोच्चता का सिद्धान्त मध्ययुग में एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा रहा। उसने राज्य से चर्च को श्रेष्ठ बताकर चर्च को ईश्वर का प्रतिनिधि कहा। इससे चर्च के प्रति लोगों की रुचि बढ़ने लगी और चर्च मध्ययुग में सर्वोच्च शिखर पर पहुँच गया। आगस्टाइन का चर्च व राज्य की सर्वोच्चता का द्वैधवादी सिद्धान्त मध्ययुगीन विचारधारा का आधार बन गया। यह आगस्टाइन की मौलिक देन है।

3. आगस्टाइन ने सार्वभौमवाद (Universalism) की अवधारणा का प्रतिपादन किया। उसने सार्वदेशिक समाज की स्थापना के रास्ते में राज्य, जाति, भाषा आदि के अवरोध उत्पन्न नहीं हो सकते। यह अवधारणा मध्ययुगीन चिन्तन का आधार बन गई।
4. आगस्टाइन ने दैवीय सिद्धान्त को ठोस आधार प्रदान किया। उसने बताया कि राज्य 'ईश्वर की इच्छा का परिणाम' है। उसने बताया कि चर्च ईश्वर का प्रतिनिधि है। चर्च ही व्यक्ति को आध्यात्मिक मुक्ति प्रदान कर सकता है। इससे मध्ययुग में नए चिन्तन का सूत्रपात हुआ।
5. उसका द्वैधवाद (राजसत्ता और धर्मसत्ता) का सिद्धान्त मध्ययुग में गेलासियस के दो तलवारों के सिद्धान्त का आधार बना। मध्ययुग का समान्तरवाद (Parallelism) भी आगस्टाइन की विचारधारा पर ही आधारित है। इसलिए मध्ययुग में आगस्टाइन की सबसे महत्त्वपूर्ण देन उसका द्वैधवादी सिद्धान्त है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आगस्टाइन मध्ययुगीन चिन्तन के एक प्रभावशाली विचारक रहे हैं। उसकी ईश्वरीय नगर (The City of God) की अवधारणा ने अनेक शताब्दियों तक मध्ययुगीन तथा परवर्ती विचारकों को प्रभावित किया। उसने चर्च की सर्वोच्चता के सिद्धान्त का बीजारोपरण करके ईसाई विचारकों के चिन्तन को प्रभावित किया। उनके धार्मिक मन्तव्यों, बाइबल के प्रमाणवाद, चर्च की प्रभुता, आदिम पाप आदि ने सैंकड़ों वर्षों तक मध्ययुगीन विचारकों का प्रतिनिधितत्व किया। सुप्रसिद्ध पोप, ग्रगरी सप्तम, वोनीफेस अष्टम, थॉमस एकवीनास, दाँते, ग्रोशियस आदि के विचारों को आगस्टाइन के दर्शन ने अत्यधिक प्रभावित किया। सेबाइन का मत है- "उसकी रचनाएँ विचारों की खान हैं। परवर्ती रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टैण्ट इसे खोदकर नए विचार निकालते रहे।" फोक्स जैक्सन ने भी कहा कि- "सेण्ट पॉल के बाद आगस्टाइन चर्च के इतिहास में सबसे महत्त्वपूर्ण हस्ती रहे हैं।" सम्पूर्ण मध्ययुगीन चिन्तन राज्य और चर्च के बीच के वाद-विवाद के चारों ओर ही केन्द्रित रहा। अतः कहा जा सकता है कि आगस्टाइन मध्ययुगीन ईसाइत विचारधारा के सबसे अधिक प्रभावशाली विचारक रहे हैं जिन्होंने परवर्ती चिन्तन को अत्यधिक प्रभावित किया है।

अध्याय-4
सेण्ट थॉमस एक्विनास
(St. Thomas Aquinas)

परिचय
(Introduction)

सेण्ट थॉमस एक्विनास को मध्ययुग का सबसे महान् राजनीतिक विचारक माना जाता है। वह एक महान् विद्वतावादी (Scholastic) तथा समन्वयवादी था। प्रो॰ डनिंग ने उसको सभी विद्वतावादी दार्शनिकों में से सबसे महान् विद्वतावादी माना है। सेण्ट एक्विनास ने न केवल अरस्तू और आगस्टाइन के बल्कि अन्य विधिवेत्ताओं, धर्मशास्त्रियों और टीकाकारों के भी परस्पर विरोधी विचारों में समन्वय स्थापित किया है। इसलिए एम॰ बी॰ फोस्टर ने उनको विश्व का सबसे महान् क्रमबद्ध (Systematic) विचारक कहा है। वास्तव में सेण्ट थॉमस एक्विनास ने मध्ययुग के समग्र राजनीतिक चिन्तन का प्रतिनिधित्व किया हैं फोस्टर के मतानुसार वह समूचे मध्यकालीन विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं जैसा कि दूसरा कोई अकेले नहीं कर सका।

जीवन परिचय
(Life Sketch)

13 वीं शताब्दी के महान् दार्शनिक सेण्ट थॉमस एक्विनास का जन्म 1225 ई॰ में नेपल्स राज्य (इटली) के एक्वीनो नगर में हुआ। उसका पिता एकवीनी का काऊण्ट था उसकी माता थियोडोरा थी। सेण्ट थॉमस एक्विनास का बचपन सम्पूर्ण सुख-सुविधाओं से परिपूर्ण था। उसकी जन्मजात प्रतिभा को देखकर उसके माता-पिता उसे एक उच्च राज्याधिकारी बनाना चाहते थे। इसलिए उसे 5 वर्ष की आयु में मौंट कैसिनो की पाठशाला में भेजा गया। इसके बाद उसने नेपल्स में शिक्षा ग्रहण की। लेकिन उसके धार्मिक रुझान ने उसके माता-पिता के स्वप्न को चकनाचूर कर दिया और उसने 1244 ई॰ में 'डोमिनिकन सम्प्रदाय' की सदस्यता स्वीकार कर ली। उसके माता-पिता ने उसे अनेक प्रलोभन देकर इसकी सदस्यता छोड़ने के लिए विवश किया लेकिन उसके द ढ़ निश्चय ने उनकी बात नहीं मानी। इसलिए वह धार्मिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए पेरिस चला गया। वहाँ पर उसने आध यात्मिक नेता अल्बर्ट महान् के चरणों में बैठकर धार्मिक शिक्षा ग्रहण की। इसके बाद उसने 1252 ई॰ में अध्ययन व अध्यापन कार्य में रुचि ली और उसने इटली के अनेक शिक्षण संस्थानों में पढ़ाया। इस दौरान उसने विलियम ऑफ मोरवेक के सम्पर्क में आने पर अरस्तू व उसके तर्कशास्त्र पर अनेक टीकाएँ लिखीं। उस समय भिक्षुओं के लिए पेरिस विश्वविद्यालय में उपाधि देने का प्रावधान नहीं था। इसलिए पोप के हस्तक्षेप पर ही उसे 1256 ई॰ में 'मास्टर ऑफ थियोलोजी' (Master of Theology) की उपाधि दी गई। इसके उपरान्त उसने ईसाई धर्म के बारे में अनेक ग्रन्थ लिखकर ईसाईयत की बहुत सेवा की। पोप तथा अन्य राजा भी अनेक धार्मिक विषयों पर उसकी सलाह लेने लग गए। इस समय उसकी ख्याति चारों ओर फैल चुकी थी। अपने समय के महान् प्रकाण्ड विद्वान की अल्पायु में ही 1274 ई॰ में म त्यु हो गई। उसकी म त्यु के बाद 16 वीं शताब्दी में उसे 'डॉक्टर ऑफ दि चर्च' (Doctor of the Church) की उपाधि देकर सम्मानित किया गया।

महत्त्वपूर्ण रचनाएँ
(Important Works)

सेण्ट थॉमस एक्विनास के राज-दर्शन का प्रतिबिम्ब उसकी दो रचनाएँ 'डी रेजिमाइन प्रिन्सिपम' (De Regimine Principum) तथा 'कमेण्ट्री ऑन अरिस्टॉटिल्स पॉलिटिक्स' (Commentary on Aristotle's Politics) है। इन रचनाओं में राज्य व चर्च के

सम्बन्धों के साथ-साथ अन्य समस्याओं पर भी चर्चा हुई है। ये रचनाएँ राज्य व चर्च के सम्बन्धों का सार मानी जाती हैं। ये रचनाएँ राज्य व चर्च के सम्बन्धों का सार मानी जाती हैं। 'सुम्मा थियोलॉजिका' (Summa Theologica) भी एक्विनास का एक ऐसा महान् ग्रन्थ माना जाता है, जिसमें प्लेटो तथा अरस्तू के दर्शनशास्त्र का रोमन कानून और ईसाई धर्म-दर्शन के साथ समन्वय स्थापित किया गया है। इस ग्रन्थ में कानून की संकुचित रूप से व्याख्या व विश्लेषण किया गया है। 'रूल ऑफ प्रिन्सेस' (Rule of Princess), 'सुम्मा कण्ट्रा जेंटाइल्स' (Summa Contra Gentiles) 'टू दि किंग ऑफ साइप्रस' (To the King of Cyprus) 'ऑन किंगशिप' (On Kingship) भी एक्विनास की अन्य रचनाएँ हैं। 'ऑन किंगशिप' (On Kingship) में एक्विनास` राजतन्त्र व नागरिक शासन पर चर्चा की है। उसकी सभी रचनाएँ उसके महान् विद्वतावादी होने के दावे की पुष्टि करती हैं।

अध्ययन पद्धति : विद्वतावाद

(Method of Study : Scholasticism)

सेण्ट थॉमस एक्विनास का युग बौद्धिक और धार्मिक द ष्टि से एक असाधारण युग था। यह युग पूर्ण संश्लेषण का युग था। यह युग पूर्ण संश्लेषण का युग था जिसमें समन्यवादी द ष्टिकोण पर जोर दिया जा रहा था। यह विद्वतावाद का युग था जिसमें जीवन दर्शन की नैतिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक व अन्य समस्याओं का सुन्दर समावेश था। विद्वतावाद के दो प्रमुख लक्षण - युक्ति व विश्वास थे। इस युग में चर्च के सर्वोच्चता सिद्धान्त की तार्किक या युक्तिपरक व्याख्या करके यह स्पष्ट किया गया कि चर्च सिद्धान्त तर्क के विपरीत नहीं है। विद्वतावाद विश्वास और युक्ति (तर्क) में तथा यूनानीवाद और चर्चवाद में समन्वय स्थापित करने तथा सब प्रकार के ज्ञान का एकीकरण करने का प्रयास है। सेण्ट आगस्टाइन के विश्वास (Faith) तथा अरस्तू के विवेक (Reason) या तर्क में समन्वय स्थापित करने का प्रयास एक्विनास ने किया। उसमे मतानुसार विद्वतावाद (Scholasticism) तीन मंजिले भवन की तरह है। इसकी पहली मंजिल विज्ञान तथा दूसरी मंजिल दर्शनशास्त्र की प्रतीक है। दर्शनशास्त्र विज्ञान के मूल तत्त्वों को एकत्रित कर उनमें सह-सम्बन्ध स्थापित करता है तथा उसके सार्वभौमिक प्रयोग तथा मान्यता के सिद्धान्तों को निर्धारित करने का प्रयास करता है। यह विज्ञानों का सामान्यकृत व सुविवेचित सार (Essence) है। ये दोनों मंजिल मानव तर्क का प्रतीक हैं जिनका समन्वय व नियन्त्रण धर्मदश्रन द्वारा होना चाहिए। धर्म-दर्शन ज्ञान इमारत की सबसे महत्त्वपूर्ण मंजिल है। यह धर्म-दर्शन ईसाई प्रकाशना (Revelation) पर निर्भर है जो दर्शनशास्त्र तथा विज्ञान से सर्वश्रेष्ठ है। धर्म-विज्ञान या धर्म-दर्शन उस प्रणाली को पूरा कर देता है जिसके आरम्भ बिन्दु विज्ञान और दर्शन हैं। जिस प्रकार विवेक दर्शन का आधार है, उसी प्रकार धर्म-विज्ञान का आधार विश्वास है। इन दोनों में कोई विरोध नहीं है। वे एक-दूसरे के पूरक हैं। अतः दोनों का मिश्रण ज्ञान की इमारत को मजबूत बनाता है। एक्विनास का मानना है कि धर्म-विज्ञान ही सर्वोच्च ज्ञान है जो ज्ञान की अन्य शाखाओं - नीतिशास्त्र, राजनीतिशास्त्र तथा अर्थशास्त्र को अपने अधीन रखता है। इस प्रकार एक्विनास ने मध्ययुग की तीन महान् बौद्धिक विचारधाराओं - सार्वभौमिकतावाद, विद्वतावाद और अरस्तूवाद में समन्वय स्थापित किया है। उसने समन्वयात्मक तथा सकारात्मक पद्धति का ही अनुसरण किया है।

राज्य का सिद्धान्त

(Theory of State)

जिस प्रकार एक्विनास ने धर्म से प थक् तर्क का अस्तित्व माना है, उसी प्रकार उसने चर्च से प थक् राज्य का अपना औचित्य भी स्वीकार किया है। आरम्भिक मध्ययुगीन ईसाई विचारकों का मानना था कि राज्य की उत्पत्ति मनुष्य के आरम्भिक पाप (Original Sin) के कारण हुई है। एक्विनास ने मध्ययुगीन तथा उससे पहले से प्रचलित राज्य-उत्पत्ति के सभी सिद्धान्तों को नकारते हुए अपने ग्रन्थ सुम्मा 'थियोलोजिका' में राज्य सम्बन्धी विचारों को प्रस्तुत किया, उसने राज्य की उत्पत्ति की पापमयी धारणा को सरेआम अस्वीकार कर दिया। वह अरस्तू तथा प्लेटो जैसे यूनानी दार्शनिकों की तरह यह मानता था कि मनुष्य राजनीतिक तथा सामाजिक प्राणी है और राज्य की आवश्यकता केवल इसलिए नहीं है कि वह मानसव बुराइयों को रोकता है, बल्कि इसलिए भी है कि राज्य के बिना व्यक्ति अपना सम्पूर्ण विकास नहीं कर सकता। एक्विनास एक ऐसा प्रथम ईसाई दार्शनिक था जिसने यह कहने का साहस किया कि राज्य मनुष्य के लिए स्वाभाविक है और जो नियन्त्रण राज्य अपने अपने सदस्यों पर आरोपित करता है, वह उनके लिए बाधा न होकर उनके नैतिक विकास में सहायक होता है। उसका मानना था कि समाज प्राकृतिक है, इसलिए राज्य भी प्राकृतिक है। इस प्रकार एक्विनास ने राज्य की उत्पत्ति के बारे में एक विशिष्ट मध्ययुगीन धारणा अपनाकर राज्य की उत्पत्ति के आगस्टाइन के सिद्धान्त को अरस्तू के तर्क के अनुसार संशोधित करने का

प्रयास किया। उसने स्पष्ट किया कि निर्दोषता की अवस्था (State of Innocence) में (पापमयी जीवन से पहले) भी राज्य किसी न किसी रूप में विद्यमान था। उसने आगस्टाइन तथा अन्य ईसाई विचारकों की इस अभिधारणा को अस्वीकार किया कि निर्दोषता की अवसाि में राज्य नाम की कोई वस्तु नहीं थी। एक्विनास ने यह स्पष्ट करने के लिए कि राज्य एक कृत्रिम, पापमयी, परम्परागत संस्था न होकर एक प्राकृतिक संस्था है, के पक्ष में अनेक तर्क प्रस्तुत किए। उसके प्रमुख तर्क निम्न प्रकार से हैं:-

1. "मनुष्य स्वभाव से ही एक सामाजिक प्राणी है।" एक्विनास ने अरस्तू के इस तर्क का विस्तार करते हुए कहा कि एक प्रधान (Head) के बिना व्यक्ति एक व्यवस्थित समाज में नहीं रह सकता। प्रधान या मुखिया जनहित की देखभाल करके समाज के निर्देशक तथा दण्डनायकिक शक्ति का केन्द्र बना रहता है। यदि श्रेष्ठ का निम्नतर पर शासन स्वीकार कर लिया जाए तो मनुष्य का मनुष्य के ऊपर शासन की धारणा स्वाभाविक बन जाती है। अतः राज्य मनुष्य के लिए प्राकृतिक है।
2. यदि अधिक सद्‌गुणी, श्रेष्ठ, प्रज्ञावान व्यक्तियों का निम्न पर शासन प्रकृति के अनुकूल है तो राज्य एक प्राकृतिक संस्था है। यह प्राकृतिक होने के साथ-साथ निम्न लोगों के लिए लाभदायक भी है। इससे उनको अपने व्यक्तित्व का विकास करने के अवसर प्राप्त होंगे।
3. एक्विनास का मानना है कि व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरों पर आश्रित होता है। इससे अच्छे जीवन के लिए सेवाओं का स्वाभाविक आदान-प्रदान होता रहता है। इसलिए समाज और राज्य मानव-प्रकृति की पूर्ति पर आधारित हैं। वह मनुष्य के पापमयी जीवन पर आधारित नहीं है। एक्विनास का यह विचार कि राज्य का लक्ष्य सद्‌गुणों का विकास करना है, सरकार के कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में एक रचनात्मक द ष्टिकोण प्रकट करता है। उसके मतानुसार शासक का पद समस्त समाज के लिए होता है। सामाजिक हित में योगदान देने में ही उसकी सार्थकता है। उसका मानना है कि समुदाय को सद्‌गुणयुक्त जीवन की प्राप्ति में सहयोग देना ही शासक का प्रमुख कर्त्तव्य है। इसमें समाज में शान्ति व न्याय-व्यवस्था कायम रखना भी शामिल है। इसके अतिरिक्त समुदाय को जीवनयापन की वस्तुओं के बारे में आत्मनिर्भर बनाना भी शासक का प्रमुख कर्त्तव्य है। इसके लिए जो भोज्य पदार्थों की पर्याप्त आपूर्ति की व्यवस्था करनी चाहिए। उसे शिक्षालयों, चर्चों व बाजारों का अच्छा प्रबन्ध करना चाहिए। माप-तौल की समुचित प्रणाली का विकास करना, गरीबों के भरण-पोषण की व्यवस्था करना, सड़कों को चोर-डाकुओं के भय से मुक्त रखना, जनसंख्या पर नियन्त्रण रखना, पुरस्कार व दण्ड की व्यवस्था के माध्यम से प्रजा पर नियन्त्रण रखना, उसके प्रमुख कर्त्तव्य हैं। उसे इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि राज्य की भौतिक अवस्थाएँ उच्चतर लक्ष्य अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति में सहायक हों। इस प्रकार सेण्ट थॉमस एक्विनास ने शिष्टाचार व रीति-रिवाजों की समानता को राज्य का आचार बताकर आधुनिक राष्ट्रीय राज्य समर्थन किया है।

यद्यपि सेण्ट एक्विनास ने काफी हद तक अरस्तू का अनुसरण करके शासक के कर्त्तव्यों पर जोर दिया लेकिन वे भी ईसाइत के प्रभाव से बच नहीं सके। उसने यह कहा कि राज्य मानव-प्रकृति पर आधारित है, परन्तु वह यह कहने को भी विवश हुआ कि राज्य ईश्वर द्वारा स्थापित किया जाता है। राजनीतिक समाज की उत्पत्ति सहज सामाजिक प्रव त्तियों का ही परिणाम है। उसका विचार है कि सभी राजनीतिक अधिकारों का स्रोत ईश्वर है जो सभी वस्तुओं का सर्वोच्च शासक है। शासन करने का वैध अधिकार समूचे समुदाय को ईश्वर से ही प्राप्त होता है। मनुष्य में राजनीतिक समुदाय के विकास की प्रव त्ति ईश्वर ने ही आरोपित की है। इस प्रकार सेण्ट थॉमस एक्विनास ने अरस्तू के राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त का ईसाइयत विचारधारा में समनव्य करके अपने सिद्धान्त की आधारशिला रखी। आगे चलकर 18 वीं शताब्दी में रूसो, बर्क तथा अन्य विचारकों ने इस सिद्धान्त की प्रशंसा की।

सरकार का सिद्धान्त
(Theory of Government)

सेण्ट एक्विनास ने मनुष्य का मनुष्य के ऊपर शासन दो प्रकार का बताया है। पहला, पाप से उत्पन्न दासता का रूप होता है। दूसरा सहज सामाजिक प्रव त्ति से उत्पन्न नागरिक सत्कार के रूप में होता है। ऐसी नागरिक सरकार कई प्रकार की होती है - (i) पुरोहितवादी (Sacerdotal) (ii) राजसी (Royal) (iii) राजनीतिक (Political) (iv) आर्थिक (Economic)। इनमें से

पहली पोपतन्त्र के रूप में सर्वोच्च किस्म होती है। सामान्य रूप से राज्य का शासन राजसी अथवा राजनीतिक सरकारों द्वारा चलाया जाता है। राजसी सरकार में शासक के पास निरंकुश शक्तियाँ न होकर विशाल शक्तियाँ होती हैं। राजनीतिक सरकार में शासक की शक्तियाँ कानूनों से सीमित होती हैं। एक्विनास का मानना है कि सरकारों का अच्छा या बुरा होना 'सब की भलाई' के मापदण्ड पर ही निर्भर करता है। एक्विनास ने इस बात पर जोर दिया है कि राज्य या सरकार का प्रमुख लक्ष्य मनुष्यों के बीच सद्गुणों का विकास करना है ताकि वे मोक्ष-प्राप्ति करने में सफल हो सकें। इस उद्देश्य या लक्ष्य की प्राप्ति में सफल सरकार अच्छी तथा असफल सरकार निकृष्ट होती है। इस प्रकार सरकारों का वर्गीकरण करने में एक्विनास ने अरस्तू का अनुसरण करते हुए राजतन्त्र, अभिजाततन्त्र, सर्वजनतन्त्र, निरंकुशतन्त्र, धनिकतन्त्र तथा जनतन्त्र में बाँटा है। इनमें से राजतन्त्र सरकार का सर्वोत्तम तथा जनतन्त्र निकृष्ट रूप होता है।

राजतन्त्र पर विचार

(Views on Monarchy)

एक्विनास ने राज्य के स्थायित्व, एकता व नियमितता के लिए राजतन्त्र का ही समर्थन किया है। उसने इसे सबसे सर्वश्रेष्ठ सरकार मानकर इसकी प्रशंसा की है। उसके समर्थन के आधार निम्नलिखित हैं :-

1. समाज में एकता तथा शान्ति राजतन्त्र में ही सम्भव है।
2. अव्यवस्था तथा अराजकता की समाप्ति राजतन्त्र में ही सम्भव है।
3. जिस तरह ईश्वर एक है और उसका पूरे ब्रह्माण्ड पर शासन है, उसी प्रकार समाज में एक राजा ही ठीक है। जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अवयवों पर दिल, मधुमक्खियों के छत्ते पर रानी मधुमक्खी का शासन अच्छा रहता है, वैसे ही समाज में एक ही व्यक्ति का शासन सर्वोत्तम होता है।
4. ऐतिहासिक अनुभव भी यह बताता है कि राजतन्त्रात्मक सरकारें ही अन्य सरकारों की तुलना में सर्वश्रेष्ठ रही हैं। राजतन्त्र में ही शान्ति व सम द्धि का वातावरण रहा है। लोकतन्त्रात्मक सरकारारें फूट व अराजकता से भरपूर रही हैं।

इस प्रकार एक्विनास ने राजतन्त्र को सर्वोत्तम सरकार माना है।

निरंकुश सरकार

(Tyranny)

एक्विनास का मानना है कि राजतन्त्र पथभ्रष्ट होकर अत्याचारी शासन में बदल सकता है। यही राजतन्त्र का सबसे गम्भीर दोष हैं यह सरकार की सबसे बुरी किस्म है। इसमें शासक प्रजा के हित में शासन न करके अपने हितार्थ शासन करता है। उसने बताया है कि राजतन्त्र को निरंकुश बनने से रोकने के लिए राजतन्त्र को लचीला बनाना आवश्यक होता है। उसका मानना है कि तानाशाही के अन्तिम काल अर्थात् स्वयं लोगों के अन्याय को दूर किया जाना चाहिए ताकि राजतन्त्र को तानाशाही में परिवर्तित होने से रोका जा सके। लेकिन उसने यह नहीं बताया कि राजतन्त्र में लचीलापन कैसे लाया जाए। एक्विनास अत्याचारी शासक के वध का विरोध करते हैं। उनका मानना है कि यह भी सम्भव है कि निरंकुशतन्त्र जनतन्त्र में बदलने पर और अधिक अत्याचारी शासन कायम हो सकता है। एक्विनास स्वयं राजतन्त्र को निरंकुश नहीं बनाते क्योंकि वे स्पष्ट करते हैं कि राजा को सदैव अपने उत्तरदायित्व निभाने चाहिएं। राजा का प्रमुख उत्तरदायित्व ईश्वर के प्रति होता है। पोप ईश्वर का प्रतिनिधि होने के कारण उसको अपने अधीन रख सकता है। जनता को भी शान्तिपूर्वक तरीके से उसे हटाने की शक्ति प्राप्त है। उसको हटाना तो उचित है लेकिन उसके पद का हनन करना अनुचित है। वह तानाशाही की हत्या के सिद्धान्त की निन्दा करते हैं। इस प्रकार एक्विनास राजतन्त्र को सर्वोत्तम सरकार मानते हुए उसको बनाए रखने के पक्षधर हैं। उसके अनुसार राजा को अत्याचारी बनने से रोकने के लिए राजा को संविधान-पालन की शपथ दिलाने की व्यवस्था होनी चाहिए ताकि शपथ का उल्लंघन करने पर राजा को न्यायोचित आधार पर गद्दी से उतारा जा सके।

सरकार के कार्य

(Functions of Government)

एक्विनास के मतानुसार शासन का अधिकार एक न्यास (Ttrust) का पद है जो समूचे समाज के लिए अस्तित्व में लाया जाता है। उसके लिए कुछ उत्तरदायित्व या कर्त्तव्य निश्चित किए गए हैं, जिनके पूरा होने पर ही शासक का पद कायम रह सकता

है। एक्विनास के अनुसार राज्य या सरकार के निम्न कार्य हैं :-

1. सरकार को राज्य में एकता को बढ़ावा देना चाएि ताकि शान्ति कायम हो सके। फूट और दलबन्दी को समाप्त करना चाहिए।
2. सरकार का यह भी कर्त्तव्य है कि वह अपनी प्रजा पर नाजायज कर न लगाए और न ही उसकी सम्पत्ति का हरण करे।
3. सरकार को मनुष्य की मूलभूत आवश्यकताओं की वस्तुओं की पूर्ति बनाए रखनी चाहिए।
4. बाहरी आक्रमणों से बाहरी शत्रुओं से अपनी सीमाओं और नागरिकों की रक्षा करनी चाहिए।
5. शासक का यह कर्त्तव्य है कि वह गरीबों के भरण-पोषण की व्यवस्था करे।
6. सरकार का यह कर्त्तव्य है कि वह राज्य के लिए विशेष मुद्रा और नाप-तौल की प्रणाली लागू करे।
7. चोर-डाकुओं के भय से सड़कों को मुक्त रखे।
8. योग्य व्यक्तियों को पुरस्कृत तथा अपराधियों को दण्ड देने की व्यवस्था करे।
9. अपने अधिकार क्षेत्र में शान्ति औरा व्यवस्था बनाए रखे। राज्य में अराजकता, अव्यवस्था तथा उपद्रवों से निपटने में सक्षम सरकार का होना जरूरी है।
10. सरकार को अपने नागरिकों में धर्मनिरपेक्ष द ष्टिकोण विकसित करना चाहिए। उसे प्रजा को सदाचारी बनाने पर जोर देना चाहिए।
11. सरकार को व्यक्तिगत हितों की बजाय लोकहित को बढ़ावा देना चाहिए।

इस प्रकार एक्विनास ने सरकार के जो कर्त्तव्य या कार्य निर्धारित किए हैं, वे आधुनिक सरकारों के कार्यों से मिलते-जुलते हैं। लेकिन एक्विनास का शासक आधुनिक राज्य की तरह सम्प्रभु नहीं है। उसके कार्य तो सकारात्मक हैं लेकिन उनको पूरा करने के लिए उसके पास सर्वोच्च सत्ता नहीं है। उस पर पोप या चर्च का पूर्ण नियन्त्रण है। शासक को नियन्त्रण या मर्यादा में रहकर ही अपने कर्त्तव्यों का निर्वहन करना पड़ता है।

चर्च और राज्य का सम्बन्ध

(Relationship Between Church and State)

सेण्ट थॉमस एक्विनास ने लौकिक सत्ता (राज्य) तथा पारलौकिक सत्ता (चर्च) में सम्बन्ध स्थापित करके राजसत्ता तथा धर्मसत्ता के मध्य चल रहे लम्बे संघर्ष का समाधान करने का प्रयास किया। एक्विनास ने बताया कि मनुष्य सांसारिक सुख व आत्मिक सुख की प्राप्ति चाहता है। सांसारिक सुख की प्राप्ति राज्य द्वारा तथा आत्मिक सुख की प्राप्ति चर्च द्वारा ही कराई जा सकती है। थॉमस एक्विनास का मत है कि सद्गुणी व्यक्ति भी चर्च की सहायता के बिना अपने परम लक्ष्य (मोक्ष) को प्राप्त नहीं कर सकता। यह परम सत्य (मोक्ष) श्रद्धा और विश्वास पर ही आधारित होता है। अतः यह चर्च का मामला होता है। राजा का कर्त्तव्य बनताहै कि वह इस प्रकार शासन करे कि ईश्वर की इच्छा पूरी और धर्म की व द्धि हो। एक्विनास के अनुसार व्यक्ति के जीवन का उद्देश्य तो मोक्ष प्राप्त करना है। इसे प्राप्त कराने के लिए दोनों (चर्च व राज्य) को संगठित प्रयास करना चाहिए। राज्य का कर्त्तव्य है कि वह नागरिकों को सद्गुणी बनाने के प्रयास करे और चर्च का कर्त्तव्य है कि वह मनुष्यों को मोक्ष प्राप्ति कराने के लिए उनकी आत्मशुद्धि में व द्धि करे। एक्विनास का कहना है कि राज्य चर्च के अधीन रहते हुए अपने कर्त्तव्यों का निर्वहन करे ताकि परम लक्ष्य को आसानी से प्राप्त किया जा सके। एक्विनास ने राज्य की तुलना समुद्री जहाज के बढ़ई से तथा चर्च की तुलना जहाज के चालक से करके अपना मत प्रस्तुत किया है कि चालक ही जहाज का दिशा निर्देशन और दिनगमन करता है। इसका अर्थ यह है कि सांसारिक शासक चर्च के सहयोग और उसके मार्गदर्शन के अन्तर्गत ही समुचित रूप से अपने कर्त्तव्यों का निर्वहन कर सकता है। मोक्ष तर्क के द्वारा नहीं धर्म में विश्वास के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है और धर्म के सारे मामलों में चर्च ही सर्वोच्च सत्ता है। चर्च राज्य का नियन्त्रक व मार्गदर्शक है, इसलिए पोप की सत्ता सांसारिक सत्ता (राज्य) से श्रेष्ठ है। आत्मा पर नियन्त्रण रखना भौतिक वस्तुओं पर नियन्त्रण रखने से श्रेष्ठ है। इसलिए सभी व्यक्तियों को चर्च की सर्वोच्च सत्ता को स्वीकार करना चाहिए। एक्विनास ने कहा कि शासक ईश्वर की छाया हो सकता है, लेकिन यदि वह चर्च की अवहेलना

करे, तो उसे धर्म बहिष्कृत किया जा सकता है। पोप के पास सांसारिक शासकों के कर्त्तव्यों का नियमन करने, उन्हें दण्ड देने और प्रजा को उनके प्रति निष्ठा से मुक्त करने की शक्ति है। एक्विनास ने कहा है- "जिस प्रकार शरीर मस्तिष्क के अधीन है वैसे ही सांसारिक सत्ता आध्यात्मिक सत्ता के अधीन है।" इसलिए यदि चर्च शासक के कार्यों में हस्तक्षेप करता है तो वह अनुचित नहीं है। इसके बावजूद भी चर्च और राज्य एक-दूसरे के विरोधी न होकर एक-दूसरे के पूरक हैं जिसमें चर्च राज्य से श्रेष्ठ है। थॉमस एक्विनास ने यह भी स्पष्ट किया है कि पोप की राज्य क्षेत्रीय प्रभुसत्ता न्यायोचित है। चर्च का प्रधान होने के नाते उसकी अपनी भूमि हो सकती है, लेकिन वह उसका स्वामी नहीं हो सकात। उसने राज्य के दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए, राज्य को सांसारिक मामलों में कुछ छूट प्रदान करके मध्यमार्गी होने का परिचय दिया है। एक समन्वयवादी विचारक होने के नाते उसने पोप को राजा के ऊपर कोई प्रत्यक्ष अधिकार नहीं सौंपा है। उसने सांसारिक मामलों में राजा को ही सम्प्रभु माना है। कार्लाइल ने इस बारे में कहा है- "सेण्ट एक्विनास का यह सामान्य और परिपक्व निर्णय था कि सांसारिक मामलों में पोप का प्रत्यक्ष अधिकार न होकर अप्रत्यक्ष अधिकार ही है।" वास्तव में सत्य तो यह है कि उसने नम्र पोपवादी होने के नाते धर्मसत्ता व राजसत्ता के मध्य लम्बे समय से चल रहे संघर्ष को कुछ शान्त करने का प्रयास किया है।

दासता सम्बन्धी विचार
(Views on Slavery)

सेण्ट थॉमस एक्विनास ने भी अपने पूर्ववर्ती विचारकों की तरह दासता को दैवी दण्ड मानकर उसका समर्थन किया है। वह अरस्तू की तरह दास-प्रथा को लाभदायक तो मानता है लेकिन उसके विचार अरस्तू और आगस्टाइन से पूरी तरह मेल नहीं खाते हैं। उसका मानना है कि दासता एक प्राकृतिक प्रथा है जो सैनिकों में साहस का संचार करती है। जब सैनिक युद्धक्षेत्र में लड़ते हैं तो उन्हें दासता का भय सताता है। इस भय के कारण वे वीरता और साहस से लड़कर युद्ध में विजयी बनने के प्रयास करते हैं। दासता का भय ही सैनिक विजयों का कारण होता है। एक्विनास ने अपने इस मत की पुष्टि के लिए इतिहास और 'ओल्ड टेस्टामेण्ट' (Olf Testament) की डिद्रानमी नामक पुस्तक से कुछ प्रमाण भी प्रस्तुत किए हैं।

सम्पत्ति पर विचार
(Views on Property)

एक्विनास ने भी अरस्तू की तरह ही व्यक्तिगत सम्पत्ति का समर्थन करते हुए उसे मानव जीवन के लिए आवश्यक माना है। उसका कहना है किस सम्पत्ति का प्रयोग स्वार्थसिद्धि के लिए न करके जनहित में किया जाना चाहिए। सम्पत्ति का साव्रजनिक उपयोग सार्वजनिक कार्यों के लिए ही किया जाना चाहिए। उसके सम्पत्ति सम्बन्धी विचार धार्मिक परिस्थितियों के प्रभाव से अछूते नहीं हैं। उसने मध्ययुगीन ईसाई पादरियों के विचारों से सहमत होते हुए कहा है कि सम्पत्ति पर चर्च और पोप का भी अधिकार उपयुक्त है लेकिन वह किसी सांसारिक शासक के सामन्त के रूप में भूमि का स्वामी नहीं बन सकता। पोप अपनी सम्पत्ति का प्रयोग निर्धनों की सहायता के लिए धार्मिक नियमों के अनुसार ही कर सकता है। उसका मानना है कि सम्पत्ति की अधिकता ही सभी पापों का मूल कारण है। सम्पत्ति पर धर्म का लेबल लगाने पर ही सम्पत्ति के सारे दोष मिट जाते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि एक्विनास ने अरस्तू तथा आगस्टाइन के विचारों से अलग ही अपने सम्पत्ति सम्बन्धी विचार प्रतिपादित किए हैं।

कानून का वर्गीकरण
(Classification of Law)

राजनीतिक चिन्तन के लिए एक्विनास का कानून सम्बन्धी विवेचन उसकी सबसे महान् एवं मूल्यवान देन है। एक्विनास ने कानून के वर्गीकरण का सबसे अधिक मौलिक विचार प्रस्तुत करके आधुनिक युग को ऋणी बना दिया है। कानून के बारे में किसी भी पूर्ववर्ती विचारक ने इतना तर्कसंगत तथा व्यवस्थित विवेचन प्रस्तुत नहीं किया जितना एक्विनास ने। एक्विनास ने अरसतू, सिसरो, चर्च के पादरियों, सेण्ट आगस्टाइन जैसे विचारकों के कानून पर विचारों को एकत्रित करके उन्हें एक नई दिशा दी। उसने एक तर्क-क्रम के द्वारा कानूनों का वर्गीकरण करके कानूनों को चार भागों - शाश्वत, प्राकृतिक, मानवीय तथा दैवीय

में बाँटा है। एक्विनास के कानून सम्बन्धी विचारों को जानने के लिए कानून की आधुनिक व पूर्ववर्ती अवधारणाओं को समझना आवश्यक है।

कानून की परिभाषा
(Definition of Law)

आधुनिक विचारकों के अनुसार कानून सम्प्रभु का आदेश है। कानून एक ऐसा सकारात्मक विचार है जो उन कार्यों को बाध यकारी बना देता है, जो पहले बाध्यकारी नहीं थे। पूर्ववर्ती यूनानी विचारकों के अनुसार कानून विवेक या बुद्धि का परिणाम है। एक्विनास ने कानून की यूनानी व रोमन विचारधाओं को समन्वित करके अपना कानून का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। एक्विनास ने कानून की मध्ययुगीन विचारधारा को और अधिक व्यापक बना दिया है। एक्विनास के अनुसार कानून पूरे विश्व पर लागू होता है। यह एक ऐसी वस्तु होती है जो मानवीय सम्बन्धों का नियमन करने के साधन की अपेक्षा अपने कार्यक्षेत्र में व्यापक है। एक्विनास ने अपनी धारणा को विश्वव्यापी रूप देने का प्रयास किया है। उसने मानवीय कानून को दैवीय कानून से जोड़कर मानवीय विवेक को दैवी विवेक का अंग माना है। उसने मानवीय कानून और दैवीय कानून के बीच अनश्वर एकता को स्वीकार किया है। उसने कानून को परिभाषित करते हुए कहा है- "कानून लोक-कल्याण के लिए विवेक का अध्यादेश है जो उस व्यक्ति द्वारा बनाया, घोषित और लागू किया जाता है जिसे समाज की चिन्ता है।" अर्थात् कानून बनाने और उसे लागू करने का अधिकार ऐसे व्यक्ति के हाथ में रहता है जिन्हें लोक कल्याण की चिन्ता है। एक्विनास के मतानुसार- "कानून एक विशेष नियम अथवा कार्यों का मापदण्ड है जिसके आधार पर किसी को कार्य करने के लिए प्रेरित किया जाता है अथवा कार्य करने से रोक दिया जाता है।" इसका अर्थ यह है कि ऐसा कानून जो विवेकपूर्ण और सामान्य हित के उद्देश्य से प्रेरित नहीं है तो वह सच्चा कानून नहीं है।

कानून के प्रकार
(Types of Law)

एक्विनास ने कानून को चार भागों में बाँटा है :-

1. **शाश्वत कानून** (Eternal Law)
2. **प्राकृतिक कानून** (Natural Law)
3. **दैवी कानूनी** (Divine Law)
4. **मानवीय कानून** (Human Law)

एक्विनास ने वर्गीकरण की इस श ंखला में शाश्वत कानून को शीर्ष स्थान पर रखा है। प्राकृतिक कानून तथा दैवीय कानून का मानव के भौतिक जीवन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। मानवीय कानून ही मनुष्य के प्रत्यक्ष जीवन से जुड़ा हुआ है। इन चारों का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है :-

1. **शाश्वत कानून (External Law) :** यह कानून ईश्वरीय विवेक पर आधारित होते हैं जिनके द्वारा ईश्वर एक पूर्व निश्चित योजना के आधार पर विश्व पर शासन करता है। शाश्वत कानून ईश्वरीय विवेक से निकली हुई ईश्वरीय इच्छाएँ हैं। इसी कानून के द्वारा स ष्टि का संचालन होता है तथा आकाश और प थ्वी तथा चेतन और अचेतन सभी पदार्थ शाश्वत कानून से नियन्त्रित व निर्देशित होते हैं। यह कानून बुद्धिगम्य तथा बुद्धिअगम्य दोनों प्रकार के जगत् में अलग-अलग तरीके से कार्य करता है। शाश्वत कानून का स्वभाव विश्वव्यापी है। इस धरती पर विद्यमान सभी कानूनों का स्रोत शाश्वत कानून ही है। विवेकशील प्राणी शाश्वत कानून के अनुसार ही आचरण करते हैं। एक्विनास के अनुसार शाश्वत कानून का निर्माण उसी समय हुआ जिस समय ईश्वर के मनका निर्माण हुआ। ईश्वर की समस्त स ष्टि शाश्वत कानून के अधीन है। उस स ष्टि के सभी भाग उसके प्रभाव को ग्रहण करने में समर्थ होने के कारण उसके हिस्सेदार हैं। यह कानून प्राप्ति कर सकने योग्य कार्यों तथा उद्देश्यों को करने के लिए प्रेरणा प्रदान करता है। एक विवेकी व्यक्ति अविवेकी व्यक्ति की तुलना में शाश्वत कानून को जल्दी समझ लेता है। सीमित बुद्धि के कारण शाश्वत कानूनका आभास करना कठिन होता है। इसका आभास प्राकृतिक कानून के रूप में ईश्वर करा देता है। यह कानून ईश्वर में अनन्तकाल से दैवी विवेक के रूप में विद्यमान रहा हैं यह एक सुनिश्चित कानून नहीं है क्योंकि उसका निर्माण विशिष्ट समय पर नहीं हुआ है। यह स्वयं निर्मित तथा

स्वयं प्रवर्तित है। यह ईश्वर का अमर कानून है। ईश्वरीय या दैवीय न्याय शाश्वत कानून पर ही टिका हुआ है। इसी कानून के अनुसार ईश्वर सम्पूर्ण स ष्टि पर अपना वर्चस्व बनाए हुए है।

2. **प्राकृतिक कानून** (Natural Law) : यह कानून मानवीय जीवनों में ईश्वरीय विवेक का प्रतिबिम्ब है। एक्विनास के मतानुसार- "विवेकशील प्राणी का शाश्वत कानून के अनुसार आचरण करना ही प्राकृतिक कानून है।" इन कानूनों की सहायता से व्यक्ति अच्छे-बुरे का भेद जान सकता है। "यह विवेकपूर्ण जीवधारियों की शाश्वत कानून में सहभागिता है।" ये कानून शाश्वत कानूनों की तुलना में अधिक स्पष्ट व बोधगम्य होते हैं। ये मौलिक रूप से सबके लिए समान होते हैं, परन्तु कुछ विशेष काल और स्थान के लिए अलग-अलग भी हो सकते हैं। ये संसार की सभी जड़ व चेतन वस्तुओं में समान रूप से व्याप्त होते हैं। चेतन पदार्थों में इनकी अभिव्यक्ति स्पष्ट होती है, जबकि अचेतन पदार्थों में अस्पष्ट होती है। चूँकि मनुष्य की तर्क-बुद्धि अपूर्ण होती है। इसलिए मनुष्य का मार्ग निर्देशन करने व विनियमन करने के लिए यह कानून पर्याप्त नहीं है। इस कानून की भी शाश्वत कानून की तरह प्रमुख विशेषता यह है कि यह कानून सकारात्मक कानून नहीं है तथा इसके नियम भी सर्वांगीण नहीं हैं। प्राकृतिक कानून सभी विवेकपूर्ण प्राणियों में समाज कल्याण की भावना ही भरता है। इसकी अन्तःवस्तु का विस्तार उन वस्तुओं से किया जा सकता है जो केवल मानव-कल्याण में योगदान देती है। यह मनुष्य की अनेक स्वाभाविक इच्छाओं - आत्मरक्षा, यौन-सन्तुष्टि, सन्तानोत्पादन, परोपकार आदि की सन्तुष्टि करता है। यह मनुष्य में सामाजिकता का गुण पैदा करता है।यह मानव प्राणियों में सत्य की खोज करने और तर्कबुद्धि से विकसित करने की इच्छा पैदा करता है। इस प्रकार एक्विनास का प्राकृतिक कानून व्यापक आयाम धारण कर लेता है।

3. **दैवीय कानून** (Divine Law) : एक्विनास का मानना है कि मनुष्य का मार्ग-दर्शन करने के लिए अधिक व्यापक कानून का होना जरूरी है। ऐसा कानून दैवीय कानून ही हो सकता है। यह एक ऐसा सकारात्मक कानून है जो प्राकृतिक कानून की कमी को पूरा करता है। संतों अथवा बाइबल के माध्यम से प्रकट की गई ईश्वर की वाणी ही दैवीय कानून है। दैवी कानून मानव तर्क-बुद्धि की खोज की बजाय ईश्वर के अनुग्रह का उपहार है। यह मनुष्य को परम-सुख (मोक्ष) की प्राप्ति कराता है। प्राकृतिक कानूनतो सभी के लिए समान होता है लेकिन दैवीय-कानून का ज्ञान ईश्वर के कृपापात्रों को ही प्राप्त होता है। एक्विनास के मतानुसार- "दैवी कानून ईश्वर की इच्छा के आदेशों की प्रणाली है जिसे प्रकाशन (Revelation) द्वारा मनुष्यों तक पहुँचाया जाता है।" यह सहज विवेक की खोज होने के अतिरिक्त ईश्वरीय कृपा की देन है। एक्विनास के अनुसार विवेक और प्रकाशना में कोई अन्तर नहीं है। प्रकाशना विवेक की व द्धि ही करती है, विनाश नहीं। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। कानून रूपी इमारत का आधार विवेक है तथा शिखर प्रकाशना है। दैवीय कानून ईश्वरीय इच्छा के आदेशों का संसार के सामने प्रकटकरण है जिसका पालन चर्च द्वारा किया जाता है। इनके पालन का आधार मानव की आस्था है, विवेक नहीं। ये बाध्यकारी शक्ति से युक्त नहीं है। ईश्वरीय रचना होने के कारण ये मानवीय कानून से श्रेष्ठ है।

4. **मानवीय कानून** (Human Law) : इसकी उत्पत्ति प्राकृतिक कानून से होती है। यह कानून उसी समय तक वैध है, जब तक यह प्राकृतिक कानून के अनुसार रहे। एक्विनास के मतानुसार- "मानवीय कानून मनुष्यों के आचरण का नियमन करने के लिए नियमों की वह प्रणाली है जिसको प्राकृतिक कानून के सिद्धान्तों से मानव-विवेक द्वारा क्रियान्वित किया जाता है।" उसके अनुसार मानवीय कानून प्राकृतिक कानून का बुद्धिसंगत परिणाम है। यह प्राकृतिक कानून का उप-सिद्धान्त है। "मानवीय कानून प्राकृतिक कानून ही है जिसके द्वारा मानवीय विवेक की युक्तिपरक व्यवस्था द्वारा इसे सांसारिक मामलों में सक्रिय बनाया जाता है।" यह मानवीय इच्छा पर आधारित होता है। ये मनुष्य द्वारा समाज में शान्तिपूर्ण जीवन बनाए रखने के लिए बनाई गई दण्ड व्यवस्थाएँ हैं जिनके भय से समाज में शान्ति बनी रहती है। ये प्राकृतिक कानून के पूरक होते हैं। प्राकृतिक कानूनों की अस्पष्टता तथा अपरिभाषिता के कारण इसकी आवश्यकता पड़ती है। दण्डात्मक शक्ति के कारण ये कानून प्राकृतिक कानूनों से अधिक प्रभावी रहते हैं। एक्विनास ने मानवीय कानून को दो भागों - राष्ट्रों का कानून (Jus Gentium) और नागरिक कानून (Jus Civile) में बँटा है। एक्विनास ने नागरिक कानून को परिभाषित करते हुए कहा है- "यह सबके हित के लिए मानव-तर्कबुद्धि का अध्यादेश है, जिसे ऐसे व्यक्ति ने जारी किया है जो समुदाय की देखभाल करता है।" मानवीय कानून के कुछ प्रमुख कारण हैं जिनके आधार पर इसे अच्छी तरह से समझा जा सकता है :-

(i) ये विवेक पर आधारित उद्घोषणाएँ हैं।

(ii) ये सार्वजनिक कल्याण से सरोकार रखते हैं।

(iii) ये सकारात्मक होते हैं।

(iv) इनके पीछे सार्वजनिक मान्यता तथा सार्वजनिक सहमति होती है।

(v) इनमें दण्डात्मक शक्ति होती है।

(vi) ये प्राकृतिक कानून के अनुकूल होते हैं।

(vii) इनका सम्बन्ध लौकि संसार से होता है, पारलौकिक से नहीं।

एक्विनास का कहना है कि नागरिक कानून ही मानवीय कानून होता है। इसके ऊपर कुछ सीमाएँ भी हैं :-

1. यह कानून प्राकृतिक कानून के अनुरूप होना चाहिए। नागरिक इसका पालन उसी समय तक करेंगे जब तक यह प्राकृतिक कानून के अनुसार रहेगा।
2. इसे मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन से दूर रहना चाहिए। यह मनुष्य के समूचे जीवन से सम्बन्धित नहीं होता। इसलिए यह मनुष्य की पूर्ण निष्ठा का दावा नहीं कर सकता।

एक्विनास मध्ययुग के अरस्तु के रूप में
(Acquinas as the Aristotle of Medieval Age)

सेण्ट थॉमस एक्विनास ने अपना सम्पूर्ण राजनीतिक चिन्तन अपनी ईसाइयत विचारधारा को अरस्तूवाद के साथ मिलाकर ही खड़ा किया है। इसलिए उसे ईसाई अरस्तू (Christianised Aristotle) भी कहा जाता है। अल्बर्ट महान् के चरणों में बैठकर एक्विनास ने अरस्तू की जो शिक्षाएँ ग्रहण कीं, उनका स्पष्ट प्रभाव उसके चिन्तन पर पड़ा दिखाई देता है। अरस्तू की म त्यु के पश्चात् अरस्तूवाद की लम्बे समय तक एक्विनास से पहले किसी ने चर्चा नहीं की। एक्विनास ही एक ऐसे प्रथम ईसाई विचारक थे जिन्होंने अरस्तू के दर्शन को पुनर्जीवित किया। उन्होंने अरस्तु के दर्शन को ग्रहण तो किया लेकिन एक नए रूप में। उसने अरस्तू के दर्शन तथा ईसाई धर्म सिद्धान्त में समन्वय स्थापित किया। उसने अरस्तू के विचारों को उसी सीमा तक ग्रहण किया जिस सीमा तक वे ईसाइयत धर्म-सिद्धान्तों के पक्ष में रहे। एक्विनास ने अरस्तू की गलत धारणाओं का सर्वथा त्याग किया। उसने अरस्तू की विवेकवादी विचारधारा के साथ ईसाइयत विश्वास या धर्म को मिलाकर एक मध्यमार्ग निकाल लिया ताकि धर्मसत्ता व राजसत्ता के मध्य चले आ रहे लम्बे संघर्ष को समाप्त किया जा सके। इसलिए उनके समन्वयवादी द ष्टिकोण को देखकर मैक्सी ने कहा है- “एक्निवास मध्ययुग का स्वर्गीय अरस्तू है।” फोस्टर ने भी कहा है कि- “ऐसा प्रतीत होता है कि एक्विनास ने अपने राजनीतिक दर्शन को यूनानी आधार पर ईसाई मुंडेर पर खड़ा किया है।” इससे स्पष्ट हो जाता है कि एक्विनास पर अरस्तू की विचारधारा का काफी प्रभाव पड़ा जिस कारण से वे मध्ययुग के अरस्तू कहलाए। इसके पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिए जा सकते हैं :-

1. अरस्तू के धर्मनिरपेक्ष विचार दर्शन ने एक्विनास को काफी प्रभावित किया है। इस आधार पर एक्विनास ने मध्यकालीन धर्मान्धता के गर्त से राजनीतिक चिन्तन को बाहर निकालने के लिए एक सेतु का निर्माण किया है। उसने अपने चिन्तन में वैज्ञानिकता को प्रवेश कराकर राजनीतिक चिन्तनकी महान् सेवा की है। उसके प्रयासों से अराजनीतिक चिन्तन पुनः उसी स्थिति में आ गया जो अरस्तू के समय में था।
2. एक्विनास ने अरस्तू की ही तरह मनुष्य को स्वभावतः तथा अनिवार्यतः एक सामाजिक प्राणी माना है। समाज के बिना व्यक्ति का कोई अस्तित्व नहीं है। इस सिद्धान्त के आधार पर एक्विनास ने राज्य को प्राकृतिक संस्था सिद्ध किया। उसने स्पष्ट किया कि राज्य मनुष्य प्रकृति पर ही आधारित है। उसने ईसाइयत विचारधारा को नया रूप दिया। उसने का कि राज्य की उत्पत्ति आदिम पाप का फल नहीं है। राज्य को व्यक्ति के लिए स्वाभाविक है। साथ में राज्य ईश्वर द्वारा स्थापित संस्था भी है जिसका क्रमिक विकास हुआ है। अरस्तू के सिद्धान्तों के आधार पर ही एक्विनास ने कहा है कि राज्य मानव समाज का अनिवार्य संघटक है, फिर भी राजनीतिक सत्ता अन्य सभी की तरह ईश्वर से व्युत्पन्न है। चर्च राज्य का विरोधी न होकर पूरक ही है।

3. एक्विनास ने भी अरस्तू की ही तरह श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति के लिए राज्य को अनिवार्य माना है। एक्विनास का कहना है कि राज्य व्यक्ति की पूर्ण प्राकृतिक आत्म-अभिव्यक्ति की प्राप्ति का साधन है। राज्य के आदेशों का पालन करके ही व्यक्ति श्रेष्ठ लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। दोनों दार्शनिक सरकार को नैतिक उद्देश्य को प्रमुखता देते हैं। अरस्तू और एक्विनास के अनुसार राज्य एक अच्छाई है, बुराई नहीं। एक्विनास ने राज्य के अतिरिक्त चर्च को भी सर्वोपरि संगठन स्वीकार किया है। दोनों विचारक राज्य का उद्देश्य व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति को स्वीकार करते हैं।
4. एक्विनास ने अरस्तू से विवेक या तर्क का सिद्धान्त भी ग्रहण किया है। उसका मानना है कि मानवीय विवेक पर आधारित ज्ञान ईसाई धर्मशास्त्रों के विपरीत नहीं है। उसने लौकिक सत्ता का आधार विवेक को ही माना है।
5. एक्विनास न राज्यों व सरकारों का वर्गीकरण भी अरस्तू की तरह ही किया है। उसने अरस्तू की तरह ही राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र और सर्व लोकतन्त्र तथा उनके तीन ही विकृत रूपों का वर्णन किया है। उसने राजतन्त्र को उत्तम तथा लोकतन्त्र को निकृष्ट रूप बताया है।
6. एक्विनास ने अरस्तू की ही तरह यह भी स्वीकार किया है कि कुछ ऐसे भी सत्य हैं जो विवेक से परे हैं। उनका ज्ञान श्रद्धा और विश्वास से ही प्राप्त हो सकता है।
7. उसने अरस्तू की तरह यह भी स्वीकार किया है कि मानव समाज की रचना सभी के हित के लिए हुई है।
8. उसने अरस्तू के कानून सम्बन्धी विचारों को भी ग्रहण किया है। वह कानून को विवेक का परिणाम मानता है। परन्तु एक्विनास ने कानून के विचार को व्यापक आधार प्रदान किया है।
9. एक्विनास ने अरस्तू की सोद्देश्यता की धारणा (Concept of Teleology) को भी स्वीकार किया है। दोनों का मानना है कि प्रकृति की प्रत्येक वस्तु एक निश्चित उद्देश्य, लक्ष्य, साक्ष्य या प्रयोजन की तरफ जा रही है।
10. एक्विनास ने अपनी न्याय सम्बन्धी विचारधारा को भी अरस्तू के विचारों पर ही आधारित किया है। एक्विनास का मत है कि न्याय का स्रोत राज्य के कानून हैं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि एक्विनास ने अपने राजनीतिक चिन्तन को अरस्तूवाद की नींव पर ही खड़ा किया है। लेकिन एक्विनास का प्रयास यह रहा है कि अरस्तू के विचारों को ईसाइयत के आधार पर ढाला जाए। उसने मानव समाज की तुलना में दैवी समाज को महत्त्व दिया है। उसने अरस्तू के विवेक के साथ विश्वास का भी समन्वय कर दिया है। अरस्तू ने तो केवल मानव जीवन का लक्ष्य लौकिक सुख माना है जबकि एक्विनास ने इसके साथ-साथ पारलौकिक सुख को भी महत्त्व दिया है। उसने मानवीय कानून को प्राकृतिक कानून के अधीन कर दिया है। इस प्रकार एक्विनास ने अरस्तू के विचारों को साधन के रूप में ग्रहण करके उनको साध्यों के अनुकूल बनाया है। सत्य तो यह है कि एक्विनास ने अरस्तू के विचारों को ही अपने चिन्तन का आधार बनाया है। एक महान विद्वतावादी दार्शनिक के रूप में एक्विनास ने अरस्तूवाद और ईसाईवाद का मिश्रण करके मध्ययुग में लम्बे समय से चले आ रहे धर्मसत्ता और राजसत्ता के संघर्ष को शान्त करने का प्रयास किया है। उनको मध्ययुग का अरस्तू कहना सर्वथा सही है।

अध्याय-5
मैकियावली
(Machiavelli)

परिचय
(Introduction)

फलोरेन्स निवासी मैकियावली यूरोप में पुनर्जागरण काल के एक विवादास्पद विचारक हैं। मैकियावली के विचारों का जितना प्रयोग हुआ है उतना ही दुष्प्रयोग भी। पुनर्जागरण आन्दोलन के कारण यूरोप में चर्च को तानाशाही व सामन्तवादी व्यवस्था के परिणामस्वरूप जोरदार आन्दोलन चल रहे थे तो ऐसे समय में मैकियावली जैसे प्रतिभाशाली विचारक व राजनीतिज्ञ का इटली की राजनीति में प्रवेश, वहाँ की जनता के लिए एक वरदान से कम नहीं था। मैकियावली ने "The Prince' और 'Discourses' ग्रन्थों की रचना करके यूरोप की राजनीति (विशेष तौर पर इटली की) को एक नई दिशा दी। मैकियावली ने इटली के विभाजन से उत्पन्न समस्याओं का गहन अवलोकन करके एक संगठित इटली राष्ट्र राज्य का स्वप्न अपने मन में संजोया। उसने व्यावहारिक व यथार्थवादी द ष्टिकोण पर आधारित अपनी विचारधारा से इटली को लाभान्वित किया। मैकियावली मध्ययुग का अन्त करने वाले और आधुनिक युग की शुरुआत करने वाले प्रथम विचारक थे। उसे अपने 'युग का शिशु' की संज्ञा प्रदान की गई और उसे इटली के एकीकरण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने वाला व्यक्ति माना गया। उसके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'The Prince' में शासन कला के सिद्धान्तों को प्रतिपादित करके इटली की राजनीतिक स्थिरता का प्रथम महत्त्वपूर्ण प्रयास माना गया। उसने इस पुस्तक में राजतन्त्र की तथा 'Discourses' में गणतन्त्रीय व्यवस्था की सराहना की है। वह धर्म को राजनीति से प थक् करने वाला प्रथम विचारक माना जाता है। उनका यथार्थवादी द ष्टिकोण व्यावहारिक राजनीति का स्वरूप स्पष्ट करता है। अनेक विवादों के बाद भी मैकियावली एक महत्त्वपूर्ण विचारक है जिसका राजनीतिक दर्शन के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है और वह मध्यकाल तथा आधुनिक काल को जोड़ने वाली एक प्रमुख कड़ी है।

जीवन-परिचय

मैकियावली का जन्म 1469 ई॰ में इटली के फलोरेन्स नगर में हुआ। उसके पिता एक वकील थे जो टस्कन वंश से सम्बन्धित थे। यद्यपि उसको पर्याप्त शिक्षा तो प्राप्त नहीं हो सकी, फिर भी उसे लैटिन भाषा का अच्छा ज्ञान था। उसकी लेखनी में कला और शक्ति दोनों थीं। जीवन की व्यवहारकुशलता और धनार्जन की दौड़ में वह बहुत आगे थे। मैकियावली प्रारम्भ से ही फलोरेन्स की सत्ता में भाग लेना चाहते थे और उनका यह स्वप्न 1494 में 25 वर्ष की आयु में पूरा हुआ। इस समय उसने एक छोटा सा प्रशासनिक पद प्राप्त करके अपने राजनीतिक जीवन की शुरुआत की। तत्पचात् अपनी राजनीतिक सूझ-बूझ के बल पर उसने 'चान्सरी' में सचिव पद प्राप्त हुआ। इस पद की बदौलत उसे राजनयिक कार्यों से सम्बन्धित मामलों में फलारेन्स का प्रतिनिधित्व करने के लिए यूरोप के कई देशों में जाने का अवसर प्राप्त हुआ जहाँ बड़े राजनेताओं के सम्पर्क में आने पर उसने व्यावहारिक राजनीति का ज्ञान प्राप्त किया। लुई बारहवें, विशप सोडेशी, सीजर बोर्गिया के साथ सम्बन्धों नेउसे महत्त्वाकांक्षी बना दिया और वह अवसरवादी राजनीति का प्रणेता बन गया। 1498 से 1512 ई॰ तक 14 वर्षो तक उसने 'Council of Ten for War' का सदस्य बनकर फलारेन्स के सुरक्षा विभाग की सेवा की लेकिन 1512 ई॰ में स्पेन समर्थकों द्वारा फलोरेन्स पर अधिकरार कर लेने के बाद उसका पद छिन गया और उसे जेल भेद दिया गया। अब उसको सक्रिय राजनीतिक जीवन से छुटकारा मिल गया अर्थात् उसके राजनीतिक जीवन का अन्त हो गया। अब फलोरेन्स पर मेडिसी परिवार का आधिपत्य हो गया। जीवन के शेष 15 वर्ष उसने 'सैन कैशिसनो' नामक गाँव में समाज सेवा और लेखन कार्य करते हुए व्यतीत किए। उसने

मेडिसी परिवार के तत्कालीन प्रशासक लोरेंजो अर्थात् 'ड्यूक ऑफ बोर्जिया' के कहने पर ही अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'The Prince' लिखकर भेंट की। लेकिन उसे षड्यन्त्रकारी मानकर निर्वासित कर दिया गया और उसने इस दौरान 'इटली का इतिहास' लिखा। 1527 ई॰ में 58 वर्ष की अल्पायु में ही उसकी म त्यु हो गई।

महत्त्वपूर्ण रचनाएँ (Important Works)

मैकियावली ने अपने जीवनकाल में दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की जिससे उसका नाम राजनीतिक दर्शन के इतिहास में अमर हो गया :-

1. **दॉ प्रिन्स** (The Prince) : यह पुस्तक 1513 में लिखी गई। यह मैकियावली की प्रमुख रचना है। यह रचना राजतांत्रिक व्यवस्था पर प्रकाश डालती है। इसमें राज्य का निर्माण व विस्तार के बारे में बताया गया है। इस ग्रन्थ में 26 अध्याय हैं जिन्हें तीन भागों में बाँटा गया है। प्रथम अध्याय राजतन्त्र का, दूसरा किराय की सेनाओं व राष्ट्रीय सेनाओं का तथा अन्तिम अध्याय राजदर्शन की व्याख्याएँ प्रस्तुत करता है। इस ग्रन्थ में एक सफल शासक के लिए दिए गए उपदेश विस्तारपूर्वक समझाए गए हैं। इसलिए यह रचना मैकियावली की सबसे महत्त्वपूर्ण रचना है।
2. **डिस्कोर्सेज** (Discourses) : यह रचना 1520 ई॰ में लिखी गई। इसमें मैकियावली ने गणतन्त्रीय व्यवस्था का वर्णन किया है। यह रोमन राजतन्त्र और तत्कालीन शासकों के लिए कुछ नियमों की आदर्श रूपरेखा प्रस्तुत करती है। इस पुस्तक में गणराज्य को राजतन्त्र की अपेक्षा अधिक कल्याणकारी, सबल और जन आकांक्षाओं के अनुकूल बताया गया है।

इनके अतिरिक्त मैकियावली ने 'The Art of War' तथा 'History of Florence' नामक दो अन्य ग्रन्थ भी लिखे। इनके अतिरिक्त उसने अनेक उपन्यास, कहानिपयाँ तथा कविताएँ भी लिखीं।

अध्ययन की पद्धति

(Method of Study)

मैकियावली ने अपने पूर्ववर्ती विचारकों से भिन्न पद्धति को अपनाकर पूर्ववर्ती विचारकों की अध्ययन पद्धति की जटिलताओं को दूर करने का प्रयास किया है। उसे पोप और सम्राट से कोई लगाव नहीं था। उसने नीति, न्याय आदि के अमूर्त सिद्धान्तों पर आधारित निगमनात्मक पद्धति को त्यागकर वैज्ञानिक तटस्थता की नीति अपनाई। समकालीन परिस्थितियों का ध्यान रखते हुए अपनी नई अध्ययन पद्धति विकसित की जिसकी विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :-

1. **ऐतिहासिक पद्धति :** (Historical Method) : मैकियावली ने आनुभाविक विधि को अपनाते हुए ऐतिहासिक विधि से उसकी पुष्टि की। उसने समकालीन राजनीति का अध्ययन किया, विश्लेषण किया, अपने निष्कर्ष निकाले और उसके बाद इतिहास की घटनाओं के आधार पर उनकी पुष्टि की। उसने प्राचीन रोम इतिहास से बहुत सी घटनाएँ और सत्यों के उदाहरण प्राप्त किए। वह इतिहास को ही आधार मानता था। उसका विश्वास था कि "जो व्यक्ति पहले से यह जानना चाहता है कि भविष्य में क्या होने वाला है, उसे इस बात पर विचार करना चाहिए कि क्या हो चुका है।" अपनी पुस्तक 'डिसकोर्सज' (Discourses) में उसने प्राचीन इतिहास के अनेक द ष्टान्त दिए हैं। ऐतिहासिक विधि एक व्यावहारिक राजनीतिज्ञ की हमेशा मदद करती है। हमें वर्तमान में समस्याओं का हल किस प्रकार करना चाहिए तथा भविष्य में क्या करना है ? इस तरह के प्रश्नों का उत्तर भूतकाल के अध्ययन द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। इतिहास का अवलोकन करने से ही हमें समस्याओं के कारण तथा उनका समाधान मालूम हो सकता है। मैकियावली के अनुसार हम इतिहास की सफलताओं व असफलताओं के कारणों को जानकर उन्हें वर्तमान में लागू कर सकते हैं। इस प्रकार पूर्वजों के गलत तथा सही कार्यों व उनके परिणामों का लाभ प्राप्त किया जा सकता है। मैकियावली ने इतिहास का उपयोग पूर्वकल्पित निष्कर्षों की पुष्टि में किया है। इतिहास का अध्ययन वर्तमान राजनीतिक दर्शन की समस्याओं को हल करने में पूर्ण सहायक सिद्ध हुआ है।

   प्रो॰ डनिंग का विचार है कि मैकियावली की पद्धति देखने में जितनी ऐतिहासिक लगती है, यथार्थ में उतनी नहीं है। उसके सिद्धान्त पर्यवेक्षण पर आधारित थे। उनकी पुष्टि करने के लिए उसने ऐतिहासिक विधि अपनाई थी। उसने पूर्व-कल्पित सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए ही इतिहास के प्रमाणों की तलाश की थी। इसी प्रकार सेबाइन भी मैकियावली की पद्धति

को ऐतिहासिक कहना भ्रमपूर्ण मानता है। उनका कहना है कि उनकी पद्धति पर्यवेक्षणात्मक थी। उसने अपने तर्कों को सत्य सिद्ध करने के लिए ही इतिहास का आश्रय लिया।

इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि राजनीतिक समस्याओं के प्रति मैकियावली का द ष्टिकोण अनुभव प्रधान था एवं उसकी भावना ऐतिहासिक थी।

2. **निरीक्षणात्मक पद्धति** (Observational Method) : सेबाइन के अनुसार मैकियावली की अध्ययन पद्धति निरीक्षणात्मक अथवा पर्यवेक्षणात्मक थी। उनकी पुस्तक 'दा प्रिंस' (The Prince) इस पद्धति पर ही आधारित है। उसका उद्देश्य अपने समय की समस्याओं का हल करना था जिसके लिए उसने घटनाओं को यथार्थवादी धरातल पर परखकर निष्कर्ष प्रस्तुत किए। इस प्रकार उनकी पद्धति वास्तविक घटनाओं पर आधारित निरीक्षणात्मक पद्धति थी। उसने निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए घटनाओं का ऐतिहासिक अवलोकन किया था।

3. **तुलनात्मक पद्धति** (Comparative Method) : मैकियावली ने अपनी इटली की तत्कालीन दुर्दशा को देखा था। उसने विभिन्न टुकड़ों मे बँटी इटली के राज्यों की समस्याओं का अलग-अलग पता लगाकर उनका तुलनात्मक अध्ययन किया था। उसकी यह पद्धति अरस्तू की तरह व्यापक तुलनात्मक निष्कर्षों पर आधारित थी।

4. **विश्लेषणात्मक पद्धति** (Analytical Method) : मैकियावली ने निष्कर्षों तक पहुँचने के लिए सबसे पहले किसी घटना के मूल कारणों का पता लगाया था। उसके बाद कारणों को घटना के क्रम के आधार पर विश्लेषण करके अपना मत या निष्कर्ष प्रस्तुत किया था। इसलिए उनकी पद्धति विश्लेषणात्मक थी।

5. **वैज्ञानिक पद्धति** (Scientific Method) : मैकियावली ने वैज्ञानिक तटस्थता की नीति को अपनाते हुए अपनी समकालीन परिस्थितियों का बड़े ध्यान से अध्ययन किया। उसने सबसे पहले समस्याओं को समझा और फिर परिणाम पर पहुँचा। मैकियावली ने मध्यकाल के विचारकों के विपरीत जिस पद्धति को अपनाया उसमें मध्ययुग की भ्रामक विचारधाराओं जैसे 'दो तलवारों का सिद्धान्त', प्राकृतिक कानून के सिद्धान्त के लिए कोई स्थान नहीं है। फिर भी उसने कहीं-कहीं अपनी कुछ धारणाएँ बना ली थीं जिनको सत्य मानकर वह चलता है। इस प्रकार मैकियावली वैज्ञानिक द ष्टिकोण अपनाकर दार्शनिक तत्त्व भी ग्रहण कर लेता है।

इस प्रकार उसने केवल ऐतिहासिक पद्धति का ही प्रयोग नहीं किया बल्कि तुलनात्मक, निरीक्षणात्मक, वैज्ञानिक द ष्टिकोण गुणों आदि पर आधारित पद्धति का प्रयोग किया। परन्तु आलोचकों का कहना है कि यह पद्धति ऐतिहासिक नहीं थी। उसने इतिहास के द ष्टांतों का प्रयोग केवल कल्पित निष्कर्षों को सिद्ध करने के लिए ही किया था। प्रो॰ डनिंग के अनुसार- "मैकियावली की पद्धति ऊपर से जितनी ऐतिहासिक लगती है, यथार्थ में उतनी ऐतिहासिक नहीं है।" सेबाइन ने भी उसकी पद्धति को ऐतिहासिक कहना भ्रमपूर्ण माना है।

इन आलोचनाओं के बावजूद यह कहना पड़ेगा कि उसने धार्मिकता, अन्धविश्वास व गूढ़ताओं से मुक्त अध्ययन पद्धति राजनीतिक दर्शनशास्त्र को प्रदान की। उसने ऐतिहासिक, यथार्थवादी, पर्यवेक्षणात्मक व वैधानिक विशेषताओं से युक्त पद्धति अपनाकर इतिहास की सहायता से उसे वैज्ञानिक और यथार्थवादी बनाने का प्रयास किया। उसने अपने सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए धार्मिक द ष्टान्तों का सहारा न लेकर, इतिहास, तर्क और पर्यवेक्षण की ऐसी पद्धति ग्रहण की जिसमें चातुर्य और सहज बुद्धि की भूमिका महत्त्वपूर्ण थी। उसने अपनी राजनीतिक पद्धति से इतिहास और अनुभव का समन्वय करके आगमनात्मक पद्धति का प्रारम्भिक रूप पेश किया। अपनी हठवादिता और एकांगी द ष्टिकोण के अवगुण से युक्त यह पद्धति मैकियावली की राजनीति विज्ञान को एक महत्त्वपूर्ण देन है।

मैकियावली अपने युग के शिशु के रूप में
(Machiavelli as the Child of His Time)

प्रो॰ डनिंग का कथन है कि प्रतिभासम्पन्न फलोरेन्स निवासी मैकियावली सही अर्थ में अपने युग का शिशु था। इसी तरह डब्ल्यू॰ दी॰ जोंस ने मैकियावली को पुनर्जागरण काल का शिशु कहा है। इसी तरह सेबाइन का भी मानना है कि मैकियावली का सम्पूर्ण दर्शन समकालीन परिस्थितियों पर आधारित है और मैकियावली यदि किसी दूसरे देश या युग का होता तो राजनीति के बारे में उसके विचार कुछ और होते। इस प्रकार का मन्तव्य मैकियावली के बारे में इसलिए दिया गया है क्योंकि मैकियावली एक

यथार्थवादी राजनीतिज्ञ तथा दार्शनिक थे और स्वभाव से बहुत ही संवेदनशील तथा देशभक्त थे। उन्होंने अपने सम्पूर्ण लेखन कार्य को उस समय के इटली तथा यूरोप की परिस्थितियों पर आधारित किया है। ऐसे तो प्रत्येक विचारक अपनी समकालीन परिस्थितियों से प्रभावित होता है, अपने युग को सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं के सन्दर्भ में विचार व्यक्त करता है, लेकिन ऐसा लगता है कि मैकियावली पर अपने युग का कुछ ज्यादा ही प्रभाव पड़ा था। इसके प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं:-

1. मैकियावली स्वभाव से बहुत ही संवेदनशल (Sensitive) था।
2. मैकियावली एक राजनीतिज्ञ और यथाथवादी था जिसका प्रमुख उद्देश्य इटली का एकीकरण एवं इटली को एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में विकसित करना था।

मैकियावली पर पड़ने वाले प्रभाव को हम निम्न शीर्षकों में बाँट सकते हैं :-

1. **पुनर्जागरण (Renaissance)** : मैकियावली का युग पुनर्जागरण का युग था। 15 वीं शताब्दी के अन्त तक इटली में यह आन्दोलन चरम सीमा पर पहुँच गया था। इस आन्दोलन का उद्देश्य मध्यकालीन यूरोप को आधुनिक यूरोप में परिवर्तित करना था। यह युग इटालियन पुनरुत्थान का युग भी था। इस युग में धर्म का स्थान भौतिकता, ईश्वर का स्थान पुरुषार्थ, आदर्शों का स्थान यथार्थता और मध्यकालीन मूल्यों का स्थान अवसरवादिता और विलासिता ले रही थी। ज्ञान, तर्क, विज्ञान एवं बुद्धिजन्य सिद्धान्तों का स जन इस युग में शुरू हो गया था। मैकियावली के लेखों और विचारों में इसी पुनर्जागरण की विचारधारा का प्रभाव लक्षित होता है। मैकियावली का साहित्य सर्वथा नए युग का अहसास करता है। मैकियावली ने पुनर्जागरण की बढ़ती हुई भावना के अनुरूप ही स्वतन्त्र बौद्धिक चिन्तन को युग की शुरुआत की। प्राचीन ईसाइयत के विचारों का पतन होने लग गया। अब मध्ययुगीन दैवीय विचारधारा का अन्त होने लग गया और व्यक्ति को ज्यादा महत्त्व दिया जाने लगा। अब इस जीवन पर, व्यक्तित्व को सम द्ध बनाने और हर रूप में सौन्दर्य का आनन्द प्राप्त करने की प्रव त्ति पैदा हुई। व्यष्टिवाद की भावना का विकास हुआ जिसने प्राकृतिक और मानवीय दोनों द ष्टियों से मनुष्य की गरिमा पर बल दिया गया। पुनर्जागरण ने तर्क-बुद्धि को जन्म दिया। भौगोलिक खोजों के परिणामस्वरूप उत्पन्न अन्तरराष्ट्रीय संघर्ष ने राष्ट्रवाद और राष्ट्र राज्य की भावनाओं को जन्म दिया जो कि चर्च और राज्य के मध्ययुगीन स्वार्थ की विरोधी थी। पुनर्जागरण के फलस्वरूप जीवन के एक नवीन आदर्श की उत्पत्ति हुई जिसका लक्ष्य इस जीवन में व्यक्ति को सफलता दिलाना था। शक्ति की नए देवता के रूप में पूजा की जाने लगी। मैकियावली ने भी इस दौरान 'The Prince' पुस्तक लिख डाली जिसमें तत्कालीन इटली का राजनीतिक वातावरण स्पष्ट झलकता है।

   मैकियावली का फलोरेन्स नगर उस समय पुनर्जागरण का प्रधान नगर था तथा इटली की संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। यह पुनर्जागरण केवल ज्ञान से सम्बन्धित ही नहीं था बल्कि यह साहित्य, कला, संस्कृति, व्यापार एवं वाणिज्य आदि क्षेत्रों में भी पुनरुद्धार का युग था। फोस्टर के अनुसार- "गैर ईसाई प्राचीनता में दिलचस्पी का यह पुनरुत्थान एक पांडित्यपूर्ण अथवा शैक्षिक आन्दोलन से बढ़कर था। वह यूरोपीय जनता में गैर-ईसाई भावनाओं के भी पुनरुत्थान का संकेत करता था जिन्हें मध्यकालीन ईसाई-संस्कृति ने कुचल तो डाला था परन्तु बिलकुल समाप्त नहीं किया था। लोगों ने प्राचीनकाल के लेखकों की कृतियों में एक नई दिलचस्पी खोजी थी क्योंकि ये कृतियाँ ऐसे कुछ तत्त्वों के अनुकूल थीं जिनका उन्हें अपने अन्दर ही विद्यमान होने का बोध था।" 15 वीं सदी के अन्त तक लोगों को ईसाई धर्म के निकम्मेपन का पूरा अहसास हो गया था। धर्म का यह सिद्धान्त था कि पारलौकिक सुख के लिए लौकिक सुख का त्याग कर देना चाहिए। मैकियावली के विचारों ने इस विचारधारा को पूरी तरह पलट दिया। पुनर्जागरण के विचारकों के लिए व्यक्ति ही अध्ययन का प्रमुख मुद्दा बन गया। इसके परिणामस्वरूप लोगों के जीवन में एक नई चेतना का सूत्रपात हुआ। लोगों में स्वतन्त्रता और अपने जीवन के प्रति लगाव की भावना बढ़ी। आत्मा और परमात्मा के तथा पाखण्डतापूर्ण विचारों और अन्धविश्वासों के स्थान पर ज्ञान की नवीन ज्योति का संचार हुआ।

   यह आन्दोलन शारीरिक सुख, आनन्दमय जीवन और बौद्धिक विकास से सम्बन्धित था। यह धर्मनिरपेक्षता का युग था। 'मानव सभी वस्तुओं का मापदण्ड है' का उद्देश्य चारों ओर परिलक्षित होने लग गया। पुनर्जागरण ने मध्ययुगीन व्यवस्था को तहस-नहस कर दिया। इसने बाईबलवाद, देववाद, चर्चवाद, सामन्तवाद आदि को पूरी तरह दफन कर दिया। मेयर लिखता है- "पुनर्जागरण नई चेतना की गति था, जिसने अन्ततः मध्ययुगीन व्यवस्था को उखाड़ फेंका; 17 वीं शताब्दी के नए संसार की नींव रखी; एक ऐसा संसार जिसने सदैव के लिए मध्ययुग का अन्त कर दिया।"

जोंस का कथन है कि- “मैकियावली फलोरेंस और पुनर्जागरण का शिशु है।” यह उक्ति पूरी तरह चरितार्थ होती है, क्योंकि मैकियावली पर पुनर्जागरण आन्दोलन का जितना प्रभाव पड़ा उतना अन्य किसी पर नहीं। उसकी रचनाएँ 'दा प्रिन्स' और 'डिसकोर्सज' समकालीन परिस्थितियों के विश्लेषण पर ही आधारित हैं। इस बारे में सेबाइन लिखता है- “इटली को जितना अधिक मैकियावली जानता था उतना अधिक कोई नहीं जानता था।” जोन्स का कथन है कि “उसकी कृतियों में उसके युग की वास्तविक स्थिति के दर्शन होते हैं। व्यक्ति का महत्त्व और उसका सौन्दर्य, बौद्धिक तर्कवाद और सांसारिक मर्यादा का निरूपण, उद्गमनात्मक पद्धति का अनुसरण, राष्ट्रीयता की भावना का नेत त्व तथा पारलौकिक के स्थान पर लौकिक उद्देश्यों की उपलब्धि का औचित्य आदि इतने सारे तथ्य हैं जिनका समर्थन मैकियावली ने अपने विचारों और कृतियों में किया है।” अतः मैकियावली अपने युग की इन सारी घटनाओं के गवाह थे जिनकी उनके राजनीतिक चिन्तन में अमिट छाप देखी जा सकती है। इसलिए वह पुनर्जागरण का प्रतिनिधि था।

2. **इटली की राजनीतिक परिस्थिति** (Political situation of Italy) : मैकियावली एक संवेदनशील व्यक्ति होने के कारण इटली की राजनीतिक दुर्दशा से काफी चिंतित थे। उस समय इटली पाँच राज्यों में बँटा हुआ था। ये पाँच राज्य थे - नेपल्स, मिलान, रोमन, चर्च, वेनिस और फलोरेन्स। इन राज्यों का आपस में सदैव संघर्ष रहता था। इटली के इस राजनीतिक विभाजन और संघर्ष ने इटली को बहुत कमजोर बना दिया था। फ्रांस और स्पेन जैसे राष्ट्रीय राज्यों के उदय से इटली के हितों को नुकसान पहुँचने का खतरा पैदा हो गया था। इन राष्ट्रों की नजरें इटली पर थीं। मैकियावली एक विलक्षण बुद्धि का व्यक्ति था। वह फ्रांस, स्पेन तथा ब्रिटेन की महत्त्वकांक्षाओं से भली-भाँति परिचित था। उसने सोचा था कि यदि इटली को संगठित व एकीकृत नहीं किया गया तो पड़ोसी राष्ट्र उसे अवश्य ही हड़प लेंगे। मैकियावली एक यथार्थवादी व्यक्ति थे। उनका इटली की राजनीति का व्यावहारिक अनुभव उनकी सहायता कर सकता था। अतः मैकियावली चाहता था कि राष्ट्रीय राज्यों की तरह इटली का भी राष्ट्रीय आधार पर एकीकरण हो तथा इटली भी किसी शक्तिशाली शासक के अधीन अपने को स्वतन्त्र करने में सफल हो सके। मैकियावली ने इसे इटली की प्रथम आवश्यकता मानकर एक ऐसा शक्तिशाली इटली राष्ट्र का स्वप्न संजोया जो इटली को वर्तमान दुर्दशा से निकाल सके। इसलिए व्याकुल होकर मैकियावली ने 'दा प्रिंस' तथा 'डिसकोर्सज' जैसे ग्रन्थों की रचना की ताकि विभाजित इटली को फिर से एकीकृत व संगठित राष्ट्र के रूप में खड़ा किया जा सके। इसलिए उसे इटली के राष्ट्रवाद का अग्रदूत कहा गया है। सेबाइन का मानना है- “मैकियावली के अतिरिक्त और कोई व्यक्ति इटली को नहीं पहचान सका। उसके अतिरिक्त अन्य किसी को भी सम्पूर्ण यूरोप में चलने वाले इस विकास-क्रम का स्पष्ट ज्ञान नहीं हो पाया।”

   इस प्रकार मैकियावली ने अपनी समस्त रचनाएँ अपने व्यावहारिक राजनीतिक अनुभव का प्रयोग करते हुए लिखीं। उसने अपनी रचनाओं में इटली की फूट, ग हयुद्ध, विदेशी शासकों के हस्तक्षेप की परिस्थितियों तथा इटली के एकीकरण के उपायों का वर्णन किया। उसने अपनी रचनाओं का स जन इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर किया कि इटली में एक ऐसा राजनीतिक वातावरण तैयार हो सके जिससे इटली का एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में पुनर्जन्म हो और जो विदेशी व अपने देश के विघटनकारी तत्त्वों से निपटने में सक्षम हो। अतः डनिंग द्वारा उसे दी गई 'युग शिशु'की संज्ञा सर्वथा उचित है।

3. **इटली का सामाजिक वातावरण** (Social Situation of Italy) : उस समय इटली के समाज में नीतिपरायणता, ईमानदारी और देशभक्ति का सर्वथा अभाव थां समाज में भ्रष्टाचार, दलबन्दी और स्वार्थप्रियता का सर्वत्र बालबाला था। यद्यपि लोगों में इन समस्याओं को दूर करने के लिए प्रतिभा की कमी नहीं थी लेकिन उनकी नैतिकता मर चुकी थी। पोप का जीवन भी पापमय था। सर्वत्र भ्रष्टाचार रूपी दानव पैर पसार चुका था। पैसे लेकर माफीनामें बेचे जाते थे। बेकसूर को सजा दी जाती थी और अपराधी रिश्वत देकर बच निकलते थे। इस सामाजिक दुर्दशा ने मैकियावली के संवेदनशील मानस-पटल पर अमिट छाप छोड़ी। उसने इटली को एक शक्तिशाली व मजबूत राष्ट्र के रूप में खड़ा करने के लिए शक्ति का प्रयोग का सुझाव दिया। उसका ग्रन्थ 'The Prince' शासक को सभी कूटनीतिक व दण्डात्मक उपायों का सुझाव देता है। उसने इटली के लिए एक शक्तिशाली राष्ट्रीय सेवा की आवश्यकता पर जोर दिया। उसने इटली को इस अराजकता की स्थिति से निकालने के लिए निरंकुश राजतन्त्र का समर्थन किया जो देश में ग हयुद्ध की स्थिति पैदा करने वाले व राष्ट्रीयता की भावना में बाधक तत्त्वों से लोहा ले सके और एक एकीकृत व संगठित इटली राष्ट्र राज्य का निर्माण कर सके। उसने एक ऐसे सार्वभौम का सुझाव दिया जो इटली को संगठित कर सके व देश में शान्ति कायम

कर सके। उसने अपनी रचनाओं में शक्ति एवं छलकपट दोनों साधनों द्वारा जनता को इस दुर्दशा से मुक्ति दिलाने वाले शासन को कायम करने की बात कही। उसने अपने इस स्वप्न को पूरा करने के लिए बुद्धि व बल के समुचित समन्वय पर बल दिया। उसके इटली के एकीकरण के स्वप्न को उसकी म त्यु के बाद कॉवूर तथा गेरिबाल्डी आदि ने पूरा किया। अतः कहा जा सकता है कि प्रतिभावान मैकियावली 'अपने युग का शिशु था।'

4. **इटली के एकीकरण में बाधक होना** (Pope as an Obstacle to the Unity of Italy) : उस समय इटली की एकता में सबसे बाधा पोप था। पोप सारे इटली में अपना धर्मतन्त्र स्थापित करना चाहता था, परन्तु उसके पास सैनिक शक्ति का अभाव होने के कारण उसका स्वप्न पूरा नहीं हो सकता था। उसे स्पेन और फ्रांस से पूरी सहायता मिलती थी, इसलिए वेनिस जैसे राज्य उसका कुछ नहीं बिगाड़ सके। पोप के कुकर्मों तथा जीवन के कारण लोगों के ह्रदय से श्रद्धा और विश्वास कम हो गया था। पोप का विश्व साम्राज्य का स्वप्न नष्ट हो चुका था। कुछ सन्तों व समाज-सुधारकों ने चर्च व पोप की बुराइयों से जनता को अवगत कराया। इससे जनता पर सकारात्मक प्रभाव पड़ा। लोगों की धर्म में आस्थाकम हुई किन्तु जब फ्रांस ने फलारेन्स पर अधिकार करके पोप को खुश करने के लिए सेवानोशला को बन्दी बनाकर जला दिया तो लोगों ने सारे नैतिक आदर्शों को त्याग दिया और अनैतिकता की राह पर चल पड़े।

इससे मैकियावली बहुत प्रभावित हुआ और उसने अपने ग्रन्थ 'The Prince' में राजा को कठोर उपायों द्वारा शासन चलाने की सलाह दी। उसने कहा कि राज्य का अस्तित्व बनाए रखने के लिए धर्म व नैतिकता का भी त्याग कर देना चाहिए। लोक कल्याण के लिए ऐसा करना राजा का सबसे बड़ा धर्म होता है। उसकी यह विचारधारा उसके युग के अनुरूप थी क्योंकि यूरोप के राष्ट्रीय राज्य राजधर्म तथा नैतिकता को छोड़कर केवल अपने स्वार्थ की पूर्ति में लीन थे। इसलिए मैकियावली परइन परिस्थितियों का गहरा प्रभाव पड़ा और उन सभी परिस्थितियों का जिक्र उनके साहित्य में परिलक्षित होता है। अतः वह अपने 'युग का शिशु' था।

5. **राजतन्त्र की पुनर्स्थापना** (Restoration of Monarchy) : पुनर्जागरण काल में यूरोप में कई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। यूरोप में परिषदीय आन्दोलन समाप्त हो चुका था और शक्तिशाली शासकों ने अपने निरंकुश राजतन्त्र स्थापित कर लिए थे। आर्थिक परिवर्तनों ने भी निरंकुशवाद का मार्ग प्रशस्त किया। पश्चिमी यूरोप के लगभग सभी राज्यों में सामन्तों के हाथ से शक्तियाँ छीनकर राजाओं ने अपने हाथों में ले ली थीं। पुरानी व्यावसायिक श्रेणियाँ निरन्तर बढ़ते व्यापार का संचालन कर पाने में असमर्थ थीं, इसलिए नए व्यापारी वर्ग के उदय ने अपने व्यापार से स्थायित्व और सुरक्षा के लिए शक्तिशाली राजतन्त्रों की स्थापना में सहायता दी। इससे सामन्तवाद तथा कुलीनतन्त्र का पतन होने लगा और उसकी जगह नए व्यापारी वर्ग का प्रभुत्व बढ़ा। राजा लोगों को व्यापारियों की सहातया तथा संरक्षण में ही देश की सम द्धि व व द्धि नजर आने लगी और शक्तियाँ शक्तिशाली राजतन्त्रों के हाथों में केन्द्रित हो गईं।

यूरोप की इन प्रचलित राजनीतिक प्रव त्तियों से मैकियावली की विलक्षण प्रतिभा अछूती न रह सकी। उसने अपने ग्रन्थ 'The Prince' में एक ऐसे शक्तिशाली निरंकुश राजतन्त्र की कल्पना की है जो इटली को एक संगठित व शक्तिशाली राष्ट-राज्य के रूप में उभार सके। उसने आशा प्रकट की है कि इटली विदेशी दासता से मुक्त हो, पोप की तानाशाही समाप्त हो और इटली में शान्ति का युग प्रारम्भ हो ताकि इटली भी अन्य राष्ट्र राज्यों की तरह सम द्धि, सुख व विकास के रास्ते पर चल सके। इसलिए उसने एक ऐसे राष्ट्र की आकांक्षा व्यक्त की जो सम्पूर्ण जनता को एकता के सूत्र में बाँध सके। उसने अपने ग्रन्थ 'The Prince' में धर्म, नैतिकता और राजनीति सभी को राज्य का गौरव व शक्ति बढ़ाने के साधन मात्र माना है। उसने राज्य के विस्तार व सुरक्षा के उपाय अपने ग्रन्थों में सुझाए हैं। चर्च इस युग में वीर पुरुषों के हाथों में था और पोप की सत्ता का पतन हो चुका था। सेबाइन लिखता है- "शक्ति के रूप में पोप का लोप हो गया था और चर्च या तो ऐच्छिक समुदाय बन गया था या राष्ट्रीय साधन का सांझेदार।" फिगिस ने भी लिखा है- "चर्च-भक्ति का स्थान नागरिक सत्ता की भक्ति ने ले लिया।" इस प्रकार शक्तिशाली निरंकुश राजतन्त्रों की पुनर्स्थापना की घटनाओं का भी मैकियावली पर व्यापक प्रभाव पड़ा और उसने अपनी रचनाओं में तत्कालीन परिस्थितियों को पूरा स्थान दिया।

इस प्रकार मैकियावली ने अपने युग में विद्यमान प्रव त्तियों को अपनी रचनाओं में पूरा स्थान दिया। उसने अपने युग की घटनाओं से प्राप्त निष्कर्षों का ऐतिहासिक पद्धति के आधार पर पुष्टिकरण किया। उसने अपने ग्रन्थों में तत्कालीन टनाओं को स्थान देकर अपने ऊपर पड़े प्रभाव से अपने आप को 'युग शिशु' की उपाधि से विभूषित कराया। अतः निस्संकोच कहा जा सकता है कि वह अपने युग का शिशु था

मानव-स्वभाव की अवधारणा

(Conception of Human Nature)

मैकयावली ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'दा प्रिन्स' (The Prince) तथा 'डिसकोर्सेज' (Discourses) में मानव-प्रकृति तथा स्वभाव सम्बन्धी विचारों का वर्णन किया है। मैकियावली को आज भी मानव-प्रकृति की दुष्टता का प्रवक्ता माना जाता है और उनका तिरस्कार किया जाता है। उनके ग्रन्थ 'दा प्रिंस' (The Prince) में वर्णित घटनाओं की लोगों ने गलत व्याख्याएँ करके उन्हें आलोचना का पात्र बना दिया। इस ग्रन्थ में उन्होंने मानव-प्रकृति का जो चित्रण किया है वह मनुष्य को पशुओं के समान लाकर खड़ा कर देता है। जोन्स ने लिखा है- "मैकियावली अपने ग्रन्थ 'डिसकोर्सेज' में यहाँ तक कह देते हैं कि मनुष्य एकदम दुष्ट है और न एकदम अच्छा। इससे उनके मानव-स्वभाव के बारे में दिए गए विचारों में पेचीदगी उत्पन्न होती है। मैकियावली मानव को अपनी प्रकृति से ही पापी एवं अनैतिक प्राणी स्वीकार करता है।

वह काल्विन और हॉब्स की तरह 'मानव का स्वभाव बुनियादी तौर पर सच्चा होता है' को स्वीकार नहीं करता। उसका विचार था कि मनुष्य कमजोरियों, मूर्खता और दुष्टता का एक विचित्र मिश्रण है और उसे धोखे में रखा जाना चाहिए और उस पर शासन किया जाना चाहिए। उसका मानना था कि मनुष्य विवेकहीन होते हैं और आवेगों के वशीभूत होकर कार्य करते हैं। हॉब्स की तरह उसका यह भी मानना था कि मनुष्य स्वभाव से ही दुष्ट और स्वार्थी होता है। स्वार्थ और अहम् मानव व्यवहार की दो प्रेरक शक्तियाँ हैं। मनुष्य कृतघ्न, चंचलव त्ति वाले, धोखेबाज, कायर और लोभी होते हैं। वे तभी अच्छा काम करते हैं जब उन्हें लाभ होता है। मनुष्यों का अच्छाई की तरफ कोई सामान्य रुझान नहीं होता। उन्हें सुधारने की बजाय भ्रष्ट जल्दी किया जा सकता है। वे बाध्य होकर ही समाज के नियमों का पालन आराम से रहने के लिए ही करते हैं। भय उनके जीवन का प्रमुख तत्त्व है जो प्यार से ज्यादा शक्तिशाली है। उसका मानना है कि प्रजा के मन में राजा का भय होना चाहिए ताकि शासन सुचारू रूप से चलता रहे। वह घ णा या अपमान की भावना जनता में पैदा करने का विरोध करता है। वह कहता है कि भय के कारण शत्रुता बढ़ती है और युद्ध होते हैं। जब मनुष्य स्वार्थी होकर दूसरे की सम्पत्ति छीनने की चेष्टा करते हैं और दूसरे सम्पत्ति छीने जाने के भय से ग्रस्त रहते हैं तो भय की भावना अधिक बढ़कर संघर्ष को जन्म देती है। धन का लोभ, ईर्ष्या और महत्त्वाकांक्षा मनुष्य के कार्यों की शक्तिशाली प्रेरक शक्तियाँ हैं। मनुष्य की संग्रह-प्रव त्ति उसे दूसरे के नियन्त्रण से मुक्ति पाने के लिए प्रेरित करती है और दूसरों पर अपना वर्चस्व कायम करने के लिए उकसाती है। मनुष्य की महत्त्वकांक्षाएँ कभी पूरी नहीं होतीं। उसमें अपनी वर्तमान स्थिति के प्रति सदैव असंतोष रहता है। इस कारण मनुष्य और समाज के मध्य संघर्ष होता है।

इस प्रकार मैकियावली ने शासन, स्वभाव और राज्य के सन्दर्भ में दो शक्तियों का वर्णन किया है - प्रेम और भय। मैकियावली का कहना है कि मनुष्य प्रेम के बन्धन को तो तोड़ सकता है लेकिन मानव मन भय की जंजीर को नहीं तोड़ सकता। मैकियावली कहता है कि- "बुद्धिमान राजा को भय का सहारा लेना चाहिए।" मनुष्य स्वभाव से दुष्ट व स्वार्थी होने के कारण विवश होकर ही सद्व्यवहार करते हैं। इस प्रकार वह मानव को पूर्णरूपेण स्वार्थी मानता है। इस द ष्टि से वह हॉब्स के समान है। उसके मानव स्वभाव सम्बन्धी विचारों पर ही नैतिकता, धर्म और राजनीति सम्बन्धी विचार आधारित हैं।

मैकियावली के मानव-स्वभाव पर विचारों से निम्न विशेषताएँ उभर कर आती हैं :-

1. मनुष्य पूर्णतः आत्मकेन्द्रित, लोभी और स्वार्थी है। वह सदैव अपने हित को पूरा करने की ही सोचता है। वह सामाजिक न होकर समाज विरोधी है।

2. मैकियावली के अनुसार मनुष्य आक्रामक है। वह स्वहित साधना की आड़ में किसी प्रकार की भी अति कर सकता है। इसी प्रव त्ति के कारण समाज में सदा संघर्ष की स्थिति बनी रहती है। मैकियावली के अनुसार- "मानव प्रकृति अत्यन्त आक्रामक एवं धनपिपासु तथा धनलोलुप है। मनुष्य के पास जो कुछ हे, उसे वह सुरक्षित रखना चाहता है और अधिक दावे की कोशिश करता हैं मनुष्य की इच्छा की न कोई अधिकार सीमा है और सम्पत्ति में। चूँकि प्राकृतिक वैभव सीमित है और मनुष्य की इच्छा असीमित है इसलिए मनुष्य-मनुष्य में संघर्ष अराजकता का मार्ग प्रदर्शित करता है जिसका राज्य की निरंकुश शक्ति ही नियन्त्रण कर सकती है।

3. अधिकांश लोग मूर्ख व मनचले हैं। मनुष्य की भावनाएँ ही उनके हितों को निश्चित करती हैं। जानवरों की तरह मनुष्य भावना द्वारा शासित है, युक्ति द्वारा नहीं।

4. मानव प्रकृति में दो सशक्त अंग होते हैं - प्रेम तथा भय। उसके अनुसार जिसमें भय उत्पन्न करने की क्षमता है। उसका प्रभाव दूसरों पर अवश्य पड़ता है। भय प्रेम से बढ़कर है। लोग प्रेम के बन्धन को तोड़ सकते हैं, भय को नहीं। शासन का प्रमुख आधार भय ही होता है।
5. धन के प्रति आकर्षण की भावना संघर्ष पैदा करती है। प्रत्येक व्यक्ति अधिकाधिक सम्पत्ति का अर्जन करना चाहता है। मैकियावली का कहना है कि- "व्यक्ति अपने पिता के हत्यारे को माफ कर सकता है, अपनी सम्पत्ति छीनने वाले को नहीं।"
6. नई वस्तुओं की चाह या इच्छा धनवान और दरिद्र दोनों में समान रूप से पाई जाती है।
7. मनुष्य स्वभाव से महत्त्वाकांक्षी होता है। वह सदैव हर वस्तु पर अपना अधिकार पाने की चेष्टा करता है। साधन सीमित होने के कारण उसका यह प्रयास असफल ही रहता है।
8. मनुष्य स्वाधीन रहने की कामना करता है। परन्तु वह अपनी स्वाधीनता कायम रखने के लिए दूसरों की स्वतन्त्रता छीनने का प्रयास करता है।

मानव स्वभाव सम्बन्धी विचारों के निष्कर्ष

मैकियावली द्वारा प्रस्तुत मानव-प्रकृति के बारे में अध्ययन के पश्चात् निम्नलिखित बातें उभर कर हमारे सामने आती हैं :-

1. **राजनीति और धर्म का प थक्करण** (Separation of Politics from Religion) : मैकियावली के अनुसार मनुष्य जन्म से ही स्वार्थी और धर्म की अपेक्षा पाप की ओर प्रव त्त है। वह विवश किए जाने पर ही बिना इच्छा के काम करता है। धर्म का सम्बन्ध मानव के व्यावहारिक जीवन से है, राजनीति से नहीं। मैकियावली का मानना है कि नैतिकता तथा परामर्श की भावना मनुष्य को क्रियाशील नहीं बनाती बल्कि भय तथा स्वार्थ की भावना उसे क्रियाशील बनाती है। अतः शासक को सर्वशक्ति सम्पन्न होना चाहिए ताकि प्रजा को सुरक्षा व शान्ति प्रदान कर सके। जनता शक्ति के अस्त्र को ही समझती है। नैतिकता द्वारा अराजकता की स्थिति नहीं मिटाई जा सकती। इसलिए राजनीति में नीति या धर्म का कोई महत्त्व नहीं है। इसलिए मैकियावली ने यह स्पष्ट कर दिया है कि राजनीति में नैतिकता और धर्म-गठबन्धन अव्यावहारिक और उपहासास्पद है। इसलिए मैकियावली की आधुनिक राजनीतिशास्त्र को सबसे महत्त्वपूर्ण देन राजनीति और धर्म व नैतिकता का प थक्करण है।
2. **राज्य एक स्वाभाविक संस्था नहीं** (State is not a Natural Institution) : मैकियावली के अनुसार राज्य का उद्भव एक आकस्मिक घटना है। सुरक्षा की माँग को पूरा करने के लिए ही इसका प्रादुर्भाव हुआ। मानव एक असामजिक, निर्बल तथा अकुशल प्राणी है। जीवन तथा सम्पत्ति सुरक्षा तथा दूसरों के आक्रमणों से बचने के लिए शासन का उदय हुआ। राज्य-सत्ता के अभाव में मानव को सुरक्षा सम्भव नहीं है। वह अरस्तू की भाँति राज्य को स्वाभाविक संस्था नहीं मानता है। इसलिए मैकियावली के मानव स्वभाव के अध्ययन से यह बात उभरकर आती है कि राज्य एक आकस्मिक घटना है।
3. **मानव स्वभाव अपरिवर्तनीय** (Unchangeable Human Nature) : मैकियावली के अनुसार व्यक्ति में सद्गुण नाम की कोई वस्तु नहीं है। जिन्हें हम सामाजिक सद्गुण की संज्ञा देते हैं वे केवल स्वार्थ के बदले हुए रूप हैं। मनुष्य को समस्त प्रेरक संज्ञा देते हैं वे केवल स्वार्थ के बदले हुए रूप हैं। मनुष्य की समस्त प्रेरक शक्तियाँ स्वयं अहम्पूर्ण और स्वार्थपूर्ण हैं। अरस्तू, प्लेटो आदि विचारक शिक्षा को मानव-व्यवहार में परिवर्तन करने वाले तत्त्व के रूप में देखते हैं। लेकिन मैकियावली के अनुसार मानव स्वभाव की बुराइयों को शिक्षा के द्वारा नहीं मिटाया जा सकता। उन पर केवल दमन या शक्ति द्वारा ही नियन्त्रण किया जा सकता है।
4. **राज्य के उद्देश्य** (Aims of the State) : मैकियावली के अनुसार राज्य का लक्ष्य भौतिक सम्पदा है। उसका मानना है- "भौतिक सम्पदा की इच्छा का मुख्यतः प्रत्येक मानवीय क्रिया के पीछे हाथ होता है।" इस प्रकार वह अरस्तू, प्लेटो तथा मध्ययुगीन विचारकों के इन विचारों का खण्डन करता है कि राज्य का उद्देश्य व्यक्ति को सद्गुणी बनाना है।

5 **नरेश के गुण** (Qualities of Prince) : मैकियावली ने मनुष्य को स्वार्थी, लोभी और कपटी मानते हुए उस पर नियन्त्रण के लिए निरंकुश राजा या शासक की अनिवार्यता को सिद्ध करता है। वह शासक में कठोरता, बर्बरता तथा निर्ममता जैसी

विशेषताओं को आवश्यक मानता है। वह अपनी पुस्तक 'दॉ प्रिंस' (The Prince) में शासक के लिए कुछ आवश्यक नियमों का वर्णन करता है जिनका पालन करके शासक जनता को वश में कर सकता है। वह भय को शासक का अनिवार्य हथियार मानता है। उसका कहना है कि जनता प्रेम की अपेक्षा भय की भाषा जल्दी समझती है। भय प्रेम से अधिक प्रभावशाली व अनुशासन का प्रमुख साधन है। लेकिन यह आवश्यक है कि जनता शासक से भय खाए और घ णा नहीं करे। शासक को जनता की सम्पत्ति की सदैव रक्षा करनी चाहिए। उसे अराजकता की स्थिति को नष्ट करके शान्ति स्थापना का प्रयास सदैव करते रहना चाहिए। उसमें लोमड़ी जैसी चालाकी होनी चाहिए। ऐसा व्यक्ति ही प्रजा पर शासन करने योग्य है।

आलोचनाएँ
(Criticism)

मैकियावली के मानव स्वभाव सम्बन्धी विचारों की निम्नलिखित आलोचनाएँ की गई हैं :

1. **एकपक्षीय विचार (One Sided View)** : मैकियावली भी हॉब्स की तरह मनुष्य को स्वार्थी व दुष्ट प्राणी मानता है। वह मनुष्य के सामाजिक होने के विचार का भी खण्डन करता है। सत्य तो यह है कि मनुष्य स्वार्थी होने के साथ-साथ परोपकारी भी होता है। उसमें सहयोग, त्याग, अनुशासन आदि गुण भी पाए जाते हैं। यदि वह इतना पापी और स्वार्थी है तो राज्य की कल्पना का विचार गलत है क्योंकि राज्य तो सहयोगी भावनाओं का परिणाम है। इस प्रकार उसको मानव स्वभाव पर विचार एकपक्षीय है। मनुष्य बुरे व अच्छे दोनों का मेल है। अतः मैकियावली केवल एकपक्षीय विचार का ही प्रतिपादन करके मानव स्वभाव का दोषपूर्ण चित्रण करता है।

2. **अवैज्ञानिक पद्धति (Unscientific Method)** : मैकियावली द्वारा दिया गया मानव-स्वभाव सम्बन्धी विश्लेषण अपर्याप्त है क्योंकि वह मनुष्य को केवल बुरा और स्वार्थी बताता है। वह मनुष्य के बुरा होने का कोई कारण बताने में असमर्थ है। अतः उसका विश्लेषण अवैज्ञानिक है।

3. **राज्य का आधार शक्ति नहीं इच्छा है (Will not Force is the Basis of State)** : मैकियावली शासक के लिए शक्ति को एक अनिवार्य गुण मानता है। वास्तव में सच्चाई तो यह है कि निरंकुश शासक को जनता अधिक दिनों तक सहन नहीं कर सकती। वह क्रान्ति द्वारा उसका तख्ता पलट देती है। फ्रांस व ब्रिटेन की क्रान्तियाँ, रूस की क्रान्ति इसका प्रमुख उदाहरण हैं। आधुनिक प्रजातन्त्र के युग में तो जनइच्छा ही शासन का आधार होती है, शक्ति नहीं। अतः यह सिद्धान्त असंगत है।

4. **निष्कर्ष केवल स्थानीय परिस्थितियों पर आधारित है (Inferences are Drawn from Local Conditions only)** : मैकियावली के चिन्तन पर अपने युग की अमिट छाप है। उस समय इटली में व्याप्त भ्रष्टाचार उसके लिए प्रमुख उदाहरण था। उसने मानव स्वभाव का चित्रण तत्कालीन इटालियन समाज की राजनीतिक, सामाजिक व धार्मिक परिस्थितियों को ध्यान में रखकर ही किया है। अतः उसका मानव स्वभाव का चित्रण सार्वभौमिक न होकर इटालियन समाज तक ही सीमित है।

5. **मानव का सुधार व उत्थान हो सकता है (Man is subject to Reformation and Improvement)** : मैकियावली के अनुसार मानव इतना गिरा हुआ है कि उसका सुधार नहीं किया जा सकता। उसका यह विचार सही नहीं है प्लेटो तथा अरस्तू के अनुसार मनुष्य शिक्षा द्वारा सद्गुणी बन सकता है। यदि व्यक्ति का पूर्ण सुधार सम्भव नहीं है तो भी कुछ न कुछ सुधार अवश्य किया जा सकता है।

6. **विरोधाभासी (Contradictory)** : मैकियावली एक तरफ तो मनुष्य को स्वार्थी ओर लोभी कहता है, दूसरी ओर वह कहता है कि मनुष्य अपने पिता के हत्यारों को माफ कर सकता है, परन्तु पैत क सम्पत्ति के अपहरणकर्ता को नहीं। जब व्यक्ति इतना दुष्ट व स्वार्थी है तो क्षमा जैसा गुण उसमें कहाँ से आ सकता है। दुष्टता और क्षमा परस्पर विरोधी गुण हैं। अतः मैकियावली की मानव स्वभाव सम्बन्धी धारणा परस्पर विरोधी विचारों से भरी पड़ी है।

7. **तार्किक दोष** : मैकियावली ने तत्कालीन इटालियन समाज के व्यक्तियों के स्वभाव के आधार पर समस्त मनुष्यों के सर्वकालीन स्वभाव का चित्रण किया है। अतः उसके इस सिद्धान्त में तार्किक दोष विद्यमान है।

मैकियावली के मानव स्वभाव सम्बन्धी विचारों से यह निष्कर्ष निकलता है कि उनका चिन्तन स्वयंसिद्ध सत्यों, मूल-तत्त्वों या परिकल्पना के अभाव से ग्रस्त था। वे प्रणालीबद्ध विचारक नहीं थे। उन्होंने इटली की सामाजिक, राजनीतिक वातावरण से उत्पन्न बुराइयों को अपने विचारों में स्थान देकर अपनी अवधारणा को खड़ा किया था। वह मानव स्वभाव की दुष्ट प्रव त्ति का सामान्यीकरण करने की दिशा में प्रयासरत थे। यदि इनका जन्म अन्य किसी काल में हुआ होता तो उनकी मानव प्रकृति की अवधारणा का स्वरूप भिन्न होता। सत्य तो यह है कि खुले में मैकियावली की जिन नीतियों या विचारों की आलोचना की जाती है, गुप्त रूप से सभी राजनयिक व राजनीतिज्ञ उनका अनुसरण करते हैं, उनके मानव-स्वभाव पर विचार तत्कालीन वातावरण का सम्पूर्ण लेखा-जोखा प्रस्तुत करने में सक्षम है। उनकी 'The Prince' इस बारे उनकी राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण देन है।

राजनीति का नैतिकता और धर्म से प थक्करण का सिद्धान्त
(Theory of Separation of Politics from Morality and Religion)

मैकियावली की सबसे महत्त्वपूर्ण देन उनका राजनीति को धर्म व नैतिकता से अलग करने का सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त मैकियावली को आधुनिक राजनीतिक चिन्तक के रूप में प्रतिष्ठित करता है। यदि हम राजदर्शन के इतिहास का अवलोकन करते हैं तो हम यह पाते हैं कि प्राचीन यूनान में और किसी भी दार्शनिक ने यह कार्य नहीं किया। महान् यूनानी विचारक प्लेटो राजनीति को नीतिशास्त्र का एक भाग मानते थे। उनके बाद अरस्तू ने इन दोनों में भेद करने का प्रयास किया और कहा कि राजनीतिशास्त्र का अध्ययन क्षेत्र राज्य है, जबकि नीतिशास्त्र का व्यक्ति का आचरण है। उन्होंने राजनीति और नीतिशास्त्र के ऊपर दो अलग-अलग ग्रन्थ लिखे। लेकिन फिर भी अरस्तू राजनीति और नीतिशास्त्र में पूर्णतः अन्तर नहीं कर सके। वे दोनों को एक सिक्के के दो पहलू मानते थे। इस तरह प्राचीन यूनानी राजनीतिक दर्शन नैतिकता पर आधारित था। इसी तरह मध्ययुग में राजनीतिक दर्शन धर्मशास्त्र पर आधारित था।

राजनीतिशास्त्र को नैतिकता व धर्म से अलग करने का पूरा श्रेय मैकियावली को ही जाता है। उसने कहा कि नैतिकता और राजनीति अलग-अलग वस्तुएँ हैं जिनके अनुसंधान-क्षेत्र भी अलग-अलग हैं। राजनीति राज्य के आचरण से तथा नीतिशास्त्र व्यक्ति के व्यवहार से सम्बन्धित है। व्यक्ति के सभी व्यावहारिक कार्यों के लिए राज्य है, जनता से ऊपर है। शासक समाज के सभी वर्गों के हितों का प्रतिनिधित्व करता है। अतः शासन एवं एक मामूली व्यक्ति के आचरण का मूल्यांकन करने की कसौटी भी भिन्न ही होगी। यह भेद राजनीतिक चिन्तन के लिए मैकियावली का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान है।

व्यक्ति तथा शासक के आचरण के नियमों में इस भेद को एक अन्तिम छोर पर ही रहने दिया जा सकता है। शासक के आचरण के नियम उसकी प्रजा से अभिन्न होते हैं। यदि वह अपनी प्रजा के हितों को अपना हित नहीं मानता है तो वह सफलता नहीं पा सकेगा। राजा का मुख्य हित जनता का कल्याण है। राज्य में स्थायित्व और व्यवस्था कायम करने के लिए शासक से बढ़कर कोई नहीं है। राज्य के हित में सभी तरह का अत्याचार, विश्वासघात और पाश्विक व्यवहार न्यायसंगत होता है। यदि राज्य के हितों की रक्षा करना शासक का ध्येय है तो उसके लिए हत्या, कपट, हिंसा की छूट है। मैकियावली ने इटली की दुर्दशा को देखकर एक शक्तिशाली शासक की आवश्यकता महसूस की जो राज्य में विघटनकारी ताकतों से निपट सके। उसने देश की एकता में बाधक शक्तिशाली तत्त्व 'पोप की सर्वोच्चता' का खण्डन किया और अपनी पुस्तक 'The Prince' में शासक को अपने शासन को सुद ढ़ बनाने के लिए महत्त्वपूर्ण उपदेश दिए। उन्होंने शासक को सभी अनैतिक साधनों का प्रयोग करने की छूट दी। उनके धर्म, नैतिकता व राजनीति के प थक्करण का निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन किया जा सकता है:-

1. **राजनीति में साध्य ही साधन का औचित्य है (In Politics Ends Justify Means)** : मैकियावली ने 'Discourses' में लिखा है- "मैं विश्वास करता हूँ कि जब राज्य का जीवन संकट में हो तो राजाओं और गणराज्यों की रक्षा के लिए विश्वासघात तथा कृतघ्नता का प्रदर्शन करना चाहिए। उसका स्पष्ट मत था कि सांसारिक सफलता ही सबसे बड़ा साध्य है, जिसे प्राप्त करने के लिए सभी अनैतिक साधन आवश्यक हैं। साध्य की सफलता साधन को औचित्यपूर्ण ठहरा सकती है। देश की सुरक्षा के लिए न्याय-अन्याय, दयापूर्ण-क्रूर, लज्जास्पद - सराहनीय का भेद छोड़ देना चाहिए। हमें वही कार्य करना चाहिए जो देश-हित में हो और स्वतन्त्रता का संरक्षण किया जा सके। उसने स्पष्ट किया कि राजनीति की नैतिकता जीवन की नैतिकता नहीं हो सकती। यदि किसी की हत्या से समाज के सामान्य कल्याण में व द्धि होती हो तो वह उचित है। राज्य की सुरक्षा के लिए शासक अपने वचन का उल्लंघन कर सकता है। उसके अनुसार- "उन वचनों

का, जिन्हें आप पर बलपूर्वक थोप दिया गया हे, पालन न करने में कोई अपमान नहीं है और जो वचन बरबस देने पड़ते हैं और जो सार्वजनिक हित से सरोकार रखते हैं, यदि उनमें लागू करने की शक्ति नहीं है तो उन्हें तोड़ना ही उचित है।

मैकियावली ने नैतिकता को व्यक्तिगत और जन नैतिकता में बाँटकर व्यक्तिगत में शासक के द ष्टिकोण और मापदण्ड को रखा। उसने जन-नैतिकता के बारे में कहा कि जनता का कल्याण इसी में है कि वह अपने शासक की आज्ञाओं का पालन करे। उसके अनुसार शासक स्वतन्त्र है, उस पर कोई बन्धन नहीं है और न ही वह नैतिकता के बन्धन में बँधा है। अपनी शक्ति और प्रभाव के विस्तार में जो कुछ उपयुक्त हो, वह न्यायपूर्ण और नैतिक है। वह राज्य को एकीकृत करने व शक्तिशाली बनाने के लिए प्रयुक्त होने वाले साधनों की नैतिकता पर कोई ध्यान न देकर केवल उद्देश्य पूर्ति को देखता है। उसके अनुसार- “राजा को तो राज्य की सुरक्षा की चिन्ता रखनी चाहिए, साधन तो हमेशा आदरणीय ही माने जाएँगे और सामान्यतः उसकी प्रशंसा की जाएगी। राजा का काम आम खाना है गुठलियाँ गिनना नहीं। इसलिए उसका उद्देश्य यही होना चाहिए कि अपने काम में नैतिक या अनैतिक साधन का प्रयोग करके सफलता प्राप्त कर ली जाए।” राजसत्ता को बनाए रखने के लिए शासक दाम, साम, दण्ड, भेद, बेईमानी, हत्या, प्रवंचना, आडम्बर, छल-कपट आदि उपायों का प्रयोग कर सकता है। सही राजा वही है जो शेर की तरह ताकतवर और लोमड़ी की तरह चालाक हो। साध्य की प्राप्ति हेतु नैतिकता के चक्कर में पड़ना मूर्खता है।

इस प्रकार मैकियावली का राजनीतिशास्त्र को नीति-विज्ञान से अलग करने के सिद्धान्त का सार यही है कि अच्छा कार्य वही है जो समाज कल्याण के हित में है और सिवाय उसके कोई कसौटी नहीं है। सार्वजनिक कल्याण में व द्धि के लिए अनैतिक कार्यों का समर्थन किया जा सकता है। अतः उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि साध्य प्राप्ति के लिए प्रयुक्त अनैतिक साधन भी उचित ठहराए जा सकते हैं यदि उनसे सार्वजनिक हित में व द्धि होती हो तो।

2. **नैतिकता का दोहरा मानदण्ड (Double Standards of Morality)** : मैकियावली ने व्यक्ति तथा राज्य के लिए अलग-अलग मानदण्डों की व्याख्या की है। यही सिद्धान्त उनकी आलोचना का प्रमुख कारण बना। उन्होंने अत्याचार, छल-कपट, हत्या या अन्य बुरे कार्यों की छूट दी है। इनके प्रयोग से राज्य हित को बढ़ाया जा सकता है। वह इस परिणाम पर पहुँचा है कि- “राजा राज्य को बनाए रखने के लिए और उसका कार्य सुचारू रूप से चलाने का उद्देश्य रखे, उसके साधन हमेशा सम्मानपूर्वक मने जाएँगे और उन्हें सार्वजनिक स्वीकृति भी प्राप्त हो जाएगी।” वे गणतन्त्र पर भी विचार करते हैं तब भी उनके निष्कर्ष वे ही हैं जो 'The Prince' में थे। उनका कहना है- “मेरा विश्वास है कि जब राज्य के जीवन को भय है, तब उसे सुरक्षित रखने के लिए राजा तथा गणतन्त्रवादी दोनों ही विश्वास भंग करेंगे और कृतघ्नता प्रकट करेंगे।” नैतिकतावादी सभी कालों में उसकी आलोचना करते आए हैं। यदि उनके विचारो का सूक्ष्मतापूर्वक विश्लेषण करे तो यह विदित होगा कि वह न तो नैतिक थे और न अनैतिक पर सदाचार-निरपेक्ष थे। सेबाइन का विचार है- “परन्तु अधिकतर वे उतने अनैतिक नहीं हैं जितने कि सदाचार-निरपेक्ष। वे राजनीति को अन्य विचारों से अलग कर देते हैं और उसके विषय में ऐसा लिखते हैं मानो वे अपने आप में एक पूर्ण ध्येय हों।” उसी प्रकार डनिंग ने भी कहा है- “वे राजनीति में अनैतिक नहीं परन्तु सदाचार-निरपेक्ष है।” मैकियावली के कथन का सारांश यही है कि राज्य जो कुछ करता है, वह नैतिक द ष्टि से ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि व्यक्तियों के विपरीत वह नैतिक प्राणी नहीं है और जो कुछ वह करता है, वह गलत भी नहीं हो सकता। शासन कला के क्षेत्र में परिणाम ही कार्यों की कसौटी हैं। यदि परिणाम अच्छे हों तो कार्य बुरा नहीं होगा। इस प्रकार उनका नैतिकता का दोहरा मापदण्ड राजनीति को धर्म व नैतिकता से अलग करने का तीव्र प्रयास है। यहाँ उनका सिद्धान्त दोनों में प थक्करण स्पष्ट तौर पर दर्शाता है।

3. **राजनीति और धर्म (Politics and Religion)** : जो बात मैकियावली ने नैतिकता के लिए कही है वही बात धर्म के लिए भी कही है। धर्म अपने आप में अच्छी बात है यदि सभी लोग धार्मिक होते और राज्य के प्रति आस्थावान होते। धर्मभीरू प्रजा शासन संचालन के लिए बहुत अनुकूल होती है। इसलिए राज्य को चाहिए कि वह जनता को अपने प्रति आस्थावान बनाने के लिए धार्मिक बनाये। लेकिन मैकियावली ने मानवीय गुण के रूप में धर्म को मान्यता नहीं दी है। उसके विचारों में यदि धर्म राज्य के मार्ग में बाधा बने तो उसे कुचल देना चाहिए। वह तभी तक उचित है जब तक वह राज्य का साधन बना रहता है। धर्म राज्य की अधीनता में है उससे ऊपर नहीं। धर्म के साथ खिलवाड़ करके राजा हमेशा प्रजा को अपने पक्ष में रख सकता है। उनका मानना है कि- “यदि राज्य की सुरक्षा को खतरा हो तो न्याय और अन्याय, दयालुता और निर्दयता पर विचार किये बिना धार्मिक मान्यताओं को रौंद देना ही उचित है।”

इस प्रकार उसने धर्म व राजनीति का प थक्करण किया है। राजनीति का दायरा शक्ति है और धर्म का आध्यात्मिक। उसने राजनीति के क्षेत्र में धर्म को अनुचित माना है। उसने मध्ययुग से चली आ रही धर्म व राजनीति के गठबन्धन की परम्परा को तोड़कर धर्म और राजनीति का प थक्करण किया है। वह धर्म-विरोधी नहीं है और न ही नैतिकता विरोधी। इसी सन्दर्भ में डनिंग का कथन है- "मैकियावली अनैतिक नहीं, नैतिकता के प्रति उदासीन है, वह धर्म विरुद्ध नहीं, बल्कि धर्म के प्रति उदासीन है।"

मैकियावली ने राजनीति को धर्म व नैतिकता से अलग क्यों किया ?
(Why did Machiavelli Separate Politics from Morality and Religion)

मैकियावली ने राजनीति को धर्म व नैतिकता से प थक् करने के लिए निम्नलिखित तीन कारण बताए हैं :

1. वह यूनानी दार्शनिकों की तरह मनुष्य की रक्षा और कल्याण के लिए राज्य को अत्यावश्यक, सर्वोत्तम और सर्वोच्च संगठन मानते हुए राज्य के हित को व्यक्तिगत हितों से ऊपर मानता था। इसलिए उसने लिखा है- "जब राज्य की सुरक्षा संकट में हो तो उस पर नैतिकता के वे नियम लागू नहीं होते जो नागरिकों के व्यवहार को विनियमित करते हैं।" उसने सार्वजनिक कल्याण व जनसुरक्षा के मुद्दे पर राजा को कायम रखने के लिए सभी अनैतिक साधनों द्वारा उनको पूरा करने की छूट प्रदान की है।
2. वह यथार्थवादी विचारक था। उस समय के ईसाइयत जीवन के स्वयं पोप के जीवन के पापमय आचरण को देखकर उसने निष्कर्ष निकाला कि धार्मिक सत्ता व्यक्ति को अकर्मण्य व अन्धविश्वासी बनाती है, जिसके कारण वे परिस्थितियों का सामना करने से घबराते हैं। अतः उनका यह सिद्धान्त बनाना स्वाभाविक था कि मनुष्य को दुर्बल बनाने वाली धार्मिक सत्ता का राजनीति में कोई स्थान न हो।
3. वह शक्ति को बहुत महत्त्व देता था। वह शक्तिशाली पुरुषों को ही वंदनीय समझता था। उसे भली-भाँति यह याद था कि किस प्रकार फ्रांस ने फलोरेंस पर कब्जा कर लिया था और पोप ने फलोरेंस में अपना धार्मिक प्रभुत्व कायम कर रखा था लेकिन वेनिस जैसा शक्तिशाली राज्य भी उसका कुछ नहीं बिगाड़ पाया था, क्योंकि पोप को फ्रांस, ब्रिटेन आदि शक्तिशाली राष्ट्रों का समर्थन प्राप्त था। उसने शक्ति के महत्त्व को भली-भाँति पहचान लिया था। उसने राजा के लिए शक्ति का प्रयोग जनता को भयभीत करने को उचित ठहराया। म त्यु के बाद मोक्ष लाभ प्राप्त करना उतना ही आवश्यक था जितना उसके लिए इस लोक में ख्याति लाभ प्राप्त करना। इसलिए उसने राजनीति को धर्म व नैतिकता से अलग रखने का विचार अपनाया।

इसके अतिरिक्त उसने सीजर बोर्जिया के साथ रहकर यह भी सीखा कि किस प्रकार इस निरंकुश शासक ने अनैतिक साधनों का प्रयोग करके इटली के एक बड़े भाग में एक शक्तिशाली शासन की स्थापना की। उसके कूटनीतिक अनुभव ने भी राजनीति में धर्म व नैतिकता के सिद्धान्तों का महत्त्व स्वीकार न करने की बात सिद्ध की।

आलोचनाएँ
(Criticisms)

मैकियावली का राजनीति को धर्म व नैतिकता से अलग करने का सिद्धान्त निम्न आधारों पर अमान्य प्रतीत होने लगा ओर आलोचनाओं का शिकार हुआ :

1. यह सिद्धान्त राजनीतिज्ञों द्वारा किए गए गलत कार्यों का समर्थन करता है। इसकी आड़ में इटली में भी शासक-वर्ग द्वारा जनता और अपने विरोधियों पर अत्याचार किए गए। इटली को संगठित व एकीकृत करने के नाम पर किए गए नरसंहार सर्वविदित हैं। यह राजनीतिज्ञों की काली करतूतों को पुरस्कृत करता है।
2. मैकियावली ने साध्य को साधन की अपेक्षा ज्यादा महत्त्व दिया है। महात्मा गांधी का मानना है कि यदि साधन पवित्र है तो साध्य भी अच्छा ही होगा लेकिन मैकियावली ने इसके विपरीत साध्य को साधन का औचित्य बताया है। महात्मा गांधी ने कहा है कि "Means justify the Ends" अर्थात् "साधन ही साध्य का औचित्य है।"

3. यह सिद्धान्त सार्वजनिक हित के नाम पर राजा को व्यक्तिगत हितों को पूराकरने की खुली छूट देता है। उसका मानना है कि शासक व जनता के हित एक ही होते हैं। वास्तव में ऐसा नहीं होता। जनता व शासक के हित अलग-अलग होते हैं। यदि इनको एक ही मान लिया जाए तो शासक अपनी व्यक्तिगत सनकों तथा पूर्व धारणाओं को भी राज्य की नीतियों के नाम पर बढ़ावा दे सकता है।
4. उन्होंने धर्म व नीति की घोर उपेक्षा की है। उसने धर्म व नीति का महत्त्व न आंकने की भारी भूल की है। इसलिए डॉ॰ मूरे ने कहा है- "वे स्पष्टदर्शी थे पर दूरदर्शी नहीं। उन्होंने चालाकी को राजनीतिज्ञ की कला मान लेने की भूल की है।" वास्तव में धर्महीन राजनीति म त्यु के समान होती है। आधुनिक युग में नैतिक मूल्यों पर आधारित राजनीति की माँग जोर पकड़ रही है।

उपर्युक्त त्रुटियों के बावजूद भी यह कहा जा सकता है कि मैकियावली का धर्म व नैतिकता को राजनीति से प थक् करने का विचार तत्कालीन परिस्थितियों की माँग था। उसने इटालियन समाज को अराजकता की स्थिति से निकालने के लिए तथा पोप की इटली समाज को मजबूत बनाने में बाधा के रूप में निवारण करने के लिए अपने इस सिद्धान्तका प्रतिपादन किया। उत्तरकालीन विचारक इस बात से सहमत हो गए कि व्यक्तियों तथा राज्य की नैतिकता एक ही नियमों में नहीं बँध सकती। मैकियावली के लिए इससे बढ़कर श्रद्धांजलि नहीं हो सकती कि आधुनिक युग में सभी राज्य अपने राजनयिक तथा राजनीतिक व्यवहार में उन्हीं के सिद्धान्तों पर चल रहे हैं। गांधी जी के विचार सैद्धान्तिक तौर पर ही सही हैं लेकिन व्यावहारिक पहलू से मैकियावली ही सही हैं। उनकी यह राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में अमूल्य देन है।

मैकियावली के शासन कला के बारे में विचार
(Machiavelli's Ideas on the Art of Government)

राजदर्शन के इतिहास में मैकियावली एक विवादास्पद विचारक रहे हैं। उनके बारे में यह मन्तव्य दिया गया है कि मैकियावली ने शासन कला (Art of Govt.) पर लिखा है, न कि राज्य के सिद्धान्त पर। मैकियावली को कई लेखक एक दार्शनिक की बजाए एक राजनीतिज्ञ तथा कूटनीतिज्ञ मानते हैं। यदि हम 'प्रिंस' की प्रस्तावना को पढ़ते हैं तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मैकियावली न तो स्वयं दार्शनिक होने का दावा करता है और न ही एक दार्शनिक बनना चाहता था। वह मुख्य श्रूप से एक यथार्थवादी राजनीतिज्ञ थे। उन्होंने फलोरेन्स की राजनीति में सक्रिय भाग लिया था। उनका उद्देश्य इटली का एकीकरण करके एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में उसे प्रतिष्ठित करना था। इसलिए उनकी दो प्रमुख रचनाओं में राज्य के सैद्धान्तिक पहलू पर लिखने की अपेक्षा शासन कला पर लिखा गया। अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'The Prince' में उन्होंने शासन कला पर लिखा। इसमें उसने अपने कल्पित राजकुमार को शासन कला पर उपदेश दिए हैं। इसलिए उनके इस ग्रन्थ में प्रिंस के बारे में पड़कर यह लगता है कि यह राज्य सिद्धान्त पर नहीं बल्कि शासन कला पर लिखा गया सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। (A book on the Art of Government rather than on the Theory of State)। शायद यह ग्रन्थ राजा और राजकुमार के लिए लिखा गया ग्रन्थ है। उनका दूसरा प्रमुख ग्रन्थ 'Discourses' भी मुख्य रूप से शासन कला से ही सम्बन्धित है। अन्तर केवल इतना है कि इसमें मैकियावली ने गणतन्त्रीय सरकार (Republic Govt.) पर लिखा है।

उपर्युक्त मन्तव्यों से हमें यह निष्कर्ष नहीं निकाल लेना चाहिए कि मैकियावली केवल शासन कला के बारे में ही लिखा है और राज्य के बारे में कोई विचार प्रस्तुत नहीं किया है। यदि ऐसा होता तो मैकियावली को राजदर्शन के इतिहास में इतना प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त नहीं होता और उसे प्रथम आधुनिक राजनीतिक दार्शनिक नहीं कहा जाता। वास्तविकता तो यह है कि मैकियावली ने नियोजित व क्रमबद्ध (Planned Systematic) तरीके से राज्य के बारे में कोई सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किया, फिर भी राज्य के बारे में उनके विचार बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, ये विचार पहले उनके भाषणों और लेखों में बिखरे पड़े थे। उनके परवर्ती लेखकों और अनुयायियों ने इन बिखरे हुए विचारों को एकत्रित किया और राज्य के सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया।

राज्य पर विचार
(Views on State)

मैकियावली ने राज्य को एक सर्वोच्च संस्था माना है। उसके राज्य सम्बन्धी विचारों को निम्नलिखित तरीके से समझा जा सकता है :-

राज्य की उत्पत्ति और प्रकृति
(Origin and Nature of State)

यद्यपि मैकियावली ने राज्य की उत्पत्ति का कोई सिद्धान्त प्रस्तुत नहीं किया है तथापि उसकी मान्यताओं के अनुसार राज्य मनुष्य के अवांछित आचरणों और स्वार्थी प्रकृति का परिणाम है। वह राज्य को अरस्तू की तरह प्राकृतिक संस्था न मानकर एक मानवकृत संस्था मानता है जो मनुष्य की आवश्यकता का परिणाम है। उसके अनुसार शक्ति की चाह और स्वार्थी प्रव त्ति राज्य को जन्म देती है। एतएव राज्य को अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए इस इच्छाऔर प्रव त्ति का हमेशा पोषण करते रहना चाहिए। राज्य अन्य सभी संस्थाओं से श्रेष्ठ है और सभी अन्य संगठन उसके अधीन ही रहने चाहिएं। यद्यपि मैकियावली ने सम्प्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया परन्तु उसका राज्य की शक्ति का निरूपण करने का तरीका राज्य में सम्प्रभु शक्ति को निहित मानता है। जिसका प्रयोग राजा (राजतन्त्र में) या प्रजा (गणतन्त्र में) करती है। वह राज्य को लोककल्याण में व द्वि का साधन मानता है। उसने राज्य की उत्पत्ति का आधार मनुष्य की दुष्टता और स्वार्थपरता को बताकर राज्य को अपरिहार्य संस्था बना दिया। उसने स्वीकार किया कि सर्वोत्तम कल्याण का साधन मनुष्य के लिए राज्य के अतिरिक्त कोई नहीं हो सकता। उसने कहा कि स्वस्थ राज्य वह है जो विस्तार के द्वारा तथा जनता के प्रति अपने कार्यों द्वारा हमेशा गतिशील रहता है। यदि यह गतिशीलता समाप्त हो जाए तो राज्य का भी अन्तहो जाता है। वह राज्य के उत्थान और पतन का एक लम्बा इतिहास मानता है। वह राज्य को एकता का प्रतीक मानता है। वह सामान्य हित और सार्वजनिक कल्याण की भावना के संयुक्तिकरण को राज्य की उत्पत्ति का आधार बताता है। वह परिवर्तन को राज्य के विकास का आधार मानता है।

राज्य का विस्तार
(Expansion of State)

मैकियावली यह मानता है कि राज्य परिवर्तनशील है और उसके उत्थान एवं पतनका एक लम्बा इतिहास है। इस परिवर्तन का अपना निश्चित क्रम है। वह राज्य को स्वस्थ व अस्वस्थ दो भागों में बाँटकर स्वस्थ राज्य का समर्थन करता है। जो सदैव संघर्ष में लगा रहता है। वह अस्वस्थ राज्य का विरोध करता है क्योंकि इसके निवासी छोटे-छोटे स्वार्थों के लिए परस्पर संघर्षरत रहते हैं। वह रोम साम्राज्य के पतन का कारण उसकी यथास्थिति को बनाए रखना बताता है। रोमन शासकों ने उसके विस्तार का प्रयास नहीं किया। वह 'प्रिन्स' तथा 'डिसकोर्सेज' में राज्य के अधिकृत प्रदेश को निरन्तर बढ़ाते रहने की आवश्यकता पर जोर देता है। उसके सामने इटली के एकीकरण का लक्ष्य था, इसलिए उसने राज्य के विस्तार के बारे में ऐसे विचार प्रस्तुत किये।

मैकियावली के मतानुसार राज्य में क्रमशः प्रसरणशील होना चाहिए और अपनी सीमा रेखा बढ़ाकर दूसरे राज्यों को आत्मसात् करना चाहिए। इसके लिए साम, दाम, दण्ड, भेद की कूटनीतिक नीतियों का पालन करना चाहिए। यदि राज्य अपना विस्तार नहीं करेगा तो वह अवश्य ही पतन की ओर जाएगा। उसकी राज्य विस्तार की धारणा प्लेटो से विपरीत है। फोस्टर के शब्दों में- "प्लेटो के लिए राज्य विस्तार की भावना जहाँ राज्य के रोग का लक्षण है, वहाँ मैकियावली के लिए राज्य का विस्तार राज्य के स्वास्थ्य का लक्षण है।

राज्यों का वर्गीकरण
(Classification of States)

मैकियावली ने अरस्तू की तरह राज्य के 6 प्रकार बताये हैं। उसके अनुसार राजतन्त्र, वर्गतन्त्र और संवैधानिक जनतन्त्र राज्य के सही रूप हैं। निरंकुशतन्त्र, धनिकतन्त्र और जनतन्त्र भ्रष्ट रूप हैं। मैकियावली ने राज्य और सरकार के मध्य कोई अन्तर नहीं माना है। इसलिए इन्हें सरकार का स्वरूप भी माना जा सकता है। उसने राजतन्त्र और संवैधानिक जनतन्त्र या गणतन्त्र को सबसे श्रेष्ठ माना है। उसनेइनके मिश्रित रूप का समर्थन किया है। उसके मिश्रित राज्य में राजतन्त्र और गणतन्त्र दोनों के गुण थे। वह एक ऐसे राजतन्त्र का समर्थक था, जिसका राजा जनता द्वारा चुना गया हो। उसने मिश्रित शासन प्रणाली को सर्वश्रेष्ठ बताकर उसका समर्थन किया। उसने 'Prince' में राजतन्त्र का तथा 'Discourses' में गणतन्त्रीय व्यवस्था का समर्थन किया है। उसने शासन के अन्य रूपों का घेर विरोध किया है।

कानून के शासन का महत्त्व
(Importance of Rule of Law)

मैकियावली विधि के शासन को बहुत महत्त्व देता है, लेकिन उसके विचार कानून के शासन के बारे में अत्यन्त संकुचित हैं। वह विधि को शासक के प्रभाव का माध्यम मानता है। वह नागरिक विधि की कल्पना करता है जो शासक द्वारा बनाई जाती है। इटली में उस समय विधियाँ न होने से पूर्ण अराजकता का माहौल था। यद्यपि उसने विधि का कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं किया फिर भी शासक को सर्वोच्च शक्ति में उसकी कल्पना निहित है। कानून या विधि के शासन का प्रमुख उद्देश्य समन्वय व समानता कायम करना है। वह कानून के शासन को सर्वश्रेष्ठ और सर्वोच्च मानता है। सारी विधियाँ शासन द्वारा राज्य राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परम्पराओं के अनुरूप पारित की जाती हैं। उसके अनुसार राज्य की स्थापना से पहले विधि के शासन का अभाव था। कानून का शासन स्थापित होने पर ही अराजक व्यवस्था का अन्त हुआ और समाज की एकता के सूत्र में बाँधा गया। राज्य का संरक्षण विधि की श्रेष्ठता पर ही आधारित होता है और स्थायी शासन की अनिवार्य शर्त कानून का शासन है। कानून के शासन का निर्माण करने के लिए एक सर्वशक्तिशाली विधि निर्माता की भी आवश्यकता होती है जो कानून के शासन की स्थापना द्वारा समाज में स्थायी शांति व समानता का गुण पैदा करता है। अतः कानून का शासन राज्य व इसके बिखरे हुए अंगों के मध्य सामंजस्य और समन्वय की स्थापना करता है।

सम्प्रभुता पर विचार
(Views on Sovereignty)

यद्यपि मैकियावली ने इस अवधारणा का कहीं स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं किया है किन्तु उसने राजा की शक्तियों के बारे में जो कुछ भी लिखा है हमें उससे सम्प्रभुता का आभास होता है। वह शासक की आन्तरिक इच्छा तथा विजेता की भावना को अविभाज्य मानता है। उसके अनुसार शासक किसी भी आन्तरिक या बाह्य शक्ति के प्रति उत्तरदायी नहीं होता और न ही वह अपने कार्यों के लिए कर्त्तव्यबद्ध है। वह स्वयं परिवर्तनवादी था इसलिए उसने स्थायी या अखण्ड प्रभुसत्ता क बात नहीं की। वह सम्प्रभुता की विशेषताओं जैसे सम्प्रभुश्ता की शाश्वता, अदेयता, संवैधानिकता आदि पर कुछ नहीं लिखा। उसकी सम्प्रभुता एकात्मक, लौकिक, धर्मनिरपेक्ष और स्वतन्त्र चेतना से युक्त है। वह अन्तरराष्ट्रीय मामलों में सीमित सम्प्रभुता को स्वीकार करता है। अतः उसके सम्प्रभुता पर विचार परोक्ष है।

मैकियावली के राज्य के बारे में इन महत्त्वपूर्ण विचारों के बारे में कुछ आलोचनाएँ भी हुईं। अनेक विचारकों ने राज्य को कृत्रिम संस्था न मानकर एक स्वाभाविक माना है। उनका मानव स्वभाव का चित्रण एकांगी है और उसके विचारों का कोई वैज्ञानिक आधार भी नहीं है। उसकी राज्य सम्बन्धी धारणा साम्राज्यवाद की पोषक है और जो पाशविक शक्ति पर आधारित है। आधुनिक प्रजातन्त्र के युग में तो उनका कोई महत्त्व नहीं है। उसने कभी भी प्लेटो, अरस्तू, हॉब्स की तरह नियोजित और क्रमबद्ध (Planned and Systematic) सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किया। फिर भी उसके राज्य सम्बन्धी विचार शासन कला के बारे में महत्त्वपूर्ण जानकारी देते हैं। उसका पहला ग्रन्थ 'The Prince' इटली की तत्कालीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में शासन कला पर लिखा गया ग्रन्थ है। वह इसमें शासन की कला और राज्य के हितों की रक्षा के लिए शासक को कुछ उपदेश देता है।

मैकियावली के राजकुमार को उपदेश
(Machiavelli's Tips to Prince)

मैकियावली ने 'The Prince' में राजकुमार या शासक को शासन कला के बारे में जो उपदेश या सुझाव दिए हैं, वे निम्नलिखित हैं :-

1. शासक का रूप उदार होना चाहिए तथा उसे अपने व्यक्तिगत आचरण को इस प्रकार ढालना चाहिए कि जनता के समक्ष दया, धार्मिकता तथा शुभचिन्तकता आदि गुणों से उदार रूप प्रकट हो परन्तु उसका मन इतना अनुशासित होना चाहिए कि आवश्यकतानुसार इन गुणों के प्रतिकूल भी आचरण करने में समर्थ हो सके।

2. मैकियावली भय तथा शक्ति को राज्य निर्माण के लिए महत्त्वपूर्ण मानते हुए भी राज्य के अस्तित्व के लिए विधि के शासन पर बल देता है। वह पदाधिकारियों की शक्ति का दुरुपयोग रोकने के लिए वैधानिक उपचारों की व्यवस्था होने को जरूरी मानता है। उसका दर्शन मानव द्वेषी होते हुए भी उदार और वैधानिक शासन के इस पहलू के कारण हेरिंगटन जैसे संविधानवादियों की प्रशंसा का पात्र रहा है।

3. वह शासक के लिए राज्य की स्थापित संस्थाओं और परम्पराओं का सम्मान करना आवश्यक मानता है। यदि इन संस्थाओं और परम्पराओं से राज्य की सुरक्षा को खतरा हो तो उस दशा में उसमें परिवर्तन किया जा सकता है।
4. किसी भी सफल शासक को देशभक्तों, नागरिकों और सेनाओं का सहयोग लेना आवश्यक है। किराए की सेनाएँ शासक का अपमान कराती हैं। प्रिंस में उसने लिखा है- "ये असंगठित, इच्छुक, अनुशासनहीन, अकृत, मित्रों में बहादुर परन्तु शत्रुओं में बुजदिल होते हैं। उन्हें ईश्वर से कोई भय नहीं होता और ये विश्वासपात्र नहीं होते।" वह कहता है- "दूसरों के अस्त्र या तो असफल होते हैं या अतिभार डालते हैं या बाधा पैदा करते हैं।" वह कहता है कि दूसरों के सैनिकों के साथ जीतने की अपेक्षा अपने सैनिकों के साथ हारना अच्छा है।
5. एक सफल शासक के लिए अवसरवादी होना अनिवार्य है। शासक को कोई धर्मसंकट नहीं होना चाहिए। उसका कोई स्थायी मित्र या शत्रु नहीं होता। यदि उसका अपने मित्र के हितों से टकराव हो तो उसे अपने मित्र को शत्रु घोषित करने में देर नहीं करनी चाहिए।
6. राज्य का अस्तित्व बनाए रखने के लिए शासक को व्याघ्र-लोमड़ी नीति का पालन करना चाहिए। शासक को अपने विरुद्ध रचे गए षड्यन्त्रों को असफल बनाने तथा अपने विरोधियों का अन्त करने के लिए शेर की तरह निर्दयी तथा लोमड़ी की तरह चालाकी का प्रयोग करना चाहिए। मैकियावली के शब्दों में- "जालों (षड्यन्त्रों) को मापने के लिए नरेश को लोमड़ी और भेड़ियों को भयभीत रखने के लिए शेर होना चाहिए।"
7. मन्त्रियों के चयन में शासक को अत्यधिक सतर्कता का परिचय देना चाहिए क्योंकि उनकी योग्यता, अच्छाई और वफ़ादारी ही शासक की योग्यता और कुशलता का प्रथम परिचय है। यदि मन्त्री लोभी और स्वार्थी हैं तो वे शासक के प्रति कभी वफादार नहीं रह सकते।
8. शासक को पाखण्डी होना चाहिए। उसे बहुरूपिया और दिखावटी भी होना चाहिए। देखने में वह कृपालु, दयालु, सत्यप्रिय और धार्मिक होना चाहिए परन्तु आवश्यकतानुसार इन गुणों के विपरीत कार्य करने की योग्यता व क्षमता भी होनी चाहिए। "शासक को लोगों की धार्मिकता, नैतिकता और भोलेपन का पूरा लाभ उठाना चाहिए।"
9. शासक को युद्ध में जीते गए राज्य की प्रजा के विश्वास तथा मित्रता प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि वह विजित राज्य के कानूनों, प्रथाओं, रीति-रिवाजों एवं धार्मिक रीति-रिवाजों में कोई परिवर्तन न करे और जनता के प्रति सद्व्यवहार एवं मित्रता की नीति का पालन करे।
10. एक अच्छे राजा को मितव्ययी होना चाहिए। राज्य के धन को भोग-विलास में खर्च नहीं करना चाहिए, परन्तु लड़ाई में लूट का माल चुपचाप अपने कोष में न रखकर उदारतापूर्वक प्रजा और सैनिकों में बाँटना चाहिए।
11. शासक को चापलूसों से सावधान रहना चाहिए। शासक को योग्य और विश्वासपात्र मन्त्रियों से ही सलाह लेनी चाहिए। उसके अनुसार- "परामर्श शासक की बुद्धिमत्ता का परिणाम होना चाहिए न कि शासक की बुद्धिमत्ता परामर्श का परिणाम हो।"
12. राज्य के कार्यों के संचालन तथा योजनाएँ आदि बनाने में परम गोपनीयता का पालन करना चाहिए। मैकियावली के अनुसार लोग उन सभी योजनाओं का जो राज्य के हित में हे, अनुमोदन करेंगे यदि उनको पर्याप्त व्यवहार कौशल तथा गोपनीयता से लागू किया जाए।
13. मैकियावली के अनुसार जनता के साथ समानता का व्यवहार तो होना चाहिए परन्तु आवश्यकतानुसार भेद की नीति को भी अपनाया जा सकता है। इसी प्रकार शत्रुओं को कड़े दण्ड देने चाहिए परन्तु यदि आवश्यकता पड़े तो धन का लालच देकर लोगों को नियन्त्रण में रखने का प्रयास किया जा सकता है। अतः शासक को साम, दाम, दण्ड, भेद की नीति का आवश्यकतानुसार प्रयोग करना चाहिए।
14. व्यापार, वाणिज्य का प्रोत्साहन देश की सम द्धि व उन्नति के लिए लाभदायक सिद्ध होता है। अतः राजा को इस ओर ध्यान देना चाहिए। यदि राजा वाणिज्य व्यवसाय, कृषि आदि की उपेक्षा करेगा तो देश निर्धन और अशक्त हो जाएगा।
15. मैकियावली का विचार है कि शासक को कला और साहित्य में रुचि लेनी चाहिए तथा साहित्य का संरक्षण तथा कलाकारों का सम्मान करने के गुण होने चाहिए।

16. मैकियावली का विचार है कि शासक को अपने राज्य की जनसंख्या में व द्धि होने देनी चाहिए ताकि राज्य के लिए प्रचुर मात्रा में सैनिक उपलब्ध हों। वह राज्य के उत्थान व विस्तार के लिए मानव-शक्ति को विशेष महत्त्व देता है।
17. शासक को गम्भीर परिस्थितियों में निस्संकोच निर्णय लेना चाहिए। अतः उसमें द ढ़ निश्चय की क्षमता व योग्यता होनी चाहिए। शासक को साहसी, सहनशील और शानो-शौकत वाला होना चाहिए। लोग तभी शासक से घ णा करते हैं जब वह दुर्बल, बुज़दिल तथा अनिश्चित होता है।
18. शासक में ऐसे गुणों का समावेश होना चाहिए कि लोग उससे भय खाएं घ णा नहीं करें। शासक को अपना यश बनाए रखने के लिए हर प्रयास करना चाहिए। जिस प्रकार शस्त्रों की शक्ति से बाह्य आक्रमणों से रक्षा की जा सकती है, उसी प्रकार शासक के यश तथा जन-सद्‌भावना से शासक आन्तरिक षड्‌यन्त्रों से सुरक्षित रहता है। शासक को जनता की सम्पत्ति तथा नारी जाति का सम्मान करना चाहिए।
19. मैकियावली राजा को अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में शक्ति संतुलन बनाए रखने की ओर बल देता है। उसे पड़ोसी राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप की नीति को अपनाना चाहिए तथा शक्ति व लालच द्वारा अपना मित्र बनाना का प्रयास करना चाहिए। साथ पड़ोसी राज्यों को आपसी सन्धि में नहीं बँधने देना चाहिए।
20. शासक को लोगों को राजनीतिक शिक्षा देने का प्रयास करना चाहिए तथा उन्हें राज्य के कार्यों में भाग लेने का मौका नहीं देना चाहिए। उसका मानना है कि व्यक्ति और राज्य के हित एक ही हैं। उसका निरंकुश राज्य स्वयं के लाभ के लिए न होकर सार्वजनिक हित के लिए है।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वह एक यथार्थवादी दार्शनिक न होकर विचारक था। उसने शासन कला पर जो कुछ लिखा वह आज की शासन प्रणालियों में सर्वत्र देखने को मिलता है।

इसी तरह उनका दूसरा ग्रन्थ 'डिसकोर्सेज' (Discourses) भी गणतांत्रिक व्यवस्था में शासन कला के बारे में बताता है। मैकियावली के बारे में यह कहा जाता है कि उसने सरकार के दो सिद्धान्तों का वर्णन किया है - एक सिद्धान्त उन राज्यों के लिए जहाँ शान्ति और व्यवस्था है और दूसरा उनके लिए जहाँ अराजकता या भ्रष्टाचार है। अपनी प्रव ति से वह राजतन्त्र की अपेक्षा गणतन्त्रवादी अधिक था। उसका विचार था कि ऐसे राजनीतिक समुदाय के लिए जहाँ सामान्य आर्थिक समानता हो, गणतन्त्रीय सरकार सर्वाधिक उपयुक्त नहीं बल्कि एकमात्र उपयुक्त सरकार है। एक भावुक राजा की तुलना में एक गणतन्त्र सरकार अच्छी तरह से अपनी संस्थाओं और परम्पराओं को बनाये रख सकती है और बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार उनमें परिवर्तन कर सकती है। यह सरकार भौतिक सम द्धि और अधिक समानता सुनिश्चित कर सकती है। क्रांति द्वारा किसी नए राज्य की स्थापना अथवा किसी भ्रष्ट राज्य में सुधार करने के लिए निरंकुश शासन लोकतन्त्र से अधिक प्रभावी है। अतः उसके अनुसार क्रान्तिकाल में निरंकुश शासन और शान्तिपूर्ण व्यवस्थित राज्यों के लिए लोकप्रिय सरकार उपयुक्त होती है।

'Discourses' में मैकियावली ने गणतन्त्रीय व्यवस्था के कुछ गुण बताए हैं -

1. गणतन्त्र में सभी लोगों को शासन में भाग लेने का अधिकार प्राप्त होता है।
2. इसमें निर्णय एक व्यक्ति की बजाय कई व्यक्ति मिल-जुलकर लेते हैं, जिसके कारण निर्णय अधिक परिपक्व और बेहतर होते हैं।
3. गणतन्त्र का समर्थन करते हुए मैकियावली कहता है कि इसमें विधि के शासन का महत्त्व होता है।

गणतन्त्र के गुणों के साथ-साथ उसके दोषों कोभी मैकियावली भली-भाँति परिचित था। उसने उन दोषों के साथ-साथ उनके निवारण के उपाय भी बताए हैं :-

1. गणतन्त्र में संकटकालीन परिस्थिति का मुकाबला करने की क्षमता नहीं होती।

   इस दोष से निपटने के लिए यह गणतन्त्र में एक शक्तिशाली शासक के शासन का होना अनिवार्य मानता है।
2. दूसरा दोष यह है कि गणतन्त्र में अधिकारी अन्याय और भ्रष्ट होते हैं, क्योंकि उन पर किसी एक का नियन्त्रण नहीं होता।

   इस दोष को दूर करने के लिए वह कठोर दण्ड की व्यवस्था का सुझाव देता है।
3. तीसरा दोष गणतन्त्र में दलबन्दी का है।

इसको दूर करने के लिए प्रत्येक दल को अपने विचार रखने की स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए। मैकियावली का यह भी सुझाव है कि राज्य में संविधान और कानून लचीला होना चाहिए और सामाजिक परम्पराओं के अनुकूल होने चाहिएं। जहाँ तक हो सके राज्य में एक ही धर्म और संस्कृति के लोग होने चाहिएं।

इस तरह मैकियावली ने मुख्य रूप में अपने दोनों ग्रन्थों में शासन कला पर लिखा है। उसकी यह राजदर्शन को एक महत्त्वपूर्ण देन है। यह कहना उचित नहीं होगा कि वह केवल राजनीतिज्ञ या दार्शनिक नहीं। यद्यपि व कोई क्रमबद्ध सिद्धान्त नहीं दे सका फिर भी उसके राज्य व शासन पर विचार बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

मैकियावली : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन के पिता के रूप में
(Machiavelli : As Father of Modern Political Thought)

मैकियावली आधुनिक राजनीति का जनक मना जाता है। वह मध्ययुग और आधुनिक युग को परस्पर जोड़ने वाली प्रमुख कड़ी है। डनिंग के अनुसार- "मैकियावली मध्ययुग और आधुनिक युग का सम्बन्ध-विच्छेद करने वाला प्रथम विचारक है।" प्रो॰ जोन्स ने उसे आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्तों के पिता की संज्ञा दी है। मैकियावली को आधुनिक राजनीतिक विचारधारा की शुरुआत करने का श्रेय प्राप्त है। उसने मध्ययुग की मान्यताओं और परम्पराओं की उपेक्षा करने के साथ-साथ राजनीति को नवीन व्यावहारिक रूप दिया। डनिंग के अनुसार- "यह कहना कि वह आधुनिक युग का प्रारम्भ करता है, उसी प्रकार सही है जैसे यह कहना कि वह मध्ययुग को समाप्त करता है।" उसे आधुनिक युग का पिता कहने का तात्पर्य यही है कि आधुनिक युग मैकियावली से ही प्रारम्भ होता है तथा इस युग के शुरू होते ही मध्ययुग का अन्त हो जाता है।

यद्यपि कुछ विचारक बोदां को आधुनिक युग का पिता मानते हैं क्योंकि उसने आधुनिक राष्ट्रीय राज्यों की मूल विशेषता 'सम्प्रभुता' को स्पष्ट रूप से परिभाषित किया था, परन्तु मैकियावली ने सर्वप्रथम जिस व्यावहारिक राजनीति का बिगुल बजाया, वह आज भी मान्य है। परन्तु बोदां स्वयं को मध्ययुगीन प्रभाव से मुक्त नहीं कर सका। मैकियावली ने मध्ययुग से पूर्ण नाता तोड़कर नए युग की शुरुआत की। उसने मध्ययुगीन मान्यताओं जैसे सामन्तवाद, पोपतन्त्र, पवित्र रोमन साम्राज्य, दैवी कानून, परलोक की महत्ता, नैतिकता, ईश्वरीय भक्ति आदि को खण्डित करके सर्वथा नवीन विचारधारा को प्रतिष्ठित किया। आधुनिक युग की सभी मान्यताएँ उसके ग्रन्थों में विद्यमान हैं। वही एक ऐसा विचारक है जिसने मध्ययुग का अन्त करके आधुनिक युग की शुरुआत की। वही सर्वप्रथम लेखक है जिसने धर्म और राजनीति का प थक्करण करके धर्मनिरपेक्षता को जन्म दिया। उसने राज्य की श्रेष्ठता, शक्ति की राजनीति और वैज्ञानिक अध्ययन पर बल देकर राजनीति को व्यावहारिक रूप दिया। सेबाइन के अनुसार- "मैकियावली ने राज्य को वह अर्थ प्रदान किया जो आधुनिक राजनीतिक व्यवहार में राज्य के साथ जुड़ा हुआ है।" उसकी रचनाएँ में किए गए कार्यों के आधार पर निस्संकोच कहा जा सकता है कि वह 'आधुनिक युग का पिता' था। इसको निम्नलिखित आधारों पर प्रमाणित किया जा सकता है :-

1. **राजनीति और नैतिकता व धर्म के बीच प थक्करण (Separation of Politics from Morality and Religion) :** मैकियावली के राजनीति को धर्म और नैतिकता से अलग करने का महत्त्वपूर्ण कार्य करके धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा का प्रतिपादन किया। उसने कहा कि व्यक्ति की नैतिकता का राज्य की नैतिकता से कोई सरोकार नहीं है। व्यक्ति की द ष्टि में घोर अनैतिक कार्य राज्य के लिए सम्माननीय हो सकते हैं। उसके अनुसार राज्य के लिए निरंकुशता, हिंसा, निर्दयता, सामूहिक हत्याएँ, आक्रमण आदि भी आवश्यक हो सकते हैं। आधुनिक राजनीति में जिन अनैतिक साधनों का प्रयोग किया जाता है, वे सभी मैकियावली के राजनीतिक शब्दकोश में पहले से ही विद्यमान हैं। उसने 'प्रिंस' में शासक को कुछ उपदेश दिए हैं जो व्यक्ति की द ष्टि में गलत हो सकते हैं, परन्तु शासन कला की द ष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। आज भी यह माना जाता है कि राजनीति और नैतिकता एक साथ वहीं चल सकती, इसलिए उनका अलगाववाद आवश्यक है। धर्म और नैतिकता का सम्बन्ध व्यक्तिगत जीवन से है जबकि राजनीति का सार्वजनिक क्षेत्र से है। राज्य की सुरक्षा सर्वोपरि वस्तु है। उसने साध्य को साधन का औचित्य बताते हुए अनैतिक कार्यों द्वारा भी राज्य की सुरक्षा को सही ठहराया है। वह धर्म और नैतिकता को एक ऐसे साधन के रूप में प्रयोग करना चाहता था जो राज्य में शान्ति और व्यवस्था कायम करने में सहायक हो। उसने 'प्रिंस' में कहा है- "यदि राज्य का निर्माण करने के लिए पूरे गणराज्य के नागरिकों की हत्या करनी पड़े, लोगों से विश्वासघात करना पड़े, उनकी हत्या छल-कपट से करनी पड़े, अपने वायदों से दूर हटा जा सके - तो ऐसा करना सफल राजा की पहचान होगी।" इस प्रकार राजनीति को धर्म व नैतिकता से प थक् करने वाला प्रथम विचारक मैकियावली ही था और वह धर्मनिरपेक्ष राजनीति का जनक कहलाने का पूरा अधिकारी है।

2. **राष्ट्र राज्य की धारणा का पोषक** (Supporter of Nation-State) : मैकियावली की रचनाओं में राष्ट्रीय राज्य की अवधारणा का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। आधनिक युग राष्ट्र-राज्यों का युग है। इटली की दुर्दशा उसके राष्ट्रवाद का आधार थी। उसने स्पेन, फ्रांस, ब्रिटेन के राष्ट्रीय राज्यों से प्रेरणा लेकर एक इटालियन राष्ट्र का स्वप्न संजोया था। उसकी यह इच्छा थी कि इटली एक सुद ढ़ राष्ट्र के रूप में एकीकृत हो। वह राष्ट्र राज्य की स्थापना के लिए सभी अधार्मिक व अनैतिक कार्यों की छूट देता है। उसने प्रादेशिकता के आधार पर इटली के एकीकरण का समर्थन किया। इस तरह उसने इटली के एकीकरण के माध्यम से आधुनिक राष्ट्रीय राज्यों के विकास का मार्ग प्रशस्त किया।

3. **यथार्थवादी राजनीति की अवधारणा** (Conception of Practical Politics) : मैकियावली ने जिस राजनीति का समर्थन किया है, वह यथार्थवादी है। उसने वर्तमान के वैभव और सत्ता के इर्द-गिर्द घूमने वाली चीजों को प्राप्त करना व्यक्ति और प्रशासक दोनों का उद्देश्य माना। उसने राष्ट्र के निर्माण के लिए सारी नैतिकताएँ दाँव पर लगा दीं। उसने कहा कि राष्ट्र के व्यक्तित्व में सार्वजनिक कल्याण की भावना निहित होती है। इसलिए शक्तिशाली राष्ट्र अपने आप में बहुत बड़ी उपलब्धि है। मैक्सी के अनुसार- "मैकियावली ने आचार और राजनीति को प थक् करके सरकार की सफलता की आवश्यकता के अनुसार आचरण करने का सुझाव दिया, यही उसकी ध ष्टता थी लेकिन यही राजनीति के लिए उसकी बहुमूल्य सेवा थी।" उसने व्यक्ति को स्वभाव से दुष्ट बताकर उसे शक्ति के प्रयोग द्वारा सीधा रखने की बात कही है। वह शक्ति का पुजारी है। आधुनिक युग शक्ति राजनीति का युग है। शासक चाहे कोई भी ढंग रचें लेकिन उनकी यथार्थवादी नीति शक्ति पर ही आधारित होती है। शासन का प्रमुख आधार शक्ति होती है। सम्भवतः मैकियावली ही वह प्रथम विचारक है जिसने शक्ति को राज्य का आधार बताकर यथार्थवादी होने का परिचय दिया।

4. **सम्प्रभुता का पूर्वसूचक** (Fore-Runner of Sovereignty) : यद्यपि मैकियावली ने कहीं भी इस अवधारणा का उल्लेख नहीं किया है फिर भी जिस तरीके से उसने निरंकुश सम्प्रभु का वर्णन किया है। उससे स्पष्ट हो जाता है कि वह सम्प्रभुता का पोषक है। वह राज्य को सर्वोपरि संस्था मानता है जिसके आदर्शों और निर्णयों का पालन सभी को करना होता है। उसने राज्य को एक संगठित शक्ति माना है जो हर स्थिति से सर्वोच्च है। सम्प्रभुता की सैद्धान्तिक व्याख्या आगे चलकर बोदां और हॉब्स ने की, यह मैकियावली की ही देन है।

5. **प्रथम राजनीति वैज्ञानिक** (First Political Scientist) : मैकियावली ने राजा के लिए जिन गुरों या सुझावों को अपनाने की सलाह दी, उन्हें इतिहास के प्रमाणों के आधार पर उचित सिद्ध करने का प्रयास भी किया। उसने राजनीति के व्यावहारिक पक्ष पर जोर दिया। वह राज्य के लिए कल्पित साध्यों में विश्वास नहीं करता था। वह राजनीति दार्शनिक नहीं, राजनीतिक यथार्थवादी था। उसने राजनीतिक चिन्तन को जो वैज्ञानिक आधार दिया वह आज भी मान्य है।

6. **मध्ययुगीन विचारधारा पर प्रहार** (Attack on Medieval Ideas) : मैकियावली ने अपनी रचनाओं में दैवीय कानूनों को अस्वीकार करके केवल मानवीय कानूनों के अस्तित्व को ही स्वीकार किया और राज्य को सर्वोच्चता दी। उसने निरंकुश पोपतन्त्र की कटु आलोचना की और राज्य को प्रभुत्व-सम्पन्न तथा चर्च को उसका अनुगामी बताया। उसने मध्ययुगीन राज्यों की एकता में बाधक सामन्तवाद का खण्डन करते हुए उसे अपने राज्य में कोई स्थान नहीं दिया। इस प्रकार उसने मध्ययुगीन विचारधाराओं का खण्डन करने की पहल की। उससे पहले किसी अन्य विचारक ने ऐसा नहीं किया। इसलिए उसे आधुनिक राजनीति का जनक कहा जाता है।

7. **राज्य के आधुनिक स्वरूप का वर्णन** (Description of the Nature of Modern State) : मैकियावली द्वारा प्रस्तुत राज्य की रूपरेखा भी आधुनिक राज्यों की रूपरेखाओं से बहुत कुछ मिलती जुलती है। उसने इटली के सम्बन्ध में जा चित्र प्रस्तुत किया है, वह आधुनिक राज्यों के समान है। आधुनिक राज्य प्रभुसत्तासम्पन्न, धर्मनिरपेक्ष, स्वतन्त्र, अस्तित्ववान और राष्ट्रीय राज्य है। मैकियावली ने शक्ति-संवर्धन राज्य तथा प्रभुत्व विस्तार को राजा के लिए आवश्यक माना है। गैटिल के अनुसार- "वह प्रथम आधुनिक राजनीतिक विचारक था जिसने एक प्रभुसत्तासम्पन्न, ऐकिक, धर्मनिरपेक्ष, राष्ट्रीय एवं स्वतन्त्र अस्तित्ववाद राज्य की कल्पना की थी। वह प्रथम आधुनिक यथार्थवादी था जिसने बताया कि राज्य को स्वयं के लिए जीवित रहना चाहिए तथा उसको संरक्षण और हित का उद्देश्य ध्यान में रखना चाहिए।"

8. **संघ राज्य का प्रथम उद्घोषक** (First Propounder of Union State) : मैकियावली ने इटली के लिए एक ऐसे कॉमनवेल्थ का स्वप्न देखा था जो संघीय व्यवस्था पर आधारित हो। आधुनिक युग में मैकियावली को संघीय व्यवस्था

का स्वप्न ही उपयुक्त माना जाता है। वह इटली को लोकतन्त्रात्मक गणराज्य में संगठित करना चाहता थां उस समय इटली पाँच राज्यों में बँटा हुआ था। मैकियावली उनका एकीकरण करके शक्तिशाली इटली राष्ट्र राज्य का निर्माण करना चाहता था। उसने 'Discourses' में जिस कॉमनवेल्थ का जिक्र किया है, वह संघ राज्य ही था।

9. **अवसरवादी राजनीति का प्रवर्तन (Propounder of Opprtunistic Politics) :** मैकियावली शुरु से अन्त तक 'Prince' में शासन कला पर लिखते हुए अवसरवादी राजनीति का ही प्रवर्तन करता है। वह शासक को शेर की तरह शक्तिशाली और लोमड़ी की तरह चालाक होने की बात कहता है। आधुनिक राजनीति 'प्रभाव या प्रभावशाली' का अध्ययन है, उचित या अनुचित कार्यों का नहीं। इसलिए वह अवसरवादी है। आधुनिक युग में राजनीतिक व्यवहार अवसरवादिता पर ही निर्भर है। अवसर पड़ने पर राजनीतिक व्यक्ति अनैतिक कार्यों को करने से भी नहीं चूकते। अतः उसे आधुनिक राजनीति का जनक कहना सर्वथा उचित है।

10. **ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग (Use of Historical Method) :** मध्यकाल की धार्मिकता से परिपूर्ण और अन्धविश्वासों तथा मूढ़ताओं से भरी अध्ययन पद्धति में प्रगति और वास्तविकता के लिए कोई स्थान नहीं था। मैकियावली ने सर्वप्रथम अनुभव प्रधान ऐतिहासिक अध्ययन पद्धति को अपनाया। उसने अपने सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए धार्मिक द ष्टान्तों का सहारा न लेकर इतिहास, तर्क एवं पर्यवेक्षण का सहारा लिया जिसमें उसका चातुर्य तथा सहजबुद्धि काम करती थी। यद्यपि दोषरहित न होने पर भी उसने एक नवीन मार्ग प्रशस्त किया जो आगे चलकर आधुनिक राजनीतिक चिन्तन में उपयोगी सिद्ध हुई। अतः मैकियावली आधुनिक राजनीति विज्ञान का जनक था।

    इस प्रकार मैकियावली द्वारा प्रस्तुत राज्य की रूपरेखा आधुनिक राज्यों से मिलती है। उसका शक्ति सिद्धान्त आधुनिक युग में बहुत महत्त्वपूर्ण है। वह धर्मनिरपेक्षता, प्रभुसत्तासम्पन्न, स्वतन्त्र अस्तित्ववान और राष्ट्रीय राज्य का जिन प्रव त्तियों का वर्णन करता है, वह आधुनिक युग में भी विद्यमान है। उसने आधुनिक युग के लिए यथार्थवादी राजनीति का सिद्धान्त दिया है जो उसकी सबसे अधिक अमूल्य देन है। फिर भी कुछ आलोचक उसे 'आधुनिक युग का पिता' मानने से इंकार करते हैं। वे कहते हैं कि उसने सम्प्रभुत्ता का कहीं भी जिक्र नहीं किया है। उसने ऐतिहासिक पद्धति का गलत प्रयोग किया है। उसने राज्य का सिद्धान्त प्रतिपादित न करके राज्य की कला का प्रदर्शन किया है। सेबाइन का कहना है कि उसका राजदर्शन स्थानीय था। उसका सम्बन्ध इटली से था अन्य देशों से नहीं।

निष्कर्ष तौर पर कहा जा सकता है कि चाहे वह आधुनिक राजनीतिक चिन्तन का जनक न रहा हो पर वह आधुनिक राजनीतिकता का जनक तो था ही। आधुनिक युग में सभी राजनयिक और राजनेता मैकियावली के सिद्धान्तों का बेहिचक पालन करते हैं। उसके साम, दाम, दण्ड, भेद के उपायों का समान रूप से प्रयोग हो रहा है। मैक्सी ने कहा है- "मैकियावली ने राजनीति दर्शन को मध्ययुगीन पांडित्यपूर्ण अस्पष्टवादिता से बचाने के लिए बहुत योगदान दिया और इसलिए उसे आधुनिक युग के महान् राजनीतिक चिन्तकों में सर्वश्रेष्ठ नहीं तो प्रथम राजनीतिक चिन्तक के रूप में तो माना ही जाना चाहिए।"

आधुनिक राजनीति का सबसे प्रधान तत्त्व राष्ट्र और राष्ट्रीयता मैकियावली की ही देन है। आधुनिक राजनीति में व्यवहारवादी अध्ययन उसकी एक महत्त्वपूर्ण देन है और 'Prince' आधुनिक शासन कला के तरीकों का एक सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। अतः मैकियावली को आधुनिक राजदर्शन का जनक होने का गौरव प्रदान करना ही चाहिए।

अध्याय-6
थॉमस हॉब्स
(Thomas Hobbes)

परिचय
(Introduction)

जीवन परिचय
(Biography)

थॉमस हॉब्स का जन्म 5 अप्रैल 1588 को विल्टरशायर (इंगलैण्ड) में माम्सबरी (Malmesbury) नामक स्थान पर हुआ। उस समय इंगलैण्ड के तट पर स्पेन के आरमेड़ा के आक्रमण के भय से त्रस्त हॉब्स की माँ ने उसे समय से पूर्व ही जन्म देकर उसमे जन्मजात डर की भावना डाल दी। हॉब्स ने स्वयं कहा है कि- "हॉब्स और भय जुड़वाँ बच्चों की तरह पैदा हुए।" हॉब्स के पिता को उसके जन्म के समय ही आत्म-सुरक्षा हेतु परिवार छोड़कर इंगलैण्ड से भाग जाना पड़ा। इसलिए हॉब्स का पालन-पोषण उसके चाचा ने किया।

हॉब्स एक विलक्षण गुणों वाला बालक था। उसने चार वर्ष की अवस्था में शिक्षा प्रारम्भ की और छः वर्ष की आयु में ही उसने ग्रीक तथा लैटिन भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करके अपनी विलक्षण बुद्धि का परिचय दिया। उसने 14 वर्ष की आयु में ही यूरीपीडीज के 'मीडिया' नाटक का यूनानी भाषा से लैटिन भाषा में अनुवाद किया। 1603 में वह ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुआ और 1608 में मात्र 20 वर्ष की आयु में स्नातक परीक्षा पास करके, इंगलैण्ड के एक उच्च परिवार में विलियम कैवेण्डिश को पढ़ाने लगा। हॉब्स ने इस परिवार से अपना आजीवन नाता जोड़े रखा। उसने कैवेण्डिश के बौद्धिक विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। यही विलियम कैवेण्डिश बाद में डिवोनशॉथर का अर्ल बना। 1610 में हॉब्स को अपने इसी शिष्य के साथ यूरोप की पहली यात्रा का अवसर प्राप्त हुआ। अपने इसी शिष्य के कारण उनकी बेकन तथा बेन जॉनसन जैसे बुद्धिजीवियों से भेंट हुई। 1634 से 1637 तक उसे यूरोप की पुनः यात्रा का अवसर प्राप्त हुआ। इस बार इटली में गैलिलियो से और पेरिस में फ्रैंच दार्शनिक डेकार्ट से उनका परिचय हुआ। जब 1637 में वह अपनी विदेश यात्रा पूरी करके वापस इंगलैण्ड लौटा तो उस समय इंगलैण्ड पर ग हयुद्ध के बादल मंडरा रहे थे। अपने देश के तत्कालीन राजनीतिक वातावरण से प्रभावित होकर, उसने राजतन्त्र के समर्थन में कुछ पुस्तकों की रचना की जिन्होंने उसके जीवन की सुरक्षा को खतरा पैदा हो गया और उसे इंगलैण्ड छोड़कर वापिस पेरिस जाना पड़ा।

एक निर्वासित व्यक्ति के रूप में वह फ्रांस में मानसिक रूप से राजनीतिक चिन्तन में व्यस्त रहा और इसी दौरान उसने दो प्रसिद्ध ग्रन्थ 'डीसीवे' (De cive 1642) तथा 'लेवियाथन' (Leviathan 1651) की रचना की, जिसमें उसने निरंकुश राजतन्त्र को सही मानते हुए सामाजिक समझौते के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इन पुस्तकों के प्रकाशित होते ही फ्रांसीसी शासक उसके विरोधी बन गए। अपने खिलाफ इसी विरोध के चलते उसे वापिस इंगलैण्ड आना पड़ा। 1652 में इंगलैण्ड में आने के बाद वह पुनः डिवोनशॉपर के अर्ल के परिवार के साथ रहने लगा। यहाँ उसने 'डी कारपोरे' (De Corpore 1655) तथा 1959 में 'डी होमाइन' (De Homine 1658) की रचना की। 1660 में कामनवेल की समाप्ति पर जब पुनः राजतन्त्र की स्थापना हुई तो हॉब्स का शिष्य चार्ल्स द्वितीय गद्दी पर बैठा। चार्ल्स द्वितीय के सत्तारूढ़ होते ही हॉब्स के जीवन के संकट का भय तो कम हो गया लेकिन उसके अधार्मिक विचारों से मठाधीश अब भी नाराज थे। इस कारण उसकी राजनीतिक गतिविधियों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया और चार्ल्स द्वितीय की कृपा से उसे सजा नहीं दी गई। उसने राजा की सलाह पर अपना जीवन शांति से व्यतीत करने

का संकल्प किया और वह लन्दन छोड़कर कैटसवर्थ में रहने लगा। इस दौरान वह अध्ययनरत रहा और 84 वर्ष की आयु में उसने लैटिन भाषा में अपनी आत्मकथा लिखी और 87 वर्ष की आयु में यूनान के प्राचीन कवि होमर की प्रसिद्ध पुस्तकों 'इलियड' और 'ओडिसी' का अंग्रेजी में अनुवाद करके अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया। 1679 में 91 वर्ष 10 महीने की दीर्घायु में इस महान दार्शनिक की इस संसार में जीवन यात्रा समाप्त हो गई।

समकालीन परिस्थितियाँ

(Contemporary Situations)

एक प्रबुद्ध राजनीतिक विचारक के रूप में हॉब्स ने अपने विचारों की अभिव्यक्ति के साथ-साथ हॉब्स ने निरंकुशतावाद तथा धर्मनिरपेक्षवाद के लिए वैज्ञानिक भूमिका तैयार की थी। भौतिक विज्ञानों के क्षेत्र में प्रयुक्त होने वाली वैज्ञानिक पद्धति को दर्शन तथा राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में प्रयुक्त कर उन्हें वैज्ञानिक रूप प्रदान करके, हॉब्स ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। हॉब्स ने राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में सामाजिक संविदा (समझौते) के सिद्धान्त की नवीन परम्परा को जन्म देकर व उसे विकसित करके महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। हॉब्स ने वैज्ञानिक पद्धति की स्थापना करके राजनीतिशास्त्र को एक नया आधार प्रस्तुत किया।

हॉब्स के चिन्तन पर जिन परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा वे निम्नलिखित हैं :-

1. **इंगलैण्ड में ग ह-युद्ध** (Civil War in England) : हॉब्स के युग में इंगलैण्ड में ग हयुद्ध के कारण अराजकता का माहौल था। सर्वोच्चता को लेकर राजा और संसद में संघर्ष छिड़ा हुआ था। इस अशांत वातावरण ने हॉब्स के चिन्तन पर गहरा प्रभाव डाला। वह स्थायी शांति की स्थापना का मार्ग तलाश करना चाहता था। इस अशांत वातावरण और अराजकता की स्थिति से निपटने के लिए हॉब्स ने मानव स्वभाव का अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला कि शांति की स्थापना शक्तिशाली राजतन्त्र की स्थापना द्वारा ही संभव है। उसने निष्कर्ष निकाला कि प्रभुसत्ता को राजा और संसद में बाँटने से इस समस्या का समाधान नहीं हो सकता। इसका समाधान तो पूर्ण प्रभुसत्ता सम्पन्न राजतन्त्र में ही सम्भव है।

   ग हयुद्ध के कारणों पर विचार करते हुए हॉब्स ने प्यूरिटन मत (ईसाई धर्म की एक शाखा) की धार्मिक मान्यताओं एवं मांगों को ग हयुद्ध का प्रमुख कारण बताया है। उन्होंने सुझाव दिया कि धर्मनिरपेक्ष राजनीति की अवधारणा ही ग हयुद्ध का सच्चा और स्थायी समाधान है। इसलिए उन्होंने धर्म को राजनीति से जोड़ते हुए, धर्म को राजनीति के अधीन रखने का सुझाव दिया है।

2. **विज्ञान का विकास** (Development of Science) : हॉब्स का युग विज्ञान का युग था। इस युग में वैज्ञानिक क्रांति का सूत्रपात व विकास हो रहा था। हॉब्स विज्ञान की अनदेखी नहीं कर सकता था। वह वही युग था, जब कैप्लर, गैलिलियो, यूक्लिड तथा डेकार्टे की खोजों ने यन्त्र विज्ञान की स्थापना करके मानव विकास को प्रभावित किया था। हार्वे तथा गिलबर्ट ने शरीर विज्ञान तथा चुम्बकत्व के बारे में खोजें प्रस्तुत कीं। हॉब्स ने इस वैज्ञानिक विचारधारा से प्रभावित होकर राजनीतिशास्त्र में इनके प्रयोग की स्वीकृति प्रदान कर दी। उसे ऑक्सफोर्ड के मध्ययुगीन दर्शन से घ णा हो गई और स्वाभाविक रूप से उसका चिन्तन विज्ञान की ओर मुड़ा। हॉब्स ने वैज्ञानिक विचारधारा से प्रभावित होकर अपने चिन्तन का आधार गैलिलियो के गति के नियमों को बनाया। उसने महसूस किया कि विज्ञान व गणित के नियमों को अन्य शास्त्रों के अध्ययन के लिए भी प्रयोग किया जा सकता है। इसलिए वैज्ञानिक क्रान्ति ने हॉब्स का चिन्तन ही बदल डाला और हॉब्स के चिन्तन को नई दिशा प्रदान की।

3. **सामन्तवाद का पतन** (Decline of Feudalism) : विज्ञान के आविष्कारों के कारण समाज के परम्परागत ढाँचे का पतन होने लग गया और एक शक्तिशाली नए सामाजिक वर्ग (व्यापारी वर्ग) का उदय हुआ। इस नए सामाजिक वर्ग ने सामंतवादी व्यवस्था को चुनौती दी। हॉब्स ने इस वर्ग के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट की। हॉब्स ने अपने चिन्तन के अन्तर्गत राज्य को एक कृत्रिम संस्था और मात्र एक साधन का रूप माना। उसने व्यक्तियों की पूर्ण समानता के अधिकार को स्वीकारा। उसने एक ऐसे निरंकुश राजतन्त्र का समर्थन किया जिसमें नवीन बुर्जुआ वर्ग के विकास की पूर्ण सम्भावनाएँ हों।

महत्त्वपूर्ण रचनाएँ
(Important Works)

वास्तव में हॉब्स ही पहला अंग्रेज विचारक है जिसने राजनीतिक दर्शन पर विस्तार से लिखा और अपना अमूल्य एवं महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। उसने राजनीतिशास्त्र के अतिरिक्त साहित्य तथा अन्य क्षेत्रों में भी लेखन कार्य किया है। बचपन से ही वह विलक्षण प्रतिभाओं का स्वामी था। वह जीवनपर्यन्त कुछ न कुछ लिखता ही रहा। उसकी प्रमुख रचनायें निम्नलिखित हैं :-

1. **दॉ ऐलिमैंटस ऑफ लॉ (The Elements of Law 1640)** : हॉब्स ने इस ग्रंथ की रचना 1640 में की। यह हॉब्स की प्रथम दार्शनिक कृति है। इस समय इंगलैण्ड में ग हयुद्ध चल रहा था, इसलिए 1650 तक यह पुस्तक प्रकाशित नहीं हो सकी। हॉब्स ने इस कृति में विधि तथा उसके प्रकार की विस्तारपूर्वक विवेचना की है।

2. **डीसिवे (De Cive 1642)** : हॉब्स ने इस ग्रन्थ में सम्प्रभुता के सिद्धान्त का वर्णन किया है। इस पुस्तक ने हॉब्स ने सार्वभौमिक शासक की आवश्यकता पर जोर दिया है। उन्होंने इस पुस्तक में सम्प्रभुता को परिभाषित कर उसकी सम्पूर्ण व्याख्या प्रस्तुत की है।

3. **लेवियाथन (Leviathan 1651)** : यह हॉब्स की सबसे महत्त्वपूर्ण रचना है। यह ग्रन्थ चार भागों में विभाजित है। इस ग्रन्थ में निरंकुशतावादी राजतन्त्र का समर्थन किया गया है। प्रथम भाग में प्राकृतिक अवस्था का, दूसरे भाग में राज्य की उत्पत्ति तथा सम्प्रभुता सम्बन्धी विचारों का, त तीय व चतुर्थ भाग में राज्य एवं धर्म के बीच सम्बन्ध का उल्लेख किया गया है। इस पुस्तक में हॉब्स की वैचारिक प्रौढ़ता एवं परिपक्वता का निर्वाह अन्य ग्रन्थों की तुलना में अधिक हुआ है।

4. **डी कारपोरे (De Carpore 1655)** : इस ग्रन्थ में हॉब्स ने प्रकृति की विवेचना करते हुए यह भी स्पष्ट किया है कि जनता को सम्प्रभु शासक का विरोध क्यों नहीं करना चाहिए। हॉब्स ने इस ग्रन्थ में सार्वभौम धार्मिक सहिष्णुता का वर्णन करते हुए यह स्पष्ट किया है कि प्रजा का अधिकार है कि वह अपनी इच्छानुसार अपने धर्म के मार्ग पर चलती रहे और अपने सम्भ्प्रभु का सम्मान करती रहे।

5. **डी होमाइन (De Homine 1658)**

6. **बिहेमोथ (Behemoth 1668)** : इस पुस्तक में हॉब्स ने ग हयुद्ध के कारण और प्रसरण की आलोचनात्मक समीक्षा की है।

अध्ययन की पद्धति : वैज्ञानिक भौतिकवाद
(Method of Study : Scientific Materialism)

हॉब्स के युग में राजनीतिक विचार विवाद का प्रमुख विषय बने हुए थे। हॉब्स ने अपने विचारों को सुनिश्चित कर ऐसा निर्विवादित रूप प्रदान किया जो सर्वमान्य हो। हॉब्स प्रथम आधुनिक दार्शनिक है जिसने राजनीतिक सिद्धान्त को वैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। उसने अपने समय में प्रचलित ऐतिहासिक तथा धर्मवादी पद्धतियों से हटकर वैज्ञानिक भौतिकवाद तथा सहायता के रूप में भौतिक मनोविज्ञान पद्धति को स्वीकार किया। हॉब्स का राजनीतिक दर्शन वैज्ञानिक भौतिकवाद पर आधारित उसके सामान्य दर्शन का ही एक अंग है। हॉब्स ने सम्पूर्ण स ष्टि की भौतिकवादी प्रकृति को स्पष्ट रूप में प्रकट करते हुए मानव प्रकृति की भी व्याख्या की। उसने अपने राजनीतिक दर्शन का निर्माण करते समय प्रकृति के समस्त तथ्यों सहित मानव आचरण के व्यक्तिगत व सामाजिक दोनों पक्षों पर विचार किया है। हॉब्स ने विशुद्ध प्राकृतिक विज्ञानों के धरातल पर मनोविज्ञान तथा राजनीति को प्रतिष्ठित करने पर बल दिया। यही पद्धति हॉब्स के राजनीतिक दर्शन की आधारशिला है।

हॉब्स का वैज्ञानिक भौतिकवाद वस्तुतः दो पद्धतियों का सम्मिश्रण है। वैज्ञानिक शब्द का अर्थ कार्य-कारण सम्बन्ध (Cause-effect Relationship) तथा व्यवस्था एवं निष्कर्ष निकालने की प्रव त्ति है। हॉब्स ने अपने दर्शन का निर्माण इन्हीं आधारों पर किया है। वह मानव स्वभाव तथा उसके चरित्र का पूर्ण अध्ययन करके इस परिणाम पर पहुँचता है कि मानव व्यवहार तथा कार्यों को नियन्त्रित करने में राज्य को कैसा होना चाहिए। हॉब्स ने स्पष्ट किया है कि मनुष्य का स्वभाव एक मूल नियम से अनुशासित होता है और राजनीति में भी यही नियम कार्य करता है। हॉब्स का मानना है कि सामाजिक समझौते द्वारा राज्य की उत्पत्ति

हुई परन्तु इसके पूर्व वह एक प्राकृतिक अवस्था का चित्रण भी करता है जिसके पश्चात् नागरिक समाज का निर्माण आवश्यक हुआ। इस प्रकार हॉब्स ने व्यवस्थित आधार पर सर्वप्रथम मानव स्वभाव का विश्लेषण कर प्राकृतिक कानून, उसके बाद प्राकृतिक अवस्था तथा अन्त में समझौते द्वारा राज्य निर्माण की बात कही है।

भौतिकवाद का अर्थ वास्तविकता वस्तु जगत् है। वह वातावरण में विश्वास करने के साथ व्यक्ति को वातावरण पर महत्त्व देता है। उसके इसी मनोविज्ञान पर आधारित विचारधारा के कारण सामाजिक समझौते एवं निरंकुश सम्प्रभुता की स्थापना होती है। हॉब्स प्रकृति अथवा पदार्थ को ही संसार मानता है। ऐसा कोई पदार्थ या प्रकृति जो अपना सार खो देता है, संसार का अंग नहीं बन सकता। इसलिए सभी भौतिकवादियों ने हॉब्स को पूर्णतः भौतिकवादी माना है। हॉब्स सम्पूर्ण संसार को एक यांत्रिक व्यवस्था कहता है। हॉब्स का मानना है कि इसमें घटित समस्त क्रियाएँ एक-दूसरे से सम्बन्ध रखने वाले पदार्थों की गतिशीलता के कारण घटित होती हैं। हॉब्स का विश्वास है कि मनुष्य विशाल विश्व का एक सूक्ष्म प्रतिबिम्ब है। इसलिए भौतिक जगत् की तरह मनुष्य भी एक यन्त्र है। हॉब्स के अनुसार सामाजिक जीवन का स्वरूप भी गतिशीलता के सिद्धान्त के आधार पर ही समझा जा सकता है। इसी आधार पर उसने सम्पूर्ण संसार को गतिशील पदार्थ या प्रकृति का परिणाम माना है। इसलिए वह पूर्ण रूप से भी भौतिकवादी है। सेबाइन के अनुसार - "हाब्स पूर्णतः भौतिकवादी था और उसके लिए आध्यात्मिक सत्ता केवल काल्पनिक वस्तुमात्र है।"

अतः हाब्स की सम्पूर्ण प्रणाली संसार के तीनों भाग - प्रकृति, पदार्थ और मनुष्य एवं राज्य की व्याख्या भौतिक सिद्धान्तों के आधार पर करता है। भौतिक वातावरण उसके मानव विज्ञान का आधार और आरम्भ बिन्दु है। हॉब्स के इस वैज्ञानिक भौतिकवाद की महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :-

1. हाब्स ने भौतिक मनोविज्ञान की सहायता से वैज्ञानिक भौतिकवाद के अन्तर्गत मानव स्वभाव का व्यापक विश्लेषण किया है। हॉब्स का मानना है कि मनुष्य आत्मरक्षा को सर्वाधिक महत्त्व देता है। हॉब्स के विचार में मस्तिष्क निरंतर परिष्कृत होने वाला पदार्थ है। यह कारण और परिणाम के नियमों में अनुशासित होता है। मनुष्य आत्मरक्षा का विचार सदैव अपने साथ रखता है। इसलिए वह आत्मरक्षा हेतु कुछ भी करने को तैयार रहता हैं हाब्स ने मानव स्वभाव का विस्तारपूर्वक विश्लेषण करके निष्कर्ष निकाला कि मनुष्य मूलतः स्वार्थी एवं अहंकारी है तथा उसमें भय, साहस, संघर्ष, शक्ति अर्जन की इच्छा सदैव बलवती रहती है। मनुष्य की मूल प्रकृति वैज्ञानिक सत्य तथा मानवीय नैतिकता का एकमात्र आधार है जिस पर सभी एकमत हो सकते हैं। इसी के अन्तर्गत व्यक्ति, सामाजिक, राजनीतिक मूल्यों, साध्यों एवं साधनों का निश्चय किया जाना चाहिए तथा इसी के संदर्भ में समस्त राजनीतिक संगठनों एवं उनकी कार्यप्रणालियों व सीमाओं का निर्धारण किया जाना चाहिए। भौतिकवादी फ्रांसिस बेकन के अनुसर यांत्रिकी के नियम ही जगत् के नियम हैं। यही नियम सामाजिक परिवेश में भी लागू होते हैं। हॉब्स ने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि भौतिक जगत् के यान्त्रिकी के नियम किस प्रकार सामाजिक जीवन में प्रकट होते हैं। यही हॉब्स की सबसे महत्त्वपूर्ण देन है।

2. हॉब्स ने वैज्ञानिक गैलिलियो के सिद्धान्तों को आधार बनाकर स्पष्ट किया है कि इस संसार में हर एक पदार्थ एक-दूसरे से सम्बन्धित है। किसी भी पदार्थ का संसार में स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। प्रत्येक पदार्थ की पहचान पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर ही होती है। इस स ष्टि का मूल तत्त्व कण है जो स्वयं में गतिशील होता है। कणों की गति में अन्तर के अनुसार ही पदार्थों में भी अन्तर होता है। एक पदार्थ की गति दूसरे पदार्थों की गति से भी प्रभावित होती है। पदार्थों की सरल गति जटिल गति का रूप ले लेती है और पदार्थों के रूप परिवर्तित होते रहते हैं। सम्पूर्ण स ष्टि एक पिण्ड है। हॉब्स ने गैलिलियो के इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए, इस संसार को एक भौतिक यन्त्र जैसा माना है जो यान्त्रिक नियमों के अनुसार कार्य करता है। इस स ष्टि में सारी घटनाएँ भौतिक जगत् में निहित पारस्परिक गतियों की क्रिया-प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप होती रहती हैं।

3. हॉब्स के अनुसार व्यक्ति एक भौतिकयन्त्र है जो स्वयं पदार्थ का एक पिण्ड है। उसका संचालन भी यान्त्रिक नियमों के अनुसार ही होता है। व्यक्ति का शरीर एक संवेदनशील भौतिक मशीन है। हॉब्स व्यक्ति के शरीर की कार्यप्रणाली समझाने के लिए जीव विज्ञानी विलियम हार्वे के रक्त संचार के नियम और गैलिलियो के गति के नियमों का मिश्रण करता है। वह हृदय की विशिष्ट गति को व्यक्ति की तीव्र अभिलाषा मानता है। हॉब्स के शब्दों में- "मनुष्य अथवा हृदय सदैव अपनी विशिष्ट गति बनाये रखना चाहता है। वह सदैव जीवित रहना चाहता है।

4. प्रत्येक व्यक्ति में निरन्तर शक्तिशाली बनने की इच्छा होती है। क्योंकि व्यक्ति सदैव आत्मरक्षा के ऊपर आए संकटों से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में भयभीत रहता है। आत्मरक्षा की भावना उसके स्वभाव का मूल रूप बन जाती है। जब उसके अस्तित्व का संकट पैदा होता है तो व्यक्तियों के बीच संघर्ष की भावना पैदा होती है। इस संकट से बचने के लिए व्यक्ति एकाकी जीवन व्यतीत करना उचित समझता है। आत्मरक्षा या अपने अस्तित्व को बनाये रखने की मूल प्रव त्ति से व्यक्तियों में सर्वसम्मति से अपने सभी प्राकृतिक अधिकार किसी एक व्यक्ति को देने की भावना जाग त होती है जिससे यह व्यक्ति समस्त व्यक्तियों के बाह्य या भौतिक सम्बन्धों का इस प्रकार नियम व नियन्त्रण करे कि प्रत्येक व्यक्ति की आत्मरक्षा पूर्णतः सुनिश्चित हो जाए अर्थात् मनुष्य को आत्म्रक्षा के अधिकार की गारण्टी मिल जाए।

हॉब्स मूल प्रकृति को ही मानवीय भौतिकता का आधार मानता है। वह वैज्ञानिक भौतिकवाद को आधार बनाकर मानव की मूल प्रकृति या स्वभाव की व्यापक व्याख्या प्रस्तुत करता है। हॉब्स राज्य को एक कृत्रिम संस्था मानता है। वह सभी मनुष्यों में समानता के तथ्य को स्वीकार करता है। हॉब्स के राजदर्शन में वैज्ञानिक भौतिकवाद का केन्द्रीय स्थान है। यह वैज्ञानिक भौतिकवाद ही उसकी विचारधारा को तर्कपूर्ण एवं व्यवस्थित बनाता है। हॉब्स ने वैज्ञानिक भौतिकवाद के आधार पर ही मानव स्वभाव की व्याख्या की और प्राकृतिक अवस्था का अनुमान लगाकर राज्य की स्थापना हेतु सामाजिक समझौते का सिद्धान्त प्रतिपादित किया।

वैज्ञानिक भौतिकवाद की द ष्टि से हॉब्स का राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में महत्त्वपूर्ण एवं विवादास्पद स्थान है। हॉब्स की पुस्तक 'लेवियाथन' नास्तिकवाद एवं वैज्ञानिक भौतिकवाद के कारण घोर निन्दा का निशाना बनी। हेनरी, मोर तथा कडवर्थ जैसे दार्शनिकों, कम्बरलैण्ड जैसे धर्मशास्त्रियों तथा फिल्मर जैसे राजनीतिक विचारकों ने इन सिद्धान्तों की घोर आलोचना की है।

हॉब्स से पहले राजनीतिक पद्धति की आवश्यकता के प्रति कोई चेतना नहीं थी। हॉब्स ने महसूस किया कि एक विकसित पद्धति के अभाव में राजनीति विज्ञान विज्ञान नहीं बन सकता। इसलिए उसने राजनीति शास्त्र को अन्य विज्ञनों की तरह ही विशुद्ध वैज्ञानिक आधार पर परखने का बेड़ा उठाया। उसने आधार रूप में यह स्वीकार किया कि राजनीति पद्धति भी भौतिक विज्ञान की पद्धतियों से कुछ ग्रहण कर सकती है। इसलिए हॉब्स ने वैज्ञानिक भौतिकवाद का सिद्धान्त पेश किया जो आगे चलकर राजनीतिशास्त्र के अध्ययन व पद्धति विकास में मील का पत्थर साबित हुआ। आलोचनाओं के बावजूद यह कहा जा सकता है कि हॉब्स ने सामाजिक विज्ञानों में वैज्ञानिक पद्धति का विकास करने में अपना अमूल्य समय व श्रम लगा दिया जिसके आज हम ऋणी हैं। हॉब्स के इस सिद्धान्त से अनेक राजनीतिक विचारक व चिन्तक प्रभावित हुए। माण्टेस्क्यू और कार्ल-मार्क्स की विचारधारा पर हॉब्स के विचारों की अमिट छाप देखी जा सकती है। उपयोगितावाद का आरम्भ यहीं से होता है। हॉब्स ने अपने वैज्ञानिक भौतिकवाद के दर्शन से राजनीतिक इतिहास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

सामाजिक समझौते का सिद्धान्त : राज्य की उत्पत्ति
(Theory of Social Contract : Origin of State)

मानव प्रकृति की अवधारणा (Conception of Human Nature)

मानव प्रकृति की अवधारणा हॉब्स के सम्पूर्ण राजनीतिक चिन्तन का आधार है। हॉब्स ने अपने सभी सिद्धान्त मानव स्वभाव के आधार पर ही विकसित किये हैं। हॉब्स के लिए ब्रह्माण्ड एक यन्त्र है। यह यन्त्र उन पुर्जो से बना है जो यान्त्रिक नियम के अनुसार चलते हैं। यही संचालन विश्व का सिद्धान्त है। मानव ब्रह्माण्ड का एक छोटा सा नमूना है। हॉब्स उस नियम की खोज करता है जिससे मानव-स्वभाव संचालित होता है। हॉब्स मानव मस्तिष्क को निरन्तर परिष्कृत होने वाला पदार्थ मानता है। मनुष्य एक चैतन्य प्राणी है। उसके मस्तिष्क में कुछ ऐसा नहीं हो सकता जिसकी अनुभूति न हुई हो। हॉब्स ने मानव स्वभाव का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने के लिए गैलिलियो के पदार्थ एवं गति के नियमों तथा विलियम हार्वे की रक्त संचार सम्बन्धी धारणा को मिश्रित कर मानव प्रकृति की व्याख्या की है। मानव पर बाह्य पदार्थों एवं पिंडो का प्रभाव, उनकी गतियों का प्रभाव ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से पड़ता है। यही गतियाँ हृदय तक पहुँच कर संवेदना का रूप ले लेती हैं। मानव हृदय गतिवान है। जब बाह्य गतियाँ मानव हृदय से मेल खाती हैं तो उस पदार्थ के प्रति मनुष्य में आकर्षण पैदा होता है और जब ये गतियाँ मेल नहीं खातीं, तो उस पदार्थ के प्रति मनुष्य में अरुचि और विरोध उत्पन्न होता है। इस प्रकार मनुष्य में सुख व दुःख दो प्रकार

की अभिरुचियाँ पैदा होती हैं। वास्तविक सुख या दुःख की अनुभूति के कारण होने वाली अभिरुचि अथवा रुचि ही मौलिक इच्छा होती है। कुछ रुचि या अभिरुचियाँ मनुष्य मे जन्मजात होती हैं तथा शेष बाद में उपलब्ध हो जाती हैं। वह अपनी रुचि की वस्तुओं को प्राप्त करना चाहता है और अरुचिकर को छोड़ना चाहता है। मानव हृदय की इस विशिष्ट गति को जीवन जीने की तीव्र अभिलाषा कहा जाता है। हॉब्स ने इसे मानव की प्रकृति का केन्द्रीय तत्त्व और लक्षण माना है। हॉब्स ने इसे सिद्ध करने के लिए मनोविज्ञान का सहारा लिया है। हॉब्स का पुस्तक 'लेवियाथन' से पूर्व 'डी कॉरपोरे पोलिटिको' (De Corpare Politico) में मनुष्य की प्रकृति का वर्णन मिलता है। हॉब्स ने अपने दर्शन के अनुसार मानव की प्रकृति और स्वभाव के बारे में निम्नलिखित निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं :-

1. **असुरक्षा की भावना** (Feeling of Insecurity) : प्रत्येक मनुष्य जीने की इच्छा रखता है। मनुष्य प्रत्येक परिस्थिति में अपने जीवन की रक्षा चाहता है। वह आत्मरक्षा के लिए कुछ भी करने को तैयार रहता है। उसमें आत्मरक्षा की भावना सदैव बलवान होती है और उसका सम्पूर्ण व्यवहार आत्मरक्षा के सिद्धान्तसे निर्देशित होता है।
2. **भय** (Fear) : प्रत्येक मनुष्य चिन्तित रहता है। यह चिंता उसमें आत्मरक्षा की भावना के कारण उत्पन्न होती है। इससे भय का जन्म होता है। भय से अविश्वास की भावना पैदा होती है। दुर्बल व्यक्ति भी समूह बनाकर शक्तिशाली का अन्त कर सकते हैं।
3. **स्वार्थ की भावना** (Feeling of Selfishness) : मनुष्य एक स्वार्थी प्राणी है। स्वार्थ की प्रबल भावना ही उसके समस्त क्रिया-कलापों का आधार होती है। वह सदैव स्वार्थ-सिद्धि में लगा रहता है। यदि कोई उसकी स्वार्थ-सिद्धि में बाधा बनता है तो वह उस पर राक्षस की तरह हमला बोल देता है और उसके विनाश का प्रयास करता है।
4. **अत प्त अभिलाषाएँ** (Unsatisfied Desires) : हॉब्स के अनुसार मनुष्य अपनी अभिलाषाओं की पूर्ति के लिए हमेशा बेचैन और क्रियाशील रहता है। प्रत्येक मनुष्य में अत प्त इच्छाएँ होती हैं। इनका अन्त मनुष्य के स्वयं के अन्त के साथ ही होता है। मनुष्य सदैव शक्ति प्राप्त करने की प्रबल अभिलाषा रखता है। जब मनुष्य इस अभिलाषा का दास बन जाता है तो वह इस इच्छा पूर्ति के रास्ते में बाधक सभी व्यक्तियों को कुचलना चाहता है। लेकिन उसकी यह इच्छा कभी पूरी नहीं होती। वह सदैव अत प्त ही बना रहता है।
5. **अहम्भाव** (Ego) : हॉब्स के अनुसार मनुष्य में अहम्भाव प्रबलता होती है। सारे संवेग और आवेग इसी भाव से पनपते हैं और निर्देशित होते हैं। यही भाव मानव व्यवहार का आधार होता है। हॉब्स ने कहा है कि मानव स्वार्थ की भावना के कारण अहम्वादी और घमण्डी होता है। मनुष्य कभी दूसरों पर यह विश्वास नहीं करता कि वे उससे अधिक बुद्धिमान हैं। वह सदैव अपने को अधिक गुणवान समझता है। इसी भावना के कारण वह अपने को शक्तिशाली समझने लगता है और अहम्वादी बन जाता है।
6. **इच्छा और अनिच्छा** (Desire and Aversion) : हॉब्स के अनुसार मानव स्वभाव में दो विरोधी तत्त्व पाए जाते हैं - आकर्षण और विकर्षण। मनुष्य का स्वभाव है कि जो पदार्थ आकर्षक होता है। वह प्रिय लगता है और जो पदार्थ विकर्षक होता है, उससे घ णा होती है। किसी वस्तु को प्राप्त करने पर उसे प्रसन्नता, आशा और उल्लास की प्राप्ति होती है। जबकि किसी दूसरे पदार्थ को प्राप्त करने पर उसे दुःख, निराशा और विषाद मिलता है। इस प्रकार मनुष्य के सभी कार्यों और प्रयासों के मूल में विरोधी तत्त्व जैसे सुख और दुःख, आशा और निराशा, साहस और भय विद्यमान रहते हैं।
7. **दुःख-सुख** (Pain and Pleasure) : हॉब्स का मानना है कि मनुष्य सुख की इच्छा और दुःख से बचने के लिए उपाय करता है। उसका आचरण सुख और दुःख के सिद्धान्त पर आधारित होता है। हॉब्स को इसी सिद्धान्त के कारण उपयोगिता दर्शन का प्रथम प्रस्तुतकर्ता माना जाता है।
8. **समानता** (Equality) : हॉब्स सभी मनुष्यों को समान मानता है। उसका मत है कि मनुष्यों की शारीरिक और मानसिक योग्यता में काफी समानता होती है। सभी मनुष्यों की मूल प्रव त्ति आत्म-रक्षण है और वे इसे केन्द्र बनाकर अपनी प्रतिक्रिया करते हैं। शारीरिक रूप से कमजोर व्यक्ति छल और गुटबाजी के माध्यम से शक्तिशाली मनुष्यों से अपनी रक्षा करते हैं। हॉब्सश्श्श के अनुसार मानसिक शक्ति का आधार अनुभव होता है जो समय के साथ सारे मनुष्यों को लगभग समान प्राप्त होता है। हॉब्स के अनुसार सारे मनुष्य लगभग समान होते हैं और इसी समानता के कारण इनमें आपसी संघर्ष पैदा होता है। हॉब्स लिखता है- "सामान्यतः मनुष्यों में अपना लक्ष्य प्राप्त करने की समान योग्यता होती है। इस समानता के कारण

उनमें अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए आशा का उदय होता है। अतः यदि दो मनुष्यों का लक्ष्य एक ही वस्तु को प्राप्त करना है तो वे एक-दूसरे के शत्रु बन जाते हैं। उनमें संघर्ष आरम्भ हो जाता है और वे एक-दूसरे को नष्ट करने या अपने अधीन करने का प्रयास करते हैं।

मानव स्वभाव पर विचार की आलोचनाएँ
(Criticisms of Views on Human Nature)

हॉब्स के मानव स्वभाव सम्बन्धी विचारों की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की गई है :

1. यह विश्लेषण मानव स्वभाव का एकपक्षीय द ष्टिकोण ही कहा जा सकता है। हॉब्स मनुष्य को घोर स्वार्थी, कपटी, डरपोक, दंभी और झगड़ालू मानता है। किन्तु जहाँ एक ओर मनुष्य में पाशविक प्रव त्तियाँ हैं, तो दूसरी ओर उसमें दया, क्षमा, प्रेम व परोपकार की भावना भी पाई जाती है। हॉब्स केवल पाशविक प्रव त्ति पर जोर देता है। इसलिए मानवीय सद्‌गुणों की अवहेलना के कारण यह विश्लेषण एकांगी, दोषपूर्ण और निराशावादी है।
2. हॉब्स का यह कथन एकदम सत्य नहीं है कि मानसिक द ष्टि से कमजोर व्यक्ति शारीरिक रूप से शक्तिशाली होते हैं।
3. हॉब्स ने मनुष्य के स्वभाव के चित्रण में परस्पर संघर्ष और अविश्वास की भावना को उजागर किया है। वास्तविकता तो यह है कि मनुष्य अपनी सुख-सुविधा और शान्ति सुरक्षा को द ष्टिगत रखते हुए दूसरे सभी व्यक्तियों को अपनी माँग के अनुकूल ढालने का प्रयास करता है।
4. हॉब्स का यह कहना सही नहीं है कि मनुष्य के सारे क्रिया-कलाप स्वार्थ-पूर्ति हेतु होते हैं। मनुष्य अपनी स्वार्थ-सिद्धि के साथ-साथ दूसरों की सुख-सुविधा का भी ध्यान रखकर व्यवहार करता है। सारे मानव-व्यवहार एक समान नहीं हो सकते।
5. हॉब्स ने मनोविज्ञान के सिद्धान्तों को राजनीति विज्ञान में प्रवेश कराने का अनावश्यक प्रयास किया है। मनुष्य का सामाजिक व्यवहार राजनीतिक क्रिया-कलापों के सन्दर्भ में बदल जाता है। इसलिए राजनीतिक क्रियाकलापों के सन्दर्भ में मानव-व्यवहार एक अलग तरह का ही होता है।

हॉब्स के बारे में जॉन्स की यह उक्ति सही है - "हॉब्स की गलती उन बातों में नहीं है जिन्हें वह स्वीकार करता है, बल्कि उन बातों में है जिन्हें वह स्वीकार नहीं करता।" हॉब्स का यह कहना ठीक है कि मनुष्य स्वार्थी, अहम्‌वादी और संघर्षशील होता है। हॉब्स ने मनुष्य के सद्‌गुणों जैसे दया, क्षमा, सहानुभूति, उदारता, परोपकार आदि का समावेश नहीं करके बहुत बड़ी गलती की है। यही गलती उसकी मानव स्वभाव सम्बन्धी विचारों की आलोचना का प्रमुख व केन्द्रीय आधार है।

प्राकृतिक अवस्था की अवधारणा
(Conception of State of Nature)

हाब्स प्राकृतिक अवस्था को समाज से बाहर की अवस्था मानता है। यह अवस्था सामाजिक और राजनीतिक जीवन प्रारम्भ होने से पूर्व की अवस्था थी। हॉब्स के अनुसार समाज की प्रारम्भिक अवस्था में सही ओर गलत का भेद नहीं था, क्योंकि कानून बनाने वाली शक्ति का अभाव था। इस अवस्था में कोई सर्वोच्च्व शक्ति नहीं थी। किसी वस्तु पर अपना स्वामित्व दिखाना शक्ति पर आधारित थां हॉब्स का मानना है कि मनुष्य के स्वार्थीपन के कारण वह तीन प्रधान कामनाओं - आत्मरक्षा की भावना, लाभ की भावना तथा आत्म प्रसिद्धि की भावना से समान रूप से प्रभावित होता है। उसमें निरन्तर शक्ति ग्रहण करने की इच्छा है। इन्हीं भावनाओं के कारण उसमें सन्देह या अविश्वास की प्रव त्ति जाग त होती है जिसके कारण संघर्ष की स्थिति पैदा होती है। हॉब्स का मानना है कि मनुष्य में मूलतः काफी असभ्यता विद्यमान है। प्राकृतिक अवस्था में न तो समाज था और न सरकार। इस युग में 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' (Might is Right) का सिद्धान्त प्रचलन में था। यह अवस्था निरंतर भय तथा घातक म त्यु की दशा थी जहाँ मनुष्य का जीवन एकाकी, निर्धन, घ णित, पाशविक और अल्प था। हॉब्स के अनुसार यह दशा मनुष्यों के दोषों का परिणाम न होकर उनकी प्रकृति का परिणाम थी। इस अवस्था में मानव का जीवन अत्यधिक कठिनाई से भरा हुआ था। हॉब्स प्राकृतिक अवस्था का निम्नलिखित चित्र अंकित करता है- "ऐसी अवस्था में उद्योग के लिए कोई सम्भावना नहीं है, क्योंकि उसका फल अनिश्चित है। अतः प थ्वी पर किसी प्रकार की सभ्यता का होना सम्भव नहीं है। किसी प्रकार की जहाजरानी नहीं होती और न ही किसी प्रकार की चीजें समुद्री मार्ग से मंगाई जा सकती हैं। कोई आरामदायक भवन नहीं

है तथा न ही भारी वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जा सकता है। प थ्वी तल का कोई ज्ञान नहीं है, समय की गणना करना सम्भव नहीं है, कोई कला या साहित्य या लिपि नहीं है, कोई समाज नहीं है। सबसे अधिक तो यह कि लड़ाई-झगड़े में म त्यु होने का भय निरन्तर विद्यमान है तथा मनुष्य का जीवन एकाकी, दरिद्र, घ णित, असभ्यता से पूर्ण तथा लघुकालीन है। इसके परिणामस्वरूप कोई अधिकार कोई राज्य, स्पष्प रूप से कोई मेरा या तेरा नहीं है। केवल मनुष्य का वही है, वह जो प्राप्त कर सकता है और जितने समय तक बलपूर्वक सुरक्षित रख सकता है। व्यक्तियों को नियन्त्रण में रखने के लिए किसी सर्वमान्य व्यक्ति के न होने के कारण निरन्तर ग हयुद्ध की सी स्थिति है जिसमें सभी सबके विरुद्ध हैं।"

हॉब्स के प्राकृतिक अवस्था सम्बन्धी विचारों का आधार उसका वैज्ञानिक भौतिकवाद है। हॉब्स की विचारधारा के अनुसार मानव प्रकृति में कुछ ऐसे दोष हैं जो मानव को असामाजिक प्राणी सिद्ध करते हैं। इस स्थिति में यदि राज्य का भय नहीं होगा तो मानव निरंकुश पशु के समान आचरण करेगा। उपर्युक्त चित्रण के आधार पर हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :-

1. **सही और गलत की धारणा का न होना** (No Conception of Right and Wrong) : हॉब्स के अनुसार समाज की प्रारम्भिक अवस्था में ठीक और गलत जैसा कोई भेद नहीं था। कानून व कानून निर्माता जैसी शक्ति समाज में नहीं थी। सहमति जैसी अवधारणा लुप्त थी। प्रारम्भिक अवस्था में सर्वोच्च शक्ति कहीं केन्द्रित नहीं थी। अतः ऐसा कोई कानून नहीं था जो सबके लिए हो। कानून न होने की स्थिति में न्याय की कल्पना करना ही गलत है। निजी सम्पत्ति की अवधारणा व्यक्तिगत सामर्थ्य पर निर्भर थी। यह अवस्था सभ्य समाज के विपरीत थी। सरकार के न होने की स्थिति में कुछ ऐसी स्थिति होने की पूर्ण सम्भावना है। इस अवस्था में मनुष्य को गलत या सही, उचित व अनुचित, न्याय व अन्याय का कोई ज्ञान नहीं था। इस अवस्था में मनुष्य कुछ भी कर सकता था। सब कुछ मनुष्य की शारीरिक शक्ति पर निर्भर था। यह अवस्था समाज से पूर्व की अवस्था थी। अतः इस अवस्था में मनुष्य का जीवन अनैतिक और अविवेकपूर्ण था।

2. **न्याय की अनुपस्थिति** (Absence of Justice) : प्राकृतिक अवस्था में चूँकि राज्य ही नहीं था। इसलिए कानून होने का प्रश्न ही नहीं उठता। कानून के अभाव में न्याय की कल्पना ही नहीं की जा सकती। हॉब्स कहता है कि न्याय रहित मानव जीवन कष्टपूर्ण था और मानव का जीवन तथा सम्पत्ति केवल व्यक्ति की शक्ति पर निर्भर थे। ये वस्तुएँ तब तक ही मनुष्य के पास थीं, जब तक वह पूर्ण रूप से बलवान था और अन्य उसकी तुलना में कम शक्तिशाली थे।

3. **असीमित स्वतन्त्रता** (Unlimited Liberty) : प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य की स्वतन्त्रता निर्बाध थी और वह पूर्ण स्वतन्त्रता का उपभोग करता था। मनुष्यों में सहमति कायम करने वाली कोई सर्वोच्च सत्ता नहीं थी। इसके अभाव में एक-दूसरे को बाँधकर रखना मुश्किल कार्य था। अतः कोई किसी के अधीन नहीं था। इस युग में पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रचलन था। व्यक्ति स्वतन्त्रता का पूर्ण आनन्द उठाता था।

4. **निरन्तर तनाव, संघर्ष, अराजकता तथा युद्ध की स्थिति** (Situation of Continuous tension, Conflict, Anarchy and War) : मानव स्वभाव का अध्ययन करके हॉब्स ने निष्कर्ष निकाला कि मनुष्य की मूल प्रव त्ति आत्मरक्षा करने की है। आत्मरक्षा मानव व्यवहार का केन्द्र बिन्दु है। इस मूल प्रव त्ति के कारण सभी मानव आपस में स्वार्थ, अहंकार, शक्ति, छल व भय से युक्त व्यवहार करने को विवश थे। इसलिए प्राकृतिक अवस्था में मनुष्यों के बीच स्थाई तनाव, संघर्ष एवं युद्ध की स्थिति ही स्वाभाविक दशा थी। हॉब्स के अनुसार यह अवस्था- "प्रत्येक मानव की प्रत्येक मानव के साथ युद्ध की अवस्था थी। इस युद्ध में शक्तिशाली ही विजयी होते थे। ऐसी अवस्था में अराजकता व तनाव का माहौल चारों ओर था। ऐसी अवस्था में न्याय की आशा निर्मूल थी। चारों ओर 'जिसकी लाठी, उसकी भैंस' का सिद्धान्त प्रचलन में था।

5. **व्यक्तिगत सम्पत्ति की अनुपस्थिति** (Absence of Private Property) : प्राकृतिक अवस्था में सब वस्तुओं पर शक्तिशाली का ही अधिकार होता था। उसका शक्तिशाली रहना ही उसके स्वामित्व का परिचायक था। जब वह निर्बल हो जाता था, तो उस सम्पत्ति से उसका अधिकार उठ जाता था और दूसरा शक्तिशाली व्यक्ति उसकी सम्पत्ति का मालिक बन जाता था। इसलिए अपने स्वामित्व को कायम रखने के लिए व्यक्ति को अपनी शक्ति कायम रखने के लिए निरन्तर संघर्ष करना पड़ता था। अतः प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य के पास निजी सम्पत्ति नहीं थी।

6. **नागरिक नैतिकता की अनुपस्थिति** (Absence of Civic Morality) : हॉब्स के अनुसार मनुष्य अपने स्वभाव से ही असामाजिक प्राणी है। राज्यविहीन अवस्था में मानव किसी भी प्रकार की नागरिक नैतिकता से अपरिचित था। उसे अच्छे

या बुरे का ज्ञान नहीं था। वह स्वार्थपूर्ण व्यवहार करता था, व्यक्तिगत हित की प्रधानता होने के कारण नागरिक नैतिकता का सर्वथा अभाव था। राज्य व समाज का विचार न होने के कारण सामान्य हित का अभाव था। सरकार जैसी कोई संस्था न होने के कारण व्यक्ति के कार्यों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। इस युग में व्यक्ति खुलकर स्वार्थ-सिद्धि के कार्य करता था। ऐसा करते समय व सही व गलत का कोई ध्यान नहीं रखता था, क्योंकि उसे इस बात का कोई ज्ञान नहीं था कि अनुचित क्या है तथा उचित क्या। वह सदैव स्वहित साधक बनकर कार्य करता था। इसलिए नागरिक नैतिकता का सर्वथा अभाव था।

7. **जीवन की असुरक्षा** (Insecurity of Life) : प्राकृतिक अवस्था में अविश्वास, हिंसा, संघर्ष तथा युद्ध की स्थिति निरन्तर बनी रहती थी। सभी व्यक्ति भयभीत रहते थे। कानून बनाने वाली तथा उसे लागू करने वाली संस्था का सर्वथा अभाव था। मनुष्य को आत्मरक्षा का डर सदैव सताता था। इसलिए वह छल, कपट, धूर्तता और पाशविकता का आचरण करता था। इस अवस्था में मनुष्य का जीवन सदैव खतरे में रहता था। कमजोर को शक्तिशाली का डर सदैव लगा रहता था। इसलिए मनुष्य पूर्ण रूप से असुरक्षित था।

हॉब्स ने मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था का भयानक चित्रण पेश किया है जिसमें कोई अधिकार, कानून व्यवस्था, शान्ति और स्थायित्व नहीं था। प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य एक निकृष्ट प्राणी था। इस अवस्था में विवेक का अभाव था। सभी मनुष्य अपनी सुरक्षा को लेकर चिन्तित रहते थे। मनुष्यों में सम्पत्ति, सम्मान और शक्ति के लिए निरन्तर संघर्ष होता रहता था।

लेकिन हॉब्स द्वारा प्रस्तुत प्राकृतिक अवस्था को अनेक समाजशास्त्रियों और मानव-विज्ञान शास्त्रियों ने अनैतिहासिक मानते हुए इसे नागरिक समाज की परिकल्पना मात्र माना है। हॉब्स ने मनुष्य को मनोवेगों का दास माना है। लेकिन मनुष्य पूरी तरह से इच्छाओं का दास नहीं कहला सकता। हॉब्स ने मानव जीवन के एकांगी पक्ष का चित्रण करके यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि मनुष्य की प्रकृति स्वार्थपन की होती है। मनुष्य स्वहित को ही प्रधानता देता है। हॉब्स ने मानव स्वभाव के प्रेम, दया, सहानुभूति, बलिदान, परोपकार आदि भावनाओं की अनदेखी जरूर की है। लेकिन उस समय जब मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में रहता था तो इन भावनाओं का अभाव पाया जाना कोई अचरज की बात नहीं है। असभ्य नागरिक समाज में तो ये विशेषताएँ अवश्य मिलती हैं। हॉब्स द्वारा मानव सभ्यता के विकास के प्रारम्भिक चरण में उपर्युक्त वर्णित प्राकृतिक अवस्था का पाया जाना संभव है। जब आज के सभ्य नागरिक समाज में उस समय की प्राकृतिक अवस्था की सारी विशेषताएँ देखने को मिल सकती हैं तो हॉब्स के दर्शन को कोरी कल्पना कहना गलत है। सच्चाई चाहे जो भी हो लेकिन हॉब्स का प्राकृतिक अवस्था चित्रण सभ्य नागरिक समाज के विकास का प्रारम्भिक बिन्दु अवश्य है। उसका सम्पूर्ण दर्शन वैज्ञानिक भौतिकवाद पर आधारित होने के कारण सत्य के अधिक निकट है।

प्राकृतिक अधिकार और प्राकृतिक नियम

(Natural Rights and Natural Laws)

प्राकृतिक विधि और प्राकृतिक अधिकारों के बारे में हॉब्स ने अपनी पुस्तक 'लेवियाथन' के 14 वें अध्याय में लिखा है। हॉब्स का विश्वास है कि मनुष्य दुःखदायी प्राकृतिक दशा से मुक्ति पा सकते हैं, क्योंकि मनुष्य में सिर्फ अभिलाषा ही नहीं, बल्कि भावना, कल्पना और विवेक भी होते हैं। यदि इच्छाओं के कारण मनुष्य एक-दूसरे से संघर्ष करते हैं तो भावना और कल्पना उन्हें म त्यु के भय का पाठ पढ़ाती हैं एवं विवेक उन्हें प्राकृतिक विधि का पालन करना सिखाता है। विवेक के द्वारा मनुष्य प्राकृतिक स्थिति से निकलकर सभ्य और सामाजिक स्थिति में प्रवेश करता है। यह परिवर्तन प्राकृतिक विधियों द्वारा होता है। ये प्राकृतिक विधियाँ मानवीय व सामाजिक शांति की शर्तें हैं। ये बताती हैं कि सभ्य समाज का निर्माण कैसे हो सकता है। हॉब्स लिखता है कि- "प्राकृतिक विधियाँ प्राकृतिक नियम थीं।" विवेक पर आधारित नियम प्राकृतिक विधि कहलाती है। हॉब्स इन नियमों को परिभाषित करते हुए लिखता है- "विवेक उद्भूत शान्ति के उपयुक्त नियमों को प्राकृतिक विधि कहा जाता है।" हॉब्स ने अपनी पुस्तकों 'लेवियाथन' तथा 'डी सिवे' में प्राकृतिक विधि को परिभाषित किया है। वह लिखता है- "प्राकृतिक विधि उचित विवेक का आदेश है। उचित विवेक उन चीजों से परिचित होता है जिन्हें जीवन की सतत रक्षा के लिए करना या छोड़ना पड़ता है।" 'लेवियाथन' में हॉब्स लिखता है- "प्राकृतिक विधि एक उपदेश अथवा सामान्य नियम है। विवेक इसे ढूँढ निकालता है। इसके द्वारा मनुष्य वह करना छोड़ देता है जो उसके जीवन के लिए विनाशकारी है या जो उसकी जीवन रक्षा के साधनों का हरण करता है।"

इस प्रकार हॉब्स ने प्राकृतिक विधियों को मनुष्य के प्राकृतिक जीवन में शांति स्थापना करने वाले तत्त्व के रूप में लिया है। ये विधियाँ प्राकृतिक अवस्था के मनुष्यों ने सुख से रहने के लिए बनाई थीं। ये शान्ति धाराएँ या विवेक के आदेश हैं। ये कानून या विधि नहीं हैं। ये केवल नियम हैं।

हॉब्स लिखता है कि प्राकृतिक नियम वे निष्कर्ष या प्रमाण हैं जो मानव की सुरक्षा के लिए सहायक हैं जबकि कानून उस व्यक्ति के आदेश होते हैं जिसे दूसरों पर आदेश देने की शक्ति प्राप्त होती है। प्राकृतिक नियम में न तो बाध्यकारी शक्ति है, न ही दण्ड देने की शक्ति है, जब कि कानूनों में बाध्यकारी शक्ति होती है। उन्हें न मानने पर दण्ड का प्रावधान है। हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक नियम आचरण के वे नियम हैं जिन्हें मानना या न मानना व्यक्ति की स्वेच्छा पर निर्भर करता है। हॉब्स प्राकृतिक नियम को सामाजिक नियम कहता है। इसका महत्त्व सभी द्वारा इसका पालन करने में है। यदि एक व्यक्ति समझौते या प्रतिज्ञाओं का पालन करता हो और दूसरे न करें तो वे स्वयं को नष्ट कर लेगा। इस प्रकार हॉब्स प्राकृतिक नियम व नागरिक कानून में अन्तर स्पष्ट करता है।

हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक नियम मानव समाज और राजनीतिक समाज की तार्किक शर्तें हैं। अतः वे स्थिर और सतत हैं। उनकी स्थिरता और सततता इस बात पर निर्भर नहीं करती है कि वे नैतिक नियम हैं बल्कि इस बात पर निर्भर करती है कि वह समाज की शान्ति और व्यवस्था के लिए आवश्यक हैं। इसलिए इन नियमों में अनुरूपता, अच्छाई या सद्‌गुण हैं। हॉब्स लिखता है- "इन नियमों में अनुरूपता जितनी अधिक होगी उतना अधिक संतोष पैदा होगा।" हॉब्स इन प्राकृतिक नियमों के पालन को उपयोगिता की द ष्टि से देखता है। वह सामान्य हित में सम्प्रभु शक्ति का सुझाव देता है। वह कहता है कि प्राकृतिक नियमों को मनवाने के लिए उपयोगिता पर्याप्त नहीं।

हॉब्स लिखता है कि प्राकृतिक अधिकार वह व्यक्तिगत अधिकार है जिसके द्वारा मनुष्य उन कार्यों को करने के लिए स्वतन्त्र है जो उसके अस्तित्व के लिए आवश्यक है। यहाँ स्वतन्त्रता का अभिप्राय बाह्य रुकावटों की अनुपस्थिति से है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता केवल वे सीमाएँ हैं जो परिस्थितियाँ लगाती हैं। जहाँ तक उसकी शक्ति है, वहाँ तक उसका पूर्ण अधिकार है। प्राकृतिक नियमों का अभिप्राय स्वतन्त्रता की अपेक्षा प्रतिरोध, बाध्यता या रुकावट है। यह वह नियम है जो उन कार्यों को करने की अनुमति नहीं देते जो मानव के अस्तित्व को बनाए रखने में प्रतिकूल हैं। इस प्रकार हॉब्स ने प्राकृतिक नियमों व प्राकृतिक अधिकारों में स्पष्ट भेद किया है। हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक नियम सुरक्षा एवं शान्ति के लिए बने थे। हॉब्स ने ऐसे 20 प्राकृतिक नियमों का वर्णन किया है। प्रथम तीन नियमों को हॉब्स ने बहुत महत्त्वपूर्ण बतलाया है। ये बीस नियम निम्नलिखित प्रकार से हैं-

1. प्रत्येक मनुष्य को शान्ति स्थापना के प्रयास करना चाहिए।
2. प्रत्येक व्यक्ति को शान्ति स्थापित करने के लिए तथा व्यक्तिगत सुरक्षा की द ष्टि से अपने समस्त अधिकारों का परित्याग करने के लिए तैयार रहना चाहिए बशर्ते अन्य व्यक्ति भी ऐसा करने के लिए सहमत हों।
3. व्यक्तियों को अपने समझौतों का पालन करना चाहिए।

   उपर्युक्त तीनों को स्पष्ट करने के लिए हॉब्स का यह एक वाक्य पर्याप्त है- "दूसरों के साथ मुम वैसा ही करो जैसा अपने लिए उनसे चाहते हो।"
4. भविष्य का ध्यान रखते हुए प्रत्येक मनुष्य को उन दूसरे मनुष्यों की पिछली त्रुटियों को क्षमा कर देना चाहिए जो पश्चाताप करके क्षमा चाहते हैं।
5. प्राकृतिक रूप से प्रत्येक व्यक्ति को दूसरों को अपने समान समझना चाहिए।
6. मनुष्य को कृतघ्न नहीं होना चाहिए।
7. हर एक मनुष्य को दूसरों के साथ तालमेल स्थापित करने का प्रयास करना चाहिए।
8. प्रतिशोध लेने में मनुष्य को पिछली बुराई की महत्ता को नहीं बल्कि भविष्य में उससे होने वाली अच्छाई की महत्ता देखनी चाहिए।
9. किसी भी व्यक्ति को शान्ति की शर्तों को मनवाते समय स्वयं के लिए ऐसे अधिकार सुरक्षित नहीं रखने देना चाहिए जिन्हें वह दूसरों के लिए सुरक्षित नहीं रहने देना चाहता।

10. कोई व्यक्ति अपने कार्यों, शब्दों या भावों द्वारा दूसरे के प्रति प्रतिशोध, घ णा या ईर्ष्या अभिव्यक्त न करे।
11. प्रत्येक व्यक्ति को शिष्टाचार का व्यवहार करना चाहिए।
12. गवाही को उचित महत्त्व दिया जाना चाहिए।
13. जब विवाद हो जाये तो उसे निर्णय के लिए छोड़ दिया जाये।
14. मनुष्य व मनुष्य के बीच न्याय करने के लिए यदि किसी मनुष्य का विश्वास किया जाये तो उसे दोनों को समान समझना चाहिए।
15. दूसरों के लिए वह मत करो जिसे तुम अपने लिए करना पसन्द नहीं करते।
16. कोई भी व्यक्ति स्वयं अपना निर्णायक नहीं हो सकता। उसे अपना निर्णय दूसरों पर छोड़ देना चाहिए।
17. प्राकृतिक नियम के अनुसार किसी ऐसे व्यक्ति को निर्णायक नियुक्त नहीं किया जाना चाहिए जिसके निर्णय से उसे कोई लाभ पहुँचता हो।
18. जिन वस्तुओं का बँटवारा नहीं किया जा सकता, उनका सम्भव हो खुले हाथों उपयोग किया जाना चाहिए। परन्तु यह उपभोग उपभोग्य वस्तुओं की मात्रा पर आधारित है। अन्यथा जिन का अधिकार उन वस्तुओं पर है, संख्या के अनुपात में उनके बीच बँटवारा कर दिया जाये।
19. शान्ति की मध्यस्थता वाले लोगों के लिए सुरक्षा व्यवस्था होनी चाहिए।
20. जहाँ स्थिति ऐसी हो कि वस्तु का न तो सामूहिक उपभोग समभव है और न ही समान बँटवारा हो सकता है तो प्राकृतिक नियम यह व्यवस्था करता है कि प्रथम प्रयोग हेतु अधिकार देने के लिए लाटरी निकाली जानी चाहिए।

उपर्युक्त बीस प्राकृतिक नियमों को हॉब्स के एक वाक्य में समेटा जा सकता है। "दूसरों से वैसा व्यवहार न करो जो आप स्वयं अपने आप से नहीं करेंगे।" अर्थात् जो कार्य हम अपने लिए अनुचित मानते हैं, दूसरो से भी ऐसी अपेक्षा रखनी चाहिए। जिस व्यवहार से हम क्षुब्ध होते हैं और हमारे आत्म-सम्मान को ठेस पहुँचती हो, वैसा हम दूसरों के साथ न करें। यही हॉब्स के प्राकृतिक नियमों का सार है। प्रो॰ सेबाइन ने कहा है- "वे एक साथ ही दूरदर्शिता के सिद्धान्त और सामाजिक आधार के नियम हैं जो व्यक्तिगत कार्य के मनोवैज्ञानिक उद्देश्यों से आगे बढ़कर सभ्य कानून तथा नैतिकता के मूल्य तक पहुँचना सम्भव बनाते हैं।" हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक नियमों को आधार बनाकर सभ्य समाज का निर्माण किया जा सकता है। प्राकृतिक नियमों की व्याख्या से उसका उद्देश्य समाज का निर्माण करना है। हॉब्स के अनुसार अपने विवेक शक्ति के आधार पर व्यक्ति यह अनुभव करते हैं कि प्राकृतिक नियमों का पालन किया जाना चाहिए। हॉब्स लिखता है कि मानव में आदिम व्यवस्था से ऊपर उठने की प्रव त्ति है और प्राकृतिक नियमों में वे सब तत्त्व विद्यमान हैं जो उसे युद्ध की स्थिति समाप्त करने और शासन को स्थापित करने को प्रेरित करते हैं। जैसे शान्ति स्थापित करना, सामान्य सत्ता समझौते को लागू करना, मानव समानता को स्वीकार करना आदि। हॉब्स लिखता है कि यद्यपि प्राकृतिक नियम प्राकृतिक दशा में लागू नहीं होते फिर भी वे शासन से पूर्व हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि प्राकृतिक नियमों का जन्म शासन के साथ होता है। प्राकृतिक नियम ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करते हैं जो उन्हें सार्थक बनाती हैं। जब तक मानव इस प थ्वी पर निवास करता है तब तक मानव प्रशासन के अधीन रहना पसन्द करेगा क्योंकि हॉब्स के अनुसार प्राकृतिक नियम स्थिर और सतत हैं और वे मानव की अन्तरात्मा में निवास करते हैं।

हॉब्स पहला दार्शनिक है जो प्राकृतिक अधिकारों और प्राकृतिक नियमों में स्पष्ट अन्तर करता है। प्राकृतिक नियमों तथा प्राकृतिक अधिकारों में मुख्य भेद निम्नलिखित हैं :-

1. प्राकृतिक अधिकार प्रत्येक कार्य को करने की स्वतन्त्रता देते हैं अर्थात् प्रत्येक वस्तु को प्राप्त करने का अधिकार प्रदान करते हैं, जबकि प्राकृतिक नियम केवल उन कार्यों को करने की आज्ञा देते हैं जो जीवन सुरक्षा के लिए आवश्यक हैं। ये व्यक्ति को कुछ अधिकार त्यागने के लिए कहते हैं।
2. प्राकृतिक अधिकार पशु शक्ति पर आधारित हैं विवेक पर नहीं। इन्हें शेर के अधिकार कहा जाता है, जबकि प्राकृतिक नियम विवेक पर आधारित हैं जो मानव को दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करने की सलाह देते हैं जो वह स्वयं के साथ करवाना चाहता है।

3. प्राकृतिक अधिकारों का नागरिक समाज में कोई महत्त्व नहीं है, जबकि प्राकृतिक नियमों का नागरिक समाज में महत्त्व है। प्राकृतिक देशों में ही इनका महत्त्व नहीं है।
4. प्राकृतिक अधिकारों में नैतिकता का अभाव है, जबकि प्राकृतिक नियम नैतिकता पर आधारित हैं।
5. प्राकृतिक अधिकारों का उपयोग प्राकृतिक दशा को युद्ध की दशा बना देता है। इनका प्रयोग अराजकता की स्थिति पैदा करता है, जबकि प्राकृतिक नियमों के पालन करने से शान्ति और सुरक्षा की गारण्टी मिलती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राकृतिक अधिकार असीमित स्वतन्त्रता के तथा प्राकृतिक नियम प्रतिबन्धों की व्याख्या करते हैं। प्राकृतिक अधिकार शक्ति पर जबकि प्राकृतिक नियम विवेक पर आधारित हैं। नागरिक समाज की स्थापना के लिए हॉब्स बीस प्राकृतिक नियमों के पालन पर जोर देता है।

सामाजिक समझौता
(Social Contract)

हाब्स के अनुसार मनुष्य अपने स्वभाव से एक असामाजिक प्राणी है और मानव को केवल निरंकुश राजसत्ता द्वारा ही शासित किया जा सकता है। मनुष्य अपने तर्क व विवेक द्वारा प्राकृतिक अवस्था से छुटकारा पा सकता है। चूँकि प्राकृतिक अवस्था में अधिकारों के अनियंत्रित प्रयोग के कारण संघर्ष की स्थिति पैदा होती है, इसलिए जब तक मनुष्य के अधिकारों पर नियन्त्रण नहीं होगा, शान्ति ओर सुरक्षा की स्थापना नहीं हो सकती। विवेक से प्रेरित होकर सभी मनुष्य आपस में समझौता करके अपने अधिकारों को किसी एक व्यक्ति या व्यक्ति समूह को सौंप देते हैं। यह सामाजिक समझोता ही राज्य (कामनवैल्थ) की उत्पत्ति का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त का आधार वैज्ञानिक भौतिकवाद है और यह सिद्धान्त इंगलैण्ड की राजनीतिक अराजकता व सामाजिक स्थिति से भी प्रभावित हुआ है। हॉब्स के यहाँ राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दो प्रकार का उल्लेख मिलता है - प्रथम संस्था द्वारा तथा द्वितीय अर्जन द्वारा। सामाजिक समझौते के सिद्धान्त में हॉब्स ने प्रथम प्रकार को मान्यता दी है। हॉब्स के अनुसार व्यक्ति ने आत्मरक्षा का स्थायी हल तलाशने के लिए पारस्परिक समझौते द्वारा प्रभुत्व सम्पन्न राज्य की स्थापना की ताकि प्राकृतिक अवस्था के सारे दोषों से छुटकारा मिल सके। अतः हॉब्स एक सामाजिक समझौतावादी विचारक है। उसने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'लेवियाथन' में इसको प्रकाशित किया है। इस समझौते को निम्नलिखित विवरण द्वारा समझा जा सकता है :-

1. **मानव स्वभाव की व्याख्या** : हॉब्स सामाजिक समझौते के अन्तर्गत मानव प्रकृति एवं स्वभाव की व्याख्या करते हुए कहता है कि मानव एक सामाजिक प्राणी न होकर पूर्ण रूप से अकेला है। मनुष्य एक स्वार्थी प्राणी है। वह अपनी अभिलाषाओं को पूरा करने के लिए सदैव प्रयास करता रहता है। वह निर्बाध रूप से स्वतन्त्रता का उपभोग करता है। वह अपनी इच्छापूर्ति के लिए दूसरों को मारने से भी परहेज नहीं करता। वह पाशविक व हिंसक बनकर दूसरों से प्रतिशोध लेता रहता है। वह शक्ति प्राप्ति के लिए दूसरों को डराता है व उनका वध भी करता है। हॉब्स के अनुसार मानव में स्वार्थ, भय, शक्ति के प्रति प्रेम, अहंकार, संघर्ष आदि सभी दुर्गुण मौजूद हैं, परन्तु इन दुर्गुणों के साथ ही मानव में विवेक का तत्त्व भी पाया जाता है। अतः हॉब्स के अनुसार मनुष्य मूलतः एक असामाजिक प्राणी है जो सदैव आत्मरक्षा की मूल प्रव त्ति से संचालित होता है। यही भावना या प्रव त्ति उसे हिंसा करने के लिए तथा दूसरों को भयभीत करने के लिए उकसाती है।
2. **प्राकृतिक अवस्था** (State of Nature) : हॉब्स ने प्राकृतिक अवस्था को पूर्व सामाजिक अवस्था कहा है जो मानव की राज्य उत्पत्ति से पूर्व की अवस्था थी। इस अवस्था में कोई नियम नहीं था। उसका जीवन किसी भी तरह सुरक्षित नहीं था। 'जिसकी लाठी, उसकी भैंस', 'जो छीन सकते हो छीन लो' या फिर 'जिसको मार सकते हो मार दो' आदि नियम लागू थे। मानव की स्वतन्त्रता तथा जीवन रक्षा उसके शक्ति बल पर निर्भर थी। अतः मनुष्य पशुओं से भी बदत्तर था। स्वार्थ हेतु मारकाट व खून-खराबा सब किया जा सकता था। परस्पर सन्देह व अविश्वास की भावना युद्ध की स्थिति बनाए रखती थी। ऐसी अवस्था में न तो कोई सर्वोच्च सत्ता थी जो सभी को नियन्त्रित कर सके। उस अवस्था में उचित व अनुचित का ज्ञान नहीं था। उस युग में निजी सम्पत्ति का सर्वथा अभाव था। प्रत्येक वस्तु का स्वामित्व उसके बाहुबल पर निर्भर था। न कोई कानून था और न कोई न्यायकारी शक्ति। सरकार जैसी संस्था का अभाव था। इसलिए व्यक्ति निर्बाध स्वतन्त्रता का उपभोग करते थे। हॉब्स के अनुसार- "मनुष्य का जीवन एकाकी, दरिद्र, अपवित्र, पाशविक तथा

क्षणिक था। मानव को सदैव म त्यु का भय सताता था। हॉब्स ने आगे लिखा है- "प्राकृतिक अवस्था में उचित तथा अनुचित, न्याय तथा अन्याय का कोई स्थान नहीं था। धोखा और शक्ति ही मुख्य गुण समझे जाते थे।

3. **समझौते का कारण (Causes of Social Contract)** : प्राकृतिक अवस्था में जब मनुष्य बहुत तंग आ गए तो उन्होंने दयनीय, भयपूर्ण तथा भ्रष्ट अवस्था से निकालने के लिए एक सर्वोच्च तथा निरंकुश सत्ता को अपने सारे अधिकार व स्वतन्त्रताएँ सौंप दीं। इस सत्ता द्वारा ही मनुष्य में शान्ति तथा उसकी आत्मरक्षा को स्थायित्व प्रदान किया जा सकता था। इस अराजकता के माहौल से निकलने के लिए सभी व्यक्तियों ने अपने को किसी एक या अनेक सर्वोच्च सत्ता को समस्त अधिकार दे दिए। ऐसा करना उस समय व्यक्तियों की मजबूरी थी। पाशविकता व दरिद्रता से निकलने के लिए तथा भय के निराकरण हेतु सामाजिक समझौता अपरिहार्य हो गया था।

4. **समझौते की प्रक्रिया (Procedure of Social Contract)** : मनुष्य ने इसमें अपने उस स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश स्वशासन का परित्याग किया जो उसे प्राकृतिक अवस्था में प्राप्त थे। साथ ही एक निरंकुश शासन के बन्धन को स्वीकार किया। हॉब्स ने मानव के समझौते की प्रक्रिया को इस प्रकार व्यक्त किया है- "मैं अपने ऊपर अपना शासन करने का अधिकार इस मनुष्य (राजा) या इस मनुष्य समूह (शासक वर्ग) को सौंपता हूँ। किन्तु शर्त यह है कि तुम भी अपने इस अधिकार को मेरी तरह ही उस मनुष्य को या इस मनुष्य-समूह को सौंप दो और मेरे समान इसके प्रत्येक कार्य का समर्थन करो।" इस अनुबंध से दो स्तर होते हैं। प्रथम स्तर पर प्रतिज्ञा की जाती है एवं दूसरे स्तर पर लागू किया जाता है। इस प्रक्रिया में सत्ताधिकारी व्यक्ति शक्ति का भय दिखाकर या शक्ति का प्रयोग करके इसे पूर्णतः लागू करते हैं। हॉब्स ने कहा है- "तलवार के बिना संविदाएँ केवल शब्द हैं और उनमें यह ताकत नहीं होती कि मनुष्य उनका पालन करने को विवश हो।" हॉब्स आगे कहता है कि- "यदि किसी बलवती शक्ति का भय न हो, तो शब्दों के बन्धन इतने कमजोर होते हैं कि वे मनुष्य की महत्त्वकांक्षा, लोभ, क्रोध तथा अन्य भावनाओं को नियन्त्रण में नहीं रख सकते।"

5. **राज्य की उत्पत्ति (Origin of the State)** : समझौते द्वारा सभी मनुष्य संविदा की प्रतिज्ञा करते हैं। संविदा करने वाले व्यक्तियों का समूह ही राज्य या लैटिन भाषा ने नगर कहलाता है। इस प्रकार सारा जनसमुदाय समझौते द्वारा एक व्यक्ति या समूह में संयुक्त हो जाता है। हॉब्स ने 'लेवियाथन' में इसकी स्पष्ट व्याख्या की है। जिस व्यक्ति तथा व्यक्ति समूह को संविदा करने वाले मानव अपने अधिकार सौंपते हैं वह दीर्घ-कार्य 'लेवियाथन' है और वह जनता की शान्ति व प्रतिरक्षा के लिए प थ्वी में मानव-देव की भाँति है।

6. **राज्य का स्वरूप (Nature of State)** : हॉब्स के समझौते द्वारा दो कार्यों की पूर्ति होती है। प्रथम - वह एक व्यवस्थित तथा सभ्य समाज की स्थापना करता है। दूसरे - इस समझौते द्वारा एक ऐसे राज्य की स्थापना होती है जिसमें मनुष्य अपने समस्त प्राकृतिक अधिकारों का परित्याग कर एक निरंकुश प्रभु का निर्माण करते हैं, जिसमें राज्य आश्वासन देता है कि वह मानव की प्रत्येक शत्रु से रक्षा करेगा। साथ ही मनुष्य भी समझौते द्वारा निर्मित राज्य व्यक्तियों या व्यक्ति की आज्ञा पालन के लिए बाध्य है। राज्य की सम्पूर्ण शक्ति सम्पन्न व्यक्ति या व्यक्तियों का समुदाय ही अन्य व्यक्तियों की इच्छाओं को एक शक्तिशाली इच्छा के रूप में परिवर्तित कर सकता है। जो व्यक्ति इस शक्ति का प्रतीक होता है वही राज्य कहलाता है। हॉब्स के अनुसार लोगों को एकमात्र कार्य सम्प्रभु के आदेशों का पालन करना होता है। अतः प्रभुसत्ता को लोगों पर असीम अधिकार होते हैं। हॉब्स के अनुसार इस सम्प्रभु को केवल आंतरिक शांति व सुरक्षा ही कायम नहीं करनी पड़ती बल्कि बाह्य आक्रमण से भी राज्य की सुरक्षा करनी पड़ती है। सम्प्रभु समाज में शांति कायम करता है। सम्प्रभु समस्त जनता का प्रतिनिधित्व करता है। हॉब्स अपने संघ (Commonwealth) की रचना इस प्रकार करता है- "ऐसी सम्मिलित शक्ति के नियमों का एकमात्र तरीका जो विदेशी आक्रमण से उनकी (मनुष्य की) की रक्षा कर सके तथा उन्हें पारस्परिक संघर्ष से बचा सके, उनकी सारी शक्ति को एक व्यक्ति या व्यक्तियों के संघ को इन प्रकार सौंप देना है कि बहुसंख्यक इच्छाशक्ति (Will) एक रूप हो जाए जिससे एक व्यक्ति या व्यक्तियों के संघ को नियुक्त किया जा सके, जो उनके समस्त अधिकार ग्रहण करके साकार हो जाए और हर एक इसका उत्तरदायित्व ले कि वह जो अधिकार ग्रहण करता है, उनकी सामूहिक सुरक्षा तथा शान्ति के लिए कार्य करेगा या करवाएगा तथा इसके लिए सब की इच्छा सामूहिक हित में एक की इच्छा हो जाएगी तथा सब अपने निर्णय को उसके अधीन कर उसके सम्मुख विनत होंगे।" इस प्रकार हॉब्स का मानना है कि सारे व्यक्ति इसको मानने के लिए बाध्य हैं। इस समझौते से सम्प्रभु को असीमित शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। हॉब्स का सम्प्रभु (राज्य या लेवियाथन) पूर्ण रूप से निरंकुश है- "समझौते के द्वारा अनेक इच्छाओं

के स्थान पर एक इच्छा का निर्माण होता है। सम्प्रभु के आदेश ही कानून हैं और उसका प्रत्येक कार्य न्यायपूर्ण होता है।"

अतः समझौते के बाद समाज व राज्य का प्रादुर्भाव हुआ। कला, साहित्य, विज्ञान, व्यापार आदि का श्रीगणेश हुआ। हॉब्स के शब्दों में- "महान् दैत्य (लेवियाथन) अथवा राज्य उस मर्त्यप्रभु का इसी प्रकार से जन्म होता है यह वही मर्त्यप्रभु है जिसकी कृपा पर अमर ईश्वर की छत्रछाया में हमारी शान्ति और सुरक्षा निर्भर है।" सामाजिक समझौते द्वारा हॉब्स 'निरंकुश राजतन्त्र एक राज्य' की स्थापना करता है। हॉब्स का सम्प्रभु सर्वशक्तिमान है। सम्प्रभु कानून से ऊपर है। कानून सम्प्रभु का आदेश है। सम्प्रभु सर्व बन्धनों से मुक्त है। सम्प्रभु की इच्छा का सभी को सम्मान करना पड़ता है। दण्ड देने की शक्ति सम्प्रभु के पास है। सम्प्रभु के कार्यों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है।

हॉब्स के सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की विशेषताएँ
(Features of Hobbes's Social Contract)

1. **निरंकुश सम्प्रभु** (Absolute Sovereign) : निरंकुश सम्प्रभु समझौते में शामिल नहीं है तथा उसे समझौते द्वारा सभी मनुष्यों के समस्त अधिकार प्राप्त हैं। सम्प्रभु अपनी सत्ता का प्रयोग अपनी इच्छानुसार करेगा। उसकी सत्ता पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। अतः वह व्यक्ति असीम शक्ति प्राप्त कर निरंकुश सम्प्रभु बन बैठा है। सम्प्रभु के समझौते में शामिल न होने के कारण उसे बदला नहीं जा सकता। वह अपने कार्यों के लिए किसी व्यक्ति या संस्था के प्रति उत्तरदायी नहीं है। उसकी शक्तियाँ असीमित हैं।

2. **समझौता सामाजिक व राजनीतिक दोनो** (Social as well as Political Contract) : प्राकृतिक अवस्था में न तो समाज था और न राज्य। मनुष्य ने अपनी प्राकृतिक अवस्था में प्राप्त अधिकारों का परित्याग कर सामाजिक समझौते के बन्धन को स्वीकार किया है जिसके कारण समाज की उत्पत्ति हुई तथा उस समाज में शान्ति और व्यवस्था को बनाये रखने के लिए राज्य जैसी संस्था का आविर्भाव हुआ। इस प्रकार इस समझौते की प्रकृति सामाजिक व राजनीतिक दोनों थी।

3. **अल्पमत को विद्रोह का अधिकार नहीं** (Minority has no right to Revolt) : सामाजिक समझौते के सिद्धान्त में अल्पमत को बहुमत के आदेशों का पालन करना पड़ता है। बहुमत के सम्प्रभु के चुनाव में उन्हें कोई भी आपत्ति उठाने का अधिकार नहीं है। यदि वह इस चुनाव में राजधर्म विरोध की स्थिति बनाये रखेंगे तो उन्हें नागरिक समाज से बाहर ही रहना पड़ेगा और बहुमत द्वारा उनका सर्वनाश भी किया जा सकता है। यदि वे राज्य का अंग बने रहना पसन्द करते हैं तब भी उन्हें मौन रूप से बहुमत की इच्छा स्वीकार करनी होगी। अतः हॉब्स के समझौते में अल्पमत की इच्छओं का कोई स्थान नहीं। अल्पमत के हित बहुमत से जुड़े हुए हैं। अल्पमत को विद्रोह करने का अधिकार प्राप्त नहीं है।

4. **समझौते का उल्लंघन नहीं** (No Violation of the Contract) : मनुष्य समझौते में शामिल होकर तथा सम्प्रभु को सारे अधिकार सौंपकर बँध जाता है। वह समझौते का उल्लंघन नहीं कर सकता। उसे समझौता भंग करने का अधिकार प्राप्त नहीं है। यदि वह समझौता तोड़ेगा तो वह पुनः प्राकृतिक अवस्था में पहुँच जाएगा। दुःखदयाी प्राकृतिक अवस्था में वह कभी वापिस लौटना नहीं चाहेगा। अतः मनुष्य इस समझोते का विरोध करने से डरता है।

5. **सम्प्रभु समझौते का भागीदार नहीं** (The Sovereign was not party to the Contract) : यह समझौता प्राकृतिक अवस्था में मनुष्यों के बीच हुआ है। सम्प्रभु इसमें शामिल नहीं है। जैसा कि एवेन्स्टीन का कहना है- "हॉब्स का सामजिक समझौता प्रजाजनों के बीच हुआ है। सम्प्रभु समझौते का भागीदार नहीं है, वह तो उसकी उत्पत्ति है।"

6. **समझौता चिरस्थायी है** (Contract is Perpetual) : हॉब्स के अनुसार समझौता सदा के लए हुआ है तथा चिरस्थायी है। किसी भी व्यक्ति को इसके उल्लंघन का अधिकार नहीं है। जो व्यक्ति अपने साथ दूसरों की आत्मरक्षा को संकट में डालने का प्रयत्न करते हैं अर्थात् समझौते की शर्तों को तोड़ते हैं, उन्हें म त्यु-दण्ड देने का अधिकार शासक को प्राप्त है। अतः दण्ड के भय से कोई भी समझौते का उल्लंघन करना नहीं चाहता। इसलिए समझौता चिरस्थायी बन जाता है।

7. **समझौते का उद्देश्य** (Aim of the Contract) : मनुष्यों के जीवन एवं सम्पत्ति की रक्षा कर, उन्हें आन्तरिक तथा बाह्य रक्षा प्रदान कर, शांति स्थापित करना ही समझौते के सिद्धान्त का मुख्य उद्देश्य है। सामाजिक समझौता लोगों के जान-माल की रक्षा की गारण्टी देता है।

8. **सामाजिक समझौता, शासनात्मक नहीं** (Social Contract not Goovernmental) : हॉब्स के पूर्व, प्रतिपादित समझौता राजा और प्रजा तथा शासक और शासित के बीच होने के कारण शासनात्मक समझौता था। हॉब्स के समझौते ने प्राकृतिक अवस्था में सभी व्यक्तियों के बीच होने के कारण सामाजिक समझौते का रूप धारण किया है।
9. **कानून सम्प्रभु का आदेश** (Law is the Command of Sovereign) : कानून सम्प्रभु का आदेश है। न्याय करने, राष्ट्रों और शक्तियों से युद्ध अथवा सन्धि करने का अधिकार पूर्णतः सम्प्रभु को प्राप्त है। सम्प्रभु के आदेशों को अनियमित नहीं ठहराया जा सकता क्योंकि वह विवेक तथा नैतिक आचरण का सार है।
10. **व्यक्तिगत समझौता** (Individual Contract) : हॉब्स के अनुसार यह समझौता व्यक्तिगत रूप से हुआ है, सामूहिक रूप से नहीं।

समझौते की आलोचना
(Criticism of the Contract)

हॉब्स का सामाजिक समझौता सर्वत्र कटु आलोचना का केन्द्र बना। इसकी चर्च, जनता तथा राजवंश ने कटु आलोचना की है तथा गम्भीर रूप से उसका विरोध किया है। हॉब्स ने चच्र पर राज्य के पूर्ण नियन्त्रण पर जोर दिया है। यह जनता को अस्वीकार्य इसलिए था क्योंकि वह निरंकुश राजतन्त्र की स्थापना पर जोर देता है। हॉब्स ने राजतन्त्र को भौतिक तथा सामान्य व्यक्तियों द्वारा स्थापित संस्था बताया है, जबकि राजवंश के समर्थक राजतन्त्र को दैवी एवं पवित्र संस्था मानते हैं राजवंश के समर्थक कलैरैण्डन, हॉब्स की 'लेवियाथन' में प्रस्तुत विचारों से इस तरह असहमत था कि उसने हस्तलिखित प्रति ही जला डाली और कहा- "मैंने कभी कोई ऐसी पुस्तक नहीं पढ़ी जिसमें इतना अधिक राजविद्रोह, विश्वासघात तथा धर्म-द्रोह भरा हो।" हॉब्स के समझौते के सिद्धान्त की आलोचना निम्न तर्कों पर आधारित है :-

1. **निरंकुशता का समर्थन** (Support of Despotism) : हॉब्स द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त शासन पर किसी तरह का अंकुश नहीं है। चाहे वह कानून का अंकुश हो या व्यक्ति के मौलिक अधिकारों का। हॉब्स द्वारा स्थापित शासन पूरी तरह निरंकुश है। अतः हॉब्स ने मनुष्य के सभी अधिकारों को शून्य कर लेवियाथन की दासता के पाश में जकड़ दिया है। इस सिद्धान्त के अनुसार सम्प्रभु सर्वशक्तिमान व निरंकुश है। उसकी शक्तियों पर कोई बाहरी प्रतिबन्ध नहीं है। यह सिद्धान्त सम्प्रभु की निरंकुशता का पूर्ण पक्षधर है।
2. **मानव स्वभाव का दोषपूर्ण चित्रण** (Defective picture of Human Nature) : हॉब्स ने मानव स्वभाव के एक पक्ष को ही प्रस्तुत किया है। मनुष्य के लिए उसका द ष्टिकोण निराशावादी है। मनुष्य में उदारता, परोपकार, प्रेम, दया, सहानुभुति आदि गुण भी पाए जाते हैं। हॉब्स ने इन सारे गुणों को भुलाकर मानव को स्वार्थी प्राणी माना है। उसका यह चित्रण एकपक्षीय व दोषपूर्ण है। एकपक्षीय द ष्टिकोण के आधार पर मानव स्वभाव का विश्लेषण पक्षपातपूर्ण है।
3. **प्राकृतिक अवस्था का चित्रण अनैतिहासिक** (Unhistorical picture of State of Nature) : हॉब्स द्वारा प्रस्तुत प्राकृतिक अवस्था का चित्रण इतिहास से मेल नहीं खाता क्योंकि इतिहास के अनुसार मनुष्य सदैव परिवार व कबीले के रूप में रहा। वह कभी अकेला नहीं रहा। इसके साथ मनुष्यों के आपसी युद्ध की कल्पना भी इतिहास की मान्यताओं से सिद्ध नहीं होती।
4. **प्राकृतिक अवस्था में प्राकृतिक अधिकारों की मान्यता असंगत** (Irrelevance of Natural Rights in State of Nature) : हॉब्स ने मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था का वर्णन करते हुए कहा है कि उसमें व्यक्ति को कुछ अधिकार प्राप्त थे, जिनका रूप प्राकृतिक था। अराजकतापूर्ण प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति का कोई अधिकार हो सकता है, यह कहना असंगत व विश्वास से परे है। हॉब्स स्वयं स्वीकार करता है कि उस अवस्था में 'जिसकी लाठी, उसकी भैंस' का नियम प्रचलन में था तो ऐसी अवस्था में अधिकारों की कल्पना करना सर्वथा तर्कहीन है।
5. **लोग भय के कारण सत्ता के अधीन नहीं रह सकते** (People do not subject themselves to Authority out of Fear): हॉब्स के अनुसार मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में लौट जाने के डर से समझौते में शामिल रहने के लिए बाध्य हुआ तथा इसी कारण वह सम्प्रभु के आदेशों का पालन करने लगा। परन्तु प्रो॰ वाहन का कथन इसके पूर्णतः विपरीत है कि नागरिकों में नैतिक सम्बन्धों का होना आवश्यक है और जहाँ पर नैतिक सम्बन्ध नहीं वहाँ पर वस्तुतः कोई भी सम्बन्ध

नहीं है। आतंक तथा भय राज्य के लोगों को बाँधने का साधन नहीं हो सकते। मानव विवेक के आधार पर सत्ता को स्वीकार करते हैं। वे सुख-शान्ति बनाए रखने के लिए स्वेच्छा से सत्ता के अधीन रहते हैं।

6. **अतार्किक** (Illogical) : हॉब्स ने जो प्राकृतिक अवस्था में मानव का चित्रण प्रस्तुत किया है, उसके अनुसार मनुष्य एकाकी, दरिद्र, अपवित्र व क्षणिक था और समझौता करने के पश्चात् ही उसने अपने एकाकी जीवन को त्याग कर सामाजिक बनकर समाज में रहना प्रारम्भ किया। यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि मनुष्य जो स्वार्थी, अभिमानी, जंगली तथा असामाजिक था, एकाएक समझौते के लिए किस तरह तैयार हो गया। इस प्रकार के समझौते के लिए राजनीतिक चेतना का होना आवश्श्यक है। बिना राजनीतिक चेतना के मनुष्य समझौते की ओर आकर्षित नहीं हो सकता।
7. **समझौता एक पक्षीय नहीं हो सकता** (Contract cannot be One-sided) : कोई भी समझौता द्विपक्षीय होता है। हॉब्स का समझौता पूर्ण रूप से एकपक्षीय है, क्योंकि हॉब्स ने समझौते में सम्प्रभु को शामिल नहीं किया। समझौता लागू करने के लिए सम्प्रभु को असीमित अधिकार देने की बात संगत नहीं है। इसलिए तार्किक द ष्टि से यह समझौता असंगत व दोषपूर्ण है।
8. **सिद्धान्त विरोधी तत्त्व** (Paradoxes in the Theory) : हॉब्स ने अपने समझौते के सिद्धान्त में सम्प्रभु की असीमित शक्ति प्रदान की है। इसके विपरीत वह व्यक्ति को सम्प्रभु का विरोध करने का अधिकार भी देता है। यह सही है कि कुछ महत्त्वपूर्ण दशाओं में ही व्यक्ति सम्प्रभु का विरोध कर सकते हैं। यदि सम्प्रभु नागरिक जीवन की रक्षा करने में असफल रहा हो तो उस दशा में उसका विरोध किया जा सकता है। परन्तु तर्क की माँग यह है कि जब सम्प्रभु को असीमित अधिकार प्राप्त है तो व्यक्ति को विरोध का अधिकार किस तरह मिल सकता है और व्यक्ति को विरोध का अधिकार प्राप्त है तो सम्प्रभु को असीमित अधिकार किस प्रकार प्राप्त होंगे। इस प्रकार हॉब्स के इस सिद्धान्त में परस्पर विरोधी तत्त्व पाए जाते हैं।
9. **राज्य और सरकार में अन्तर** (State and Government are two Different Things) : हॉब्स के सिद्धान्तानुसार राज्य और कानून में कोई अन्तर नहीं है। उसने राज्य के कानूनी निरंकुशवाद को सरकार से मिलाने की भूल की है। हॉब्स यह भूल गया है कि सरकार राज्य का आवश्यक तत्त्व है। सरकार में परिवर्तन होने से राज्य में परिवर्तन नहीं होता। इसलिए राज्य व सरकार अलग-अलग हैं। सरकार राज्य की तुलना में छोटा रूप रखती है। राज्य सर्वदा विद्यमान रहता है। सरकारें बदलती रहती हैं। अतः ये दोनों भिन्न संस्थाएँ हैं।
10. **राज्य एक निर्मित संस्था नहीं** (State is not an Artificial Institution) : वास्तव में राज्य एक निर्मित संस्था नहीं बल्कि विकसित संस्था है। राज्य एक ऐतिहासिक विकास का परिणाम है जबकि हॉब्स ने राज्य को समझौते द्वारा एक निर्मित संस्था माना है।

हॉब्स के सिद्धान्त की इन आलोचनाओं के पश्चात् भी यह स्वीकार किया जा सकता है कि हॉब्स ने सामाजिक समझौते के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर इस वास्तविकता को स्पष्ट कर दिया है कि राज्य न तो ईश्वर द्वारा कृत दैवी संस्था है और न ही ऐतिहासिक विकास का परिणाम। बल्कि व्यक्तियों की निश्चित आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यह अस्तित्व में आया है जो मानव द्वारा निर्मित एक कृत्रिम संस्था है। राज्य एक साधन नहीं है परन्तु साध्यों की ओर ले जाने वाला एकमात्र साधन है। इसके अतिरिक्त हॉब्स की विचारधारा में सम्प्रभुता की धारणा के प्रतिपादन का मार्ग प्रशस्त किया है। हॉब्स ने मानव स्वभाव का विश्लेषण कर यर्थार्थ के धरातल पर मानव-स्वभाव को चित्रित किया है। अतः हॉब्स का चिन्तन वैज्ञानिक चिन्तन है। हॉब्स का चिन्तन राजनीतिशास्त्र के विचारकों के लिए एक पथ-प्रदर्शक का कार्य करता है।

सम्प्रभुसत्ता का सिद्धान्त
(Theory of Sovereignty)

हॉब्स आधुनिक सम्प्रभु राज्य के पिता के रूप में
(Hobbes as the Father of Modern Sovereign State)

हॉब्स का प्रभुसत्ता का सिद्धान्त सामाजिक समझौते के परिणामस्वरूप ही अस्तित्व में आया। हॉब्स ने सर्वप्रथम अपार व असीम शक्तियुक्त सम्प्रभु का वर्णन किया है जो पूर्णतः निरंकुश है। हॉब्स प्रभुसत्ता का प्रबल समर्थक है। हॉब्स के समान अन्य किसी

विद्वान ने उससे पहले प्रभुसत्ता की असीमित प्रकृति का वर्णन नहीं किया। आधुनिक अर्थ में हॉब्स ने ही प्रभुसत्ता को विस्त त व्याख्या करके एक नया सिद्धान्त पेश किया।

आधुनिक अर्थ में प्रभुसत्ता राज्य की अनियन्त्रित शक्ति है जिसको आवश्यक जन समर्थन व शक्ति प्राप्त है। इसका कार्यक्षेत्र निश्चित है। आधुनिक अर्थ में प्रभुसत्ता का अर्थ कानून बनाने और उसका प्रशासन करने के लिए राज्य का अनियन्त्रित एवं सर्वोचच अधिकार है जिससे राज्य को पूरा निग्रह बल प्राप्त है। व्यक्ति के सम्बन्धों को नियमित व अनुशासित करने का अन्तिम उपाय राज्य ही है। आधुनिक युग में राज्य का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व प्रभुसत्ता है क्योंकि इसके कारण ही राज्य अपने क्षेत्र में रहने वाले सभी व्यक्तियों तथा व्यक्ति समुदाय को आदेश देने और उनका पालन करवाने की शक्ति मिलती है। प्रभुसत्ता नागरिकों व प्रजाजनों के ऊपर राज्य की वह परम शक्ति है जो कानूनों द्वारा नियन्त्रित नहीं है। यह प्रजा के ऊपर राज्य की मौलिक निरंकुश व असीमित शक्ति है। प्रभुसत्ताधारी वैधानिक रूप से प्रत्येक व्यक्ति व समुदाय से उच्चतर है। वह उस सर्वोच्च शक्ति का धारक है, जिसके बल पर वह अन्यों से अपनी बात मनवाता है। गैटिल के अनुसार- "किसी अन्य विद्वान ने प्रभुसत्ता की असीमित प्रकृति का वर्णन नहीं किया है जितना हॉब्स ने।" हॉब्स ने पूर्व, प्रभुसत्ता सम्बन्धी विचारों का विश्लेषण करे तो राजनीतिक दर्शन के केन्द्र यूनान में प्रभुसत्ता की धारणा नहीं थी। यूनानी प्रभुसत्ता की प्रव त्ति को निर्धारित नहीं कर सके कि यह क्या है, कहाँ रहती है तथा इसका क्या उत्तरदायित्व है। प्रभुसत्ता के विचार का उदय सबसे पहले रोमन साम्राज्य तथा नरेशों में मिलता है लेकिन वे सका समुचित विकास नहीं कर सके। मध्यकालीन युग में पोप तथा होली रोमन साम्राज्य के दौरान भी प्रभुसत्ता को नहीं समझा गया। प्रभुसत्ता के विचार को मैकियावली की देन, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता तथा एकाकी राज्य का विचार है। लेकिन उसने प्रभुसत्ता पर कुछ नहीं लिखा। बोदिन ने ही सर्वप्रथम आधुनिक चिन्तक के रूप में प्रभुसत्ता की अवधारणा का श्रीगणेश किया। बोदां के अनुसार- "प्रभुसत्ता प्रजाओं और नागरिकों पर परमाधिकार है, जिस पर कानून का नियन्त्रण नहीं है।" परन्तु उसने सम्प्रभुता पर कुछ पाबन्दियाँ लगा दीं। इसके बाद ग्रोशियस ने प्रभुसत्ता को केवल सम्पत्ति के अधिकार तक ही सीमित कर दिया। उसने सम्प्रभु पर अन्तरराष्ट्रीय तथा प्राकृतिक कानूनों की सीमाएँ लगा दीं। इस प्रकार हॉब्स से पूर्व सम्प्रभुसत्ता की कोई निश्चित प्रकृति नहीं थी।

हॉब्स ने सर्वप्रथम सम्प्रभुता को निरंकुश, अविभाज्य, असीमित, सर्वव्यापी आदि बनाकर उसे बोदाँ के ईश्वरीय कानून, प्राकृतिक कानून, संवैधानिक कानून आदि प्रतिबन्धों से मुक्त कर दिया। सी॰ ई॰ वाहन का कथन है- "हॉब्स ही ऐसा दार्शनिक है जिसने सर्वप्रथम इस बात का अनुभव किया कि राज्य के एक पूर्ण सिद्धान्त में मूल विचार सम्प्रभुता का है। उसने ही सर्वप्रथम सम्प्रभुता के स्थान, कार्यों और सीमाओं को निश्चित करने की आवश्यकता को बल दिया है।" हॉब्स के अनुसार- "सम्प्रभु वह व्यक्ति है जिसको एक विशाल जनसमूह ने स्वेच्छापूर्वक एक दूसरे से समझौता करके, इस उद्देश्य से अपना प्रभु बना लिया है कि वह उनकी सुरक्षा और शान्ति के लिए उन सबकी शक्तियों व साधनों का आवश्यकतानुसार प्रयोग कर सकता है।"

हॉब्स की परिभाषा से स्पष्ट है कि लोगों ने अपने अधिकार एक समूह को हस्तांतरित कर उसे सम्प्रभु के पद के लिए स्वीकारा है। इसके लिए सम्प्रभुता राजनीतिक जीवन का एक तथ्य है। जहाँ कहीं भी नागरिक या राजनीतिक समाज पाया जाता है वहाँ सम्प्रभुता भी होनी चाहिए। सम्प्रभुता के अभाव में मनुष्य मनमानी करेगा तथा राज्य के अस्तित्व को उद्देश्य ही नष्ट हो जाएगा। व्यक्ति की निरंकुशता पर रोक लगाने व सभ्य समाज की स्थापना के लिए किसी ऐसी सर्वोच्च शक्ति का होना आवश्यक है जो विघटनकारी तत्त्वों से निपट सके। इसलिए हॉब्स ने ऐसी ही शक्ति की कल्पना की थी।

सम्प्रभुता की विशेषताएँ

(Characteristics of Sovereignty)

हॉब्स के सम्प्रभुता की व्याख्या करके उसकी निम्न विशेषताओं का उल्लेख किया है :-

1. **सम्प्रभुता सर्वोच्च शक्ति है** (Sovereignty is the Supreme Power) : हॉब्स का सम्प्रभु सर्वशक्तिमान है। राज्य की समस्त सर्वोच्च शक्ति उसी में केन्द्रित है। वह कानून का निर्माण करता है, उसकी व्याख्या करता है एवं उसे लागू करता है। हॉब्स के सम्प्रभु में विधायिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका सम्बन्धी समस्त शक्तियाँ हैं। उसे युद्ध व शान्ति की घोषणा करने का अधिकार है। सिक्का बनाने, सम्पत्ति का हस्तान्तरण करने, परमाधिकार का प्रयोग करने या उन्हें हस्तान्तरित कर देने का उसे पूरा अधिकार है। इस हस्तान्तरण से उसकी सम्प्रभुता में कोई कमी नहीं आती। वह पद सम्मान में भी सर्वोच्च है। वह यश का स्रोत है। उसके समान अन्य कोई सर्वोच्च शक्ति नहीं है।

2. **सम्प्रभु समस्त विधेयात्मक कानूनों का स्रोत है** (Sovereignty is a Source of all Legislative Laws) : हॉब्स की सम्प्रभुता कानूनी सम्प्रभुता है। कानून निर्माण करने की शक्ति सम्प्रभु के पास है। वह समस्त विधेयात्मक कानूनों का स्रोत होता है। कानून सम्प्रभु का आदेश है। सम्प्रभु संसद को कानून बनाने की आज्ञा दे सकता है। हॉब्स का सिद्धान्त सत्ता के केन्द्रीयकरण परजोर देता है। कानूनों की विरल धारा सम्प्रभु की सर्वोच्च शक्ति से ही निकलती है।

3. **सम्प्रभु अदण्डनीय है** (Sovereignty is Unpunishable) : सम्प्रभु सर्वशक्तिमान है। सम्प्रभु जनता के हित में कानून बनाता है। वह कभी गलती नहीं करता। अतः उसे दण्ड देने का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि कोई अवांछित कार्य हो जाए तो इसके लिए जनता ही दोषी है। इसलिए जनता को ही दण्ड दिया जाना चाहिए।

4. **सम्प्रभुता अनुत्तरदायी है** (Sovereignty is Irresponsible) : चूँकि समझौता प्रजाजनों के बीच है और सम्प्रभु समझौते का कोई पक्ष नहीं है। इसलिए प्रभुसत्तासम्पन्न शासक द्वारा समझौते का उल्लंघन नहीं हो सकता। समझौते का पालन ही न्याय है। प्रभुसत्तासम्पन्न शासक अन्याय नहीं कर सकता। सम्प्रभु अपने कार्यों के लिए किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं है। उसके द्वारा शक्तियों का प्रयोग अन्याय नहीं हो सकता। वह सभी प्रकार के बन्धनों व शर्तों से मुक्त है तथा राज्य का कोई व्यक्ति उसकी अधीनता से मुक्त नहीं है। वह किसी के प्रति जवाबदेह नहीं है।

5. **सम्प्रभुता नागरिक समाज का अनिवार्य अंग है** (Sovereignty is an Essential Part of Society) : सम्प्रभुता राज्य का अनिवार्य तत्त्व है। इसके अभाव में नागरिक समाज की कल्पना असम्भव है। सम्प्रभुता तथा राज्य की उत्पत्ति एक साथ होती है। एक के अभाव में दूसरे की कल्पना असम्भव है। जहाँ नागरिक समाज होगा, वहाँ सम्प्रभुता भी होगी अन्यथा उसके अभाव में अराजकता होगी।

6. **सम्प्रभुता अपरिवर्तनीय है** (Sovereignty is Irrevocable) : समझौते द्वारा किसी व्यक्ति या व्यक्ति समूह को अपना प्रभु स्वीकार करने के बाद उसकी स्वीकृति के बिना उसके राजत्व को इन्कार नहीं कर सकते। समझौते द्वारा जनता से क्रान्ति का अधिकार छीन लिया जाता है। व्यक्ति समझौते का अन्त कर उस भयंकर प्राकृतिक अवस्था को वापिस नहीं जा सकते। सत्ता के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार नियम विरुद्ध घोषित किया जाता है। अतः सम्प्रभुता को बदला नहीं जा सकता। इसलिए हॉब्स का सम्प्रभु असीमित व निरंकुश है।

7. **युद्ध और शान्ति का निर्णायक** (Conclusion of War and Peace) : हॉब्स के अनुसार सम्प्रभु को अन्य राज्यों से अपनी इच्छानुसार युद्ध, शान्ति या समझौते के मार्ग अपनाने का अधिकार प्राप्त है। सम्प्रभु अपनी इच्छानुसार युद्ध में अपनी सैनिक शक्ति का प्रयोग कर सकता है। अतः सम्प्रभु युद्ध व शान्ति का एकमात्र निर्णायक है। सम्प्रभु ही सामान्य हित में युद्ध व शान्ति का एकमात्र निर्णायक है। सम्प्रभु ही सामान्य हित में युद्ध या शान्ति का मार्ग चुनता है। वह निर्णय करने के लिए पूर्ण रूप से सक्षम है।

8. **सम्प्रभु प्रत्येक कानून व न्याय का स्रोत है** (Sovereignty is the Source of all Laws and Justice) : कानून राज्य या सम्प्रभु के आदेश होते हैं। लोगों द्वारा किये गए कार्यों में अच्छाई-बुराई, वैधानिकता-अवैधानिकता का निर्णय करने का अधिकार नागरिका कानूनों को है। कानून निर्माण तथा कानून में परिवर्तन का अधिकार राज्य अर्थात् सम्प्रभु को है। परन्तु उसे काई बाँध नहीं सकता। इसलिए कानून उसके आदेश हैं। लोगों के विवादों को सुनना और प्राकृतिक या नागरिक कानूनों द्वारा उन पर निर्णय देना उसका या उसके द्वारा नियुक्त अधिकारियों का कार्य है। अतः सम्प्रभु ही प्रत्येक कानून व न्याय का स्रोत है।

9. **सम्प्रभु को विचारों तथा लोगों की सम्पत्ति पर पूरा अधिकार है** (Sovereignty has Complete Right Over Subjects, Thoughts and Properties) : हॉब्स का सम्प्रभु असीमित है। उसकी शक्तियों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। सम्प्रभु का लोगों की सम्पत्ति और विचारों पर पूरा नियन्त्रण है। वह जिसकी चाहे सम्पत्ति छीन सकता है। वह लोगों के विचारों पर भी रोक लगा सकता है। वह जिस प्रकार चाहे सम्पत्ति व विचारों का हस्तान्तरण व नियन्त्रण कर सकता है। कानून सम्प्रभु का आदेश होते हैं। आवश्यकता पड़ने पर इस बारे में कानून भी बना सकता है।

10. **सम्प्रभुता अविभाज्य और अदेय है** (Sovereignty is Indivisible and non-transferable) : बोदाँ की भाँति हॉब्स भी सम्प्रभुता को अविभाज्य मानता है। सम्प्रभुता का विभाजन ग हयुद्ध इसलिए हुआ कि वहाँ प्रभुसत्ता राजा, लार्ड सभा एवं कामन सभा के बीच विभाजित थी। शासन प्रणाली कोई भी हो, उसमें कहीं-न-कहीं सम्प्रभुता अवश्य होती है। राज्य

के विभाजन से सम्प्रभुता का भी बँटवारा हो जाता है। राज्य स्वयं में समाप्त हो जाता है और ग हयुद्ध आरम्भ हो जाता है। हॉब्स कहता है कि विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका तीनों ही शक्तियाँ एक ही सम्प्रभु के हाथ में होनी चाहिएं। इनका विभाजन असुरक्षा व अराजकता को दावत देता है। अतः हॉब्स सम्प्रुभता को अविभाज्य और अदेय मानता है।

11. **सम्प्रभु प्रशासनिक शक्तियों का एकमात्र स्रोत है** (Sovereignty is the sole sourse of Adminstrative Power) : हॉब्स का सम्प्रभु समस्त शक्तियों का जन्मदाता है। समस्त अधिकारी उसके द्वारा प्रदत्त शक्तियों का ही प्रयोग करते हैं। प्रशासनिक पदों पर नियुक्ति सम्प्रभु ही करता है। अधिकारियों को पद से हटाने व उन्हें दण्डित करने का अधिकार भी रखता है। इसलिए वह सर्वोच्च शक्ति का केन्द्र है और प्रशासनिक शक्तियों का एकमात्र स्रोत है।

12. **सम्प्रभुता असीमित है** (Sovereignty is Unlimited) : सम्प्रभु ही कानून का एकमात्र स्रोत और व्याख्याकार है। वह नागरिक कानूनों के अधीन नहीं रहता, क्योंकि सम्प्रभु का आदेश नागरिक कानून है और स्वयं सम्प्रभु पर उसका आदेश लागू नहीं हो सकता। हॉब्स कहता है कि राजा के लिए कानूनों का पालन करना आवश्यक नहीं है। प्राकृतिक विधि की व्याख्या सम्प्रभु ही करता है। इसलिए वह सम्प्रभु द्वारा आदेशित नागरिक विधि के प्रतिकूल नहीं हो सकती। दैवी कानून भी सम्प्रभु के विधान के प्रतिकूल नहीं हो सकते, क्योंकि उसकी व्याख्या करने वाला सम्प्रभु ही होता है। सम्प्रभु की शक्तियाँ असीमित हैं। वह कानून से ऊपर है। उसकी शक्तियों को कानून द्वारा न बाँधा जा सकता है और न उसके विरुद्ध मुकद्दमा चलाया जा सकता है। कानून और नैतिकता उसकी इच्छाएँ हैं।

सम्प्रभु के अधिकार व कर्त्तव्य
(Right and Duties Sovereign)

सम्प्रभु के अधिकार वे अधिकार हैं जो उसे करार द्वारा प्राकृतिक मनुष्य में समर्पित किए हैं। सम्प्रभु के अधिकारों की सीमा का निर्णय मनष्य स्वयं नहीं कर सकता बल्कि प्रकृति ही करती है। सम्प्रभु के कुछ अधिकार उसके कर्त्तव्य भी हैं। उसके प्रथम तीन अधिकार उसके कर्त्तव्य भी हैं। वे निम्नलिखित हैं :-

1. **कानून बनाने का अधिकार** (Right to make Law) : यह अधिकार सम्प्रभु का सबसे महत्त्वपूर्ण अधिकार है। राजा को कानून बनाते समय उनको समान क्रियान्वित करने का कर्त्तव्य भी होता है। कानून बनाते समय सम्प्रभु का कर्त्तव्य बनता है कि वह ऐसे कानून बनाए जिनसे अधिक से अधिक या लगभग सभी जनता के हितों की पूर्ति होती हो।

2. **कानून की व्याख्या व उसको क्रियान्वित करना** (Right to interpret and implement Law) : सम्प्रभु का यह अधिकार उसका कर्त्तव्य भी है कानून की व्याख्या तथा व्यवस्था है। इसके द्वारा निर्णय करने तथा उस निर्णय को उचित रूप से दण्ड द्वारा क्रियान्वित करने का अधिकार तथा कर्त्तव्य भी सम्प्रभु का है। कानून को लागू करने की बाध्यकारी शक्ति सम्प्रभु के पास ही होती है। कानून को क्रियान्वित करवाने का कर्त्तव्य सम्प्रभु का होता है।

3. **नीति निर्माण का अधिकार** (Right to make Policies) : इस अधिकार द्वारा सम्प्रभु को शासन करने और शासित लोगों की जीवन सुरक्षा के लिए नीति निर्धारित करने का अधिकार प्राप्त है। जन-कल्याण के लिए नीति निर्माण करना उसका कर्त्तव्य भी है। शासक को ऐसी नीतियाँ बनानी चाहिएं जिनसे अधिकतम का कल्याण हो।

4. प्रशासन को सुचारू रूप से चलाने के लिए वह मन्त्रियों, सेनापतियों, परामर्शदाताओं, न्यायाधीशों तथा दूसरे सार्वजनिक पदाधिकारियों की नियुक्ति करता है तथा उनके कार्यों की निगरानी करता है। अतः सम्प्रभु राज्य में प्रशासन का सर्वेसर्वा होता है।

5. सम्प्रभु को राज्य में न्याय की स्थापना हेतु अपराधियों को दण्ड देने का अधिकार है। चोरी, डकैती, हत्या तथा कानून की अवहेलना करने वाला दण्ड का भागीदार होता है।

6. राज्य का सर्वेसर्वा होने के कारण सम्प्रभु को युद्ध या शांति सन्धि करने का अधिकार है।

7. सम्प्रभु का राज्यहित में जनता की सम्पत्ति छीनने व इस विषय में कोई भी कानून बनाने का अधिकार है।

8. उसे प्रजा पर कर लगाने का अधिकार है।

9. सम्प्रभु को अपनी सम्प्रभुता शक्ति को अविच्छिन्न रूपसे प्रयोग करने का अधिकार प्राप्त है।

10. राज्य में शान्ति बनाए रखने के लिए सम्प्रभु को भाषण व लेखन पर नियन्त्रण का अधिकार है। सम्प्रभु की स्वीकृति के बिना कोई व्यक्ति अपने सिद्धान्त का प्रसार नहीं कर सकता है।
11. राज्य के नागरिकों को पुरस्कार देने तथा सम्मान देने का अधिकार भी सम्प्रभु को है।
12. नागरिकों के झगड़े सुलझाना व न्याय करना सम्प्रभु का मुख्य कत्तव्य है।
13. नागरिकों के जान-माल की सुरक्षा करना भी सम्प्रभु का कर्त्तव्य है।
14. अपराधी को क्षमा करने का अधिकार सम्प्रभु के पास है।
15. अच्छा प्रशासन देना व राज्य में शांति कायम रखना भी सम्प्रभु का प्रमुख कर्त्तव्य है।
16. प्रजा को सन्तुष्ट जीवन के लिए आवश्यक पदार्थ उपलब्ध कराना भी सम्प्रभु का कर्त्तव्य है।
17. राज्य की उन्नति के प्रयास करना, कानून की समानता, न्याय का समान रूप से क्रियान्वित तथा समानतापूर्वक कर की सुविधा प्रदान करना सम्प्रभु के प्रमुख कर्त्तव्य हैं।

सम्प्रभु का विरोध कब ?

(When Sovereignty can be Opposed)

सर्वशक्तिमान सम्प्रभु होने के बावजूद भी हॉब्स सम्प्रभु पर कुछ प्रतिबन्धों की व्यवस्था करता है। हॉब्स ने कुछ विशेष परिस्थितियों में सम्प्रभु की आज्ञाओं का उल्लंघन करने का अधिकार जनताको प्रदान किया है। यद्यपि हॉब्स ने सम्प्रभुता को सर्वशक्तिमान, अविभाज्य, अखण्ड व अदेय माना है, फिर भी उसने कहा है कि यदि सम्प्रभु किसी व्यक्ति को अपनी दया करने, अपना अंग-भंग करने, अपने आक्रमणकारियों का विरोध करने अथवा जीवन को कायम रखने वाली वस्तुओं का प्रयोग न करने का आदेश देता है तो सम्प्रभु का विरोध किया जा सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि हॉब्स ने जीवन की सुरक्षा के लए सम्पभु का निर्माण किया है। सम्प्रभु किसी व्यक्ति को अपनी हत्या के लिए बाध्य नहीं कर सकता। व्यक्ति ने आत्मरक्षा हेतु समझौता किया है और सम्प्रभु का कर्त्तव्य बन जाता है कि वह मनुष्यों के जीवन की रक्षा करे। सम्प्रभु न्यायविरुद्ध कार्य नहीं कर सकता। सम्प्रभु असमानतामय हो सकता है। किन्तु वह किसी के जीवन का अधिकार नहीं छीन सकता। हॉब्स कहता है कि यदि सम्प्रभु व्यक्ति के जीने के, आत्मरक्षा व स्थायित्व के अधिकार को छीनता है तो उसके विरुद्ध विद्रोह या क्रान्ति करना जनता के लिए आवश्यक बन जाता है।

सम्प्रभुता सिद्धान्त का मूल्यांकन एवं आलोचनाएँ

(Evaluation and Criticisms of Concept of Sovereignty)

हॉब्स ने राज्य और समाज एवं राज्य और सरकार में कोई भेद नहीं किया है। हॉब्स एक शक्तिशाली राजतन्त्र के पक्षधर है। उन्होंने कानून व नैतिकता में कोई अन्तर न करके उनका मूल-स्त्रोत एक ही माना है। हॉब्स के अनुसार शासक ही राज्य और समाज दोनों का निर्माण करता है। हॉब्स सम्प्रभुता को अविभाज्य व अदेय मानता है। यदि सम्प्रभुता का विभाजन किया गया तो सत्ता का स्थायीपन नष्ट हो जाता है। हॉब्स द्वारा समर्थित निरंकुश प्रभुसत्ता के पक्ष में दी गई दलीलें व्यावहारिक व उपयोगी हैं। हॉब्स ने राज्य के दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का विरोध करके नया सिद्धान्त पेश करने का जो प्रयास किया है, सफल है। हॉब्स का यह सिद्धान्त, जिस समय इंगलैण्ड में ग हयुद्ध चल रहा था, उस समय का सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। शक्तिशाली शासक के अभाव में ग हयुद्ध से निपटना मुश्किल होता है। उसका यह सिद्धान्त आज भी कानूनी मान्यता प्राप्त सिद्धान्त है। किसी भी अन्य लेखक ने राज्य की प्रभुसत्ता की निरंकुश प्रकृति का इतना उत्कट द ष्टिकोण भी अपनाया है जितना हाब्स ने। उसने सर्वप्रथम सम्प्रभुता पर विस्तारपूर्वक लिखा है। इसलिए हॉब्स को आधुनिक सम्प्रभु राज्य के पिता के रूप में देखा जाता है। इस प्रकार हॉब्स ने परम्परागत शासन के प्रतिबन्धों से एक ऐसे सम्प्रभु का प्रतिपादन किया है जो विधि, शुभाशुीा, प्रशासन, अधिकार न्याय और नैतिकता, युद्ध और शांति का एकमात्र स्त्रोत है। इतने महान योगदान के बाद भी हॉब्स के सम्प्रभुता सिद्धान्त की कतिपय आलोचनाएँ की गई हैं जो निम्न प्रकार से हैं :-

1. **हॉब्स के सम्प्रभु की निरंकुशता अतार्किक** **(Absolutism of Hobbes's Sovereignty is non-logical)** : हॉब्स ने निरंकुश सम्प्रभु का सिद्धान्त पेश किया है। उसका शासक सर्वशक्तिमान है और प्रजा को उसका विरोध करने का अधिकार नहीं है। हॉब्स एक तरफ तो शासक को निरंकुश बनाता है और दूसरी तरफ उस पर प्रतिबन्धों की भी व्यवस्था

करता है। प्रतिबन्धों से युक्त शासक निरंकुश नहीं हो सकता। यदि ऐसा है तो सम्प्रभु को निरंकुशता का क्या अर्थ है? यदि प्रजा को विद्रोह का अधिकार है तो सम्प्रभु को निरंकुशता की धारणा अतार्किक है। हॉब्स द्वारा विशेष परिस्थितियों में शासक का विरोध करने का प्रजा का अधिकार सम्प्रभु की निरंकुशता को कम कर देता है। इस प्रकार सम्प्रभु की निरंकुशता और प्रजा का विद्रोह करने का अधिकार परस्पर विरोधी बातें हैं। अतः यह सिद्धान्त अतार्किक प्रतीत होता है।

2. **अव्यावहारिक सिद्धान्त** (Impracticable Theory) : हॉब्स ने सम्प्रभु को इतनी असीमित निरंकुश व अमर्यादित शक्तियाँ प्रदान करके इस सिद्धान्त को अव्यावहारिक बना दिया है। वर्तमान लोकतान्त्रिक राज्यों में हॉब्स के इस सिद्धान्त का कहीं भी अस्तित्व नहीं है। अतः आधुनिक युग में यह सिद्धान्त पूर्णतया अव्यावहारिक है।

3. **व्यक्तियों की दुष्ट प्रव त्तियों पर अंकुश हेतु निरंकुश शासक ही आवश्यक नहीं** (Dictator is not essential to control wicked nature of men) : हॉब्स का कहना है कि मनुष्य पाशविक प्रव त्तियों का स्वामी है। उसकी पाशविकता पर रोक लगाने के लिए शक्तिशाली निरंकुश सम्प्रभु का होना आवश्यक है। इतिहास में ऐसे बहुत से शासक हुए हैं जिन्होंने अपने उदार, धार्मिक और शुभचिन्तन के द्वारा दुष्ट प्रजाजनों पर शासन किया है। प्रजा पर शासन करने के लिए प्रजा का दिल जीतना आवश्यक होता है न कि उन्हें डराना-धमकाना। अतः प्रजा पर शासन करने के लिए निरंकुश शासक की कोई आवश्यकता नहीं होती।

4. **सिद्धान्त में विरोधाभास** (Contradiction in Theory) : हॉब्स ने सम्प्रभु की शक्ति का आधार और उद्देश्य व्यक्ति को आत्मरक्षा प्रदान बताया है तथा शान्ति के अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए समझौता किया है। यदि सम्प्रभु व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों का उल्लंघन करता तो व्यक्ति को सम्प्रभु के आदेशों का विरोध करने का अधिकार है। एक तरफ हॉब्स सम्प्रभु को सर्वशक्तिमान तथा निरंकुश बताता है और दूसरी तरफ उस पर प्रतिबन्ध भी लगाता है। यही विरोधाभास का प्रमुख आधार है। प्रो॰ जोन्स का कथन है कि- "हॉब्स की दोनों बातें एक साथ सत्य नहीं हो सकतीं। यदि मनुष्य आत्म-रक्षा के लिए सम्प्रभु के आदेशों की अवहेलनता करता है तो सम्प्रभुता असीमित, सर्वोच्च व निरंकुश नहीं रहती और यदि वास्तव में सम्प्रभुता में ये सभी लक्षण होते हैं तो व्यक्ति के आत्मरक्षा का अधिकार का अस्तित्व नष्ट हो जाता है। जनता को विद्रोह का अधिकार प्रदान करने पर सम्प्रभु की शक्तियाँ असीमित न होकर सीमित रह जाती हैं। अतः इस सिद्धान्त में परस्पर विरोधी तत्त्वों का समावेश है।

5. **आत्म-त्याग मानव प्रकृति से मेल नहीं खाता** (Renunciation does not Confirm to Human Nature) : हॉब्स का कहना है कि मनुष्यों ने प्राकृतिक अवस्था के दुखों से छुटकारा पाने के लिए अपनी जीवन व स्वतन्त्रता के अधिकार किसी एक व्यक्ति या व्यक्ति समूह को सौंद दिये, मानव-स्वभाव के विपरीत है। मानव सदैव स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए संघर्ष करता रहा है। वह कभी भी अपनी स्वतन्त्रता का परित्याग नहीं करेगा। मानव का अपनी इच्छानुसार त्याग करना उसकी मूल प्रकृति के विपरीत है। जो व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता त्याग देता है, वह अपने पुरुषत्व को ही त्याग देता है। रूसो के मत में जीवन और स्वतन्त्रता जैसी प्रकृति की देनों का किसी कल्पित लाभ के लिए सम्भवतया त्याग नहीं किया जा सकता। अपनी इच्छा को सारी स्वतन्त्रता से वंचित करना अपने कार्यों को सारे नैतिक गुणों से वंचित करने के बराबर है।

6. **हॉब्स के अनुसार शक्ति ही न्याय का आधार है** (Power is the Base of Justice) : हॉब्स सम्प्रभु को सर्वशक्तिमान मानता है। शक्ति का प्रयोग ही न्याय है। बिना नियंत्रण के शक्ति जब न्याय का स्रोत बन जाती है तो वह सर्वविनाशी और दुर्दमनीय बन जाती है। सम्प्रभु का निर्माण हॉब्स ने अनुत्तरदायी शासन के लिए किया है। यह कितनी भयंकरता है। हॉब्स सम्प्रभु के लिए शक्ति प्रयोग अपरिहार्य बना देता है। शक्ति का बर्बर प्रयोग ग हयुद्ध की स्थिति पैदा कर सकता है। इतिहास गवाह है कि जब भी किसी शासक ने शक्ति का दुरुपयोग किया है, उसे जनता का असंतोष झेलना पड़ा है।

7. **हॉब्स की सम्प्रभुता अतिशयोक्तिपूर्ण है** (Hobbes's Sovereignty is Exagerated) : हॉब्स ने जिस निरंकुश सम्प्रभु को असीमित शक्तियों का स्वामी बनाया है। वह व्यवहार में असम्भव है। हॉब्स ने कानून और नैतिकता को सम्प्रभु की इच्छा माना है। यह हॉब्स की असम्भव उक्ति है। ऐसी निरंकुशता तो म त्युशील देवता में ही हो सकती है। हॉब्स ने जो निरंकुश

सम्प्रभु की कल्पना की है, वह अतिशयोक्तिपूर्ण है। किसी एक व्यक्ति या व्यक्तियों की सभा द्वारा इतने सारे अधिकारों का सम्भाला जाना प्राकृतिक आवश्यकता है। एक व्यक्ति इतने सारे उत्तरदायित्व एक साथ नहीं सम्भाल सकता। हॉब्स ने सम्प्रभु को इतने सारे अधिकार व शक्तियाँ प्रदान करके अतिशयोक्तिपूर्ण कार्य किया है। यह विश्वास से परे की बात है।

8. **शक्ति और भय पर आधारित सिद्धान्त (Principle Based on Force and Fear)** : हॉब्स का कहना है कि प्राकृतिक अवस्था में लोगों ने अपने उपर शासन का अधिकार विवेक के कारण दिया। उन्होंने सम्प्रभु को तो सर्वशक्तिशाली बना दिया लेकिन स्वयं अपने पास कुछ नहीं रखा। यदि सम्प्रभु कोई कार्य करता है तो जनता उसका विरोध नहीं कर सकती। यदि प्रजा विद्रोह करेगीतो वापिस प्राकृतिक अवस्था के दुखदायी वातावरण में लौटना पड़ेगा। यही भय शासक की प्रमुख शक्ति है। इसलिए सम्प्रभु तथा व्यक्ति के बीच शक्ति और भय का सम्बन्ध है। समस्त जन भय के कारण ही शासक की आज्ञा का पालन करते हैं। इस प्रकार के सम्बन्ध राज्य में शान्ति स्थापित नहीं कर सकते। हॉब्स ने शक्ति और भय को साथ जोड़कर राज्य के अस्तित्व पर ही प्रश्नचिह्न लगा दिया है। राज्य की शक्ति का आधार प्रेम, विश्वास व सहयोग है न कि भय और शक्ति।

9. **वास्तविक सरकार का समर्थन (Support of De-facto Government)** : हॉब्स का सम्प्रभु का सिद्धान्त वास्तविक (De-facto) सरकार का समर्थन करता है। यह सरकार न्यायी हो चाहे अन्यायी, सही हो चाहे गलत उन्होंने शक्ति और अधिकार को अभिन्न माना है। इस सिद्धान्त के आधार पर कोई भी आततायी शासक अन्यायपूर्ण साधनों से सरकार की बागडोर अपने हाथ में ले सकता है। आलोचकों का कहना है कि हॉब्स ने 'लेवियाथन' पुस्तक निर्दयी व क्रूर शासक क्रामवैल की सत्ता का समर्थन करने के लिए लिखी थी।

हॉब्स के सम्प्रभुता सम्बन्धी विचार उस समय के सबसे क्रांतिकारी विचार हैं। उस समय इंगलैण्ड में ग हयुद्ध की स्थिति थी। लोगों को ध्यान आकर्षित करने तथा क्रामवैल की सत्ता का समर्थन करने के लिए इससे बढ़कर उपयोगी कोई अन्य सिद्धान्त नहीं था। हॉब्स ने स्पष्ट किया है कि जब कोई समाज राजनीतिक विघटन, अशान्ति तथा अराजकता के दौर से गुजर रहा हो तो समाज के एक आदर्श के रूप में सम्प्रभु के पास असीमित और सर्वोच्च शक्ति का होना अति आवश्यक है। ऐसी स्थिति में सम्प्रभु जनता को सुरक्षा प्रदान कर सकता है। अतः हॉब्स के सम्प्रभु सिद्धान्त का उद्देश्य यह स्पष्ट करना है कि एक सर्वोच्च शक्ति सम्पन्न सम्प्रभु ही ग हयुद्ध या अराजकता की स्थिति में राजनीतिक समाज को उभार सकता है।

हॉब्स एक व्यक्तिवादी के रूप में
(Hobbes as an Individualist)

हॉब्स ने सर्वोपांग असीमित अधिकारयुक्त निरंकुशता के सिद्धान्त का सर्जन किया है लेकिन इसका तर्क तथा उद्देश्य व्यक्ति की शांति, सुरक्षा तथा उसकी सम्पत्ति की रक्षा है जिसके कारण हॉब्स के सिद्धान्त पर व्यक्तिवाद का प्रभाव दिखाई देता है। हॉब्स के 'लेवियाथन' में अब तक समाज में खोया हुआ व्यक्ति अपने रूप में आता है। 'लेवियाथन' के ग्यारहवें अध्याय में 'मनुष्य पर' वे व्यक्ति के महत्त्व पर बिना वर्ग-भेद के बल देते हैं। उसका उद्देश्य प थक् व्यक्तित्व वाले व्यक्ति का वर्णन करना है। हॉब्स का व्यक्तिवाद अनुभवसिद्ध और धर्मनिरपेक्ष है तथा पूर्व धारणाओं पर आधारित नहीं है। हॉब्स सम्प्रभु द्वारा जीवन रक्षा में असफल रहने पर व्यक्ति को विरोध का अधिकार प्रदान कर देता है। यह अधिकार व्यक्ति को खतरे के समय अपना निर्णायक स्वयं बनने की आज्ञा प्रदान करता है। हॉब्स का व्यक्ति काफी स्वतन्त्र है, क्योंकि जहाँ कानून मौन है वहाँ व्यक्ति स्वतन्त्र है। हॉब्स का व्यक्ति पूर्णरूपेण एकाकी तथा गर्वयुक्त है। हर व्यक्ति की अपनी इच्छाएँ होती हैं और विचार होते हैं। व्यक्ति को किसी विशेष नियम से नहीं बाँधा जा सकता।

हॉब्स के अनुसार- "व्यक्ति बिल्कुल अलग-अलग इकाइयाँ हैं और राज्य बाहर की वस्तु है। यह एक ऐसी शक्ति है जो उन्हें एकता के सूत्र में बाँधती है औरउ नके समान स्वार्थों में सामंजस्य स्थापित करती है।" प्रायः समशक्तिमान स्वार्थी बिखरे हुए मनुष्य हॉब्स के राजदर्शन की प्रारम्भिक इकाई हैं। हॉब्स के अनुसार व्यक्ति के स्वार्थ से अलग किसी संस्था का उद्देश्य न हो सकता है और न होना चाहिए। राज्य का जन्म तो प्रजाजनों की सहमति से ही होता है। राज्य कृत्रिम संस्था है। जब व्यक्ति की स्वतन्त्रता खतरे में पड़ती है तो हॉब्स विशेष परिस्थितियों में व्यक्ति को विद्रोह का अधिकार प्रदान करता है। हॉब्स का

कहना है कि- "समाज की रचना, सम्प्रभुतामय राजशक्ति का समझौते से उदय और आत्मरक्षा के अभाव में सम्प्रभु की आज्ञा की अवहेलना, इन सभी के पीछे व्यक्तिवाद ही प्रधान कारण है। हॉब्स ही पहला दार्शनिक था, जिसने व्यक्ति के हित को, उसके जीवित रहने के अधिकार को सर्वोपरि माना।

हॉब्स का 'लेवियाथन' व्यक्तिवाद का प्रबल समर्थक ग्रन्थ है। मैक्सी के अनुसार- "हॉब्स का 'लेवियाथन' केवल सम्प्रभुता के सिद्धान्त का और राज्य को एक साधन के रूप में मानने वाला ग्रन्थ नहीं है। वह व्यक्तिवाद का प्रबल समर्थक है।" इस कथन के सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि एक ओर हॉब्स के दर्शन में निरंकुशता का प्रतिपादन मिलता है तो दूसरी ओर उसकी विचारधारा में व्यक्तिवाद के प्रबल तथा स्पष्ट दर्शन होते हैं। व्यक्तिवाद की मूल धारणा यह है कि सभी संघ, समुदायों, अन्य संस्थाओं या राज्य आदि व्यक्ति द्वारा निर्मित हैं तथा व्यक्ति उसकी इकाई है जो अपने में शामिल व्यक्तियों से अधिक या भिन्न कुछ भी नहीं है। इस द ष्टिकोण के अनुसार साध्य और राज्य व्यक्ति साध्य और राज्य साधन मात्र है।

सेबाइन के अनुसार- "निरंकुशता के आवरण में हॉब्स ने घोर व्यक्तिवादिता का समर्थन किया है। हॉब्स ने निरंकुशता का प्रचार निरंकुशता के लिए नहीं किया बल्कि व्यक्ति के जीवन को सुखी बनाने के लिए किया है।" डनिंग का मत है कि "हॉब्स के सिद्धान्त में राज्य-शक्ति का उत्कर्ष होते हुए भी मूल आधार पूर्णतः व्यक्तिवादी है। यह सिद्धान्त मिल्टन या अन्य किसी क्रान्तिकारी की तरह ही प्राकृतिक समानता पर जोर देता है।" हॉब्स ही प्रथम दार्शनिक है जिसने व्यक्ति के जीने के अधिकार को सर्वोपरि माना। हॉब्स के राजनीतिक दर्शन की प्रत्येक घटना, चाहे राजनीतिक समाज की स्थापना से पहले की हो या उसके बाद की, व्यक्ति के लिए है, व्यक्ति की है और व्यक्ति के लिए है। प्रो॰ वेपर के अनुसार- "लेवियाथन केवल प्रभुसत्ता के सिद्धान्त का जोरदार प्रतिपादन ही नहीं है। वह व्यक्तिवाद का भी एक प्रभावशाली विवरण है।" एक व्यक्तिवादी के रूप में हॉब्स का व्यक्तिवाद केवल इस बात पर आधारित है कि हॉब्स इस संसार की रचना व्यक्तियों से मानता है। हॉब्स का व्यक्तिवाद समझौते की स्थिति में भी व्यक्तियों के व्यक्तित्व को नष्ट नहीं होने देना चाहता। व्यक्ति का जीवन का अधिकार हॉब्स के समझौते में व्यक्तिवादी तत्त्व को दर्शाता है। अतः हॉब्स के दर्शन में व्यक्तिगत इच्छाएँ ही प्रमुख हैं। अतः हॉब्स को एक व्यक्तिवादी विचारक के रूप में जानने के लिए निम्नलिखित तत्त्वों पर विचार किया जाता है :-

1. **राज्य साधन, व्यक्ति साध्य है (State is a Means and Man is the End)** : हॉब्स का दर्शन देखने में तो राज्यवादी प्रतीत होता है लेकिन उसके चिन्तन की अन्तरंग मांग व्यक्तिवादी है। हॉब्स व्यक्तिवादियों की तरह राज्य को साधन तथा व्यक्ति को साध्य मानता है। हॉब्स के अनुसार- "राज्य व्यक्ति की स्वार्थ-सिद्धि का साधन मात्र है। साध्य तो व्यक्ति ही अपने आप में है।" हॉब्स का सम्प्रभु स्वयं साध्य न होकर लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एक साधन मात्र है। हॉब्स के अनुसार- "निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए व्यक्तियों ने राज्य का निर्माण किया है और यदि राज्य उन उद्देश्यों की पूर्ति करने में असमर्थ है तो उस राज्य की न कोई उपयोगिता है और न ही कोई महत्त्व। इसलिए हॉब्स एक व्यक्तिवादी के रूप में राज्य को साधन तथा व्यक्ति को साध्य मानता है।

2. **चिन्तन का केन्द्र व्यक्ति है (Man is the centre of Thoughts)** : हॉब्स व्यक्ति को मूल इकाई मानता है। व्यक्ति ही उसके सम्पूर्ण राजनीतिक चिन्तन का केन्द्र बिन्दु है। समाज एक प्राकृतिक या स्वाभाविक संस्था नहीं है अपितु व्यक्तियों का समूहमात्र है। यद्यपि हॉब्स ने मानव प्रकृति का एक पक्षीय चित्रण किया है तथा व्यक्ति के दुर्गुणों पर प्रकाश डाला है, परन्तु उसने व्यक्तिवाद की परम्परा के अनुसार ही राज्य की स्थापना का आधार व्यक्तियों की सहमति को माना है। हॉब्स का व्यक्ति पूर्णरूपेण एकाकी है। हॉब्स व्यक्ति को अपने चिन्तन का आधार बनाकर लिखता है। व्यक्ति ने राज्य की स्थापना अपने हित के लिए की है। समझौते का विरोध भी व्यक्ति अपने आत्मरक्षा के अधिकार के लिए कर सकता है। अतः हॉब्स का चिन्तन व्यक्ति पर ही आधारित है।

3. **समानता का समर्थन (Supporter of Equality)** : हॉब्स सभी व्यक्तियों को अन्य व्यक्तिवादियों की तरह समान मानता है। हॉब्स के अनुसार व्यक्तियों की मानसिक और शारीरिक शक्तियाँ तो भिन्न हो सकती हैं लेकिन इस स्थिति में व्यक्ति की शारीरिक शक्ति की कमी मानसिक शक्ति से तथा मानसिक शक्ति की कमी शारीरिक शक्ति से पूरी हो जाती है। परन्तु हॉब्स लोकतन्त्रीय शासन की समानता को नहीं मानता, वह केवल व्यक्तियों की समानता को ही महत्त्व देता है।

4. **राज्य एक कृत्रिम संस्था है (State is an Artificial Institution)** : हॉब्स राज्य को दैवीय संस्थान मानकर, समझौते द्वारा निर्मित संस्था मानता है। हॉब्स का विचार है कि व्यक्तियों ने प्राकृतिक अवस्था से निकलने के लिए अपने ऊपर

शासन करने का अधिकार सम्प्रभु को दे दिया। हॉब्स ने एक ऐसे सम्प्रभु की कल्पना की है जो व्यक्तियों के आधारभूत हित अर्थात् आत्मरक्षा के हित की रक्षा कर सके। राज्य में शांति व्यवस्था कायम कर सके। इसलिए व्यक्तियों ने अपनी सारी स्वतन्त्रताएँ समाप्त करके स्वयं उन पर प्रतिबन्ध लगा लिया और निरंकुश राज्य की स्थापना की। अतः हॉब्स अन्य व्यक्तिवादियों की तरह राज्य को दैवी य प्राकृतिक संस्था नहीं मानकर उसको व्यक्तियों द्वारा निर्मित संस्था मानता है।

5. **व्यक्तिवादी कार्य-सिद्धान्त का प्रतिपादन (Approval of Individualistic Principle of Working) :** हॉब्स द्वारा प्रतिपादित राज्य के निषेधात्मक कार्य व्यक्तिवादियों के अनुरूप हैं। राज्य का उद्देश्य यथार्थवादी तथा भौतिक है। व्यक्ति की रक्षा के लिए, आंतरिक शान्ति व व्यवस्था, बाह्य आक्रमण से रक्षा और चाय सम्बन्धी कार्य करना राज्य का उद्देश्य है। साथ ही हॉब्स व्यक्ति के जीवन व कार्यों में राज्य के अनावश्यक हस्तक्षेप का विरोधी है। हॉब्स के अनुसार कानून का उद्देश्य व्यक्ति के मात्र उन कार्यों पर प्रतिबन्ध लगाना है जो सार्वजनिक शान्ति व व्यवस्था को भंग करने वाले हों न कि व्यक्ति के समस्त कार्यों में हस्तक्षेप करना। हॉब्स के अनुसार व्यक्ति को आत्मरक्षा के सिद्धान्त के तहत विरोध करने का अधिकार इसलिए प्राप्त है कि सम्प्रभु आत्मरक्षा के अधिकार की सुरक्षा करने में असफल रहता है। इस प्रकार हॉब्स ने व्यक्ति के अन्तःकरण तथा विश्वास सम्बन्धी स्वतन्त्रता को स्वीकारा है। यह बात हॉब्स के व्यक्तिवादी होने की ओर संकेत करती है। यदि राज्य अपने कर्त्तव्यों के प्रति उदासीन हो जाए तो व्यक्ति को अपनी आत्मरक्षा हेतु कुछ भी करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। इस सिद्धान्त में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की पूरी तरह छूट है। इसलिए हॉब्स के चिन्तन में व्यक्तिवाद है।
6. **व्यक्ति को शासन के विरोध का अधिकार है (Individual has the Right to Oppose the Ruler) :** व्यक्ति की आत्मरक्षा का अधिकार सम्प्रभु को सौंपा गया है। प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य ने इसी अधिकार की सुरक्षा के लिए समझौता किया और सारी शक्तियाँ सम्प्रभु को सौंप दीं। यदि सम्प्रभु आत्मरक्षण के अधिकार का उल्लंघन करता है या वह इस अधिकार की रक्षा करने में असमर्थ होता है तो ऐसी दशा में सम्प्रभु के आधारभूत दायित्व का पालन नहीं किया जा सकता तथा व्यक्तियों को सम्प्रभु का विरोध करने का अधिकार प्राप्त है। हॉब्स के अनुसार- "अपनी आत्मसुरक्षा के लिए व्यक्ति अपने सारे अधिकारों का परित्याग कर सम्प्रभु को असीम सत्ता प्रदान करते हैं। यदि सम्प्रभु व्यक्तियों को सुरक्षा प्रदान करने में असमर्थ होता है तो व्यक्तियों को उस सम्प्रभु के विरुद्ध क्रान्ति का अधिकार प्राप्त है।" इस प्रकार सम्प्रभु के विरुद्ध विद्रोह का अधिकार व्यक्ति को शक्तिशाली बनाता है। हॉब्स लिखता है कि "प्रजा सम्प्रभु की आज्ञा उसी समय तक मानने के लिए बाध्य है जब तक उसमें प्रजा को संरक्षण प्रदान करने की शक्ति है। इसलिए हॉब्स ने व्यक्ति के आत्मरक्षा के अधिकार को सर्वोच्च माना है। इसलिए यह अधिकार उसे व्यक्तिवादी सिद्ध करता है।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर स्पष्ट है कि हॉब्स एक व्यक्तिवादी है। सेबाइन के अनुसार- "हॉब्स के दर्शन को क्रान्तिकारी बनाने वाला उसका तत्त्व उसका व्यक्त्विाद है।" हॉब्स व्यक्ति के हित का प्रबल समर्थक है। हॉब्स व्यक्ति को ही अपने सम्पूर्ण चिन्तन का केन्द्र मानते हैं। हाब्स का निरंकुशवाद उसके व्यक्तिवाद का पूरक है। हॉब्स का सारा दर्शन व्यक्ति की भय तथा आत्मरक्षा की भावना पर आधारित होने के कारण व्यक्तिवादी है। हॉब्स का व्यक्तिवाद बिल्कुल अप्रतिबन्धित और पक्का है। हॉब्स का सुस्पष्ट व्यक्तिवाद ही उसके दर्शन को क्रान्तिकारी बना देता है। उसके व्यक्तिवाद ने अहस्तक्षेप के सिद्धान्त को जन्म दिया और उसके चिन्तन का 19 वीं शताब्दी के व्यक्तिवादी सिद्धान्तों पर अधिक प्रभाव पड़ा। उसका सिद्धान्त बेन्थम जैसे उपयोगितावादियों के लिए एक शक्तिशाली उपकरण बन गया। हॉब्स का दर्शन व्यक्तिवाद का दर्शन है। वह व्यक्ति को ही अपने चिन्तन का आधार बनाता है। वह निरंकुश सम्प्रभु के रूप में वस्तुतः एक व्यक्तिवादी ही है। वह राज्य को साधन तथा व्यक्ति को साध्य मानता है। आधुनिक व्यक्तिवादियों के अनुसार व्यक्ति के गुण उनके चिन्तन का आधार हैं, लेकिन हॉब्स अवगुणों को प्रमुखता देता है। यही कारण है हॉब्स व्यक्ति को माध्यम मानते हुए भी उसे एक निरंकुश व सर्वोच्च सम्प्रभु के अधीन रखता है। स्थिति चाहे कुछ भी हो हॉब्स के व्यक्तिवादी होने में कोई सन्देह नहीं है।

हाब्स के चिन्तन का महत्त्व और देन

(Importance and Contribution of Hobbe's Thoughts)

यह सत्य है कि हॉब्स आधुनिक सम्प्रभु राज्य का जनक है। हॉब्स से पहले भी रोमन विचारकों ने सम्प्रभुता को परिभाषित करने का प्रयास किया, लेकिन वे प्रभुसत्ता का स्वरूप निश्चित नहीं कर सके। बोदाँ द्वारा भी इस दिशा में प्रयास किये गए लेकिन

उन्होंने सम्प्रभुता पर कुछ पाबन्दियाँ लगा दीं। हॉब्स ही सम्प्रभुता को परिभाषित करने वाला प्रथम अंग्रेज विचारक है। हॉब्स का सम्प्रभुता का सिद्धान्त उसकी सबसे महत्त्वपूर्ण देन है। हॉब्स ने सम्प्रभुता को सब प्रकार की पाबन्धियों से मुक्त कर दिया। कुछ आलोचक हॉब्स के चिन्तन का महत्त्व नकारते हैं। सेबाइन, वेपर, जोन्स, मैक्सी जैसे विचारक हॉब्स को सबसे महान विचारकों में से एक मानते हैं। सेबाइन के अनुसार- "हॉब्स ही शायद राजनीतिक दश्नन का सबसे श्रेष्ठ लेखक है जिन्हें आंग्ल राष्ट्रों ने जन्म दिया है।" ओकशाट का कथन है कि "लेवियाथन अंग्रेजी भाषा में राजनीतिक दर्शन का सबसे श्रेष्ठ शायद एकमात्र श्रेष्ठ कृति है।" प्रो॰ मैक्सी का कहना है- "हॉब्स अंग्रेज जाति का सबसे महान विचारक है जिसका नाम तब तक अमर रहेगा जब तक लोग राजनीतिक मामलों में चिन्तन करते रहेंगे। उपर्युक्त तर्कों के आधार परयह कहा जा सकता है कि हॉब्स अन्य राजनीतिक चिन्तकों से किसी भी प्रकार से कम नहीं है। अन्य सभी महान् चिन्तकों की तरह ही हॉब्स भी राजनीतिक चिन्तन के इतिहास के एक महान् प्रणाली या दर्शन के निर्माता हैं। हॉब्स द्वारा लिखित ग्रन्थ 'लेवियाथन' उसकी सर्वश्रेष्ठ कृति है। यह अंग्रेजी भाषा में राजनीति विज्ञान पर अत्यधिक मौलिक तथा महत्त्वपूर्ण रचना है। हॉब्स ने इस ग्रन्थ में प्रभुसत्ता के सिद्धान्त को प्रतिपादन करने का तर्कपूर्ण प्रयास किया है। हॉब्स ने इस ग्रन्थ में हमें ऐसा सिद्धान्त दिया है जो मनोविज्ञान, समाजशास्त्र तथा राजनीति विज्ञान तीनों बड़े सामंजस्य के साथ एक स्थान पर रखता है। जोन्स तथा अनय भाष्यकारों ने दावा किया है कि 'लेवियाथन' किसी अंग्रेज द्वारा लिखा गया श्रेष्ठतम ग्रन्थ है। राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में हॉब्स का महत्त्वपूर्ण योगदान है। उपर्युक्त कारणों से हॉब्स का राजनीति दर्शन अंग्रेजी ग हयुद्ध के समय का महत्त्वपूर्ण चिन्तन है। हॉब्स की राजनीतिशास्त्र को महत्त्वपूर्ण देन निम्नलिखित हैं :-

1. **प्रभुसत्ता के सिद्धान्त का स्पष्ट प्रतिपादन** **(Clear Statement fo Principle of Sovereignty)** : हॉब्स की राजनीतिशास्त्र को सबसे महत्त्वपूर्ण देन उसका प्रभुसत्ता का सिद्धान्त है। हॉब्स से पूर्व मैकियावली, ग्रोशियस तथा बोदाँ द्वारा इस सिद्धान्त के विकास के प्रयास किये गए लेकिन उन्होंने प्रभुसत्ता पर कुछ न कुछ प्रतिबन्ध लगा दिये। हॉब्स ही ऐसा प्रथम विचारक है जिसने आधुनिक अर्थ में प्रभुसत्ता को परिभाषित किया। सेबाइन ने कहा है- "हॉब्स ने प्रभुसत्ता को उन समस्त अयोग्यताओं से पूर्णतया मुक्त कर दिया जिन्हें बोदाँ ने असंगतिपूर्ण ढंग से बनाए रखा था।" वाहन ने लिखा है- "हॉब्स ही वह प्रथम विचारक है जिसने सम्प्रभुता के विचार के पूर्ण महत्त्व को समझा और उसके स्वरूप, मर्यादाओं, कार्यों आदि की सूक्ष्म विवेचना कर उसकी विशद व्याख्या की। आधुनिक काल में सम्प्रभुता का वही स्वरूप है जो हॉब्स ने दिया था।

2. **सामाजिक समझौते के सिद्धान्त का अभिनवीकरण** **(New Orientation to Principle of Social Contract)** : हॉब्स राज्य की उत्पत्ति के प्रतिपादकों में से एक है। हॉब्स ने राज्य की उत्पत्ति का आधार सामाजिक समझौते को माना और उसका वैज्ञानिक ढंग से प्रतिपादन किया। उसने कहा कि राज्य मानवीय इच्छा का परिणाम है न कि दैवी इच्छा का। अतः राज्य ईश्वरीय कृत नहीं मानवकृत है। जैगोरिन के अनुसार- "हॉब्स ने स्पष्ट घोषित किया है कि राज्य मनुष्य की स ष्टि है और उसका एकमात्र औचित्य उसकी उपयोगिता है। जब मानव की आवश्यकताओं की सन्तुष्टि में राज्य विफल रहता है तो वह अपने औचित्य को गंवा देता है अर्थात् राज्य का महत्त्व नष्ट हो जाता है।" हॉब्स ने स्पष्ट किया है कि राज्य को किसी ईश्वर ने नहीं बनाया है। राज्य वास्तव में मनुष्य द्वारा बनाया हुआ एक यन्त्र, एक शिल्प तथ्य तथा आविष्कार है। हॉब्स ने लोगों के मन से दैवी संस्था का डर निकाल दिया तथा निरंकुश सम्प्रभुता को मानवीय विवेक से उत्पन्न सामाजिक समझौते का परिणाम बताया। हॉब्स राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त की म त्यु का संकेत देने वाल प्रथम विचारक है।

3. **व्यक्तिवाद की अवधारणा** **(Concept of Individualism)** : हॉब्स ने राज्य और समाज को व्यक्ति की सुरक्षा का साधन बताया है। हॉब्स व्यक्ति को साध्य तथा राज्य को साधन मानता है। व्यक्ति के जीवन तथा सम्पत्ति की रक्षा के लिए ही राज्य को निरंकुश अधिकार दिये गए हैं। राज्य का हित व्यक्तिगत हितों का योग मात्र है। हॉब्स का व्यक्तिवाद राजतन्त्र की द ष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। हॉब्स के व्यक्तिवाद की प्रशंसा करते हुए कहा गया है- "आत्मरक्षा तथा आत्माभिव्यक्ति के जिस आधार पर हॉब्स ने अपने राजनीतिक चिन्तन का विकास किया है, उसे देखते हुए यह अनिवार्य था कि वह व्यक्तिवाद का समर्थन करता।" हॉब्स का निरंकुश सम्प्रभुता का सिद्धान्त ही उसके व्यक्तिवाद का पूरक है। सेबाइन ने ठीक ही लिखा है- "हॉब्स के व्यक्तिवाद का तत्त्व पूर्ण रूप से आधुनिक है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि हॉब्स पूर्णतया व्यक्तिवादी है।

4. **राज्य व्यक्ति के हितों का मध्यस्थ है** (State is mediator of Individual Interests) : हॉब्स ही ऐसा विचारक है जिसने राज्य को व्यक्ति के विभिन्न हितों के समन्वयकर्ता के रूप में देखा। हॉब्स ने उपयोगितावादियों के लिए भी मार्गदर्शन किया। हॉब्स ने निरंकुशता तथा धर्मनिरपेक्षता को वैज्ञानिक आधार प्रदान किया। हॉब्स का समझौता सिद्धान्त राज्य के मध्यस्थ की भूमिका का स्पष्ट पक्षधर है। बेन्थम हॉब्स का बड़ा ऋणी है।

5. **कानून की सत्ता की स्थापना** (Establishment of existence of Law) : निरंकुश राजतन्त्र का समर्थक होते हुए भी हॉब्स कानून की सत्ता को स्थापित करना चाहता था। हॉब्स अत्यधिक कानून बनाने के खिलाफ है। अधिक कानून लागू होने की स्थिति में कानून का उल्लंघन होगा और उसका महत्त्व कम होगा। हॉब्स ने कानून को प्रभावी तरीके से लागू करने के लिए दण्ड का प्रावधान आवश्यक बताया है। रचनात्मक और निरपेक्ष कानून की अवधारणा हॉब्स के दिमाग की ही उपज है।

6. **धर्मनिरपेक्षता की आधुनिक पद्धति** (Modern tendency of Secularism) : हॉब्स का चिन्तन चर्च के लिए अरुचिकर सिद्व हुआ। राजतन्त्र के दैवी अधिकारों के समर्थकों में उसके सामाजिक समझौते के सिद्धान्त पर आधारित धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त को नापसन्द किया। चर्च के प्रति निष्ठावान लोगों ने उसके सम्प्रभुता सिद्धान्त का खण्डन किया। इस सिद्धान्त ने राजा के दैवीय अधिकारों का विरोध किया। 'लेवियाथन' में हॉब्स ने धर्म को राजनीति के अधीन करने का प्रयास किया। इससे उनके विरोध में लोग खड़े हो गए। इस दिशा में बोदाँ तथा मैकियावली ने भी कुछ चिन्तन किया है। लेकिन धर्मनिरपेक्षता का पूर्ण समर्थन करने वाला विचारक हॉब्स ही था। हॉब्स ने सम्प्रभु को चर्च से श्रेष्ठ घोषित करके धर्म का सार्वजनिक महत्त्व कम कर दिया। राजनीति को धर्म से अलग करने वाला प्रथम विचारक हॉब्स था। मध्ययुग के विरुद्ध उसने राज्य को दैवी संस्था न मानकर मानवीय संस्था माना और राज्य को चर्च से ऊँचा स्थान दिया तथा धार्मिक सत्ता को राजनीतिक सत्ता के अधीन कर उसने धर्मनिरपेक्षता की आधुनिक प्रव त्ति का भी श्रीगणेश किया।

7. **वैज्ञानिक अध्ययन पद्धति** (Scientific Study Method) : हॉब्स का सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान उनका वैज्ञानिक तरीका है। उस समय वैज्ञानिक क्रान्ति से प्रभावित होकर हॉब्स ने वैज्ञानिक तरीके को सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में भी प्रयोग किया। उसने गैलिलियों के गति के सिद्धान्तों को सामाजिक विज्ञानों में प्रयोग किया। उसका वैज्ञानिक तरीका युक्तियुक्त, निगमनात्मक तथा ज्यामितिक है।

8. **दैवी सिद्धान्त का विरोध** (Rejection of Divine Origin of State) : हॉब्स ने अपनी पुस्तक 'लेवियाथन' में चर्च को राज्य के अधीन करते हुए धर्मनिरपेक्षता का परिचय दिया। उसकी विचारधारा से अनेक धर्माधिकारी उसके खिलाफ हो गए। उसने स्पष्ट कहा कि राज्य की उत्पत्ति दैवी इच्छा का परिणाम नहीं है। यह मानवीय विवेक पर आधारित समझौते का परिणाम है।

9. **मिश्रित संविधान का समर्थन** (Support to Mixed Constitution) : हॉब्स ने निरंकुश राजतन्त्र का समर्थन करते हुए मिश्रित संविधान की अवधारणा को स्वीकार किया है।

10. **उपयोगितावादियों पर प्रभाव** (Influence on Utilitarians) : हॉब्स पहला आधुनिक विचारक है जिसने परस्पर विरोधी हितों का सामंजस्य करके उपयोगितावाद का मार्ग खोल दिया। वेपर के अनुसार- "यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है कि बैंथम भी यहाँ उसका उतना ही ऋणी है जितना सुख विषयक हॉब्स के विचारों का।" बैंथम जैसे उपयोगितावादी हॉब्स के ऋणी हैं। बैंथम ने कच्चा माल हॉब्स से ही प्राप्त किया है।

11. **काल्पनिक निगम** (Fictitious Corporation) : हॉब्स ही ऐसे प्रथम विचारक हैं जिन्होंने कल्पित निगम की कल्पना की थी। निरंकुश सम्प्रभु की कल्पना करना संगठन के आवश्यक संघटकों को उपलब्ध करा देता है। यदि हॉब्स की मूल धारणाएँ स्वीकार कर ली जाएँ तो निगम का निर्माण सहमति से नहीं प्रत्युत संघ के द्वारा होता है। संघ का अभिप्राय सारे व्यक्तियों द्वारा अपनी इच्छाएँ एक व्यक्ति के हवाले कर देना है। निगम का यह सिद्धान्त जायण्ट स्टाक कम्पनियों का निर्णायक रूप में जन्मदाता है, जिनका जन्म सबसे पहले इंगलैण्ड में हुआ था, आज वे सारे संसार में फैल गई है।

12. मैक्सी के अनुसार हॉब्स आधुनिक व्यवहारवाद का जनक है।

13. हॉब्स ने राजनीति को नीतिशास्त्र से अलग किया।

14. हॉब्स के भौतिकवाद ने 19 वीं सदी में कार्लमार्क्स को परोक्ष रूप से प्रभावित किया।

15. हॉब्स ने न्याय व कानून में सम्बन्ध स्थापित किया।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि हॉब्स का राजनीतिक चिन्तन राजनीतिशास्त्र में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। वेपर के अनुसार- "हाब्स असाधारण रूप से एक सुसंगत विचारक है।" हॉब्स प्रखर तर्कशास्त्री तथा सामाजिक प्रक्रियाओं के प्रबुद्ध-विश्लेषक विचारक थे। उनकी पुस्तक 'लेवियाथन' उस समय लिखी गयी महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। हॉब्स के रूप में भावी पीढ़ी को एक ऐसी खान मिली है जिसका खोदना उनके लिए श्रेयस्कर है, क्योंकि उससे बहुमूल्य धातु निकलती है। अंग्रेजी भाषा-भाषी जातियों में जन्में सभी राजनीतिक दार्शनिकों में हॉब्स का चिन्तन सबसे महान् है। इंगलैण्ड में आज भी संवैधानिक राजतन्त्र का सम्मान किया जाता है। हॉब्स का सम्प्रभुता का सिद्धान्त आज भी महत्त्वपूर्ण है। आस्टिन ने आधुनिक काल में अपने विधि सिद्धान्त को हॉब्स के सम्प्रभुता सिद्धान्त पर आधारित किया है। हॉब्स के विचारों ने अनेक देशों में क्रान्तियों तथा फ्रेंच क्रान्ति को प्रभावित किया है। हॉब्स के योगदान का मूल्यांकन मैक्सी के इन शब्दों द्वारा किया जा सकता है- "हॉब्स अंग्रेज जाति के महान् विचारकों में से एक था। उसका प्रभाव राजदर्शन पर तब तक रहेगा जब तक कि लोग राजनीतिक विषयों पर चर्चा करेंगे।" उसके चिन्तन का मार्क्स तथा बैन्थम जैसे विचारकों पर भी प्रभाव पड़ा। उसने धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा की शुरुआत की। उसकी पुस्तक 'लेवियाथन' तत्कालीन परिस्थितियों पर आधारित होने के बावजूद भी आज के युग में राजनीतिक चिन्तन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। हॉब्स के राजनीतिक चिन्तन के योगदान को नकारा नहीं जा सकता। उस महान राजनीतिक दार्शनिक की जितनी भी प्रशंसा की जाए, कम है। अतः हॉब्स आधुनिक सम्प्रभु राज्य का जनक है।

अध्याय-7
जॉन लॉक
(John Locke)

परिचय
(Introduction)

हाब्स के बाद लॉक इंगलैण्ड के राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में सबसे महत्त्वपूर्ण दार्शनिक है। हॉब्स की तरह लॉक भी राज्य के सामाजिक समझौता सिद्धान्त का प्रतिपादक है। लेकिन दोनों के दर्शन में मौलिक अन्तर है। जहाँ हॉब्स एक निरंकुशवादी राज्य तथा सम्प्रभु का समर्थक है, लॉक निरंकुशवाद के हर रूप का विरोधी है। लॉक एक ऐसा उदारवादी तथा व्यक्तिवादी विचारक है जिसमें राज्य और सरकार के कार्यक्षेत्र एवं शक्तियों को सीमित किया है। लॉक अपने दर्शन में प्रजातन्त्र, संविधानवाद (Constitutionalism), कानून का शासन (Rule of Law) का समर्थन करता है। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण लॉक ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता और प्राकृतिक अधिकार एवं सरकार के विरुद्ध क्रान्ति के अधिकार को व्यक्ति के जन्मजात अधिकार और पवित्र अधिकार माना है। आज के युग में लॉक के विचार आधुनिक प्रजातन्त्र और संविधान के प्रेरणा-स्रोत हैं।

जीवन परिचय
(Life History)

सामाजिक समझौता सिद्धान्त के प्रतिपादक जॉन लॉक का जन्म 29 अगस्त, 1632 में सामरसेंट शायर के रिंग्टन नामक स्थान पर एक मध्यवर्गीय परिवार में हुआ। जब लॉक का जन्म हुआ, उस समय हॉब्स की आयु 43 वर्ष थी और ब्रिटिश संसद अपने अधिकारों के लिए राजा के साथ संघर्ष कर रही थी। जब लॉक की आयु 12 वर्ष थी, इंगलैण्ड में ग हयुद्ध शुरू हो गया। अपनी प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही प्राप्त करके लॉक ने 15 वर्ष की आयु में वेस्ट मिन्स्टर स्कूल में प्रवेश किया। लॉक ने 1652 ई० में 20 वर्ष की आयु में ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में उच्च शिक्षा की प्राप्ति हेतु गया। उसने वहाँ यूनानी भाषा, दर्शनशास्त्र तथा अलंकारशास्त्र का अध्यापक कार्य किया, परन्तु उस समय के संकीर्ण अनुशासन ने औपचारिक अध्ययन के लिए उसके उत्साह को मन्द कर दिया। उसने 1656 में बी० ए० तथा 1658 में एम० ए० की उपाधि प्राप्त की। इसके बाद उन्होंने ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में यूनानी भाषा, काव्यशास्त्र और दर्शनशास्त्र के अध्यापक के रूप में कार्य किया। इसके बाद लॉक ने एक चर्च में बिशप बनने का प्रयास किया, लेकिन उसको सफलता नहीं मिली। 1660 में डेविड टॉमस नामक डॉक्टर के सम्पर्क में आने पर उसने चिकित्साशास्त्र का ज्ञान प्राप्त करके इस क्षेत्र में अपनी रुचि बढ़ाई और एक सफल चिकित्सक बन गया। चिकित्सक के नाते सन् 1666 में उसके सम्बन्ध उस समय के सुप्रसिद्ध राजनीतिज्ञ और विग दल के संस्थापक लार्ड एश्ली से हुए। इसके बाद आगामी 15 वर्षों तक लॉक उनका निजी डॉक्टर रहा। उसने इस दौरान एश्ली के विश्वस्त सचिव के रूप में भी कार्य किया। इससे उसको ब्रिटिश राजनीति और राजनीतिज्ञों को जानने का मौका मिला। 1672 में एश्ली चांसलर बने तथा लॉक ने उनकी कृपा से कतिपय महत्त्वपूर्ण शासकीय पदों पर कार्य किया। परन्तु रोमन कैथोलिक चर्च का पक्ष लेने की राजा की प्रव त्ति का विरोध करने के कारण उसे 1673 में चांसलर के पद से हटा दिया गया। लॉक पर भी इसका प्रभाव पड़ा। लॉक इसके बाद 1675 में स्वास्थ्य लाभ हेतु फ्रांस चला गया और 1679 तक वहाँ रहा। वापिस लौटने पर उसे पुराने पद पर बिठाया गया। इस दौरान इंगलैण्ड में राजनीतिक विद्रोह की आग फिर से भड़क गई और राजा ने एश्ली से नाराज होकर 1681 में उसे पद से हटा दिया और प्रोटैस्टैण्ट धर्म का समर्थ करने के कारण उसे राजद्रोह का दोषी मानकर उस पर मुकद्दमा चलाया गया। बाद में मुक्त होकर वह हालैण्ड पहुँचा और 1688 तक वहीं रहा। इस दौरान उसने हालैण्ड में देश निर्वासित राजनीतिज्ञों से भेंट की। इस दौरान वह विलियम ऑफ ऑरेंज के सम्पर्क में आया। 1688 में इंगलैण्ड की रक्तहीन क्रान्ति (Bloodsell

Revolution) के सफल होने पर तथा विलियम ऑफ ऑरेंज द्वारा निमन्त्रण भेजे जाने पर वापिस इंगलैण्ड लौट आया। वहाँ पर लॉक को 'कमिश्नर ऑफ अमील्स' का पद दिया गया। 1700 में स्वास्थ्य की कमजोरी के कारण उसने इस पद से त्याग-पत्र दे दिया और 1704 में 72 वर्ष की उम्र में इस महान दार्शनिक की म त्यु हो गई।

महत्त्वपूर्ण रचनाएँ
(Important Works)

हालैण्ड से लौटकर लॉक ने लेखन कार्य प्रारम्भ किया। लॉक ने राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, शिक्षा, दर्शनशास्त्र आदि विषयों पर 30 से अधिक ग्रन्थ लिखे। यद्यपि उसकी सारी कृतियाँ 50 वर्ष की आयु के पश्चात् प्रकाशित हुईं। उसके महत्त्वपूर्ण लेखन कार्य के कारण उसकी गिनती इगलैण्ड के महान् लेखकों में की जाती है। लॉक के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ निम्नलिखित हैं :-

1. **मानव स्वभाव के सम्बन्ध में निबन्ध (Essay Concerning Human Understanding, 1690)** : इस पुस्तक की रचना लॉक ने 1687 में की लेकिन यह 1690 में प्रकाशित हुई।

2. **शासन पर दो निबन्ध (Two Treatise on Government, 1690)** : यह रचना लॉक की सबसे महत्त्वपूर्ण रचना है। पहले निबन्ध में लॉक ने फिल्मर द्वारा प्रतिपादित राजा के दैवीय अधिकारों का खण्डन किया है। दूसरे निबन्ध में राजा की निरंकुशता का विरोध किया गया है। इस ग्रन्थ में लॉक ने हॉब्स के निरंकुशवाद का विरोध तथा 1688 की रक्तहीन क्रान्ति (Bloodless Revolution) के बाद इंगलैण्ड के सिंहासन पर राजा विलियम के सत्तारूढ़ होने के औचित्य को सिद्ध करने का प्रयास किया है। वॉहन ने लॉक की इस रचना को दोनाली बन्दूक कहा है, जिसकी एक नली फिल्मर द्वारा लिखित पुस्तक 'पेट्रो आर्का' में प्रतिपादित राजा के दैवी अधिकारों का खण्डन करने के लिए तथा दूसरी नली हॉब्स द्वारा लिखित 'लेवियाथन' में प्रतिपादित निरंकुशवाद का विरोध करने के लिए है। लॉक का दूसरा निबन्ध राजनीतिक चिन्तन की द ष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें सरकार के मूल प्रश्नों को उठाया गया है तथा राजसत्ता व कानून के औचित्य को सिद्ध करके बताया गया है कि राज्य की आज्ञा का पालन क्यों अनिवार्य है। कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के प्रो॰ पीटर लॉस्लेट ने कहा है कि यह पुस्तक 1683 में ही लिखी गई लेकिन स्टुअर्ट सम्राटों के दण्ड के भय से प्रकाशित नहीं की गई। यह ग्रन्थ 1688 ई॰ की इंगलैण्ड की गौरवपूर्ण क्रान्ति (Glorious Revolution) को सैद्धान्तिक आधार प्रदान करती है। लॉक ने स्वयं इस ग्रन्थ के प्राक्कथन में लिखा है- "यह पुस्तक विलियम ऑफ ऑरेंज के सत्तारूढ़ होने का औचित्य सिद्ध करने का प्रयास है।"

3. **सहिष्णुता पर पहला पत्र (First letter on Toleration, 1689)** : 1689 ई॰ में लॉक ने हालैण्ड में ही लैटिन भाषा में यह पुस्तक प्रकाशित करवाई।

4. **सहिष्णुता पर दूसरा पत्र (Second letter on Toleration, 1690)**

5. **सहिष्णुता पर तीसरा पत्र (Third letter on Toleration, 1692)**

6. **सहिष्णुता पर चौथा पत्र (Fourth letter on Toleration, 1692)**

7. **कैरोलिना का मौलिक संविधान (The Fundamentals of Constitution of Caroline, 1692)**

   शिक्षा से सम्बन्धित कतिपय विचार (Some Thoughts Concerning Education, 1693) : यह लॉक की अन्तिम रचना है।

उपर्युक्त सभी ग्रन्थों में लॉक की सबसे महत्त्वपूर्ण रचना 'शासन पर दो निबन्ध' है।

अध्ययन पद्धति
(Method of Study)

जहाँ हॉब्स की पद्धति तार्किक, दार्शनिक एवं चिन्तनात्मक है, वहाँ लॉक की पद्धति अनुभववादी व बौद्धिक है। लॉक के अनुसार मानव ज्ञान, अनुभव द्वारा सीमित होता है। अनुभव के बिना ज्ञान की कल्पना नहीं की जा सकती। लॉक के अनुसार अनुभव ज्ञान का स्रोत है और अनुभव से ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है। लॉक के अनुसार मानव मस्तिष्क एक कोरे कागज की तरह है, जिसमें जन्मजात कोई विचार नहीं होता। सभी विचारों की उत्पत्ति दो स्रोतों से होती है : (1) संवेदना (Sensation) से और

(2) प्रत्यक्ष बोध से (Perception)। इन स्रोतों द्वारा प्राप्त अनुभव मनुष्य के मस्तिष्क में प्रवेश करते हैं जो उसमें चेतना तथा प्रतिबिम्ब उत्पन्न करते हैं। बुद्धि द्वारा मस्तिष्क में तब उन विचारों का विश्लेषण होता है एवं तुलना होती है। फलस्वरूप जटिल विचार उत्पन्न होकर ज्ञान का साधन बनते हैं। ज्ञान तब उत्पन्न होता है जब बुद्धि अपने विचारों की परस्पर तुलना करके उनके परस्पर मतैक्य तथा मतवैभिन्य देखती है। यही ज्ञान लॉक की अनुभववादी पद्धति का आधार है।

लॉक की अनुभववादी पद्धति में तीन मुख्य बातें हैं। (i) ज्ञान की उत्पत्ति का एक मात्र स्रोत अनुभव है। कोई भी विचार अंतर्जात नहीं होता। स्वतः साक्ष्य विश्वसनीय नहीं है। विचार इन्द्रिय सापेक्ष होता है और उसकी उत्पत्ति अनुभव से होती है। (ii) ज्ञान का स्वभाव विवेकसम्मत होता है। वास्तविक ज्ञान तभी प्राप्त होता है जबकि बुद्धि विचारों में पारस्परिक सम्बन्धों की स्थापना करती है। (iii) ज्ञान का क्षेत्र उसके अज्ञान के क्षेत्र से बहुत छोटा है। लॉक के अनुसार मनुष्य एक ससीम प्राणी है जो इस अनंत, असीम और महान् ब्रह्माण्ड की सभी बातों को जान नहीं सकता है। इसलिए व्यक्ति का ज्ञान उसके अज्ञान की तुलना के स्वल्प है।

लॉक की अध्ययन पद्धति हॉब्स की अध्ययन पद्धति से भिन्न थी। लॉक हॉब्स की तरह एक दार्शनिक नहीं है। उसमें हॉब्स की तरह मौलिकता नहीं है। लॉक का विचार न तो गहन अध्ययन का प्रतिफल है, न तर्क का। वह सिर्फ व्यावहारिक बुद्धि का धनी है। जहाँ हॉब्स ने वैज्ञानिक, भौतिक, मनोवैज्ञानिक तथा तार्किक पद्धति को अपनाया, वहीं लॉक की अध्ययन और विचार-पद्धति अनुभवजन्य, मनोवैज्ञानिक तथा बुद्धिपरक है। लॉक ने प्रबुद्ध विचारकों के विचारों व विश्वासों को सरल, गम्भीर और हृदयग्राही वाणी दी है। इसके बाद भी लॉक की पद्धति में कुछ दोष हैं। प्रथम, यद्यपि लॉक ने यह बताया है कि विचार की उत्पत्ति अनुभव से होती है, तथापि उसने समपूर्ण अनुभूतिजन्य ज्ञान की निश्चितता को स्वीकार नहीं किया। द्वितीय, लॉक की पद्धति की मौलिक त्रुटि यह भी है कि वह संगत नहीं है। शुद्ध तर्क की द ष्टि से उसके विचार पूर्णतया असंगत हैं। इस प्रकार लॉक ने ज्ञान के क्षेत्र को उसके अज्ञान के क्षेत्र से बहुत छोटा माना है। यदि अनुभव आधारित ज्ञान का क्षेत्र सीमित है, तो उस पर विश्वास क्यों किया जाए। लॉक ने बहुत सी अनुभव प्रधान मान्यताओं को स्वयंसिद्ध मानकर गलती की है। अतः उसके विचार अपूर्ण तथा असंगत होने के दोषी हैं। लेकिन संगीत के अभाव में भी विचार पूर्णतः गलत नहीं हो सकता। लॉक की अनुभववादी पद्धति अपने दोषों के बाद भी एक महत्त्वपूर्ण पद्धति है।

समकालीन परिस्थितियाँ
(Contemporary Situations)

किसी भी विचारक के दर्शन या चिन्तन पर उसके आस-पास की घटनाओं, पारिवारिक वातावरण, सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों का प्रभाव अवश्य पड़ता है। लॉक भी हॉब्स की तरह इंगलैण्ड की तत्कालीन परिस्थितियों से पूरी तरह प्रभावित दिखाई देता है। लॉक ने अपने शैशव में ग हयुद्ध, यौवन में क्रामवैल का शासन तथा राजतन्त्र की पुनः स्थापना एवं बुढ़ापे में 1688 की गौरवपूर्ण क्रान्ति की महत्त्वपूर्ण घटनाएँ देखीं। इनका उसके विचारों पर काफी प्रभाव पड़ा। इनका विस्तारपूर्वक वर्णन निम्नलिखित है :-

(1) **गौरवपूर्ण क्रान्ति (Glorious Revolution)** : हॉब्स के समय में इंगलैण्ड में ग हयुद्ध के कारण अराजकता, हिंसा और अव्यवस्था की स्थिति बनी हुई थी। इसलिए हॉब्स ने व्यक्ति के जान और माल की सुरक्षा के लिए एक निरंकुशवादी व्यवस्था का समर्थन किया। लेकिन लॉक के समय में इंगलैण्ड में शांति का वातावरण था। उसने 1688 में इंगलैण्ड में रक्तहीन क्रान्ति (Bloodless Revolution) या गौरवमय क्रान्ति (Glorious Revolution) को देखा था। उसने देखा कि इस क्रान्ति में बिना हिंसा, रक्तपात सत्ता सम्राट से इंगलैण्ड की संसद के हाथों में चली गई। इस क्रान्ति से लॉक ने यह महसूस किया कि सत्ता में परिवर्तन शांतिमय व प्रजातन्त्रीय तरीके से भी हो सकता है। इसलिए हॉब्स के विपरीत उसने प्रजातन्त्रीय व्यवस्था का समर्थन किया।

(2) **नवीन बौद्धिक क्रान्ति (New Intellectual Revolution)** : 17 वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में यूरोप में आने वाली नवीन बौद्धिक क्रान्ति का लॉक पर गहरा प्रभाव पड़ा। इस क्रान्ति का उद्देश्य धार्मिक व राजनीतिक कट्टरता का विरोध और सहिष्णुता तथ उदारवाद का समर्थन करना था।

(3) **विग विचारधारा (Whig Ideology)** : लॉक का पारिवारिक वातावरण अत्यन्त उदावादी था। उसके पिता संसदीय दल विग के समर्थक थे। यह दल इंगलैण्ड में उदारवादी सिद्धान्तों के लिए प्रसिद्ध था। लॉक का पूरा परिवार इस दल के

कार्यक्रम व नीतियों से प्रभावित था। लॉक स्वयं इसके प्रभाव से कैसे बच सकते थे। अतः इस दल की विचारधारा का लॉक के दर्शन पर गहरा प्रभाव पड़ा।

(4) **पूर्ववर्ती विचारकों का प्रभाव (Influence of Predecessors)** : लॉक ने हूकर के जनसहमति के सिद्धान्त को शासन का आधार माना। लॉक ने स्वीकार किया कि शासक का उद्देश्य जन-कल्याणकारी होना चाहिए। उसका सम्पूर्ण चिन्तन सिडनी व हूकर के जन-सहमति के सिद्धान्त पर आधारित है।

यह माना जाता है कि लॉक का चिन्तन मौलिक नहीं है। किन्तु लॉक अपने युग की राजनीतिक-प्रव त्ति, घटना-चक्र एवं सामाजिक उतार-चढ़ाव की जटिलता एवं उसके दूरगामी प्रभाव को समझने में पूर्ण सफल रहा। सामन्तवादी व्यवस्था के अस्त होने एवं पूंजीवादी के उदय से उत्पन्न हुई राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन ही समझ उसे थी और यही उसके चिन्तन का आधार बने। फ्रेडरिक एंग्लेस ने लॉक के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि "लॉक धर्म और राजनीति दोनों में ही 1688 के वर्गीय समझौते की सन्तान है।" लॉक का सम्पूर्ण चिन्तन उसके पारिवारिक वातावरण, तत्कालीन धार्मिक व्यवस्था, राजनीतिक वातावरण तथा उस समय के नवीन बौद्धिक क्रान्ति के प्रभाव से ग्रस्त है।

मानव स्वभाव का अवधारणा
(Conception of Human Nature)

लॉक के मानव स्वभाव पर विचार हॉब्स से सर्वथा विपरीत हैं। लॉक के मानव स्वभाव पर विचार उसकी प्रसिद्ध पुस्तक 'मानव-विवेक से सम्बन्धित निबन्ध' (Essay Concerning Human Nature) में पाए जाते हैं। लॉक का यह विश्वास है कि मनुष्य एक बुद्धियुक्त सामाजिक प्राणी है। अतः वह एक नैतिक व्यवस्था को मानकर उसके अनुसार चलता है। वह स्वार्थी, स्पर्धात्मक तथा लड़ाकू नहीं है। वह अन्य प्राणियों के प्रति सद्भावना युक्त तथा प्रेमयुक्त होता है तथा वह परोपकार और न्याय की भावना को ग्रहण कर लेता है। वह अन्यों के प्रति शांति तथा सौहार्द बनाए रखना चाहता है और स्वयं को एक सामाजिक बन्धन में बाँध कर रखता है। उदारवादी विचारक होने के नाते लॉक के विचार मानव-प्रकृति के बारे में व्यक्ति की गरिमा एवं गौरव के अनुरूप हैं।

लॉक के अनुसार मनुष्य विवेकशील प्राणी है, क्योंकि वह अपने हित को समझता है और यदि उसे स्वतन्त्र रहने दिया जाए तो वह अपना हित-साधन करने में समर्थ है। अपने अनुभव के आधार पर मानव-बुद्धि विवेकपूर्ण निष्कर्ष निकालने में पूर्ण समर्थ है। मानव-प्रकृति के बारे में लॉक का द ष्टिकोण नैतिकतावादी है। लॉक का मानना है कि अपनी नैतिक प्रव त्ति के कारण ही मानव पशुओं से अलग है। मानव विश्व व्यवस्था का एक अंग है और यह सारा संसार एक नैतिक व्यवस्था है। मानवीय विवेक इस विश्व नैतिक व्यवस्था और मानव में सम्बन्ध स्थापित करता है। लॉक का कहना है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के नाते इस विश्व व्यवस्था में आवश्यकता पड़ने पर एक-दूसरे की सहायता करने को तैयार हो जाता है, लेकिन कभी-कभी उसमें शत्रुता, द्वेष, हिंसा तथा परस्पर भर्त्सना भी हावी हो जाती है। किन्तु अपनी नैतिक प्रव त्ति, विवेक एवं भौतिक आवश्यकताओं के कारण वह समाज से बाहर जाना नहीं चाहता। वह समाज में रहकर अपने को सामाजिक मानदण्डों के अनुरूप ढालने का प्रयत्न करता है।

लॉक का मानना है कि विवेकशील प्राणी होने के नाते अपने अस्थायी स्वार्थपन को त्यागकर समाज का अभिन्न अंग बना रहता है। लॉक का कहना है कि सभी मानव जन्म से एक-दूसरे के समान हैं - शारीरिक द ष्टिकोण से नहीं अपितु नैतिक द ष्टिकोण से। प्रत्येक व्यक्ति एक ही गिनाजाता है। अतः वह नैतिक द ष्टि से एक-दूसरे के बराबर है। कोई भी किसी दूसरे की इच्छा पर आश्रित नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी इच्छाएँ हैं। ये समस्त इच्छाएँ मानवीय क्रियाओं का स्रोत हैं। इच्छा पूर्ण होने पर व्यक्ति सुख तथा पूरान होने पर दुःख का अनुभव करता है। इसलिए मनुष्य हमेशा सुख प्राप्ति के प्रयास ही करता है। मानव सदैव उन्हीं कार्यों को करता है जिनसे उेस आनन्द मिले और दुःख दूर हो। लॉक का कहना है कि मनुष्य को वही कार्य करना चाहिए जिससे सामूहिक प्रसन्नता प्राप्त हो क्योंकि सामूहिक प्रसन्नता ही कार्यों की अच्छाई-बुराई का मापदण्ड है।

लॉक के अनुसार सभी मनुष्य सदा बौद्धिक रूप से विचार कर सुख की प्राप्ति नहीं करते। मनुष्य वर्तमान के सुख को भविष्य के सुख से एवं समीप के सुख को दूर के सुख से अधिक महत्त्व देते हैं। इससे व्यक्तिगत हित सार्वजनिक से मिल जाते हैं। अतएव लॉक ने कहा है कि जहाँ तक सम्भव हो मनुष्यों को दूरस्थ हितों से प्रेरित होकर कार्य करना चाहिए जिससे व्यक्तिगत

हित एवं सार्वजनिक हित में समन्वय स्थापित हो सके। मनुष्य को दूरदर्शी, सतर्क और चतुर होना चाहिए। लॉक को मनुष्य की स्वशासन की योग्यता पर पूरा भरोसा है। उसका मानना है कि अपनी बुद्धि और विवेकशीलता द्वारा मनुष्य अपने कर्त्तव्यों और प्राकृतिक कानूनों का पालन कर सकता है। वह अपनी इच्छानुसार कार्यों को करने से ही अपना जीवन शान्तिमय बना सकता है।

मानव स्वभाव की अवधारणा के निहितार्थ
(Implications of conception of Human Nature)

लॉक की मानव प्रकृति अवधारणा की प्रमुख बातें निम्नलिखित हैं :-

1. मनुष्य एक सामाजिक तथा विवेकशील प्राणी है (Man is a Social and Rational Human Being)।
2. मनुष्य शांति एवं भाई-चारे की भावनवा से रहना चाहता है (Man wants to live in Piece and Harmony)।
3. मनुष्य के स्वार्थी होते हुए भी उसमें दूसरों के प्रति सहानुभूति तथा परोपकार की भावना है।
4. सभी व्यक्ति नैतिक रूप से समान होते हैं। (All Human beings are Morally Equal)।

लॉक तथा हॉब्स की मानव स्वभाव की तुलना
(Comparison of Human Nature of Locke and Hobbes)

हॉब्स तथा लॉक के मानव स्वभाव की अवधारणा के अध्ययन के बाद निम्नलिखित अन्तर देखने को मिलते हैं :-

1. हॉब्स ने मनुष्य को स्वार्थी तथा आत्मकेन्द्रित बताया है, लेकिन लॉक ने उसे परोपकारी तथा सदाचारी बताया है।
2. हॉब्स मनुष्य को असामाजिक तथा बुद्धिहीन प्राणी कहता है, लेकिन लॉक उसे सामाजिक तथा विवेकशील प्राणी बताता है।
3. हॉब्स मनुष्य को पशु के समान मानता है, लेकिन लॉक उसे नैतिक गुण सम्पन्न मानता है।
4. हॉब्स मनष्यों की शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों के आधार पर सभी मनुष्यों को समान मानता है, लेकिन लॉक इसका विरोध करते हुए केवल नैतिक रूप से सभी को समान मानता है।

मानव स्वभाव की अवधारणा की आलोचनाएँ
(Criticisms of Conception of Human Nature)

लॉक के मानव स्वभाव सम्बन्धी विचारों की निम्नलिखित आलोचनाएँ की गई है :-

1. **लॉक का नैतिकता का सिद्धान्त सन्देहपूर्ण एवं अस्पष्ट है** : लॉक नैतिक रूप से सभी मनुष्यों को समान मानता है लेकिन वह यह स्पष्ट नहीं करता कि अच्छाई की कसौटी क्या है। इसलिए यह सिद्धान्त सन्देहपूर्ण एवं अस्पष्ट है। इसमें वैचारिक स्पष्टता का पूर्णतः अभाव है।
2. **लॉक के मानव-प्रकृति सम्बन्धी विचारों में विरोधाभास व असंगति है** : लॉक मनुष्य को एक तरफ तो परोपकारी, शान्त एवं सद्भावी प्रकृति का मानता है और दूसरी ओर उसका मानना है कि व्यक्ति स्वार्थी है। इससे वैचारिक असंगति एवं विरोधाभास का जन्म होता है।
3. **लॉक की मानव प्रकृति की अवधारणा एक पक्षीय है** : लॉक ने भी हॉब्स की तरह ही मानव स्वभाव के एक पक्ष पर ही विचार किया है। लॉक मानव स्वभाव को अच्छा बताता है। परन्तु मानव में सहयोगी, स्नेही, विवेकपूर्ण एवं सामाजिक प्राणी होने के अलावा दैत्य प्रव त्तियाँ भी हैं। लॉक ने इस तथ्य की अनदेखी की है कि मानव दैत्य और देव प्रकृतियाँ दोनों का मिश्रण है। उसकी नज़र में मानव केवल अच्छाइयों का प्रतीक है। इस कथन का कोई ऐतिहासिक प्रमाण लॉक के पास नहीं है।
4. **लॉक उपयोगितावाद को बढ़ावा देता है** : लॉक की द ष्टि में मनुष्य सदैव सुख प्राप्ति के ही कार्य करता है। वह मानव जीवन का उद्देश्य सुख प्राप्ति ही मानता है। इससे उपयोगितावाद को ही बढ़ावा मिलता है।
5. लॉक का अपने इस मत के लिए कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है, कोई तार्किक या वैज्ञानिक आधार नहीं है।

उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद लॉक के मानव-स्वभाव पर विचार काफी महत्त्वपूर्ण है। लॉक ने मानव स्वभाव के दैवीय गुणों का वर्णन करते हुए व्यक्ति को एक सामाजिक प्रणाली है। लॉक के इस सिद्धान्त में मानव-प्रकृति का चित्रण लॉक को व्यक्तिवादियों की श्रेणी में लाकर खड़ा कर देता है। लॉक का चिन्तन मनुष्य के सामाजिक होने पर केन्द्रित है। आधुनिक राजनीतिक चिन्तन में लॉक के मानव-प्रकृति पर विचारों की अमूल्य देन है।

प्राकृतिक अवस्था की अवधारणा
(Conception of State of Nature)

हॉब्स की तरह लॉक भी अपने राजनीति दर्शन का प्रारम्भ प्राकृतिक अवस्था से करता है। लॉक की प्राकृतिक अवस्था की अवधारणा हॉब्स की प्राकृतिक दशा की धारणा से बिल्कुल विपरीत है। लॉक का विश्वास है कि मनुष्य एक बुद्धियुक्त प्राणी है और वह नैतिक अवस्था को मानकर उसके अनुसार रह सकता है। लॉक अपने विचारों में हॉब्स से अलग मौलिकता के आधार पर है। लॉक के अनुसार- "जब मनुष्य प थ्वी पर अपनी बुद्धि के अनुसार बिना किसी बड़े तथा अपना निर्णय स्वयं करने के अधिकार के साथ रहते हैं, वही वास्तव में प्रारम्भिक अवस्था है।" यह कोई असम्भव तथा जंगली लोगों का वर्णन नहीं है बल्कि नैतिकता तथा विवेकपूर्ण ढंग से रहने वाली जाति का वर्णन है। उनका पथ-प्रदर्शन करने वाला प्रकृति का कानून है। "यह एक ऐसी स्थिति है जहाँ प्रत्येक पूर्ण स्वाधीनता के साथ अपने कार्यों पर नियन्त्रण कर सकता है तथा अपनी इच्छानुसार अपनी वस्तुओं का प्रकृति के कानून के अन्तर्गत बिना किसी अन्य हस्तक्षेप के तथा दूसरों पर निर्भर रहते हुए विक्रय कर सकता है या दूसरों को दे सकता है।" यही समानता की अवस्था है। यह सभी के साथ युद्ध की अवस्था नहीं है।

लॉक के अनुसार "मानव प्रकृति सहनशील, सहयोगी, शांतिपूर्ण होने से प्राकृतिक दशा, शान्ति, सद्भावना, परस्पर सहायता तथा प्रतिरक्षण की अवस्था थी। जहाँ हॉब्स के लिए मनुष्य का जीवन एकाकी, दीन-मलीन तथा अल्प था, वहाँ लॉक के लिए प्रत्येक का जीवन सन्तुष्ट तथा सुखी था। प्राकृतिक अवस्था के मूलभूत गुण 'शक्ति और धोखा' नहीं थे, बल्कि पूर्णरूप से न्याय तथा भ्रात त्व की भावना का साम्राज्य था। यह सामाजिक तथा नैतिक दशा थी, जहाँ मनुष्य स्वतन्त्र, समान व निष्कपट था। यह 'सद्भावना', 'सहायता और आत्मसुरक्षा की दशा थी, जहाँ मनुष्य सुखी एवं निष्पाप जीवन व्यतीत करते थे। लॉक के लिए प्रारम्भिक अवस्था सौहार्द तथा सह-अस्तित्व की है अर्थात् युद्ध की स्थिति न होकर शान्ति की अवस्था है। लॉक की प्रारम्भिक अवस्था पूर्व सामाजिक न होकर पूर्व राजनीतिक अवस्था है। इसमें मनुष्य निरन्तर युद्ध नहीं करता बल्कि इसमें शान्ति और बुद्धि ज्ञान का साम्राज्य है। प्रकृति का कानून राज्य के कानून के विपरीत वही है। प्रकृति के कानून का आधारभूत सिद्धान्त मनुष्यों की समानता है। लॉक ने 'शासन पर दो निबन्ध' नामक ग्रन्थ में लिखा है- "जैसा कि सिद्ध हो चुका है मनुष्य पूर्ण स्वतन्त्रता के अधिकार के साथ जन्म लेता है तथा प्रकृति के कानून के उपयोग और प्रयोग पर उसका बिना प्रतिबन्ध के विश्व में अन्य किसी मनुष्य अथवा मनुष्यों के समान अधिकार है। अन्य मनुष्यों के समान ही उसे सम्पत्ति को सुरक्षित रखने अर्थात् जीवन, स्वाधीनता और सम्पत्ति की अन्य लोगों के आक्रमण से केवल सुरक्षा का ही अधिकार प्रकृति से नहीं मिला बल्कि उसका उल्लंघन करने वालों को दण्ड का अधिकार भी मिला है।" प्रारम्भिक अवस्था में केवल वैचारिक, शारीरिक शक्ति तथा सम्पत्ति की ही समानता नहीं थी बल्कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता भी थी। सम्पत्ति, जीवन तथा स्वतन्त्रता का अधिकार मनुष्य का जन्मजात अपरिवर्तनीय अधिकार था। इन अधिकारों के साथ-साथ इस अवस्था में कर्त्तव्य एवं नैतिक भावनाओं की प्रचुरता भी मनुष्यों में थी। हॉब्स केवल अधिकार की बात करता है। लॉक ने अधिकार के साथ-साथ कर्त्तव्य को भी बाँध दिया है। इस प्रकार लॉक ने हॉब्स के नरक की बजाय अपनी प्राकृतिक अवस्था में स्वर्ग का चित्रण किया है। एक की प्राकृतिक अवस्था कलयुग की प्रतीक है तो दूसरे की सतयुग की; यदि एक अंधकार का वर्णन करता है तो दूसरा प्रकाश है एवं यदि एक निराशावाद का चित्र उपस्थित करता है तो दूसरा आशावाद का। हरमन के अनुसार- "लॉक की प्राकृतिक अवस्था वह पूर्ण स्वतन्त्रता की अवस्था है जिसमें मनुष्य प्राकृतिक विधियों को मानते हुए कुछ भी करने को स्वतन्त्र है।"

प्राकृतिक अवस्था को परिभाषित करते हुए लॉक लिखता है कि- "जब व्यक्ति विवेक के आधार पर इकट्ठे रहते हों, प थ्वी पर कोई सामान्य उच्च सत्ताधारी व्यक्ति न हो और उनमें से एक दूसरे को परखने की शक्ति हो तो वह उचित रूप से प्राकृतिक अवस्था है।" यह प्राकृतिक अवस्था इस विवेकजनित प्राकृतिक नियम पर आधारित है कि 'तुम दूसरों के प्रति वही बर्ताव करो, जिसकी तुम दूसरों से अपने प्रति आशा करते हो।' यह प्राकृतिक अवस्था स्वर्णयुग की अवस्था है क्योंकि इसमें शान्ति व विवेक का बाहुल्य है।

प्राकृतिक अवस्था की विशेषताएँ

(Features of State of Nature)

लॉक की प्राकृतिक दशा की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :

1. प्राकृतिक अवस्था एक सामाजिक अवस्था है जिसमें मनुष्य नैतिक अवस्था को मानने वाला और उसके अनुसार आचरण करने वाला प्राणी था। राज्य एवं शासन का अभाव होने के बावजूद अव्यवस्था एवं अराजकता की स्थिति नहीं होती थी। लॉक के प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य शांत, सहयोगी, सद्भावपूर्ण और सामाजिक था।
2. प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य अपने अधिकारों के साथ-साथ कर्त्तव्यों का पालन भी करता था। मनुष्य के मूल अधिकारों का स्रोत प्राकृतिक कानून है। लॉक के अनुसार मानव के जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के अधिकारों का आधारभूत कारण प्राकृतिक कानून ही था।
3. लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था, प्राकृतिक अधिकारों वाली अवस्था थी। इसमें न्याय, मैत्री, सद्भावना और शान्ति की भावना का मूल आधार प्राकृतिक कानून है। लॉक का मत है कि ईश्वर ने इन प्राकृतिक कानूनों को मानव आत्मा में स्थापित किया है; जिसके कारण मनुष्य कानून के अनुसार आचरण करता है।
4. लॉक का मानना है कि मनुष्यों को दूसरों के जीवन, स्वास्थ्य, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति को क्षति पहुँचाने से रोकने के लिए लिए, अन्य मानवों को दण्ड देने का अधिकार था जो प्राकृतिक कानूनों की अवज्ञा करते थे। प्रत्येक को कानून भंग करने वाले को उतना दण्ड देने का अधिकार है जितना कानून भंग को रोकने के लिए प्राप्त है। प्राकृतिक अवस्था को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए, मनुष्य को प्राकृतिक कानून का पालन करने के साथ-साथ उसके उल्लंघन करने वालों को भी दण्डित करना अनिवार्य था।
5. लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य समान थे क्योंकि "सभी स ष्टि के एक ही स्तर पर और एक ही सर्वशक्तिमान ईश्वर की सन्तान है।" समान होने के कारण सभी प्राकृतिक अधिकारों का उपभोग और परस्पर कर्त्तव्यों का पालन मैत्री, सद्भावना तथा परस्पर सहयोग की भावना के आधार पर करते थे। अतः मानवों में निष्कपट व्यवहार पाया जाता है।
6. लॉक की प्राकृतिक अवस्था पूर्ण सामाजिक न होकर पूर्व राजनीतिक है। लॉक का मानना है कि हॉब्स की तरह यह पूर्व सामाजिक नहीं है। यह सभी मनुष्यों को सामाजिक प्राणी मानकर व्यक्ति के सभी अधिकार उसके सामाजिक जीवन में ही सम्भव मानता है।
7. लॉक प्राकृतिक अवस्था में प्राकृतिक कानून तथा नागरिक कानून को एक-दूसरे के पूरक मानता है। उनका मानना है कि प्राकृतिक कानून नागरिक कानून का पूर्वगामी (Antecedent) है। यही प्राकृतिक कानून व्यक्तियों के आचरण को नियमित व अनुशासित करता है।
8. लॉक नैतिकता को कानून की जननी मानता है। उसका कहना है कि कानून उन्हीं नियमों को क्रियान्वित करता है जो पहले से प्रकृतितः उचित है।

   हॉब्स के विपरीत लॉक जीवन, स्वतन्त्रता एवं सम्पत्ति के अधिकार को प्राकृतिक अधिकार मानता है। लॉक का कहना है कि सभी अधिकार पूर्व राजनीतिक अवस्था में भी विद्यमान थे।

इस प्रकार लॉक का प्राकृतिक अवस्था का वर्णन हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था से अलग तरह का है। हॉब्स ने मनुष्य को असामजिक प्राणी बताकर बड़ी भूल की है। लॉक मानव को परोपकार, सदाचारी व कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणी मानकर चलता है। लॉक प्राकृतिक कानून को नागरिक कानून का पूरक ही मानता है। लॉक की प्राकृतिक अवस्था भी हॉब्स की तरह कुछ कमियों से ग्रसित है।

प्राकृतिक अवस्था की कमियाँ

(Deficiencies in the State of Nature)

लॉक की प्रारम्भिक अवस्था में यद्यपि काफी भोलापन, सच्चाई और सौजन्यता विद्यमान है किन्तु इस पर भी यह पूर्णरूपेण दोषयुक्त नहीं है। लॉक की प्राकृतिक अवस्था में निम्नलिखित कमियाँ हैं :-

1. **लिखित कानूनों का अभाव (Lack of Written Laws)** : लॉक की प्राकृतिक अवस्था में एक स्थापित, निर्धारित एवं सुनिश्चित कानून की कमी थी। कानून का रूप अस्पष्ट था। प्रत्येक व्यक्ति को कानून की व्याख्या अपने ढंग से करने की छूट थी। ऐसा लिखित कानून के अभाव में था। कानून का लिखित रूप न होने की वजह से लोग उसकी मनचाही व्याख्या करने में स्वतन्त्र थे। मनुष्य अपने स्वार्थ एवं पक्षपात की भावना से कानून का प्रयोग करता था। वह अपने ही हित को सार्वजनिक हित माने की गलती करता था। व्यक्ति को अपने कार्यों के बारे में सत्यता या असत्यता का ज्ञान नहीं था। लॉक का कहना है कि "एक स्थायी तथा सुनिश्चित कानून की आवश्यकता है जो सही और गलत का निर्धारण कर सके।" इससे प्राकृतिक अवस्था में कानून का लिखित रूप में न होने का दोष स्पष्ट दिखाई देता है। अतः इस अवस्था में प्राकृतिक कानून के अन्तर्विषय के बारे में अनेक भ्रान्तियाँ तथा अनिश्चितताएँ थीं। कानून की मनचाही व्याख्या अराजकता को जन्म देती है।

2. **निष्पक्ष और स्वतन्त्र न्यायधीशों का अभाव (Lack of Independent and Impartial Judges)** : प्राकृतिक अवस्था में निष्पक्ष न्यायधीश नहीं होते थे। वे पक्षपातपूर्ण ढंग से न्याय करते थे। प्राकृतिक कानून के अनुसार प्रत्येक अपराधी को उतना ही दण्ड दिया जाना चाहिए जितना विवेक और अंतरात्मा आदेश दे। लॉक के अनुसार- "एक प्रसिद्ध तथा निष्पक्ष न्यायधीश की आवश्यकता है जो तत्कालीन कानून के अनुसार अधिकार के साथ सारे झगड़े निपटा सके।" लॉक का यह कथन स्पष्ट करता है कि उस समय प्राकृतिक अवस्था में निष्पक्ष एवं स्वतन्त्र न्यायधीशों का अभाव था। लॉक की इस अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति स्वयं न्यायधीश है। कोई तीसरा निष्पक्ष व्यक्ति न्यायधीश नहीं था। इस अवस्था में प्राकृतिक कानून की व्याख्या करने तथा उसका निष्पादन करने वाली कोई शक्ति नहीं थी।

3. **कार्यपालिका का अभाव (Lack of an Executive)** : लॉक की प्राकृतिक अवस्था में न्याययुक्त निर्णय को लागू करने के लिए किसी कार्यपालिका का अभाव था। लॉक के अनुसार- "आवश्यकता पड़ने पर उचित निर्धारित दण्ड देने और उसे क्रियान्वित करने की भी जरूरत है।" इससे स्पष्ट होता है कि लॉक की प्राकृतिक दशा में कोई कार्यकारिणी शक्ति नहीं थी। प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति स्वयं ही कानूनों को लागू करते थे। इस अवस्था में शक्तिशाली व्यक्ति ही अपनी स्वार्थ-सिद्धि करते थे। जिस मनुष्य में इतनी शक्ति नहीं थी कि वह अन्याय के समक्ष अपने प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा कर सके, वह सदा न्याय से वंचित रह जाता था। प्रतिभा में अन्तर होने के कारण हितों में टकराव उत्पन्न होते थे। इनका कार्यपालिका के अभावमें निपटाना नहीं होता था। अतः इस अवस्था में कोई कार्यपालिका नहीं थी।

हॉब्स तथा लॉक की प्राकृतिक दशा की तुलना
(Comparison of Hobbes and Locke's State of Nature)

यदि हॉब्स व लॉक की प्राकृतिक दशा की तुलना की जाए तो निम्नलिखित अन्तर आते हैं :-

1. हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य का जीवन एकाकी, निर्धन, घ णित, पाशविक और अल्प था, परन्तु लॉक की प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य समान, स्वतन्त्र, विवेकपूर्ण और कर्त्तव्यपरायण है।

2. हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था संघर्ष और युद्ध की अवस्था थी, लॉक की प्राकृतिक अवस्था शांति, सद्भावना, पारस्परिक सहयोग और सुरक्षा की अवस्था है।

3. हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था पूर्व सामाजिक थी, लॉक की प्राकृतिक अवस्था पूर्व राजनीतिक है।

4. हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था में केवल एक ही अधिकार (आत्मरक्षा का अधिकार) था। इसमें कर्त्तव्यों का कोई स्थान नहीं था। इसके विपरीत लॉक ने जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के तीन अधिकारों का वर्णन किया है। इस अवस्था में अधिकारों के साथ कर्त्तव्यों का भी स्थान है।

5. हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था में केवल प्राकृतिक अधिकार थे, प्राकृतिक कानून नहीं। लॉक की प्राकृतिक अवस्था में प्राकृतिक अधिकार व प्राकृतिक कानून दोनों के लिए स्थान है।

6. हॉब्स प्राकृतिक कानून तथा नागरिक कानून में अन्तर करते हुए उन्हें परस्पर विरोधी मानता है, जबकि लॉक इन दोनों को एक-दूसरे के पूरक मानता है। लॉक के अनुसार प्राकृतिक कानून नागरिक कानून का पूर्वगामी है।

प्राकृतिक अवस्था की आलोचनाएँ
(Criticisms of State of Nature)

प्राकृतिक अवस्था के स्वर्णिम चित्रण के बावजूद भी लॉक की प्राकृतिक अवस्था की आलोचनाएँ की गई हैं। इसकी कुछ आलोचनाएँ निम्नलिखित हैं:-

1. लॉक की प्राकृतिक अवस्था सम्पूर्ण अधिकारयुक्त पूंजीपतियों के वर्ग का दर्शन है जिसका लॉक स्वयं भी एक सदस्य था। लॉक का व्यक्ति केवल अपने अधिकारों की मांग करता हुआ प्रतीत होता है। लॉक का मनुष्य अपने स्वार्थ-सिद्धि के लए दूसरे के अधिकारों का हनन करने में स्वतन्त्र है। लॉक की प्राकृतिक अवस्था में कानून का लिखित रूप न होने की स्थिति में पूंजीपति वर्ग अपने आर्थिक प्रभुत्व के बल पर कानून का मनमाने ढंग से प्रयोग व व्याख्या करता था।
2. लॉक प्राकृतिक कानून का स्पष्ट चित्रण नहीं करता।
3. लॉक की प्राकृतिक अवस्था न तो ऐतिहासिक है और न ही प्राकृतिक है। जोन्स के अनुसार-"लॉक की प्राकृतिक अवस्था न तो ऐतिहासिक है और न ही प्राकृतिक। वास्तव में लॉक की प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य की वही स्थिति है जो संगठित समाज में मनुष्य की होती है।"
4. राज्य के अभाव में अधिकार अर्थहीन होते हैं। लॉक राज्यविहीन अवस्था में प्राकृतिक अधिकारों की बात करता है, जो अविश्वसनीय है।
5. लॉक की प्राकृतिक अवस्था मानव स्वभाव के एक पक्ष का चित्रण करती है। मानव की दैत्य प्रकृति की इसमें उपेक्षा की गई है। मानव अच्छी तथा बुरी दोनों प्रकार की प्रव त्तियों का मिश्रण है।
6. लॉक प्राकृतिक अवस्था में जिस शांति का वर्णन करता है, अभूतपूर्व प्रगति होने पर आज भी वह नहीं आई है। अतः उसका प्राकृतिक अवस्था का वर्णन अविश्वसनीय है।
7. लॉक ने प्राकृतिक दशा में उस अवस्था को छोड़नेका कारण नहीं बताया है। अतः लॉक की प्राकृतिक दशा का चित्रण अवैज्ञानिक है।

उपर्युक्त आधार पर कहा जा सकता है कि लॉक की प्राकृतिक अवस्था शांति, परोपकार, सदाचारी, बुद्धियुक्त गुणों से भरपूर होते हुए भी कुछ दोषों से ग्रस्त थी। इस अवस्था में कानून का अलिखित होना समाज में अराजकता की स्थिति कायम करने के लिए काफी था। न्याय की परिभाषा करने वाली संस्था का अभाव था। फिर भी लॉक ने अपनी प्राकृतिक दशा के बारे में लिखते हुए मानव-स्वभाव के अच्छे गुणों पर प्रकाश डाला है। आलोचकों ने लॉक की प्राकृतिक अवस्था को अव्यावहारिक माना है परन्तु व्यक्तियों के परस्पर सहयोग और विवेकशीलता की प्रधानता से उसके विचार जीवित हो उठते हैं। नैतिक दर्शन में लॉक की यह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण देन है।

प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त
(Theory of Natural Rights)

लॉक का राजदर्शन के इतिहास को सबसे बड़ी देन उसके प्राकृतिक अधिकार विशेषकर सम्पत्ति का अधिकार है। यह धारणा लॉक के राजनीतिक दर्शन का सार है। लॉक के सभी सिद्धान्त किसी न किसी रूप में लॉक के प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त से जुड़े हुए हैं। लॉक के अनुसार मनुष्य एक विवेकशील, नैतिक तथा सामाजिक प्राणी है। इस कारण सभी मनुष्य अपने साथी व मित्रों के साथ सुख-शान्ति और सौहार्दपूर्ण भाव से रहते है। लॉक ने एक ऐसी अवस्था की कल्पना की है जिसमें सभी व्यक्ति शांतिमय तरीके से राज्य के बिना ही रहते हैं। लॉक इसे प्राकृतिक अवस्था कहता था, लॉक ने इस अवस्था को सद्भावना, पारस्परिक सहयोग, संरक्षण और शान्ति की व्याख्या बताया है। लॉक की यह अवस्था राजनीतिक समाज से पूर्व की अवस्था है। इसमें मानव विवेक कार्य करता है। मनुष्यों को ईश्वर ने विवेक प्रदान किया है। अतः प्रकृति के कानून के अनुसार काम करना सभी का स्वाभाविक कर्त्तव्य है। इन प्राकृतिक कानूनों द्वारा ही व्यक्ति को प्राकृतिक अधिकार प्राप्त होते हैं।

आधुनिक युग में साधारणतया यह माना जाता है कि व्यक्ति को अधिकार समाज और राज्य से प्राप्त होते हैं। इसके विपरीत लॉक की मान्यता है कि व्यक्ति के कुछ ऐसे अधिकार हैं जो कि उसके पैदायशी (Birth Rights) अधिकार हैं। ये अधिकार अलंघ्य

(Inviolable) होते हैं। राज्य बनने से पहले भी व्यक्ति को प्राकृतिक अवस्था में प्राकृतिक नियमों के तहत अधिकार प्राप्त थे। प्राकृतिक अवस्था में रहने वाले लोगों ने इन अधिकारों को अधिक प्रभावशाली, सुरक्षित और इनके प्रयोग में आने वाली बाधाओं को दूर करने के लिए राज्य बनाया। लॉक राज्य से पहले भी प्राकृतिक अवस्था में संगठित समाज का अस्तित्व स्वीकारता है। लॉक का मानना है कि प्राकृतिक अवस्था में इस संगठित समाज के पीछे प्राकृतिक कानून का सिद्धान्त था जो स्वयं विवेक पर आधारित था। प्राकृतिक कानून और अधिकार ईश्वर द्वारा बनाई गई नैतिक व्यवस्थाएँ हैं। लॉक ने जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के अधिकार को प्राकृतिक अधिकार माना है। यद्यपि 17 वीं शताब्दी के अन्त तक प्राकृतिक अधिकारों का अर्थ जीवन, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के अर्जन को माना जाने लगा था पर उन्हें प्राकृतिक मान तार्किक आधार लॉक ने ही प्रदान किया। लॉक ने प्राकृतिक अधिकारों के बारे में कहा है- "अधिकार मनुष्य में प्राकृतिक रूप से जन्मजात होते हैं और यही अधिकार 'प्राकृतिक' हैं। ये अधिकार अपरिवर्तनशील व स्वाभाविक होते हैं। ये अधिकार समाज की देन हैं और उनका क्रियान्वयन सभ्य समाज के माध्यम से ही होता है। इनका जन्म मनुष्य की बुद्धि व आवश्यकता के कारण होता है तथा वे सामाजिक अधिकार कहलाते हैं।

लॉक के अनुसार हर व्यक्ति के पास कुछ प्राकृतिक, कभी न छोड़े जाने वाले, मूलभूत (Natural, Inalienable and Fundamental) अधिकार होते हैं, जिन्हें कोई छू नहीं सकता, चाहे वह राज्य हो या समाज या कोई अन्य व्यक्ति। ये प्राकृतिक अधिकार हर सामाजिक, प्राकृतिक, कानूनी तथा राजनीतिक व्यवस्था में सर्वमान्य होंगे। लॉक ने कहा कि जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के अधिकार जन्मसिद्ध और स्वाभाविक होने के कारण समाज की स ष्टि नहीं हैं। मनुष्य इन अधिकारों की रक्षा के लिए नागरिक समाज या राज्य का निर्माण करते हैं। मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में भी स्वभाव से प्राकृतिक कानून का पालन करते हैं। ये तीन अधिकार निम्नलिखित हैं :-

1. **जीवन का अधिकार** (Right to Life) : मनुष्य को जीवन का अधिकार प्राकृतिक कानून से प्राप्त होता है। लॉक की धारणा है कि आत्मरक्षा व्यक्ति की सर्वोत्तम प्रव त्ति है और प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन को सुरक्षित रखने का निरंतर प्रयास करता है। आत्मरक्षा को हॉब्स मानव की सर्वोत्तम प्रेरणा मानता है, उसी प्रकार लॉक का मानना है कि जीवन का अधिकार जन्मसिद्ध अधिकार है और प्राकृतिक कानूनों के अनुसार उनका विशेषाधिकार है। व्यक्ति न तो अपने जीवन का स्वयं अन्त कर सकता है और न ही वह अन्य किसी व्यक्ति को इसकी अनुमति दे सकता है।

2. **स्वतन्त्रता का अधिकार** (Right to Liberty) : लॉक के अनुसार क्योंकि सभी मनुष्य एक ही स ष्टि की कृति हैं, इसलिए वे सब समान और स्वतन्त्र हैं। यह स्वतन्त्रता प्राकृतिक कानून की सीमाओं के अन्तर्गत होती है। स्वाधीनता के अर्थ प्राकृतिक कानून जो मनुष्य की स्वतन्त्रता का साधन होता है के अतिरक्त सभी बन्धनों से मुक्ति होती है। "इस कानून के अनुसार वह किसी अन्य व्यक्ति के अधीन नहीं होते तथा स्वतन्त्रतापूर्वक स्वेच्छा से कार्य करते हैं।" व्यक्ति की यह स्वतन्त्रता प्राकृतिक कानून की सीमाओं के अन्दर होती है। अतः मनमानी स्वतन्त्रता नहीं है। मानव सुखी और शान्त जीवन व्यतीत करते थे क्योंकि सभी स्वतन्त्र और समान थे। वे एक-दूसरे को हानि नहीं पहुँचाते थे। इसलिए प्रत्येक स्वतन्त्रता का पूर्ण आनन्द लेता था।

3. **सम्पत्ति का अधिकार** (Right to Property) : लॉक ने सम्पत्ति के अधिकार को एक महत्त्वपूर्ण अधिकार माना है। लॉक के अनुसार सम्पत्ति की सुरक्षा का विचार ही मनुष्यों को यह प्रेरणा देता है कि वे प्राकृतिक दशा का त्याग करके समाज की स्थापना करें। लॉक ने सम्पत्ति के अधिकार को प्राकृतिक अधिकार माना है। अपनी रचना 'द्वितीय निबन्ध' में लॉक ने इस अधिकार की व्याख्या की है। लॉक ने इस अधिकार को जीवन तथा स्वतन्त्रता के अधिकार से भी महत्त्वपूर्ण माना है। लॉक ने सम्पत्ति के अधिकार का विस्तार से प्रतिपादन किया है। संकुचित अर्थ में लॉक ने केवल निजी सम्पत्ति के अधिकार की ही व्याख्या की है। व्यापक अर्थ में लॉक ने जीवन तथा स्वतन्त्रता के अधिकारों को भी सम्पत्ति के अधिकार में शामिल किया है।

सम्पत्ति पर लॉक के विचार काफी द ढ़ हैं तथा सम्पत्ति के अधिकार के लिए अक्षुण्णता की भावना से युक्त है। प्रारम्भ में ईश्वर ने सभी मनुष्यों को विश्व दिया। अतः किसी एक वस्तु विशेष पर कोई अधिकार नहीं था। यद्यपि भूमि तथा अन्य दीन जीव सभी की सम्पत्ति थे। फिर भी हर व्यक्ति को स्वयं भी सम्पत्ति का अधिकार था। उसके शरीर का श्रम और उसका फल उसकी अपनी सम्पत्ति थी। उसका श्रम भूमि के साथ मिलकर उसकी सम्पत्ति बन जाता था। इस प्रकार श्रम को किसी वस्तु के साथ मिलाकर व्यक्ति उसका स्वामी बन जाता था। लॉक ने अपने इस सिद्धान्त के विपरीत लॉक श्रम सिद्धान्त के आधार पर स्वामित्व

की बात करता है। रोमन विधि के अनुसार- "व्यक्तिगत सम्पत्ति का उदय उस समय हुआ जब व्यक्तियों ने वस्तुओं पर अनधिकृत कब्जा करना आरम्भ किया।" लॉक ने उपर्युक्त धारणा का खण्डन किया और कहा कि व्यक्ति का शरीर ही उसकी एकमात्र सम्पत्ति है। जब व्यक्ति अपने शारीरिक श्रम को प्रकृति प्रदत्त अन्य वस्तुओं के साथ मिला लेता है तो वह उन वस्तुओं का अधिकारी बन जाता है। सम्पत्ति सिद्धान्त के उद्भव के बारे में लॉक ने कहा- "जिस चीज को मनुष्य ने अपने शारीरिक श्रम द्वारा प्राप्त किया है, उस पर उसका प्राकृतिक अधिकार है।" लॉक ने आगे कहा है- "सम्पत्ति का अधिकार बहुत पवित्र है। जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति उसके प्राकृतिक अधिकार हैं। समाज न तो सम्पत्ति पर नियंत्रण कर सकता है और न ही कर लगा सकता है।"

लॉक का सम्पत्ति का अधिकार का सिद्धान्त वास्वत में प्रकृति के कानून पर आधारित वंशानुगत उत्तराधिकार का ही सिद्धान्त है। कोई व्यक्ति किसी वस्तु में अपना श्रम मिलाकर ही उसके स्वामित्व का अधिकार ग्रहण करता है। प्रकृति के द्वारा प्रदत्त किसी वस्तु में अपना श्रम मिलाकर ही अपना अधिकार उस पर जताता है। वंशानुगत उत्तराधिकार का अधिकार प्रकृति के इस कानून से उत्पन्न होता है कि मनुष्य को अपनी पत्नी और बच्चों के लिए कुछ करना चाहिए। ईश्वर ने मनुष्य को वस्तुओं पर अपना स्वामित्व कायम करने के लिए बुद्धि तथा शरीर प्रदान किया है। वह श्रम के आधार पर अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति का सर्जन कर सकता है। प्रो॰ सेबाइन के अनुसार- "मनुष्य वस्तुओं पर अपनी आन्तरिक शक्ति व्यय करके उन्हें अपना हिस्सा बना लेता है।" लॉक के लिए निजी सम्पत्ति का आधार एक सांझी वस्तु पर व्यय की हुई श्रम शक्ति है।

लॉक सम्पत्ति के दो रूप बताता है- (1) प्राकृतिक सम्पत्ति (2) निजी सम्पत्ति। प्राकृतिक सम्पत्ति सभी मानवों की सम्पत्ति है और उस पर सभी का अधिकार है। प्राकृतिक साधनों के साथ मानव उसमें अपना श्रम मिलाकर उसे निजी सम्पत्ति बना लेता है। लॉक ने सम्पत्ति के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहा है कि सम्पत्ति मानव को स्थान, शक्ति और व्यक्तित्व के विकास के लिए अवसर प्रदान करती है। लॉक ने असीम सम्पत्ति संचित करने के अधिकार को उचित ठहराया है। व्यक्ति को प्रकृति से उतना ग्रहण करने का अधिकार है जितना नष्ट होने से पहले उसके जीवन के लिए उपयोगी हो। मनुष्य को सम्पत्ति संचित करनेका तो अधिकार है, परन्तु उसे बिगाड़ने, नष्ट करने या दुरुपयोग करने का अधिकार नहीं है। लॉक ने कहा कि प्रत्येक व्यक्ति स्वेच्छा से सम्पत्ति तो एकत्रित कर सकता है, परन्तु प्राकृतिक कानून दूसरे व्यक्ति के अधिकार क्षेत्र में अतिक्रमणको स्वीकृति नहीं दे सकता। लॉक का यह भी मानना है कि यदि किसी के पास आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति हो तो उसे जन सम्पत्ति मान लेना चाहिए। लॉक ने सम्पत्ति अर्जन में श्रम का महत्त्व स्पष्ट किया है। लॉक के अनुसार मनुष्य का श्रम निस्सन्देह उसकी अपनी चीज है, और श्रम सम्पत्ति का सिर्फ निर्माण ही नहीं करता, बल्कि उसके मूल्य को भी निर्धारित करता है। यह सिद्धान्त स्पष्ट करता है कि किसी वस्तु का मूल्य एवं उपयोगिता उस पर लगाए गए श्रम के आधार पर ही निर्धारित हो सकती है।

निजी सम्पत्ति के पक्ष में तर्क

(Arguments in favour of Private Property)

लॉक ने निजी सम्पत्ति को औचित्यपूर्ण सिद्ध करने के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिए हैं :-

1. आरम्भ में भूमि तथा इसके सारे फल प्रकृति द्वारा सारी मानव जाति को दिये गए थे।
2. मानव को इनका प्रयोग करने से पहले इन्हें अपना बनाना है।
3. हर व्यक्ति का व्यक्तित्व, उसकी शारीरिक मेहनत तथा उसके हाथों का कार्य उनकी अपनी सम्पत्ति है।
4. प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य अपनी-अपनी मेहनत से जो लेते हैं, वह उनकी निजी सम्पत्ति है बशर्ते कि वह दूसरों के लिए काफी छोड़ दें।
5. सम्पत्ति पैदा करने के लिए किसी दूसरे की आज्ञा लेने की जरूरत नहीं है, क्योंकि यह जिन्दा रहने की आवश्यकता है।

इस प्रकार लॉक उपर्युक्त तर्कों के आधार पर निजी सम्पत्ति को न्यायसंगत ठहराते हैं।

निजी सम्पत्ति के अधिकार पर सीमाएँ
(Limitations on the Theory of Right to Private Property)

लॉक निजी सम्पत्ति के अधिकार पर कुछ सीमाएँ या बन्धन लगाते हैं जो निम्नलिखित हैं :-

1. **किसी को सम्पत्ति नष्ट करने का अधिकार नहीं है** : लॉक कहता है कि सम्पत्ति को एकत्रित तो किया जा सकता है लेकिन नष्ट नहीं किया जा सकता। सम्पत्ति को बेचकर मुद्रा के रूप में प्राप्त कर सकते हैं। लॉक ने असीमित मुद्रा को पूंजी के रूप में एकत्र किये जोने पर बल दिया। अतः लॉक ने निजी सम्पत्ति को सुरक्षित रखने के लिए इसको नष्ट करने पर रोक लगाई है। लॉक के अनुसार- "मानव को सम्पत्ति संचित करने का अधिकार है, परन्तु उसे बिगाड़ने, नष्ट करने या दुरुपयोग करने का अधिकार नहीं है।
2. **सम्पत्ति को दूसरों के लिए छोड़ देना चाहिए** : लॉक कहता है कि जो प्राकृतिक भूमि आदि मनुष्य मेहनत से अपनी निजी सम्पत्ति बना लेते हैं, उससे वह दूसरों के लिए कुछ उत्पादन करते हैं और यह उत्पादन समाज की सामान्य भूमि आदि की कमी को पूरा कर देता है। व्यक्ति सारी प्राकृतिक सम्पत्ति को निजी सम्पत्ति में नहीं बदल सकता। लॉक का कहना है- "प्रत्येक व्यक्ति को प्रकृति से उतना ग्रहण करने का अधिकार है। जितना उसके जीवन के लिए उपयोगी हो और दूसरों के लिए भी पर्याप्त हिस्सा बचा रहे।"
3. **निजी सम्पत्ति वह है जिसे व्यक्ति ने अपना श्रम मिलाकर अर्जित किया है** : लॉक का कहना है व्यक्ति अपने सामर्थ्य अनुसार अपना श्रम मिलाकर किसी भी प्राकृतिक वस्तु को अपना सकता है। व्यक्ति अपने श्रम का मालिक होता है तथा श्रम उसकी सम्पत्ति है। यदि वह अपना श्रम दूसरे को बेच देता है तो वह श्रम दूसरे व्यक्ति की सम्पत्ति बन जाता है। अतः श्रम द्वारा ही किसी वस्तु पर व्यक्ति के स्वामित्व का फैसला निर्भर करता है। बिना श्रम प्राप्त सम्पत्ति निजी सम्पत्ति नहीं हो सकती।
4. आवश्यकता से ज्यादा संचित सम्पत्ति जन सम्पत्ति मानी जा सकती है।

निजी सम्पत्ति के अधिकार के निहितार्थ
(Implication of Right to Private Property)

लॉक के निजी सम्पत्ति के सिद्धान्त की कुछ महत्त्वपूर्ण बातें निम्नलिखित हैं :-

1. निजी सम्पत्ति शारीरिक श्रम व योग्यता से प्राप्त होती है।
2. व्यक्ति का श्रम एक निजी वस्तु है। वह जब चाहे किसी को भी इसे बेच सकता है तथा दूसरा इसे खरीद सकता है।
3. निजी सम्पत्ति का अधिकार प्राकृतिक है।
4. निजी सम्पत्ति उत्पादन का आधार है।
5. श्रम को खरीदने वाला श्रम का न्यायसंगत स्वामी बन सकता है।
6. निजी सम्पत्ति क्रय व विक्रय योग्य वस्तु है।
7. निजी सम्पत्ति के अधिकार के बिना मानव जीवन का कोई आकर्षण नहीं है।
8. समाज हित में निजी सम्पत्ति के अधिकार पर बन्धन लगाया जा सकता है।
9. निजी सम्पत्ति का अधिकार मेहनत को प्रोत्साहित करता है।

प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त की आलोचना
(Criticism of Theory of Natural Rights)

लॉक का प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण देन होते हुए भी कुछ कमियों से ग्रसित है। अनेक विचारकों ने इस की निम्न आलोचनाएँ की हैं :-

1. लॉक का यह कथन कि अधिकार, राज्य या समाज से पहले उत्पन्न हुए - इतिहास, तर्क या सामान्य बुद्धि के विपरीत है। लॉक की द ष्टि में अधिकारों का स्रोत प्रकृति है। परन्तु अधिकारों का स्रोत समाज होता है और उसकी रक्षा के लिए राज्य का होना अनिवार्य है।

2. लॉक ने सम्पत्तिके अधिकार पर तो विस्तार से लिखा है लेकिन जीवन तथा स्वतन्त्रता के अधिकार पर ज्यादा नहीं कहा।
3. लॉक के प्राकृतिक अधिकारों में परस्पर विरोधाभास है। लॉक एक तरफ तो उन्हें प्राकृतिक मानता है और दूसरी तरफ श्रम को सम्पत्ति के अधिकार का आधार मानता है। यदि प्राकृतिक अधिकार जन्मजात व स्वाभाविक हैं तो उसके अर्जन की क्या जरूरत है।
4. लॉक का प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त पूंजीवाद का रक्षक है। श्रम-सिद्धान्त को परिभाषित करते हुए लॉक ने कहा है- "जिस घास को मेरे घोड़े ने खाया है, मेरे नौकर ने काटा है, और मैंने छीला है; वह मेरी सम्पत्ति है और उस पर किसी दूसरे का अधिकार नहीं है।" अतः लॉक का यह सिद्धान्त पूंजीवाद का समर्थक है।
5. लॉक ने स्वतन्त्रता पर जोर दिया है, समानता पर नहीं। जबकि आधुनिक युग में समानता के अभाव में स्वतन्त्रता अधूरी है।
6. लॉक के अधिकारों का क्षेत्र सीमित है। आधुनिक युग में शिक्षा, धर्म संस्कृति के अधिकार भी बहुत महत्त्वपूर्ण अधिकार हैं।
7. लॉक किसी व्यक्ति के बिना श्रम किये उत्तराधिकार द्वारा दूसरे की सम्पत्ति प्राप्त करने के नियम का स्पष्ट उल्लेख नहीं करता।
8. लॉक आर्थिक असमानता की तो बात करता है लेकिन उसे दूर करने के उपाय नहीं बताता।
9. लॉक आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति संचित करने पर सम्पत्ति को जनहित में छीनने की बात तो करता है लेकिन सम्पत्ति छीनने की प्रक्रिया पर मौन है।

अनेक आलोचनाओं के बावजूद भी लॉक का प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त राजनीतिक चिन्तन में उत्क ष्ट देन है। लॉक का सिद्धान्त आधुनिक युग में भी महत्त्वपूर्ण है। इसका महत्त्व निम्न आधारों पर स्पष्ट हो जाता है।

प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त का प्रभाव
(Influence of Locke's Theory of Natural Rights)

1. लॉक का यह सिद्धान्त मौलिक अधिकारों का जनक है। आज के सभी प्रजातन्त्रीय देशों में लॉक के इन सिद्धान्तों को अपनाया गया है। अमेरिका के संविधान पर तो लॉक का गहरा प्रभाव है। अमेरिकन संविधान का चौदहवाँ संशोधन घोषणा करता है कि- "कानून की उचित प्रक्रिया के बिना राज्य किसी भी व्यक्ति को जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति से वंचित नहीं कर सकता।"
2. इस सिद्धान्त का U.N.O (संयुक्त राष्ट्र संघ) पर भी स्पष्ट प्रभाव है। इसके चार्टर में मानवीय अधिकारों के महत्त्व को स्वीकार करते हुए मानवाधिकारों को शामिल किया गया है। वे अधिकार लॉक की देन है।
3. इस सिद्धान्त का कार्लमार्क्स के 'अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त' (Theory of Surplus Value) पर भी स्पष्ट प्रभाव है। मार्क्स भी श्रम को ही महत्त्व देकर अपने सिद्धान्त की व्याख्या करता है।
4. लॉक की सबसे महत्त्वपूर्ण इस देन का प्रभाव 18 वीं तथा 19 वीं शताब्दी के उदारवादी विचारकों पर भी पड़ा।

अतः निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि अपनी अनेक आलोचनाओं के बावजूद भी लॉक का प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में एक बहुत महत्त्वपूर्ण देन है। डनिंग ने कहा है- "राजनीतिक दर्शन को लॉक का सर्वाधिक विशिष्ट योगदान प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त है।" लॉक ने एडम स्मिथ जैसे अर्थशास्त्रियों पर भी अपनी अमिट छाप छोड़ी है। प्राकृतिक अधिकारों के रूप में लॉक की यह देन उत्कृष्ट है।

सामाजिक समझौता सिद्धान्त
(Theory of Social Contract)

लॉज के राजनीतिक चिन्तन का सर्वाधिक प्रमुख भाग सामाजिक समझौता सिद्धान्त है जिसके द्वारा लॉक ने इंगलैण्ड में हुई 1688 की गौरवपूर्ण क्रान्ति (Glorious Revolution) के औचित्य को ठीक ठहराया है। सामाजिक समझौता सिद्धान्त सबसे पहले

हॉब्स ने प्रतिपादित किया, परन्तु लॉक ने उसे उदारवादी आधार प्रदान करने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। लॉक भी हॉब्स के इस विचार से सहमत था कि राज्य की उत्पत्ति समझौते का परिणाम है, दैवी इच्छा की नहीं। लॉक के इस सिद्धान्त का विवरण उसकी प्रमुख पुस्तक 'शासन पर दो निबन्ध' में मिलता है। लॉक ने इसमें लिखा है कि "परमात्मा ने मनुष्य को एक ऐसा प्राणी बनाया कि उसके अपने निर्णय में ही मनुष्य को अकेला रखना उचित नहीं था। अतः उसने इसे सामाजिक बनाने के लिए आवश्यकता, स्वेच्छा और सुविधा के मजबूत बन्धनों में आबद्ध कर दिया तथा समाज में रहने और उसका उपभोग करने के लिए इसे भाषा प्रदान की।"

जॉन लॉक के अनुसार मनुष्य एक सामाजिक, शान्तिप्रिय प्राणी है। प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य समान और स्वतन्त्रता का जीवन व्यतीत करता था। मनुष्य स्वभाव से स्वार्थी नहीं था और एक शान्त और सम्पन्न जीवन जीना चाहता था। अतः प्राकृतिक अवस्था शान्ति, सम्पन्नता, सहयोग, समानता तथा स्वतन्त्रता की अवस्था थी। प्राकृतिक अवस्था में पूर्ण रूप से भ्रात त्व और न्याय की भावना का साम्राज्य था। प्राकृतिक अवस्था को शासित करने के लिए प्राकृतिक कानून था। प्राकृतिक कानून पर शान्ति एवं व्यवस्था आधारित होती थी जिसे मनुष्य अपने विवेक द्वारा समझने में समर्थ था। प्राकृतिक अवस्था में प्रत्येक मनुष्य को ऐसे अधिकार प्राप्त थे जिसे कोई वंचित नहीं कर सकता था। लॉक ने इन तीनों अधिकारों को मानवीय विवेक का परिणाम कहा है। ये तीन अधिकार - जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के अधिकार हैं। लॉक ने कहा कि प्राकृतिक अवस्था की कुछ कमियाँ थीं, इसलिए उन कमियों को दूर करने के लिए समझौता किया गया।

1. प्राकृतिक अवस्था में नियम स्पष्टता का अभाव था। उसमें कोई ऐसी निश्चित, प्रकट एवं सर्वसम्मत विधि नहीं थी, जिसके द्वारा उचित-अनुचित का निर्णय हो सके। इस अवस्था में लिखित कानून के अभाव में सदैव कानून की गलत व्याख्या की जाती थी। प्राकृतिक कानून का शक्तिशाली व्यक्ति अपने विवेक के आधार पर स्वार्थ-सिद्धि के लिए प्रयोग करते थे।
2. इस अवस्था में निष्पक्ष एवं स्वतन्त्र न्यायधीशों का अभाव था। इस अवस्था में न्याय का स्वरूप पक्षपातपूर्ण था। पक्षपातपूर्ण ढंग से न्याय किया जाता था। कोई तीसरा पक्ष निष्पक्ष नहीं था। प्रत्येक व्यक्ति स्वयं न्यायधीश था।
3. इस अवस्था में न्याययुक्त निर्णय लागू करने के लिए कार्यपालिका का अभाव था। इसलिए निर्णयों का उपयुक्त क्रियान्वयन नहीं हो पाता था। अतः प्राकृतिक अवस्था में पाई जाने वाली असुविधाओं और कठिनाइयों से बचने के लिए मनुष्यों ने एक समझौता किया।

लॉक के अनुसार समझौते का स्वरूप सामाजिक है। इसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति ने सम्पूर्ण समाज के प्रत्येक व्यक्ति को सर्वसम्मति से यह समझौता किया। लॉक का सामाजिक समझौता दो बार हुआ है। पहले समझौते द्वारा मनुष्य ने राजनीतिक व नागरिक समाज की स्थापना की। इससे मानव ने अपनी प्राकृतिक अवस्था का अन्त किया। इस प्रकार मनुष्य ने इस समझौते द्वारा जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के अपने प्राकृतिक अधिकारों तथा कानून को मानव ने सदैव के लिए सुरक्षित कर दिया। दूसरे समझौते द्वारा जनसहमति से शासन को नियुक्त किया जाता है। शासक, नागरिक समाज के अभिकर्ता के रूप में जीवन स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के प्राकृतिक अधिकारों के अन्तर्गत ही कानून की व्याख्या एवं उसे लागू करता है। शासक, नागरिक समाज के एक ट्रस्टी के रूप में अपने कर्त्तव्यों का पालन करता है। लॉक कहता है कि सामाजिक समझौते की प्रक्रिया के अन्त में राजनीतिक समाज है, जिसका निर्माण इस प्रकार हुआ है- "प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक के साथ संगठन तथा समुदाय के निर्माण हेतु सहझौता करता है। जिस उद्देश्य के लिए समझौता किया जाता है वह सामान्यतः सम्पति की सुरक्षा है जिसका अर्थ जीवन, स्वाधीनता तथा सम्पत्ति की आन्तरिक तथा बाहरी खतरों से सुरक्षा है।

इस समझौते के अनुसार मनुष्य अपने सारे अधिकार नहीं छोड़ता लेकिन प्राकृतिक केवल अपनी असुविधाओं को दूर करने के लिए प्राकृतिक कानून की व्याख्या और क्रियान्वयन के अधिकार को छोड़ता है। लेकिन यह अधिकार किसी एक व्यक्ति या समूह को न मिलकर सारे समुदाय को मिलता है। यह समझौता निरंकुश राज्य की उत्पत्ति नहीं करता। इससे राजनीतिक समाज को केवल वे ही अधिकार मिले हैं जो व्यक्ति ने उसे स्वेच्छा से दिए हैं। वह व्यक्ति के उन अधिकारों में हस्तक्षेप नहीं कर सकता जो उसे नहीं दिए गए हैं। लॉक के इस समझौते के अनुसार दो समझौते हुए। पहला समझौता जनता के बीच तथा दूसरा जनता व शासक के बीच हुआ। सम्प्रभु पहले में शामिल नहीं था। इसलिए वह व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों में हस्तक्षेप नहीं कर सकता। राजनीतिक समाज की स्थापना हेतु किया गया दूसरा समझौता सीमित व उत्तरदायी सरकार की स्थापना करता है। इस समझौते की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :-

1. लॉक के अनुसार दो बार समझौता हुआ। प्रथम समझौते द्वारा नागरिक समाज की स्थापना होती है तथा दूसरे समझौते द्वारा राजनीतिक समाज की स्थापना होती है।
2. यह समझौता सभी व्यक्तियों की स्वीकृति पर आधारित होता है। सहमति मौन भी हो सकती है, परन्तु सहमति अति आवश्यक है क्योंकि राज्य का स्रोत जन-इच्छा है।
3. यह समझौता अखंड्य (Irrevocable) है। एक बार समझौता हो जाने पर इसे भंग नहीं किया जा सकता। इसको तोड़ने का मतलब है - प्राकृतिक अवस्था में वापिस लौटना।
4. इस समझौते के अनुसार प्रत्येक पीढ़ी इसको मानने को बाध्य है। भावी पीढ़ी समझौते पर मौन स्वीकृति देती है। यदि वे अपनी जन्मभूमि त्यागते हैं तो वे उत्तराधिकार के लाभों से वंचित रह जाते हैं।
5. इस समझौते द्वारा व्यक्ति अपने कुछ प्राकृतिक अधिकारों का परित्याग करता है, सभी प्राकृतिक अधिकारों का नही। वह अपना अधिकार समस्त जनसमूह को सौंपता है। यह समझौता जीवन स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए किया जाता है। अतः यह सीमित समझौता है।
6. इस समझौते से नागरिक समुदाय का जन्म होता है, सरकार का नहीं। सरकार का निर्माण तो एक ट्रस्ट द्वारा होता है। इसलिए सरकार तो बदली जा सकती है, लेकिन इस समझौते को भंग नहीं किया जा सकता।
7. लॉक के अनुसार प्रकृति के कानून की व्याख्या करने तथा उसे लागू करने वाला शासक स्वयं भी उससे बाधित है। जिन शर्तों के आधार पर शासक को नियुक्त किया जाता है, शासक को उसका पालन करना है। अतः शासक सर्वोच्च सत्ता सम्पन्न नहीं है।
8. लॉक के सामाजिक समझौते के अन्तर्गत शासक को जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के प्राकृतिक अधिकारों का सम्मान करना पड़ता है। अतः प्राकृतिक अवस्था के अन्त होने के बाद भी सामाजिक समझौते में मनुष्य के प्राकृतिक अधिकार सुरक्षित रहते हैं।
9. नागरिक समाज सामाजिक समझौते द्वारा शासन के दो अंगों विधानसभा तथा कार्यपालिका की स्थापना करता है। विधानसभा का कार्य कानून निर्माण करना है, जिनके आधार पर न्यायधीश निष्पक्ष न्यायिक निर्णय करते हैं। कार्यपालिका विधानसभा के कानूनों और न्यायधीशों के न्यायिक निर्णयों को लागू करती है। अतः सामाजिक समझौता सिद्धान्त सीमित रूप से शक्ति प थक्करण सिद्धान्त को स्वीकार करता है।
10. लॉक ने व्यक्तिवादी राज्य-व्यवस्था की स्थापना की है और उसे व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा करने वाला साधन कहा है।
11. यह समझौता प्राकृतिक कानून का अन्त नहीं करता। इससे प्राकृतिक कानून के महत्त्व में व द्धि होती है। लॉक ने कहा है- "प्राकृतिक कानून के दायित्वों का समाज में अन्त नहीं होता।"
12. यह समझौता हॉब्स के समझौते की तरह दासता का बन्धन नहीं है। अपितु स्वतन्त्रता का एक अधिकार पत्र है। इससे व्यक्ति कुछ खाते नहीं हैं। उन्हें अधिकारों को लागू करने में जो कठिनाइयाँ आती हैं, उनका अन्त करने को प्रयत्न समझौते द्वारा किया जाता है।

हॉब्स से तुलना
(Comparision with Hobbes)

हॉब्स और लॉक दोनों समझौतावादी विचारक हैं। (i) दोनों के अनुसार एक ही समझौता होता है। (ii) दोनों ने यह माना कि सरकार समझौता प्रक्रिया में शामिल नहीं होती। (iii) दोनों ने राज्य की उत्पत्ति के दैवीय अधिकार का विरोध किया है। (iv) दोनों के अनुसार समझौता व्यक्तियों में होता है। (v) दोनों सामाजिक समझौते में विश्वास करते हैं, सरकारे समझौते के सिद्धान्त में नहीं।

उपर्युक्त बातों में समान होते होन पर भी दोनों के सिद्धान्त में कुछ अन्तर मौलिक हैं :-

1. हॉब्स का समझौता कठोर आवश्यकता का प्रतिफल है, परन्तु लॉक का समझौता विवेक का परिणाम है।

2. हॉब्स का समझौता सामान्य स्वभाव का है, लॉक का सीमित और विशिष्ट स्वभाव का है।
3. हॉब्स के समझौते के अनुसार व्यक्ति अपना अधिकार किसी विशेष व्यक्ति या व्यक्ति समूह को सौंपते हैं, लॉक के अनुसार व्यक्ति समुदाय को अपना अधिकार देते हैं।
4. हॉब्स के अनुसार व्यक्ति अपने सारे अधिकार राज्य को सौंपता है, परन्तु लॉक के अनुसार व्यक्ति अपने सीमित अधिकार राज्य को देता है।
5. हॉब्स के समझौते के परिणामस्वरूप एक निरंकुश, सर्वशक्तिशाली, असीम एवं अमर्यादित सम्प्रभु का जन्म होता है, परन्तु लॉक के अनुसार एक सीमित, मर्यादित एवं उदार राज्य का जन्म होता है।
6. हॉब्स का समझौता एक दार्शनिक विचार है, लॉक का ऐतिहासिक तथ्य भी।
7. हॉब्स का सामाजिक समझौता प्राकृतिक अवस्था व प्राकृतिक कानून दोनों को समाप्त कर देता है, परन्तु लॉक का समझौता प्राकृतिक अवस्था का तो अन्त करता है, प्राकृतिक कानून का नहीं। लॉक के अनुसार मनुष्य प्राकृतिक अवस्था के समान राज्य में भी प्राकृतिक कानून का पालन करने को बाध्य है।
8. हॉब्स का शासक कानून बनाता है, परन्तु लॉक का शासन कानून नहीं बनाता, सिर्फ कानून का पता लगाता है। हॉब्स के अनुसार राज्य के बाद कानून का जन्म होता है। लॉक के अनुसार कानून के बाद राज्य का जन्म होता है।
9. लॉक का समझौता स्वतन्त्रता का प्रपत्र है, जबकि हॉब्स का समझौता दासता का पट्टा है।
10. हॉब्स का समझौता प्राकृतिक अवस्था की अराजकता को दूर करने के लिए हुआ था, जबकि लॉक का समझौता प्राकृतिक अवस्था की तीनों कमियों को दूर करने के लिए हुआ था।
11. हॉब्स के अनुसार एक समझौता हुआ जबकि लॉक के अनुसार दो प्रकार के समझौते हुए।

लॉक के सामाजिक समझौते की आलोचनाएँ

(Criticisms of Locke's Social Contract)

लॉक के सामाजिक समझौते की निम्नलिखित आलोचनाएँ हैं :-

1. **अस्पष्टता और अनिश्चितता** : लॉक के सामाजिक समझौते के बारे में आलोचक कहते हैं कि लॉक ने यह स्पष्ट नहीं किया कि सरकार का निर्माण कब और कैसे हुआ। लॉक के विचारों से यह प्रतीत होता है कि सामाजिक समझौते के द्वारा राज्य का निर्माण हुआ है, परन्तु उसकी व्याख्या से यह स्पष्ट नहीं होता कि सामाजिक समझौते से सरकार की भी स्थापना होती है या नहीं। अतः विचारकों में इस बात पर मतभेद है कि लॉक एक समझौते की बात करता है या दो की।
2. **अनैतिहासिक व काल्पनिक** : लॉक ने सामाजिक समझौते द्वारा राज्य व शासन का जो विवरण दिया है, वह काल्पनिक है। उसके विवरण का ऐतिहासिक तथ्यों से मेल नहीं है। लॉक के मानव स्वभाव का चित्रण एक पक्षीय है। सत्य यह है कि मनुष्य कई सद्‌गुणों तथा दुर्गुणों का मिश्रण है। परन्तु लॉक केवल सद्‌गुणों का ही चित्रण करता है। लॉक के इस कथन में ऐतिहासिक प्रमाणों का अभाव है।
3. लॉक ने राज्य और शासन में अन्तर करते हुए, व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका की स्थापना की है। किन्तु आलोचकों का मानना है कि प्राकृतिक अवस्था में मानव शासन से अपरिचित थे। अतः उनसे राजनीतिक परिपक्वता की उम्मीद नहीं की जा सकती। सामाजिक समझौते में लॉक ने जो मानव की राजनीतिक सूझ-बूझ दिखाई है, उसकी कल्पना नहीं की जा सकती।
4. सामाजिक समझौते का एक दोष यह भी है कि यह सिद्धान्त राज्य के पूर्व समझौते की कल्पना करता है परन्तु राज्य की स्थापना के बाद ही समझौते किये जा सकते हैं।
5. **विरोधाभास** : लॉक का सामाजिक समझौते का सिद्धान्त एक तरफ तो सर्वसम्मति की बात करता है तो दूसरी ओर बहुमत के शासन का समर्थन करता है। लॉक ने इस स्थिति की कल्पना नहीं की है कि बहुमत भी अत्याचारी हो सकता है और अपनी शक्ति का प्रयोग जनता के अधिकारों के हनन के लिए कर सकता है।
6. लॉक समझौते का आधार सहमति को मानता है, परन्तु इतिहास में ऐसे कई राज्यों का उल्लेख मिलता है जो बल व शक्ति के आधार पर बने व नष्ट हुए।

7. लॉक ने बार-बार मूल समझौता शब्द का प्रयोग किया है लेकिन कहीं भी इसका अर्थ स्पष्ट नहीं किया। लॉक इस बात को भी स्पष्ट नहीं कर पाए कि मौलिक समझौते के परिणामस्वरूप वास्तव में जो उत्पन्न होता है, वह स्वयं समाज ही है या केवल सरकार।

इस प्रकार लॉक के सामाजिक समझौते की कई आलोचनाएँ की गईं। अनेक विचारकों ने कहा कि लॉक में कुछ भी नया नहीं है। ऐसा कार्य तो पहले भी कई दार्शनिकों द्वारा सम्पन्न हो चुका है। परन्तु लॉक के समझौते की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसने इसे सुनिश्चितता प्रदान की, उसका मुख्य लक्ष्य व्यक्ति के अधिकारों की सुरक्षा को स्वीकार किया। बाद वाली पीढ़ियों ने उसके इस सिद्धान्त को बहुत पसन्द किया। उनके उदारवादी विचारों ने लॉक को मध्यवर्गीय क्रान्ति का सच्चा प्रवक्ता बना दिया था। उसके इस सिद्धान्त ने परवर्ती राजनीतिक चिन्तकों को प्रभावित किया। इस प्रकार लॉक एक महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावशाली हैं।

राज्य का सिद्धान्त : सीमित राज्य
(Theory of State : Limited State)

लॉक का राज्य व्यक्तियों के पारस्परिक समझौते की उपज है। लॉक ने प्राकृतिक अवस्था की कमियों को दूर करने के लिए अपने राज्य की स्थापना की है। प्राकृतिक अवस्था के दोषों को दूर करके मानव द्वारा राज्य की स्थापना करके शांति और सुव्यवस्था कायम करने के उद्देश्य से लॉक ने अपने सीमित राज्य की व्यवस्था की है। लॉक के समझौते द्वारा राजनीतक समाज की व्यवस्था उत्पन्न की जाती है। प्राकृतिक समाज में रहने वाले व्यक्तियों द्वारा सर्वोच्च समुदाय अथवा राजनीतिक समाज या राज्य की उत्पत्ति की जाती है।

लॉक के राज्य में प्रभुसत्ता समुदाय के पास रहती है, लेकिन इसका उपभोग बहुमत द्वारा किया जाता है। राज्य निरंकुशता के साथ कार्य कर सकता है, किन्तु जनहित के लिए। इसके कानूनों को प्राकृतिक तथा ईश्वरीय कानों को अनुरूप होना चाहिए। इसे तुरन्त दिए गए आदेशों का पालन नहीं करना चाहिए बल्कि कानूनों तथा अधिकृत जजों के माध्यम से ही करना चाहिए। विधायिका कानून बनाने की शक्ति को हस्तान्तरित नहीं कर सकती। समुदाय अपनी इच्छानुसार न्यासधारियों को बदल सकता है। लॉक के सामाजिक समझौते द्वारा स्थापित राज्य की निम्न विशेषताएँ हैं :-

1. **संवैधानिक राज्य** (Constitutional State) : लॉक का राज्य एक संवैधानिक राज्य है। इसका अर्थ यह है कि राज्य कानून के द्वारा (Rule of Law) अनुशासित, अनुप्राणित और संचालित होता है। लॉक की मान्यता है कि जहाँ मनुष्य अनिश्चित, अज्ञात एवं स्वेच्छाचारी इच्छा के अधीन रहते हैं, वहाँ उन्हें राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकती। विधानसभा प्राकृतिक कानून की सीमा के अन्तर्गत रहकर कानून निर्माण का कार्य करती है। जहाँ राज्य संचालन कानूनों द्वारा होता है, वहाँ नागरिकों की राजनीतिक स्वतन्त्रता सुरक्षित रह सकती है। लॉक का कहना है- "समाज तथा शासन के उद्देश्यों के साथ निरंकुश स्वेच्छाचारी शक्ति अर्थात् बिना निश्चित स्थापित कानूनों के शासन करने की धारणा कोई संगति नहीं रखती।" लॉक का कहना है कि प्रत्येक राज्य में कार्यपालिका के पास संकटकालीन शक्तियाँ होती हैं। इन शक्तियों को विशेषाधिकार कहा जाता है। ये विशेषाधिकार कानून का पूरक होते हैं। इस प्रकार लॉक विशेषाधिकार के महत्त्व को कानून की सत्ता के अनुपूरक के रूप में ही स्वीकार करता है। अतः लॉक संवैधानिक राज्य का प्रबल प्रवक्ता है। इसलिए लॉक ने कहा है- "जहाँ कानून का अंत होता है, वहीं निरंकुशता का प्रारम्भ होता है।"

2. **जनकल्याण का उद्देश्य** (Aim of Public Welfare) : लॉक के राज्य की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता 'राज्य जनता के लिए, जनता राज्य के लिए नहीं' है। लॉक ने इस बात पर जोर दिया कि सरकार का उद्देश्य मानव-समुदाय का कल्याण करना है। लॉक ने लिखा है- "सम्पत्ति को नियमित करने और उसका परिरक्षण करने के लिए दण्ड सहित कानून बनाने तथा उन कानूनों को क्रियान्वित करनेके लिए समुदाय की सैनिक शक्ति प्रयुक्त करने के अधिकार . . . यह सिर्फ जनता की भलाई के लिए है।" लॉक ने राज्य का यन्त्रवादी द ष्टिकोण अपनाते हुए राज्य को उपकरण मानते हुए जनता के कल्याण की बात कही है। राज्य का उद्देश्य मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों - जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति की रक्षा करना है। अतः राज्य का उद्देश्य जनकल्याण है।

3. **सहमति पर आधारित** (Based on Consent) : लॉक के राज्य की उत्पत्ति जनसमुदाय की व्यापक सहमति पर ही होती है। प्राकृतिक अवस्था में सभी मनुष्य स्वतन्त्र और समान हैं, इसलिए किसी को उसकी इच्छा के विपरीत राज्य का सदस्य

बनने के लिए विवश नहीं किया जा सकता। जो लोग राज्य की व्यवस्था से बाहर प्राकृतिक अवस्था में रहना चाहें वे प्राकृतिक अवस्था में रह सकते हैं। लॉक के अनुसार मनुष्यों की सहमति स्पष्ट और प्रत्यक्ष न होकर मौन भी हो सकती है। फिर भी लॉक इस बात पर जोर देता है कि राज्य समस्त जनता की सहमति है एवं जनकल्याणार्थ राज्य को सहमति प्रदान करती है और उसकी आज्ञा का पालन करती है। लॉक के अनुसार जन-इच्छा पर आधारित राज्य को मान्य होने के लिए उसे पुनः स्वीकार करना आवश्यक है। जन्म लेते समय मनुष्य किसी राज्य या सरकार के अधीन नहीं होता परन्तु अगर वयस्क होने के बाद मानव अपने जन्म के देश की सरकार द्वारा सेवाओं को स्वीकार करते हैं तो यह उसकी सहमति का परिचायक है। यदि शासक जनहित में कार्य करे तो जनता को उसके विरुद्ध विद्रोह करने का भी अधिकार है।

4. **धर्मनिरपेक्ष राज्य** (Secular State) : लॉक का राज्य धर्म सहिष्णु राज्य है। लॉक का मानना है कि विभिन्न धर्मावलम्बियों के रहने से राज्य की एकता नष्ट नहीं होती है। लॉक के लिए धर्म व्यक्तिगत वस्तु है। धर्म का सम्बन्ध व्यक्ति की भावना तथा आत्मा से होता है। लॉक व्यक्ति को उसके अन्तःकरण की भावना के अनुसार उपासना की स्वतन्त्रता प्रदान करता है। अतः राज्य के लोगों के धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। परन्तु यदि मानव की धार्मिक गतिविधियों से समाज पर बुरा प्रभाव पड़ता है या शान्ति भंग होती है तो लॉक के अनुसार राज्य उनकी धार्मिक गतिविधियों पर प्रतिबन्ध लगा सकता है। धर्म और राज्य दोनों के अलग-अलग कार्य होते हैं। हॉब्स की तरह लॉक न तो राज्य को धर्मवादी और न चर्च को राज्य के अधीन रखने का पक्षपाती है। वह धर्मनिरपेक्ष द ष्टिकोण अपनाता है।

5. **उदारवादी राज्य** (Liberal State) : लॉक का राज्य उदारवादी है। वह जनसहमति पर आधारित है। उसका उद्देश्य जनकल्याण है, वह संवैधानिक है, वह मर्यादित है, वह सहिष्णु है एवं जनता को कुछ स्थितियों में राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार प्रदान करता है। लॉक ने शासकों को नैतिक बन्धन में बाँधकर उन्हें शासितों या प्रजा के प्रति उत्तरदायी बनाया है। लॉक ने शासन को विधि के अधीन कर, प थक्करण के सिद्धान्त का बीजारोपण कर, बहुमत के निर्णय में अपनी आस्था प्रकट कर एवं हिंसक सुधारों के बदले शान्तिपूर्ण सुधारों का प्रतिपादन कर लॉक ने उदारवाद का परिचय दिया है।

6. **सीमित राज्य** (Limited State) : लॉक का राज्य सीमित और मर्यादित है, असीम और निरंकुश नहीं। लॉक ने राज्य पर सीमाएँ लगाकर उसे मर्यादित बना दिया है। लॉक ने कहा कि राज्य जनता द्वारा प्रदत्त अधिकारों का ही प्रयोग कर सकता है। राज्य तो जनता का मात्र अभिकर्ता है। राज्य को विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए धरोहर के रूप में शक्ति प्रदान की है। राज्य उनसे हटकर कोई कार्य नहीं कर सकता। लॉक का मत है कि नागरिक कानून प्राकृतिक कानून का अंग है। नागरिक कानून प्राकृतिक कानून की व्याख्या करके अनुचित कार्यों के लिए शीघ्र दण्ड की व्यवस्था करता है। प्राकृतिक कानून सर्वदा उचित-अनुचित का मापदण्ड होता है। विधानपालिका प्राकृतिक कानून के अनुसार अपने कानून का निर्माण करती है। इस प्रकार राज्य प्राकृतिक कानून द्वारा सीमित होता है। राज्य कभी सम्पत्ति के अधिकार का हरण नहीं कर सकता। लॉक का कथन है- "राज्य को निश्चित उद्देश्यों की प्राति हेतु न्यासधारी शक्तियाँ ही प्राप्त हैं।" लॉक की रचना 'शासन पर दो निबन्ध' में प्रमुख उद्देश्य शासन की सत्ता को मर्यादित करना है। अतः लॉक सीमित एवं मर्यादित शासन पर बल देता है।

7. **निषेधात्मक राज्य** (Negative State) : लॉक का कार्यक्षेत्र निषेधात्मक है। राज्य सिर्फ सुरक्षा, शान्ति और न्याय सम्बन्धी कार्यों को पूरा करता है। नागरिकों को शिक्षा, स्वास्थ्य एवं नैतिक बनाना राज्य का दायित्व नहीं है। वह स्वेच्छा से नागरिकों की सम्पत्ति पर कर नहीं लगा सकता। वेपर के अनुसार- "राज्य केवल उन्हीं असुविधाओं और कठिनाइयों को दूर करने की कोशिश करता है। जो प्राकृतिक अवस्था में थी। वह केवल सुरक्षा, सुव्यवस्था और न्याय के तीन कार्य करता है। इसके अतिरिक्त शिक्षा देना, उनका स्वास्थ्य सुधारना, उन्हें सुसंस्कृत और नेतिक बनाने का कार्य कोई राज्य नहीं कर सकता।" लॉक का राज्य न तो नागरिकों के चरित्र सुधारने का प्रयास करता है और न ही उनके जीवनयापन की व्यवस्था करता है। निषेधात्मक होते हुए भी लॉक का राज्य स्वार्थ को परमार्थ में बदलने के लिए सक्षम है। लॉक का राज्य कृत्रिम दण्डों का प्रावधान कर मनुष्यों का अधिकाधिक सुख, सुविधा और प्रसन्नता का उपभोग करने में सहायता करता है।

लॉक ने अपने राज्य की स्थापना करके राजनीति विज्ञान की कुछ गम्भीर समस्याओं को सुलझाने का प्रयास किया है; जैसे - राज्य का उद्देश्य क्या है और राज्य का आदेश व्यक्ति क्यों मानता है ? लॉक ने इन समस्याओं का स्पष्ट उत्तर अपने इस सिद्धान्त के माध्यम से दिया है। लॉक राज्य का उद्देश्य जनकल्याण को बताता है। राज्य व्यक्ति के अधिकारों का संरक्षक है,

इसिलए व्यक्ति स्वेच्छानुसार राज्य की बात मानते हैं। इस प्रकार लॉक ने सीमित एवं मर्यादित राज्य की स्थापना द्वारा जनकल्याणकारी रूप का वर्णन किया है। अतः लॉक का राज्य उदारवादी, कल्याणकारी, जनसहमति पर आधारित राज्य है। यह सीमित और मर्यादित राज्य है जिसका वैधानिक और संवैधानिक आधार है। अतः लॉक को इस सिद्धान्त की स्थापना से एक उदारवादी चिन्तक के रूप में मान्यता मिली है। लॉक की इस देन को कभी नकारा नहीं जा सकता। आधुनिक चिन्तन में लॉक की उदारवादी विचारधारा का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

सरकार का सिद्धान्त : सीमित सरकार
(Theory of Government : Limited Government)

लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था को मनुष्यों ने समझौते द्वारा समाप्त करके नए समाज की स्थापना की है। इसकी स्थापना का उद्देश्य अपनी कठिनाइयों को दूर करना तथा अपने प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा करना था। जनता ने शासक को सभी अधिकार नहीं सौंपे, केवल वही अधिकार दिए जिससे जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति की रक्षा हो सके। लॉक ने सरकार को सरकार न कह कर ट्रस्ट का नाम दिया जिसे जनता के समान अधिकार प्राप्त नहीं हैं। सरकार के तो जनता के प्रति कर्त्तव्य हैं कि ट्रस्ट के अनुसार काम करे और यदि सरकार ट्रस्ट की मर्यादाओं का अतिक्रमण करती है तो समुदाय को सरकार को भंग करने का अधिकार प्राप्त है। लॉक के राजदर्शन में राज्य एवं सरकार में कोई स्पष्ट अन्तर नहीं किया है। उसके अनुसार सामाजिक समझौते से राज्य का निर्माण होता है न कि सरकार का।

सरकार की स्थापना

लॉक के अनुसार सामाजिक समझौते के माध्यम से नागरिक समुदाय अथवा समाज की स्थापना हो जाने के बाद सरकार की स्थापना किसी समझौते द्वारा नहीं, बल्कि एक विश्वस्त न्यास या ट्रस्टी द्वारा हुई। लॉक का सरकार को समाज के अधीन रखना इस बात पर जोर देना है कि सरकार जनहित के लिए है। अपने कार्य में असफल रहने पर सरकार को बदला जा सकता है। लॉक के अनुसार- "राज्य एक समुदाय है जो लोगों के समझौते द्वारा संगठित किया जाता है। परन्तु सरकार वह है जिसे यह समुदाय अपने कर्त्तव्यों को व्यावहारिक स्वरूप देने के लिए एक न्यास की स्थापना करके स्थापित करता है।" लॉक का मनना है कि समुदाय बिना सम्प्रभु के सहयोग के इस ट्रस्टी की स्थापना करता है। लॉक ने कहा है कि शासन के विघटन होने पर भी राज्य कायम रहता है। लॉक का शासन या सरकार सिर्फ जनता का ट्रस्टी है और वह जनता के प्रति उत्तरदायी होता है। इसकी शक्तियों का स्रोत जनता है, मूल समझौता नहीं।

सरकार के कार्य
(Functions of Government)

सरकार की स्थापना के बाद लॉक सरकार के कार्यों पर चर्चा करता है। लॉक ने सरकार को प्रत्येक व्यक्ति के जीवन, सम्पत्ति तथा स्वतन्त्रता की रक्षा करने का कार्य सौंपा है। लॉक ने कहा है- "मनुष्यों के राज्य में संगठित होने तथा अपने आपको सरकार के अधीन रखने का महान् एवं मुख्य उद्देश्य अपनी-अपनी सम्पत्ति की रक्षा करना है।" लॉक के अनुसार सरकार के तीन कार्य हैं :-

1. सरकार का प्रथम कार्य व्यवस्थापिका के माध्यम से समस्त विवादों का निर्णय करना, जीवन को व्यवस्थित करना, उचित-अनुचित, न्याय-अन्याय का मापदण्ड निर्धारित करना है।
2. सरकार के कार्यपालिका सम्बन्धी कार्य जैसे युद्ध की घोषणा करना, नागरिकों के हितों की रक्षा करना, शान्ति स्थापित करना तथा अन्य राज्यों से सन्धि करना व न्यायपालिका के निर्णयों को क्रियान्वित करना है।
3. सरकार का तीसरा प्रमुख कार्य व्यवस्थापिका सम्बन्धी कार्य है। यह कार्य एक ऐसी निष्पक्ष शक्ति की स्थापना से सम्बन्धित है जो कानूनों के अनुसार विवादों का निर्णय कर सके।

लॉक के अनुसार सरकार अपने अधिकारों का प्रयोग स्वेच्छा से नहीं कर सकती। सरकार की शक्तियाँ धरोहर मात्र हैं। वह जनता द्वारा स्थापित न्यास है, जिसे समाज को वापिस लेने का अधिकार है। जब सरकार ईमानदारी से अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह न करे तो उसे बदलने का अधिकार जनता के पास है। लॉक के अनुसार कार्यों के अलग-अलग होने से सरकार के तीन अंग इनका सम्पादन करते हैं।

सरकार के अंग

लॉक ने प्राकृतिक अवस्था की असुविधाओं को दूर करने के लिए सरकार के तीन अंगों को कार्य सौंपकर उनका निराकरण किया। ये तीन अंग निम्नलिखित हैं:-

1. **विधानपालिका शक्ति** (Legislative Power) : सरकार न्याय तथा अन्याय का मापदण्ड तथा समस्त विवादों का निर्णय करने के लिए एक सामान्य मापदण्ड निर्धारित करती है। विधानपालिका समुदाय की सर्वोच्च शक्ति को धरोहर के रूप में प्रयोग करती है। फिर भी शासन के अन्दर वह सबसे महत्त्वपूर्ण और सर्वोच्च होती है। शासन के स्वरूप का निर्धारण इसी बात से होता है कि विधायिनी शक्ति का प्रयोग कौन करता है। लॉक का मानना है कि यदि वह शक्ति निरंकुश शासक के हाथ में हो तो जनता का जीवन कष्टमय हो जाता है। लॉक ने कहा कि विधानपालिका की शक्ति निरंकुश नहीं है। उसे मर्यादा में रहकर कार्य करना पड़ता है। वह मनमानी नहीं कर सकती। उसकी शक्तियों का प्रयोग केवल जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही हो सकता है। वह केवल समाज हित में कार्य करेगी, किसी व्यक्ति को उसकी सम्पत्ति से वंचित नहीं कर सकती। इसे नागरिकों के प्राकृतिक अधिकारों का सम्मान करना पड़ता है और वह अपनी वैधानिक शक्तियों का प्रयोग दूसरे को नहीं दे सकती। विधानपालिका सर्वसम्मति के सिद्धान्त के अनुसार ही कार्य करती है।

2. **कार्यपालिका शक्ति** (Executive Powers) : यह शासन का दसरा प्रमुख अंग है। लॉक इसे कानून लागू करने के अतिरिक्त न्याय करने का भी अधिकार प्रदान करता है। अतएव कार्यपालिका को न्यायपालिका से अधिक शक्तियाँ प्रदान की हैं। यह एक ऐसी निष्पक्ष शक्ति है जो कानून के अनुसार व्यक्तियों के आपस के झगड़ों का निर्णय करती है। प्राकृतिक अवस्था में प्राकृतिक कानून को लागू करते समय यह सम्भावना रहती थी कि मनुष्य अपने स्वार्थ, प्रतिशोध और क्रोध से प्रभावित हो सकता है। उसकी सहानुभूति संसद के साथ होते हुए भी उसने शासक की निरंकुशता पर रोक लगाने के लिए शक्तियों का विभाजन किया। उसने कार्यपालिका को न्याय सम्बन्धी अधिकार इसलिए दिये क्योंकि विधानपालिका तो कुछ समय के लिए सत्र में रहती है जबकि कार्यपालिका की तो सदा जरूरत पड़ सकती है। इसलिए कार्यपालिका को जनकल्याण में कानून की बनाने का अधिकार है। यह उसका विशेषाधिकार है। वस्तुतः लॉक की कार्यपालिका विधानपालिका की उसी प्रकार ट्रस्टी है, जिस प्रकार उसकी विधानपालिका समस्त समुदाय की।

3. **संघपालिका शक्ति** (Federatative Power) : इस अंग का कार्य दूसरे देशों के साथ सन्धियाँ करना है। इसका सम्बन्ध विदेश नीति से है। यह अंग दूसरे लोगों की सुरक्षा और हितों की रक्षा के लिए विदेशों में प्रबन्ध करती है। युद्ध की घोषणा करना, शान्ति स्थापना तथा दूसरे राज्यों से सन्धि करना, इस संघपालिका की शक्ति के अन्तर्गत आते हैं। संघपालिका शक्ति के क्रियान्वयन के लिए शासन के प थक् अंग की व्यवस्था न कर लॉक इसे कार्यपालिका के अधीन ही रखने का सुझाव देता है। लॉक का मानना है कि विधानपालिका के कानूनों द्वारा संघीय शक्ति का संचालन नहीं हो सकता। इसका संचालन तो प्रखर बुद्धि और गहन विवेक वाले व्यक्तियों पर ही निर्भर करता है।

सरकार के तीन रूप

लॉक के अनुसार सरकार का स्वरूप इस बात पर निर्भर करता है कि बहुमत समुदाय अपनी शक्ति का किस प्रकार प्रयोग करना चाहता है। इस आधार पर सरकार के तीन रूप हो सकते हैं :-

1. जनतन्त्र : यदि व्यवस्थापिका शक्ति समाज स्वयं अपने हाथों में रखता है तथा उन्हें लागू करने के लिए अधिकारियों की नियुक्ति करता है तो शासन का स्वरूप जनतन्त्रीय है।

2. अल्पतन्त्र : यदि समाज की व्यवस्थापिका शक्ति बहुमत द्वारा कुछ चुने हुए व्यक्तियों या उनके उत्तराधिकारियों को दी जाती है तो सरकार अल्पतन्त्र सरकार कहलाती है।

3. राजतन्त्र : यदि व्यवस्थापिका शक्ति केवल एक व्यक्ति को दी जाती है तो शासन का रूप राजतन्त्रात्मक है।

शक्ति प थक्करण की व्यवस्था

(Separation of Powers)

लॉक ने सरकार के तीन अंगों की स्थापना करके विधायिका तथा कार्यपालिका में स्पष्ट और अनिश्चित प थक्कता स्वीकार की और कार्यपालिका को विधायिका के अधीनस्थ बनाया। लॉक इन दोनों शक्तियों के एकीकरण पर असहमति जताते हुए कहा-

"जिन व्यक्तियों के हाथ में विधि निर्माण की शक्ति होती है, उनमें विधियों को क्रियान्वित करने की शक्ति अपने हाथ में ले लेने की प्रबल इच्छा हो सकती है क्योंकि शक्ति हथियाने का प्रलोभन मनुष्य की एक महान् दुर्बलता है।" लॉक ने कहा कि कार्यपालिका का सत्र हमेशा चलना चाहिए। विधानपालिका के लिए ऐसा आवश्यक नहीं। यद्यपि लॉक शक्तियों का प थक्करण की बात करता है, परन्तु कार्यपालिका व विधानपालिका के कार्य एक ही अंग को सौंपने को तैयार है। वेपर का मत है- "लॉक ने उस शक्ति प थक्करण की अवधारणा का प्रतिपादन नहीं किया है जिसे हम आगे चलकर अमेरिकी संविधान में पाते हैं। अमेरिकी संविधान में निहित शक्ति प थक्करण का तात्पर्य है कि शासन का कोई भी अंग अन्य अंगों से सर्वोच्च नहीं है, जबकि लॉक ने विधायिका की सर्वोच्चता का प्रतिपादन किया था।" अतः लॉक का दर्शन शक्ति प थक्करण के सिद्धान्त का असली जनक नहीं है। उसके दर्शन में तो बीज मात्र ही है।

सरकार की सीमाएँ

(Limitations on Government)

लॉक कानूनी प्रभुसत्ता के सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं करता। वह कानूनी सार्वभौम को लोकप्रिय सार्वभौम को सौंप देता है। वह एक ऐसी सरकार के पक्ष में है जो शक्ति विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित है तथा बहुत सी सीमाओं से सीमित है। लॉक की सरकार की प्रमुख सीमाएँ निम्नलिखित हैं:-

1. यह सरकार जनहित के विरुद्ध कोई आदेश नहीं दे सकती।
2. वह व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों का उल्लंघन, उन्हें कम या समाप्त नहीं कर सकती।
3. वह निरंकुशता के साथ शासन नहीं कर सकती। उसके कार्य कानून के अनुरूप ही होने चाहिएं।
4. यह प्रजा पर बिना उसकी सहमति के कर नहीं लगा सकती।
5. इसके कानून प्राकृतिक कानूनों तथा दैवीय कानूनों के अनुसार होने चाहिएं।

आलोचनाएँ

(Criticisms)

लॉक की सीमित सरकार की प्रमुख आलोचनाएँ निम्नलिखित हैं :-

1. सरकार व राज्य में भेद को स्पष्ट नहीं किया। लॉक ने इनके प्रयोग में स्पष्टता नहीं दिखाई। कभी दोनों का समान अर्थ में प्रयोग किया, कभी राज्य को सरकार के अधीन माना है।
2. लॉक के राज्य का वर्गीकरण अवैज्ञानिक है। उनका वर्गीकरण राज्य का नहीं सरकार का है, क्योंकि उसने विधायनी शक्ति जो सरकार का तत्त्व है, के आधार पर राज्य का वर्गीकरण किया है।
3. विधायिका शक्ति का समुचित प्रयोग नहीं कर सकती। लॉक के सिद्धान्त में समुदाय की शक्ति ट्रस्ट के रूप में सरकार की विधानपालिका शक्ति के पास आती है, परन्तु उसे अपनी श्रेष्ठता को प्रदर्शित करने का मौका नहीं मिलता। समुदाय की शक्ति तभी सक्रिय होती है जब सरकार का विघटन होता है।
4. लॉक के पास सरकार हटाने का कोई ऐसा मापदण्ड नहीं है जिसके आधार पर निर्णय किया जा सके कि सरकार ट्रस्ट का पालन कर रही है या नहीं। यह भी प्रश्न है कि यह कौन निर्णय करे कि सरकार ट्रस्ट के विरुद्ध काम कर रही है। इसके बारे लोगों की राय कैसे जानी जाए ?

उपर्युक्त आलोचनाओं के बाद कहा जा सकता है कि लॉक का यह सिद्धान्त एक सैद्धान्तिक संकल्पना मात्र है, व्यावहारिक नहीं। फिर भी आधुनिक शासन प्रणालियों में सरकार के जिन अंगों और कार्यों को मान्यता मिली है। वे लॉक के दर्शन का महत्त्व सिद्ध करते हैं। अतः लॉक का सीमित सरकार का सिद्धान्त आधुनिक युग में महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है।

लॉक क्रान्ति के दार्शनिक के रूप में
(Locke as a Philosopher of Revolution)

लॉक ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'शासन पर द्वितीय निबन्ध' में क्रान्ति पर अपने विचार प्रकट किए हैं। लॉक सरकार को जनता के अधीन रखता है। लॉक का मानना है कि राज्य का निर्माण सर्वसहमति से जनकल्याण के लिए समुदाय द्वारा एक समझौते के तहत हुआ है। इस प्रक्रिया में नियन्त्रण की शक्ति लोगों के पास ही रहती है। लॉक के अनुसार- "यदि कोई व्यक्ति समाज

या व्यक्ति समूह के अधिकारों को नष्ट करने की चेष्टा करता है और योजना बनाता है, यहाँ तक कि यदि इस समाज के विधायक भी इतने मूर्ख या दुष्ट हो जाएँ कि लोगों की स्वतन्त्रताओं और सम्पत्तियों का ही अपहरण करने लगे तो समाज अपने आपको बचाने के लिए सर्वोच्च शक्ति निरन्तर अपने पास रखता है।" लॉक किसी ऐसे सार्वभौम का विचार नहीं करता जिसके कानून बनाने के अधिकार पर कोई प्रश्न न किया जा सके। यदि सरकार अपनी अधिकार सीमा का उल्लंघन करती है तो जनता को उसके विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार है। जनता को यह निर्णय करने का अधिकार है कि सरकार अपने कर्त्तव्य का पालन कर रही है या नहीं। यदि नहीं तो जनता ऐसी अयोग्य तथा दुराचारी सरकारको पदच्युत कर सकती है। एक ऐसा शासक जो निरंकुश है, जनता को युद्ध की ज्वाला में झोंकता है तो जनता को विद्रोह का पूरा अधिकार है। जनता सम्प्रभु को सारे अधिकार उनको सुरक्षा व संरक्षण प्रदान करने के लिए देती है। यदि इन अधिकारों की सुरक्षा में कोई खामी पैदा हो जाए तो जनता को विद्रोह का पूरा अधिकार है। लॉक का कहना है- "सारे अधिकार इस विश्वास से दिए जाते हैं कि एक लक्ष्य प्राप्त होगा। उस लक्ष्य के सीमित होने के कारण, जब कभी भी सरकार द्वारा उनकी उपेक्षा की जाती है तो वह विश्वास निश्चय ही समाप्त हो जाता है।" विधायिका सरकार का सबसे शक्तिशाली अंग होता है। उसे केवल जनता के अधिकारों , जो जनता ने उसे दिए हैं, से ही सन्तुष्ट होना पड़ता है। यदि विधायिका उन अधिकारों का अतिक्रमण करे तो विरोध अनिवार्य है। लॉक की प्रभुसत्ता जनता में निहित है। अतः जनता को अन्याय का विरोध करने का पूरा अधिकार प्राप्त है।

लॉक का प्रमुख उद्देश्य निरंकुश शासन के विरुद्ध संवैधानिक अथवा सीमित सरकार का समर्थन करना है। सरकार की शक्तियाँ धरोहर मात्र हैं। सरकार सर्वोच्च होते हुए भी मनमानी नहीं कर सकती। उसके अधिकार क्षेत्र सीमित हैं। लॉक के अनुसार- "जब भी जनता यह महसूस करे कि व्यवस्थापिका उसे सौंपे गए ट्रस्ट के विरुद्ध जा रही है तो उसे हटा देने अथवा परिवर्तन करने की सर्वोच्च शक्ति जनता में अब भी रहती है।" भ्रष्ट शासकों को पदच्युत करने के लिए लॉक संवैधानिक उपायों का सुझाव देता है। परन्तु यदि भ्रष्ट या दुष्ट शासक लोगों के विरोध का हिंसक दमन करता है तो जनता को वह असंवैधानिक उपायों के प्रयोग की सलाह देता है। लॉक ने कहा है कि "यदि यह स्पष्ट हो जाए कि राजनीतिक सत्ता अन्याय के मार्ग पर चल रही है, सरकार प्राकृतिक नियमों की अवहेलना कर रही है, लोगों के प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा करने में असमर्थ है, मनमानी कर रही है, तो इन परिस्थितियों में जनता को क्रान्ति का अधिकार है।" सरकार के भंग होने के बारे में लॉक कहता है कि "सरकार तब भंग हो जाती है जब कानून निर्माण की शक्ति उस संस्था से हट जाती है जिसको जनता ने यह दी थी या तब जबकि कार्यपालिका या व्यवस्थापिका उसका प्रयोग ट्रस्ट की शर्तों के विपरीत करते हैं।"

शासन या सरकार के विरुद्ध विद्रोह के कारण

लॉक ने सर्वप्रथम उन परिस्थितियों का उल्लेख किया है जब जनता विद्रोह करना अपना पवित्र कर्त्तव्य समझती है। लॉक की मान्यता है कि विद्रोह का अधिकार जनता के पास न होकर शासक के उत्तरदायित्व पर निर्भर है। कार्यपालिका जब अपने विशेषाधिकार का दुरुपयोग कर नियत समय पर विधानपालिका का सत्र नहीं बुलाती है एवं बिना विधानपालिका की अनुमति से स्वेच्छापूर्वक शासन करती है, तब कानून निर्माण की शक्ति विधानपालिका के हाथों से कार्यपालिका के पास चली जाती है। उस अवस्था में जनता को विद्रोह का अधिकार है। लॉक निम्नलिखित परिस्थितियों में जनता को विरोध का अधिकार देता है :-

1. यदि शासन जनता की सहमति पर आधारित न हो।
2. यदि वह जनता का विश्वास खो दे।
3. यदि वह ट्रस्ट विरोधी आचरण करे।
4. यदि वह जनता के जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के अधिकारों का अतिक्रमण करे।
5. यदि वह अनिपुण, स्वेच्छाचारी और निरंकुश हो।
6. यदि वह जनता की सहमति के बिना चुनाव सम्बन्धी कानूनों में परिवर्तन करे।
7. यदि वह देश के नागरिकों को विदेशी शासकों का गुलाम बनाने का प्रयास करे तो उसके विरुद्ध विद्रोह करना जनता का अधिकार ही नहीं, एक पवित्र कर्त्तव्य भी है। इसका अर्थ यह है कि ईश्वर ने मनुष्य को विद्रोह का अधिकार दिया है जिससे वे अन्याय, अनीति और अत्याचार से अपनी रक्षा कर सकें, क्योंकि अत्याचार तो स्वर्ग के देवता भी सहन नहीं करते। इसलिए लॉक ने कहा है- "प्राधिकरण के बिना शक्ति का वास्तविक उपचार शक्ति द्वारा इसका विरोध करना ही है।" लॉक ने यह भी स्पष्ट किया है कि विद्रोह द्वारा शासन का अन्त होता है, समाज का नहीं।

विद्रोह का अधिकार किसे ?

विद्रोह के अधिकार के बारे में एक प्रश्न उभरता है कि विद्रोह का अधिकार किसे है ? जनता को, बहुमत को, अल्पमत को या एक व्यक्ति को। लॉस्की व सेबाइन जैसे विचारकों का मत है कि लॉक विद्रोह का अधिकार जनता या बहुसंख्यक को देता है। लॉक ने स्वयं कहा है कि "अल्पसंख्यकों द्वारा विद्रोह करना व्यर्थ है।" परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि अल्पसंख्यकों या एक व्यक्ति को विद्रोह नहीं करना चाहिए। यदि शासक के अत्याचारों से जनता उत्पीड़ित न हो तो इसके लिए बहुसंख्यक की प्रतीक्षा करना जरूरी नहीं है। बहुसंख्यक के सहयोग बिना क्रान्ति सफल नहीं हो सकती। लॉक ने अपने ग्रन्थ के 14 वें अध्याय में लिखा है कि "एक व्यक्ति को भी विद्रोह का अधिकार है यदि उसे अधिकार से वंचित किया जाता है।" विद्रोह करना कानूनी अधिकार नहीं है। विद्रोह का अर्थ अन्धकार में छलांग मारना है। प्रायः सभी क्रान्तियों में विद्रोह की आग गणमान्य या कुछ ही लोगों द्वारा सुलगाई जाती है और बाद में अन्य लोग भी उसमें शामिल हो जाते हैं। अतः लॉक कहता है कि "विद्रोह का अधिकार एक व्यक्ति को भी है। शर्त सिर्फ यह है कि उसे अधिकार का प्रयोग विवेकपूर्ण ढंग से सार्वजनिक हित में अन्य व्यक्तियों के मतों का समुचित आदर करते हुए करना चाहिए।

लॉक एक गम्भीर विचारक था। उसने जनता में निहित क्रान्ति के अधिकार का प्रयोग विशेष परिस्थितियों में ही करने का सुझाव दिया। तुच्छ व क्षणिक कार्यों से क्रान्ति नहीं करनी चाहिए। क्रान्ति तभी करनी चाहिए जब शासक जतना के हितों की रक्षा करने में सक्षम हो। क्रान्ति को सफल बनाने के लिए इसमें बहुमत का भाग लेना आवश्यक है। क्रान्ति की आग चाहे एक व्यक्ति के द्वारा भड़काई जाए या अल्पमत द्वारा जब तक बहुमत उसमें शामिल न हो तब तक सम्पूर्ण समाज-हित की भावना प्रकट नहीं होती।

आलोचनाएँ
(Criticism)

लॉक के क्रान्ति के सिद्धान्त की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना हुई है :-

1. **तर्कहीन व अव्यावहारिक** : लॉक का यह सिद्धान्त तर्कहीनता के दोष से ग्रस्त है। लॉक का क्रान्ति का सिद्धान्त अव्यावहारिक है। आधुनिक समय में कोई भी राज्य अपने नागरिकों को क्रान्ति का अधिकार नहीं दे सकता। यदि इसे व्यावहारिक रूप दिया जाए तो समाज में अराजकता फैल जाएगी। इसलिए इन्हें नैतिक व वैध आधार प्रदान नहीं किया जा सकता।
2. **हिंसा का समर्थक** : लॉक का यह सिद्धान्त समाज में हिंसा फैलाने का पक्षपाती है। आज प्रत्येक राज्य शान्ति कायम करने के विपरीत उपाय करता है। शान्ति भंग करने वालों से निपटने के लिए कठोर दण्डात्मक उपाय भी करता है। आधुनिक राज्यों में हिंसा का समर्थन करना अशान्ति को बढ़ाता है।
3. क्रान्ति का बहुमत द्वारा समर्थित होने पर ही वैधता प्राप्त होती है। अतः यह सिद्धान्त पक्षपातपूर्ण रवैया रखता है। इसमें अल्पसंख्यकों पर हो रहे अत्याचारों के कारण क्रान्ति करने पर बहुमत का समर्थन मिलने पर ही विद्रोह किया जा सकता है। अतः यह सिद्धान्त बहुमत का अल्पमत पर अन्याय का दोषी है।
4. लॉक ने क्रान्ति की प्रक्रिया को स्पष्ट नहीं किया है। उसने केवल यह बताया कि यदि शासक अन्यायी हो जाए तो जनता का विद्रोह का अधिकार है। उसने यह स्पष्ट नहीं किया कि लोग यह कार्यवाही किस प्रकार करते हैं।
5. **सेबाइन के अनुसार**- "लॉक ने विद्रोह विषयक अपने सभी तर्कों में विधिसंगत शब्द का प्रयोग करके पूर्ण और शायद अनावश्यक भ्रम उत्पन्न कर दिया है।" स्वयं लॉक द्वारा क्रान्ति का समर्थन इस बात को स्पष्ट कर देता है कि विधिसंगत कार्य सदा न्यायपूर्ण और नैतिक नहीं हो सकता।
6. **रसेल के अनुसार** - "लॉक ने कहा है कि अन्यायी शासन के विरुद्ध विद्रोह अवश्य करना चाहिए। परन्तु व्यवहार में यह तभी सार्थक होता है जब किसी संस्था को यह निर्णय करने का अधिकार हो कि शासन कब अन्यायी या अवैध है। लॉक ने इसकी व्यवस्था नहीं की है। लॉक इस बात को भूल जाता है कि मनुष्य कितना भी ईमानदार हो, पूर्णतः निष्पक्ष नहीं हो सकता।"

उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद यह कहा जा सकता है कि लॉक का क्रान्ति का सिद्धान्त राजनीति दर्शन के इतिहास में उसकी अमूल्य देन है। अमेरिका के स्वतन्त्रता संग्राम एवं फ्रांस की क्रान्ति पर लॉक का महान् प्रभाव पड़ा। लॉक ने 1688 की गौरवपूर्ण क्रान्ति का उदाहरण देते हुए, क्रान्ति के औचित्य को ठीक ठहराने का पूरा प्रयास इस सिद्धान्त द्वारा किया है। लॉक ने अपनी पुस्तक 'नागरिक शासन' जो 1690 में प्रकाशित की, उसकी भूमिका में उसने लिखा है- "इसमें हमारा उद्देश्य वर्तमान राजा

विलियम के सिंहासन पर बैठने की घटना को सुप्रतिष्ठित बनाना है।" लॉक एक प्रगतिशील विचारक थे। उनका प्रमुख ध्येय इस सिद्धान्त की स्थापना करके रक्तहीन क्रान्ति (Bloodless Revolution) का औचित्य ही सिद्ध करना था। उसके इस सिद्धान्त का जैफरसन पर काफी प्रभाव पड़ा। अतः इसके संदर्भ में कहा जा सकता है कि लॉक के विद्रोह विषयक विचार आधुनिक युग में भी महत्त्वपूर्ण, उपयोगी एवं स्मरणीय हैं। इसलिए लॉक का यह सिद्धान्त राजनीति दर्शन के इतिहास में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण एवं अमूल्य देन है।

लॉक एक व्यक्तिवादी के रूप में
(Lock as an Individualist)

राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में लॉक का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। लॉक का मानना है कि प थ्वी और उस पर विद्यमान सभी संस्थाएँ व्यक्ति के लिए ही हैं, व्यक्ति उनके लिए नहीं है। लॉक के दर्शन का आधार यह है कि व्यक्ति के कुछ मूल तथा अपरिवर्तनीय अधिकार होते हैं, जो स्वाधीनता, जीवन तथा सम्पत्ति के अधिकार हैं, जिन्हें उनसे छीना जा सकता है। लॉक को उपर्युक्त व्यवस्था के कारण ही उसे व्यक्तिवाद का अग्रदूत कहा जाता है। जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के इन अधिकारों की सुरक्षा के लिए राज्य को संरक्षक बना सकता है। लॉक एक स्पष्टवादी विचारक है। वह अपने व्यक्ति को समाज तथा राज्य दोनों से पहले रखता है। लॉक के लिए यदि कोई सार्वभौम है तो वह राज्य न होकर व्यक्ति ही है। राज्य एक साधन है तथा व्यक्ति उसका लक्ष्य है। राज्य एक सुविधा है तथा सर्वशक्तिमान व्यक्तियों का सेवक है। यह व्यक्तियों के अधीन उनका एक एजेण्ट अथवा प्रतिनिधि है।

लॉक का सम्पूर्ण दर्शन व्यक्ति के इर्द-गिर्द ही घूमता है। हर कार्य इस प्रकार से होता है कि व्यक्ति की सार्वभौमिकता कायम रहती है। लॉक का मानना है कि व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा करना राज्य का कर्त्तव्य है और राज्य को व्यक्ति की सहमति के बिना कोई कार्य करने की अनुमति नहीं देता है। लॉक के अनुसार व्यक्ति की इच्छा के विरुद्ध राज्य का सदस्य बनने के लिए बाध्य नहीं जा सकता। राज्य के दुर्व्यवहार अथवा अधिकार का दरुपयोग करने पर व्यक्ति को उसका विरोध करने का अधिकार है। व्यक्ति राज्य से पहले है। एक व्यक्तिवादी के रूप में लॉक का दावा निम्न बातों पर निर्भर करता है।

1. व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के अधिकार प्राकृतिक उसके जन्मजात तथा प्राकृतिक अधिकार है। प्राकृतिक कानून विवेक पर आधारित होने के कारण यह सभी व्यक्तियों को समान मानता है। ये अधिकार व्यक्ति के निजी अधिकार हैं। इनके स्वाभाविक व जन्मसिद्ध होने के कारण राज्य कभी भी इनसे विमुक्त नहीं हो सकता।

2. राज्य का उद्देश्य व्यक्ति के अधिकारों का संरक्षण है। लॉक के अनुसार राज्य का उद्देश्य जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा करता है। इसी से राज्य का औचित्य सिद्ध हो सकता है। लॉक ने कह कि यदि इन अधिकारों की रक्षा होती तो राज्य का अस्तित्व कायम रह सकता है। राज्य का जन्म इन अधिकारों को सुरक्षित बनाने के लिए ही होता है।

3. व्यक्तियों की सहमति ही राज्य का आधार है। यह सहमति मौन भी हो सकती है। लॉक का सहमति सिद्धान्त उनके व्यक्तिवाद पर ही आधारित है। लॉक ने कहा है कि व्यक्तियों का आपसी सहमति तथा इच्छा ने ही राज्य की संरचना की है और किसी को राज्य की सदस्यता स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। लॉक ने भावी पीढ़ियों को राज्य की सदस्यता स्वीकार करने या न करने की छूट दी है जो उसके व्यक्तिवाद का परिचायक है। प्राकृतिक अवस्था के लोगों को समझौते में शामिल होकर नहीं होते, वे प्राकृतिक अवस्था में ही बने रहते हैं। इस प्रकार इसकी सदस्यता के सम्बन्ध में लॉक ने प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा का आदर किया है।

4. लॉक ने व्यक्ति को राज्य का विरोध करने का अधिकार दिया है। लॉक के अनुसार- "समुदाय की सर्वोच्च शक्ति अन्तिम रूप से समाज में ही निहित होती है जिससे आवश्यकता पड़ने पर समाज उसका प्रयोग कर भ्रष्ट शासकों को अपदस्थ कर नये शासकों का चुनाव कर सकता है। लॉक के अनुसार राज्य का निर्माण जनकल्याण के लिए किया गया है। राज्य एक ट्रस्ट के समान है। वह जनता की सहमति पर आधारित तथा वैधानिक होता है। अतः यदि वह निर्धारित उद्देश्यों को पूरा करने में असफल रहता है तो उस स्थिति में जनता को उसके विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार है।

5. लॉक का व्यक्तिवाद उसके नकारात्मक राज्य की अवधारणा द्वारा प्रमाणित होता है। राज्य के कार्य नकारात्मक कर्त्तव्यों तक ही सीमित हैं। राज्य केवल तभी हस्तक्षेप करता है, जब व्यक्ति के अधिकारों का उल्लंघन होता है। नैतिकता, बुद्धि तथा शिक्षा के क्षेत्र में व्यक्ति को अकेला छोड़ दिया जाता है। राज्य का उद्देश्य केवल जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति

के अधिकार की रक्षा करने तक ही सीमित है। बाकी सारे अधिकार व्यक्ति की अपनी इच्छानुसार संरक्षित होते हैं। इसलिए नकारात्मक राज्य का सिद्धान्त लॉक को सर्वश्रेष्ठ व्यक्तिवादी सिद्ध करता है।

6. लॉक ने धार्मिक सहिष्णुता का विचार देकर व्यक्तिवादी होने का परिचय दिया है। लॉक ने कहा है कि सभी धर्मों और सम्प्रदायों को अपने विकास का अवसर दिया जाना चाहिए, बशर्ते उससे राज्य में अव्यवस्था न फैलती हो। लॉक धर्म को एक व्यक्तिगत चीज मानता है। इसलिए राज्य को व्यक्तियों के धर्म और विश्वास में किसी तरह से हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। इस प्रकार लॉक प्रत्येक व्यक्ति को अपने अन्तःकरण के अनुसार धार्मिक पूजा और उपासना की स्वतन्त्रता प्रदान करता है।
7. लॉक के चिन्तन में उपयोगितावाद स्पष्ट दिखाई देता है। वह मानता है कि प्राकृतिक अवस्था के दुःखों को दूर करने के लिए तथा सुखों की प्राप्ति के लिए ही राजनीतिक समाज की स्थापना होती है और इनकी उपयोतिा इसी में निहित है कि वह व्यक्तियों को अधिक सुख पहुँचाये। इस प्रकार लॉक व्यक्ति के सुख को प्राथमिकता देता है।
8. व्यक्तिगत सम्पत्ति के कट्टर समर्थक लॉक ने कहा कि श्रम द्वारा अर्जित या जहाँ व्यक्ति अपना श्रम लगाता है वह वस्तु उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति हो जाती है और राज्य व्यक्ति की अनुमति के बिना उससे उसका एक भी हिस्सा नहीं ले सकता। लॉक का कहना है कि व्यक्ति उन वस्तुओं का मालिक बन जाता है जिनमें वह अपना शारीरिक श्रम मिला देता है। यह व्यक्ति या वैयक्तिकता का महत्त्व स्पष्ट करता है। अतः लॉक का श्रम सिद्धान्त उसके व्यक्तिवाद की ही पहचान है।
9. लॉक का क्रान्ति का सिद्धान्त बिना किसी सन्देह के लॉक के व्यक्तिवादी होने का प्रबल पक्षधर है। लॉक का कहना है कि राज्य अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करता है तो शासन करने का अधिकार समाप्त हो जाता है। व्यक्ति को उसका तख्ता पलटने का पूरा अधिकार प्राप्त हो जाता है। लॉक ने व्यक्ति को राज्य की तुलना में प्राथमिकता देकर व्यक्तिवादी होने का ही परिचय दिया है।
10. लॉक के राजनीतिक दर्शन में व्यक्ति ही राज्य से श्रेष्ठतर स्थान पर लेता है। राज्य का औचित्य केवल इस बात में है कि वह व्यक्तियों द्वारा सौंपे गए अधिकारों को प्राकृतिक नियमानुकूल प्रयोग करे तथा न सौंपे गए अधिकारों की रक्षा करे।
11. लॉक का मानना है कि शासक समाज के प्रतिनिधि हैं। वे उतने ही अधिकार रखते हैं जो व्यक्तियों द्वारा दिये जाते हैं।

इस प्रकार लॉक ने व्यक्तिवाद की आधारशिला को मजबूत बनाया है। डनिंग ने स्वीकार किया है कि व्यक्तिवाद की आधारशिला मनुष्य को प्राकृतिक अधिकारों तथा चिन्तन के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान दिलाती है। लॉक ने व्यक्ति को ही अपनी सम्पूर्ण व्यवस्था का केन्द्रबिन्दु बनाया है। बार्कर के शब्दों में "लॉक में व्यक्ति की आत्मा की सर्वोच्च गरिमा स्वीकार करने वाली तथा सुधार चाहने वाली महान् भावना थी।" मैक्सी के अनुसार- "लॉक ने व्यक्तिवाद को अजेय राजनीतिक तथ्य बनाया है।" लॉक का व्यक्तिवाद उदारवाद तथा उपयोगितावाद का जन्मदाता माना जा सकता है।

आलोचनाएँ

(Criticisms)

लॉक का व्यक्तिवाद कुछ आलोचनाओं का शिकार हुआ है। (i) लॉक व्यक्ति को सम्पूर्ण प्रभुसत्तासम्पन्न मानता है। यदि वह सम्पूर्ण प्रभुसत्ता सम्पन्न है तो उसे अपने स्वयं के निर्णय का परित्याग करने के लिए बाध्य किया जा सकता है, क्योंकि बहुमत उसके साथ नहीं है। (ii) लॉक ने अत्याचारी शासन के विरुद्ध व्यक्तियों को विद्रोह का अधिकार दिया है, वह भी बहुसंख्यकों को दिया है, अल्पसंख्यक वर्ग को नहीं। परन्तु इन आलोचनाओं के बावजूद भी लॉक व्यक्तिवाद का अग्रदूत कहलाता है। प्रो॰ वाहन के अनुसार- "लॉक की व्यवस्था में हर वस्तु व्यक्ति के चारों ओर चक्कर काटती हुई दिखाई देती है। प्रत्येक वस्तु को इस प्राकर से व्यवस्थित किया गया है कि व्यक्ति की सर्वोच्च सत्ता सब प्रकार से सुरक्षित रह सके। इसलिए कहा जा सकता है कि लॉक उदारवाद व उपयोगितावाद को आधार प्रदान करता है और उसकी राजनीतिक चिन्तन में व्यक्तिवाद के रूप में अमूल्य देन है।

लॉक का महत्त्व और देन

(Importance and Contributions of Lock)

किसी भी राजनीतिक विचारक के सिद्धान्तों के आधार पर ही उसके महत्त्व को स्वीकार किया जाता है। लॉक के दर्शन का अवलोकन करने से उसके दर्शन में अनेक कमियाँ नज़र आती हैं। लॉक का दर्शन मौलिक भी नहीं था। उसके सिद्धान्तों में

तर्कहीनता तथा विरोधाभास पाए जाते हैं। लॉक हाब्स की तरह ज्यादा बुद्धिमत्ता का परिचय नहीं देते हैं। उकना चिन्तन विभिन्न स्त्रोतों से एकत्रित विचारों का पुंज माना जा सकता है। इसलिए उसे विचारों को एकत्रित करके क्रमबद्ध करने के लिए महान् माना जाता है। लॉक के दर्शन का सबसे महत्त्वपूर्ण गुण सामान्य बोध है। लॉक ने सरल व हृदयग्राही भाषा में जनता के सामने अपने विचार प्रस्तुत किये। उसके महत्त्व को सेबाइन ने समझाते हुए कहा है- "चूँकि उसमें अतीत के विभिन्न तत्त्व सम्मिलित थे, इसलिए उत्तरवर्ती शताब्दी में उनके राजनीतिक दर्शन से विविध सिद्धान्तों का आविर्भाव हुआ।" लॉक बाद में महान् और शक्तिशाली अमरीका तथा फ्रांससी क्रान्तियों के महान् प्रेरणा-स्त्रोत बन गए। लॉक का महत्त्व उनकी महत्त्वपूर्ण दोनों के आधार पर स्पष्ट हो जाता है।

लॉक की देन
(Contribution of Locke)

लॉक की राजनीतिक चिन्तन में महत्त्वपूर्ण देन निम्नलिखित है :-

1. **प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त** (Theory of Natural Rights) : लॉक की यह धारणा कि मनुष्य जन्म से ही प्राकृतिक अधिकारों से सुशोभित है, उसकी राजनीतिक सिद्धान्त की सबसे बड़ी देन है। उसने जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के अधिकारों को मनुष्यों का विशेषाधिकार मानते हुए, उनकी सुरक्षा की जिम्मेदारी शासन पर छोड़ी है। किसी भी शासक को उनका उल्लंघन करने का अधिकार नहीं है। व्यक्ति का सुख तथा उसकी सुरक्षा शासक के प्रमुख कर्त्तव्य हैं। इनके आधार पर ही राज्य को साधन तथा व्यक्ति को साध्य माना गया है। यदि राज्य व्यक्ति का साध्य बनने में असफल रहता है तो जनता को विद्रोह करने का पूरा अधिकार है। प्रो॰ डनिंग के अनुसार- "लॉक के समान अधिकार उसके राजनीतिक संस्थाओं की समीक्षा में इस प्रकार ओत-प्रोत हैं कि वे वास्तविक राजनीतिक समाज के असितत्व के लिए ही अपरिहार्य दिखलाई पड़ते हैं।" लॉक की प्राकृतिक अधिकारों की धारणा का आगे चलकर जैफरसन जैसे विचारकों पर भी प्रभाव पड़ा। आधुनिक देशों में मौलिक अधिकारों के प्रावधान लॉक की धारणा पर ही आधारित है।

2. **जनतन्त्रीय शासन** (Democratic Government) : लॉक के दर्शन की यह सबसे महत्त्वपूर्ण देन है। जन-इच्छा पर आधारित सरकार तथा बहुमत द्वारा शासन की उसकी धारणा। लॉक के संवैधानिक शासन सम्बन्धी विचार ने 18 वीं शताब्दी के मस्तिष्क को बहुत प्रभावित किया। मैक्सी के अनुसार- "निर्माण करने वाला हाथ, कहीं वाल्पील का, कहीं जैफरसन का और कहीं गम्बेटा का अथवा कहीं केवूर का था, किन्तु प्रेरणा निश्चित रूप से लॉक की थी।" उसने जनसहमति पर आधारित शासन का प्रबल समर्थन किया। आधुनिक राज्यों में संविधानवाद की धारणा उसके दर्शनपर ही आधारित है।

3. **उदारवाद का जनक** (Father of Liberalism) : लॉक की दार्शनिक और राजनीतिक मान्यताएँ उनके उदारवादी द ष्टिकोण का ही प्रतिनिधित्व करती हैं। लॉक ने दावा किया कि राज्य का उद्देश्य नागरिकों के अधिकारों की सुरक्षा करना है। वेपर के शब्दों में- "उन्होंने उदारवाद की अनिवार्य विषय वस्तु का प्रतिपादन किया था अर्थात् जनता ही सारी राजनीतिक सत्ता का स्त्रोत है, जनता की स्वतन्त्र सहमति के बिना सरकार का अस्तित्व न्यायसंगत नहीं, सरकार की सभी कार्यवाहियों का नागरिकों के एक सक्रिय संगठन द्वारा आंका जाना आवश्यक होगा। यदि राज्य अपने उचित अधिकार का अतिक्रमण करे तो उसका विरोध किया जाना चाहिए। लॉक का सीमित राज्य व सीमित सरकार का सिद्धान्त उदारवाद का आधार-स्तम्भ है।

4. **व्यक्तिवाद का सिद्धान्त** (Theory of Individualism) : लॉक की सबसे महत्त्वपूर्ण देन उसकी व्यक्तिवादी विचारधारा है। लॉक के दर्शन का केन्द्र व्यक्ति और उसके अधिकार हैं। वाहन के शब्दो में- "लॉक की प्रणाली में प्रत्येक चीज का आधार व्यक्ति है, प्रत्येक व्यवस्था का उद्देश्य व्यक्ति की सम्प्रभुता को अक्षुण्ण रखना है।" लॉक ने प्राकृतिक अधिकारों को गौरवान्वित कर, व्यक्ति की आत्मा की सर्वोच्च गरिमा को स्वीकार कर, सार्वजनिक हितों पर व्यक्तिगत हितों को महत्त्व देकर उसने व्यक्तिवाद की प ष्ठभूमि को महबूत बनाया है। लॉक ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर बल दिया तथा व्यक्ति को साध्य तथा राज्य को साधन माना है। उसके बुनियादी विचारों पर व्यक्तिवाद आधारित है।

5. **शक्ति-प थक्करण का सिद्धान्त** (Theory of Separation of Powers) : लॉक की महत्त्वपूर्ण देन उसका शक्ति-प थक्करण का सिद्धान्त है। इसका मान्टेस्क्यू पर गहरा प्रभाव पड़ा है। ग्रान्सियान्स्की के अनुसार- "मान्टेस्क्यू का सत्ताओं के प थक्करण का सिद्धान्त लॉक की संकल्पना का ही आगे गहन विकास था।" लॉक का यह मानना था कि शासन की समस्त

शक्तियों का केन्द्रीयकरण, स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए सही नहीं है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने के साधन के रूप में इस सिद्धान्त का प्रयोग करने वाला लॉक शायद पहला आधुनिक विचारक था। लॉक सरकारी सत्ता को विधायी, कार्यकारी तथा संघपालिका अंगों में विभाजित करता है ताकि शक्ति का केन्द्रीयकरण न हो। लास्की के अनुसार- "मान्टेस्क्यू द्वारा लॉक को अर्पित की गई श्रद्धांजलि अभी अशेष है।"

6. **कानून का शासन** **(Rule of Law)** : लॉक की राजनीतिक शक्ति की परिभाषा का महत्त्वपूर्ण तत्त्व यह है कि इसे कानून बनानेका अधिकार है। लॉक कानून के शासन को प्रमुखता देता है तथा कानून के शासन का उल्लंघन करने वाले शासक को अत्याचारी मानता है। लॉक के शब्दों में "नागरिक समाज में रहने वाले एक भी व्यक्ति को समाज के कानूनों का अपवाद करने का अधिकार नहीं है।" वह निर्धारित कानूनों द्वारा स्थापित शासन को उचित मानता है। आधुनिक राज्य कानून का पूरा सम्मान करते हैं।

7. **क्रान्ति का सिद्धान्त** **(Theory of Revolution)** : लॉक का मानना है कि यदि शासक अपने कर्त्तव्यों का निर्वहन करने में असफल हो जाए या अत्याचारी हो जाए तो जनता को शासन के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार है। लॉक के इस सिद्धान्त का अमेरिका तथा फ्रांस की क्रान्तियों पर गहरा प्रभाव पड़ा। लॉक का कहना है कि सरकार जनता की ट्रस्टी है। यदि वह ट्रस्ट का उल्लंघन करे तो उसे हटाना ही उचित है। लॉक के इसी कथन ने 1688 की गौरवमयी क्रान्ति का औचित्य सिद्ध किया है और अमेरिका व फ्रांस में भी परोक्ष रूप से क्रान्तियों के सूत्रधारों को इस कथन ने प्रभावित किया।

8. **धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा** **(Conception of Secularism)** : लॉक व्यक्ति को उसके अन्तःकरण के अनुसार उपासना की स्वतन्त्रता देता है। लॉस्की के अनुसार- "लॉक वास्तव में उन अंग्रेजी विचारकों में प्रथम था जिनके चिन्तन का आधार मुख्यतः धर्मनिरपेक्ष है।" लॉक के राज्य में पूर्ण सहिष्णुता थी। लॉक का मानना है कि राज्य व चर्च अलग-अलग हैं। राज्य आत्मा व चर्च के क्षेत्राधिकार से परे है। राज्य को धार्मिक मामलों में तटस्थ होना चाहिए। यदि कोई धार्मिक उन्माद उत्पन्न हो तो राज्य को शान्ति का प्रयास करना चाहिए। इसलिए लॉक ने धर्मनिरपेक्षता का समर्थन किया। उसके सिद्धान्त में चर्च को एक स्वैच्छिक समाज में पहली बार परिवर्तित किया गया।

9. **उपयोगितावादी तत्त्व** **(Elements of Utilitarian)** : लॉक का सिद्धान्त उपयोगितावादी तत्त्वों के कारण उपयोगितावादी विचारक बेन्थम को भी प्रभावित करता है। लॉक ने कहा, "वह कार्य जो सार्वजनिक कल्याण के लिए है वह ईश्वर की इच्छा के अनुसार है।" लॉक ने राज्य का उद्देश्य व्यक्ति के अधिकतम सुखों की सुरक्षा बताया। लॉक राज्य को व्यक्ति की सुविधाओं का यन्त्र मात्र मानते हैं। अतः बेन्थम लॉक के बड़े ऋणी हैं।

10. **आधुनिक राज्य की अवधारणा** **(Conception of Modern State)** : लॉक की धारणाएँ समाज की प्रभुसत्ता, बहुमत द्वारा निर्णय, सीमित संवैधानिक सरकार का आदर्श तथा सहमति की सरकार आदि आदर्श आधुनिक राज्यों में प्रचलित हैं। आधुनिक राज्य लॉक की इन धारणाओं के किसी न किसी रूप में अवश्य प्रभावित है। आधुनिक विचारक किसी न किसी रूप में लॉक के प्रत्यक्ष ज्ञान का ऋणी है।

11. **रूसो पर प्रभाव** **(Influence on Rousseau)** : लॉक के समाज को सामान्य इच्छा के सिद्धान्त पर लॉक का स्पष्ट प्रभाव है। लॉक के अनुसार सर्वोच्च सत्ता समाज में ही निवास करती है। रूसो की सामान्य इच्छा लॉक के समुदाय की सर्वोच्चता के सिद्धान्त पर आधारित है।

यद्यपि लॉक के विचारों में विरोधाभास एवं अस्पष्टता पाई जाती है, किन्तु राजनीतिक सिद्धान्त पर लॉक का अमिट प्रभाव पड़ा है। उसके जीवनकाल में उसकी धारणाओं का बहुत सम्मान था। भावी पीढ़ियों को भी लॉक ने प्रभावित किया। लॉक की विचारधारा ने उसे मध्यवर्गीय क्रान्ति का सच्चा प्रवक्ता बना दिया था। लॉक की राजनीतिक चिन्तन की मुख्य देन व्यक्तिवाद, लोकप्रभुता, उदारवाद, संविधानवाद और नागरिकों के मौलिक अधिकार हैं। लॉक की महत्ता का मापदण्ड उनके राजनीतिक विचारों द्वारा परवर्ती राजनीतिक चिन्तन को प्रभावित करता है। अतः हम कह सकते हैं कि लॉक का राजनीतिक चिन्तन को योगदान अमूल्य व अमर है।

अध्याय-8
जीन जेक्स रूसो
(Jean Jaques Rousseau)

परिचय
(Introduction)

राजदर्शन के इतिहास में रूसो को एक महान् तथा विवादास्पद दार्शनिक माना जाता है। एक ओर कॉण्ट (Kant), बर्क (Burke) और लास्की (Laski) जैसे विद्वान उसको महान् दार्शनिक मानते हैं, जबकि मार्ले (Marley), वॉल्टेयर (Voltaire) जैसे लेखक उसके चिन्तन को महत्त्वहीन मानते हैं। इस मतभेद के बावजूद राजनीतिक दर्शन के इतिहास में रूसो का एक विशेष एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने सामाजिक समझौता सिद्धान्त को नई दिशा दी और राज्य के सावयविक सिद्धान्त (Organic Theory) और यूनानी आदर्शवाद (Idealism) को पुनः स्थापित किया। उनके प्रसिद्ध कथन 'मनुष्य स्वतन्त्र पैदा हुआ है, परन्तु वह हर जगह जंजीरों से जकड़ा हुआ है।' (Man is born free but everywhere is in chains) ने यूरोप के लोगों में स्वतन्त्रता के प्रति एक नई जाग ति पैदा की और फ्रांसीसी क्रान्ति (1789) का प्रेरणा-स्रोत बना। रूसो शायद प्रथम विचारक हैं जो सर्वजनवासिनी प्रभुसत्ता सिद्धान्त (Theory of Popular Sovereignty) तथा सरकार के संचालन में जनता की राजनीतिक सहभागिता (Political Participation) को महत्त्व दिया। इसे अतिरिक्त उनकी 'सामान्य इचछा का सिद्धान्त' बहुत ही प्रभावशाली सिद्ध हुआ और ग्रीन जैसे विचारकों के लिए प्रेरणा-स्रोत बना। इस सिद्धान्त में रूसो ने सत्ता (Authority) और स्वतन्त्रता (Liberty) के बीच सन्तुलन स्थापित करने का दावा किया है।

जीवन परिचय
(Life History)

सामाजिक समझौता सिद्धान्त के प्रवर्तक जीन जैक्स रूसो का जन्म 28 जून 1712 ई॰ में स्विटज़रलैण्ड के जेनेवा नामक नगर में हुआ। प्रसवकाल में ही उसकी माँ की म त्यु हो गई और उसका पिता आइजक रूसो धार्मिक अत्याचारों से तंग आकर फ्रांस छोड़कर चला गया था। रूसो का पिता अनुत्तरदायी, चरित्रहीन और अस्थिर स्वभाव का था, इसलिए उसने रूसो के पालन-पोषण पर विशेष ध्यान नहीं दिया। गरीबी और अभाव के कारण उसे औपचारिक शिक्षा से वंचित रहना पड़ा। उसके पिता की कुप्रव त्तियों का प्रभाव रूसो पर भी पड़ा। रूसो भी आवारागर्दी में समय व्यतीत करने लगा। उसके पिता द्वारा उसे अकेला जेनेवा में छोड़कर इटली जाने पर उसके चाचा ने उसकी देखभाल व पालन-पोषण करना शुरू किया। 1724 में रूसो ने स्कूल जाना छोड़ दिया और कानून के आफिस में किरानी की नौकरी की। परन्तु उसके स्वभाव के कारण उसने नौकरी छोड़ देनी पड़ी। 1726 में यह संगतराश की नौकरी करने लग गया। यहाँ उसने कठोर परिश्रम किया। उसने चोरी करने तथा झूठ बोलने की कला भी सीख ली। एक दिन उसे घर आने में देरी हो गई। मालिक के दण्ड के भय से वह जेनेवा छोड़कर फ्रांस भाग गया। उसकी अन्तरात्मा शून्य प्रायः थी। उसने जीवन में एक ही नियम का पालन किया- "जब कष्ट में पड़ो, भाग जाओ'। वह 1728 तक आवारा घुमक्कड़ का जीवन जीता रहा। इस दौरान उसने भीख मांगी, चोरी की, असत्य भाषण दिया। दूसरों से सहायता ली और धर्म भी बदला। यह रूसो का प्रथम जीवनकाल है।

रूसो के जीवन का दूसरा काल 1728 ई॰ से 1742 ई॰ तक है। इस दौरान वह फ्रांस के विभिन्न भागों में घूमता रहा। लोगों ने उसकी सहायता की। लेकिन रूसो ने कभी अहसान नहीं माना। उसने नए मित्र भी बनाए लेकिन उसकी झगड़ालू प्रव त्ति

के कारण सभी ने उसका साथ छोड़ दिया। इस दौरान एक कैथोलिक पादरी ने उसे शिक्षा दिलाने का प्रयास किया, लेकिन वह उससे भी अधिक दिनों तक सम्बन्ध बनाए नहीं रह सका।

1742 ई॰ से 1749 ई॰ तक का समय उसके जीवन का तीसरा चरण है। इन 7 वर्षों की अवधि में रूसो ने अपने भावी जीवन का मार्ग प्रशस्त करता रहा। वह 1742 ई॰ में पेरिस चला गया। वह अपने नवीन संगीत स्वर का प्रदर्शन करना चाहता था लेकिन उसे मान्यता नहीं मिली। यहाँ उसका सम्पर्क मैडन डी ब्रोऊली नामक महिला से हुआ; जिसके प्रभाव से उसने वेनिस स्थित फ्रांसीसी दूतावास में एक नौकरी मिल गई। परन्तु उसके लड़ाकू स्वभाव के कारण उसे इस पद से भी हाथ धोना पड़ा। 1744 में रूसो वापिस पेरिस चला गया। 1745 में उसकी मुलाकात एक अनपढ़, बदसूरत, भोगविलासिनी धोबिन महिला थिरेसी लेवाशियेर से हुई। उसके 5 बच्चे हुए। पालन-पोषण में असमर्थ रहने पर रूसो ने उन सभी बच्चों को एक अनाथालय में छोड़ दिया। 1749 ई॰ तक उसका सामाजिक, आर्थिक एवं नैतिक जीवन पूर्णतः असफल रहा। इस समय तक समाज में उसका कोई स्थान नहीं था।

रूसो का चौथा जीवनकाल 1749 से 1762 ई॰ तक का है। 1749 ई॰ में एक ऐसी घटना हुई जिसने रूसो की जीवन की धारा बदल दी। उसे अन्धकार से निकालकर प्रकाश और प्रसिद्धि में लाकर पटक दिया गया। 1749 ई॰ में डिजान की अकादमी ने एक निबन्ध प्रतियोगिता का आयोजन किया जिसका विषय था- "विज्ञान तथा कला की प्रगति ने नैतिकता को भ्रष्ट किया है या शुद्ध ?" अपने जीवन के अनुभवों से उत्प्रेरित रूसो ने कहा कि इसने नैतिकता का ह्रास किया है। उसने सिद्ध कर दिखाया कि मनुष्य स्वभाव से अच्छा है लेकिन उसे समाज की कृत्रिम संस्था भ्रष्ट बनाती है। यह निबन्ध लिखने पर रूसो को प्रथम पुरस्कार मिला। पेरिस में साहित्यिक क्षेत्र में रूसों को सर्वोच्च सम्मान प्राप्त हुआ। अपने निबन्ध में रूसो ने लिखा कि- "विज्ञान और कला ने मनुष्य का पतन किया है, मानव की चरित्रहीनता का उत्तरदायित्व आज के समाज पर है; मानव स्वभाव से अच्छा है, परन्तु हमारी सामाजिक संस्थाओं ने उसे दुष्ट बना दिया है।" उसने विवेकी मनुष्य को पतित पशु की संज्ञा दी। रूसो के इस निबन्ध ने विवेक-युग के कृत्रिम समाज में क्रान्ति ला दी। आलोचकों ने पत्रों द्वारा उसकी आलोचना शुरू कर दी। इस वाद-विवाद से रूसो की प्रतिभा और भी निखरने लगी। रूसो ने नए विश्वास के साथ जीवन की शुरुआत की। इस नए विश्वास ने उसके जीवन की धारा को पूर्णतः बदल दिया। 1754 ई॰ में रूसो ने एकाडेमी द्वारा आयोजित निबन्ध प्रतियोगिता में हिस्सा लिया। इसका विषय था- 'असमानता का उद्भव और आधार' (Discources on the Origin and Foundation of Inequality)। इसमें उसने फ्रांस के तत्कालीन कृत्रिम जीवन पर गहरी चोट की। इसमें फ्रांस के राजतन्त्र की भी आलोचना की गई। वह 1754 में जेनेवा चला गया। उसने वहाँ प्रोटेस्टैण्ट धर्म स्वीकार किया और वहाँ उसे काफी सफलता मिली परन्तु वह वापिस पेरिस लौट आया। 1762 ई॰ में अपने धार्मिक विचारों के कारण उसे फ्रांस छोड़कर जर्मनी में शरण लेनी पड़ी। रूसो के जीवन का अन्तिम काल 1762 ई॰ से 1778 ई॰ तक है। इस दौरान उसने एक निर्वासित व्यक्ति की तरह जीवन व्यतीत किया। उसने धर्म-विरोधी विचारों के कारण जर्मनी के एक गाँव में 1765 ई॰ में उसकी हत्या का भी प्रयास किया गया। उसके बाद वह प्राण रक्षा हेतु 1766 ई॰ में इंगलैण्ड भाग गया, रूसो के जीवन का यह काल महान् विषाद का काल है। वहाँ उसकी भेंट बर्क तथा ह्यूम से हुई। उसकी ह्यूम से मित्रता जल्दी ही समाप्त हो गई। इस दौरान विभिन्न व्यक्तियों द्वारा प्रताड़ित, तिरस्कृत और परेशान रूसो 1767 ई॰ में फ्रांस लौट गया। जीवन का शेष समय उसने पेरिस में ही व्यतीत किया। फ्रांस की क्रांति से 11 वर्ष पूर्व 3 जुलाई 1778 ई॰ में 66 वर्ष की आयु में उसकी म त्यु हो गई।

महत्त्वपूर्ण कार्य
(Important Works)

रूसो ने 1750 ई॰ से 1778 ई॰ तक निम्नलिखित रचनाएँ लिखीं :-

1. **डिसकोर्स आन दि मॉरल एफेक्ट्स ऑफ दि ऑर्ट्स एण्ड साइन्सेज (Discource on the Moral Effects of the Arts and Sciences, 1751)** : यह पुस्तक निबन्ध रूप में डिजॉन की अकादमी द्वारा आयोजित निबन्ध प्रतियोगिता से प्रेरित होकर लिखी गई। इस पुस्तक में नैतिकता पर विज्ञान व कलाओं के विकास के प्रभाव का वर्णन किया गया है। इस पुस्तक के कारण रूसो की आलोचना भी हुई। परन्तु इसने रूसो को साहित्यिक क्षेत्र में प्रतिष्ठित बनाया। यह पुस्तक निबन्ध रूप में एक सर्वोत्तम रचना है।

2. **डिसकोर्स आन दि आरिजन ऑफ इनइकवैलिटी** (Discource on the Origin of Inequality, 1755) : यह पुस्तक रूसो द्वारा द्वितीय निबन्ध प्रतियोगिता में 1754 में भाग लेने के बाद 1755 लिखी गई है। इस पुस्तक में निबन्ध रूप में लिखते हुए रूसो ने बताया कि समाज में विषमता कैसे पैदा हुई।
3. **पोलिटिकल इकॉनामी** (Political Economy, 1755) : यह पुस्तक निबन्ध रूप में दिदरो द्वारा संपादित विश्वकोश में प्रकाशित हुए।
4. **दॅ नॉवेल हेलॉयज** (The Nouvelle Heloise, 1761) : यह पुस्तक उपन्यास रूप में लिखी गई।
5. **सोशल कांट्रेक्ट** (Social Contract, 1762) : यह पुस्तक राजनीतिक विज्ञान पर लिखी गई सर्वोत्तम रचना है। इसमें रूसो ने सामाजिक समझौता की विस्तारपूर्वक विवेचना की है।
6. **दॉ इमाइल** (The Emile, 1762) : यह पुस्तक शिक्षा से सम्बन्धित विषय पर लिखी गई है। इसके प्रकाशन से उसे महान् कष्ट झेलना पड़ा। इस पुस्तक में रूसो ने इस बात पर जोर दिया कि बाल शिक्षा को पादरियों के चंगुल से मुक्त करना चाहिए एवं किशोरावस्था तक किसी भी प्रकार की धार्मिक शिक्षा नहीं दी जानी चाहिए। इन धर्म विरोधी विचारों के कारण फ्रांस की संसद ने उसे बन्दी बनाने का आदेश दे दिया और उसकी मात भूमि जेनेवा की परिषद् ने पुस्तक को जला डालने की आज्ञा दी।
7. **कन्फेशन्स** (Confessons) : रूसो ने इसे अपनी अर्ध-विक्षिप्तावस्था में लिखा।

इसके अतिरिक्त रूसो ने डायलौग्स (Dialogues) तथा अपने रिवरीज (Reveries) लिखे और पौलैण्ड एवं कोसिका के लिए संविधानों का प्रणयन किया।

अध्ययन पद्धति

(Method of Study)

रूसो की अध्ययन पद्धति हॉब्स की अध्ययन पद्धति से काफी मेल खाती है। दोनों की अध्ययन पद्धति अनुभूतिमूलक और मनोविज्ञान युक्त थी। उसके विचार संवेग और कल्पना पर आधारित हैं। वह एक यथार्थवादी दार्शनिक चिन्तक नहीं, अपितु एक अलौकिक प्रतिभावान व्यक्ति है। उसमें न तो मांटेस्क्यू का पांडित्य है और न ही वाल्टेयर का तर्क। रूसो ने राजनीतिक दर्शन को विद्वानों के शांत, एकांत व आरामदेह अध्ययन कक्ष से उठाकर साधारण जनता की गलियों में पटक दिया है। उसकी आवाज कुलीन व पादरी वर्ग का प्रतिनिधित्व न करके आम जनता का प्रतिनिधित्व करती है। रूसो प्रथम चिन्तक है जिसने अपनी कृतियों द्वारा किसानों, मजदूरों एवं निम्न मध्यवर्ग के असंख्य लोगों की मूक संवेदनाओं और भावनाओं को वाणी दी है।

रूसो की अध्ययन पद्धति हॉब्स की तरह इतिहास का सहारा लेकर अनुभूतिमूलक पद्धति है। मैकियावेल्लि, बोदाँ, हॉब्स, लॉक, ग्रेशियस, सिडनी, मान्टेस्क्यू, वाल्टेयर आदि विचारों का उसकी पद्धति पर प्रभाव पड़ा। वह यूनानी साहित्य तथा काल्विन के धार्मिक विचारों से भी प्रभावित हुआ। अतः उसकी पद्धति भावात्मक, पद्यात्मक, कल्पनात्मक संवेगपूर्ण, रोमांसवादी तथा अंतर्प्रेरणीय है।

प्रेरणा-स्रोत

(Sources of Inspiration)

किसी भी चिन्तक के ऊपर तत्कालीन परिस्थितियाँ अवश्य ही प्रभाव डालती हैं। रूसो के ऊपर भी समकालीन परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा। ये परिस्थतियाँ निम्नलिखित हैं :-

1. **पूर्ववर्ती विचारकों का प्रभाव** (Influence of Predecessors) : रूसो ने प्लेटो, लॉक, हॉब्स तथा ग्रोशियस का काफी अध्ययन किया। प्लेटो ने उसे प्रारम्भ में तथा ग्रेशियस ने उसे अन्त में प्रभावित किया। प्लेटो से उसने जनतन्त्र को पसन्द करना तथा उसे आदर्शवाद की परिभाषा में रखना सीखा। राज्य द्वारा व्यक्ति को आत्मसात् करने के विचार पर वह प्लेटो से ही प्रभावित हुआ। उसके निबन्ध 'असमानता के उद्भव पर' लॉक के व्यक्तिवाद का प्रभाव है। लॉक का जनसहमति का सिद्वान्त रूसो के सामाजिक समझौते का आधार बना। रूसो के समाज व व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धों के बारे में विचार प्लेटो व अरस्तू के समान ही हैं। रूसो की 'सोशल कांट्रेक्ट' पुस्तक पर हॉब्स और लॉक का प्रभाव है। हॉब्स के

प्रभाव के कारण वह निरंकुशवाद का समर्थन करता है, परन्तु लॉक के प्रभाव के कारण वह लोकतन्त्र का समर्थन करता है। इसके अतिरिक्त रूसो पर माण्टेस्क्यू, ह्यूम तथा बर्क का भी प्रभाव पड़ा।

2. **तत्कालीन राजनीतिक वातावरण (Contemporary Political Situation)** : उस समय जनता निरंकुश शासक, सामन्तशाही व चर्च के अत्याचारों से परेशान थी। रूसो का लक्ष्य जनता को अत्याचारों से मुक्ति दिलाना था। अतः उसने अपने साहित्य में अत्याचारों से मुक्ति दिलानेका प्रयास किया है। 'Emile' नामक ग्रन्थ में चर्च की निन्दा की गई है। इसी प्रकार उसने अपने 1754 के निबन्ध में सामाजिक विषमता की समस्या पर प्रकाश डाला है।

3. रूसो को जेनेवा के वातावरण ने भी प्रभावित किया है, इसलिए उसके विचार स्थानिक रहे। वह छोटे नगर राज्यों के पक्ष में था।

4. **निबन्ध प्रतियोगिता का प्रभाव (Influence of Essay Competition)** : 1749 ई॰ में रूसो ने डिजॉन एकेडेमी द्वारा आयोजित निबन्ध प्रतियोगिता में हिस्सा लिया। इस प्रतियोगिता में उसे प्रथम पुरस्कार मिला। यहीं से उसके नए जीवन की शुरुआत हुई। रूसो की प्रतिभा निखरने लगी। यह रूसो के जीवन की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना थी। इसने उसके जीवन को एक लेखक बनने की ओर प्रेरित किया। उसका सम्पूर्ण राजनीतिक दर्शन उसकी पहली घटना से अवश्य ही प्रभावित हुआ है।

मानव-प्रकृति की अवधारणा
(Conception of Human Nature)

रूसो ने अपने मानव-स्वभाव सम्बन्धी विचार अपनी पुस्तक 'सामाजिक समझौता' (Social Contract), 'दि इमाईल' (Emile) तथा 'व्यक्तियों के बीच असमानता के उद्भव एवं आधार पर निबन्ध' में प्रकट किए हैं। मानव प्रकृति के मूलतः अच्छा होने के बारे में रूसो प्लेटो से सहमत हैं। जहाँ हॉब्स मनुष्य को पूर्णतः दुर्गुणी मानता है और लॉक मनुष्य को पूर्णतः सद्गुणी मानता है, वहीं रूसो मनुष्य को दुर्गुणों तथा सद्गुणों का मिश्रण मानता है। अतः रूसो मानव-स्वभाव के बारे में लॉक व हॉब्स से अलग द ष्टिकोण रखता है। रूसो का मत है कि संसार में पाया जाने वाला भ्रष्टाचार, पाप तथा दुष्टता मनुष्य की जन्मजात दुष्टता का परिणाम नहीं है, लेकिन कला, विज्ञान एवं संस्कृति ने उसे भ्रष्ट किया है। अतः मनुष्य की प्रकृति जन्मजात पशुओं जैसी नहीं है। वे विकृत सामाजिक संस्थाओं की देन हैं। रूसो के अनुसार मनुश्य एक सामाजिक प्राणी है और उससे सोचने-समझने की योग्यता व बुद्धि होने के कारण सद्गुणी बनाया जा सकता है तथा उसे पतन के मार्ग से हटाकर सद्मार्ग पर चलाया जा सकता है।

रूसो के अनुसार मनुष्य के स्वभाव का निर्माण दो मौलिक प्रव त्तियों से होता है। ये दोनों प्रव त्तियाँ लाभदायक अधिक तथा हानिकारक कम होती हैं, अतः मनुष्य प्रकृति से अच्छा है। ये दो प्रव त्तियाँ निम्न हैं :-

1. **आत्मरक्षा की प्रव त्ति (Instinct of Self Preservation)** : रूसो के अनुसार आत्मरक्षा की भावना हमें अपने को सुरक्षित रखने की प्रेरणा देती है। आत्मरक्षा की प्रव त्ति मनुष्य को स्वार्थी व निकम्मा बना देती है। इसलिए इसे स्वार्थी प्रव त्ति भी कहा जाता है। यदि मनुष्य में यह प्रव त्ति न होती तो वह आदिकाल में ही नष्ट हो गया होता। आत्मरक्षा की प्रव त्ति ने मनुष्य को प्राकृतिक संकटों व हिंसक जानवरों से बचाकर रखा। रूसो ने कहा है- "मनुष्य का प्रथम कानून स्वयं अपना प्रतिरक्षण करना है, उसे सबसे पहले अपनी चिन्ता रहती है।" अतः आत्मरक्षा की प्रव त्ति मनुष्य के जीवन के हर कार्य की प्रेरणा बनती है। व्यक्ति इसी प्रव त्ति के कारण स्वार्थ की ओर प्रेरित होता है और स्वहित को प्राथमिकता देता है।

2. **सहानुभूति की प्रव त्ति (Instinct of Sympathy)** : रूसो के अनुसार यह प्रव त्ति समाज में सहयोग पैदा करके मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी बनाने में सहायता करती है। यदि प्रकृति हमें यह प्रव त्ति न देती तो हमारा जीवन दुष्कर हो जाता। इस प्रव त्ति की प्रकृति कल्याणकारी होती है। यह प्रव त्ति सभी मनुष्यों में पाई जाती है। रूसो का विचार है कि दया, सहानुभूति या परस्पर सहायता की प्रव त्ति के कारण मनुष्य प्राकृतिक अस्था में दूसरे मनुष्यों के कष्ट देखकर द्रवित हो उठता है। अतः यह प्रव त्ति स्वाभाविक है और मनुष्य को प्रेम और मिलजुल कर रहना सिखाती है।

रूसो का मानना है कि इन दोनों प्रव त्तियों में संघर्ष पैदा होता है। ऐसी स्थिति में यह जानना कठिन होता है कि मनुष्य किस प्रव त्ति की ओर प्रेरित हो। परिवार हित की इच्छा कभी-कभी ऐसे कार्य की माँग करती है जो कि समाज हित में नहीं है। अन्दर सहानुभूति के भाव होते हुए भी, मनुष्य अन्य के प्रति सहानुभूति नहीं दिखा पाता है क्योंकि आत्मरक्षा की प्रव त्ति या स्वार्थी

प्रव त्ति उसे ज्यादा प्रभावित करती है। इस विरोध के बावजूद भी मनुष्य अपनी दोनों प्रव त्तियों को पूरा करना चाहता है। परन्तु दोनों प्रव त्तियाँ पूर्ण रूप से सन्तुष्ट नहीं हो सकतीं। इसलिए व्यक्ति इन दोनों संघर्षमय प्रव त्तियों में तालमेल बिठाने का प्रयास करता है। अतः वह समझौतावादी प्रव त्ति अपनाता है।

रूसो का मानना है कि आत्मरक्षा तथा सहानुभूति की प्रव त्तियों में संघर्ष के कारण एक तीसरी भावना का जन्म होता है जिसे अन्तःकरण की प्रव त्ति कहा जाता है। अन्तःकरण बुद्धि की उपज नहीं है, क्योंकि अन्तःकरण के जन्म के बाद बुद्धि का जन्म होता है। यह शिक्षा की भी उपज नहीं है, क्योंकि शिक्षा का आधार अच्छा और बुरा ज्ञान है और इस ज्ञान का जन्म भी बुद्धि के प्रादुर्भाव के बाद ही होता है। इस प्रकार अन्तःकरण बुद्धि और शिक्षा दोनों से प्राचीन है।यह प्रकृति का उपहार है। यह स्वाभाविक रूप से व्यक्ति को प्राप्त होता है। इसका उद्देश्य मनुष्य का कल्याण है। इसलिए यह भी मनुष्य के लिए शुभ और लाभदायक होता है। अन्तःकरण एक ऐसी भावना है जिसमें सत्य और असत्य, उचित और अनुचित का निर्णय करने की क्षमता नहीं होती। यह केल मनुष्य को सदैव अच्छे कर्म करने की प्रेरणा देती है, परन्तु सत्य और असत्य, शुभ या अशुभ के बारे में निर्णय नहीं कर सकता। इसलिए मार्गदर्शन के लिए व्यक्ति विवेक पर निर्भर है। विवेक ही मनुष्य को सत्कार्य का ज्ञान कराता है। अन्तःकरण की प्रेरणानुसार मनुष्य अपनी आत्मरक्षा व सहानुभूति की प्रव त्तियों का पालन करता है। आत्मरक्षा और सहानुभूति को प्रव त्तियों में सामंजस्य मनुष्य अपने विवेक और अन्तःकरण की सहायता से ही बिठाता है। इसलिए रूसो मनुश्य को स्वभाव से अच्छा मानता है।

रूसो का कहना है कि आत्मरक्षा या स्वार्थ की प्रव त्ति मनुष्य को घमण्डी बना देती है। व्यक्ति अपना सद्मार्ग छोड़कर कुमार्ग की ओर प्रव त्त हो जाता है। इसी से उसका पतन प्रारम्भ होता है। वेपर के अनुसार- “घमण्ड से भी बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं। सम्पूर्ण विश्व के मनुष्य इसके जाल में फँस जाते हैं। घमण्ड व्यक्ति के विवेक को उस समय तक भड़काता रहता है, जब तक कि वह अपनी वास्तविक प्रव त्ति नहीं छोड़ देता।” इस प्रकार घमण्ड समस्त दोषों की जननी है जिससे आज सं संसार ग्रस्त है। इसी दुर्गुण के कारण व्यक्ति दूसरों को हानि पहुँचाता है। विफल होने पर आग उगलने लगता है और दूसरों को लज्जित करता है। यह सहानुभूति की भावना को दबाता है, अन्तःकरण को विकृत करता है एवं विवेक को अपवित्र बनाता है। इस प्राकर संसार के समस्त दोषों का स्त्रोत धमण्ड है। घमण्ड की छत्र-छाया में कला और संस्कृति मनुष्य के स्वभाव को विकृत कर देती है। अतः घमण्ड का परित्याग करके ही मनुष्य अपनी प्रकृति की क्षमता के अनुसार पूर्णता प्राप्त कर सकता है। रूसो का कहना है कि “प्राकृतिक मनुष्य वह है जो अपने सजग अन्तःकरण एवं प्रबुद्ध विवेक द्वारा अपनी आत्मरक्षा और सहानुभूति में सामंजस्य स्थापित करता है।” यदि हम विवेक को दम्भ के प्रभाव से निकालना होगा और हमें स्वाभाविक भावनाओं, आत्म-प्रेम तथा संवेदना पर ही संतोष करना होगा।

रूसो के मानव-स्वभाव सिद्धान्त के निहितार्थ

(Implications of Rousseau's Theory of Human Nature)

रूसो के मानव-स्वभाव सम्बन्धी सिद्धान्त से बहुत सी बातें स्पष्ट हो जाती हैं। वे निम्नलिखित हैं :-

1. रूसो का प्राकृतिक मनुष्य सभ्य, गुणवान और पूर्ण है। अरस्तू के समान रूसो भी इस बात में विश्वास करता है कि प्रकृति विकास की चरमोत्कृष्ट अवस्था में, प्रारम्भिक रूप नहीं। दूसरे शब्दों में, जब कोई वस्तु अपनी नैसर्गिक क्षमता के अनुसार अपने विकास की पराकाष्ठा पर पहुँचती है, तो अन्तिम रूप से विकसित अवस्था ही उसकी प्रकृति होती है। परन्तु जहाँ अरस्तू ने मनुष्य को स्वभावतः सामाजिक माना है, रूसो उसे अच्छा मानता है, सामाजिक नहीं।
2. रूसो का प्राकृतिक मानव असभ्य व जंगली नहीं है। रूसो पीछे की ओर नहीं, नैतिक रूप से आगे बढ़ने का सन्देश देता है।
3. रूसो की यह धारणा विवेक विरोधी नहीं है। रूसो विवेक को पूरा महत्त्व देता है। विवेक ही उचित कार्यों का निर्धारण करता है, अन्तःकरण का मार्गदर्शन करता है, मानवीय भावनाओं को विकसित करता है, मनुष्य को प्राकृतिक मानव बनने में सहायता प्रदान करता है एवं उसे पूर्णता की प्राप्ति की ओर अग्रसर करता है। अतः रूसो के विवेक को महत्त्व देने के कारण वह बुद्धिवादी विचारक है।
4. रूसो कार्य की स्वतन्त्रता को भी मानव-स्वभाव का एक आवश्यक तत्त्व मानता है। उसने कहा है कि जो मनुष्य स्वतन्त्रता खो देता है, वह अपना मनुष्यत्व भी खो देता है। आत्मरक्षा तथा सहानुभूति की तरह स्वतन्त्रता भी मानव-स्वभाव का अभिन्न अंग है।

हॉब्स व लॉक से तुलना

(Comparison with Hobbes and Locke)

हॉब्स, लॉक व रूसो के मानव-स्वभाव पर विचार परस्पर मतभेद पर आधारित है। हॉब्स के अनुसार मानव-स्वभाव से स्वार्थी, क्रूर, हिंसक व दुष्ट है। लॉक मनुष्य को सद्गुणी मानता है। लॉक के अनुसार मनुष्य स्वभाव से अच्छा है। रूसो के अनुसार मानव-स्वभाव में अच्छाइयों का मिश्रण है। मानव मूल रूप में सहयोगी, सरल तथा सद्भावना से परिपूर्ण है। रूसो की नजर में मानव निःस्वार्थी, आत्मप्रेमी, सहयोगी तथा अच्छा प्राणी होता है, परन्तु विवेक व सम्पत्ति के उदय से उसके स्वभाव में परिवर्तन होता है और वह स्वार्थी तथा संघर्षमय बन जाता है। इस प्रकार हॉब्स ने मानव स्वभाव के बुरे पक्ष का तथा लॉक व रूसो ने दोनों पक्षों का वर्णन करके मध्यमार्ग अपनाया है। ये दोनों मानव स्वभाव को देख व दैवीय गुणों का मिश्रण मानते हैं। अतः मानव प्रकृति पर लॉक व रूसो के विचार लगभग समान हैं।

प्राकृतिक अवस्था की अवधारणा
(Conception of State of Nature)

रूसो की प्राकृतिक अवस्था सम्बन्धी अवधारणा अपने पूर्ववर्ती (Predecessors) दोनों समझौतावादी विचारकों से भिन्न है। रूसो के प्राकृतिक अवस्था पर विचार 'असमानता की उत्पत्ति' नामक रचना में व्यक्त किये हैं। रूसो की प्राकृतिक अवस्था की कल्पना रूसो की अपनी कल्पना है। उसकी यह परिकल्पना ऐतिहासिक नहीं है। रूसो ने अपनी पुस्तक 'असमानता की उत्पत्ति' (Discourses on the Origin of Inequality) में जिस प्राकृतिक अवस्था की कल्पना की है। वह न तो पापमय है, न पुण्यमय। उसके अनुसार प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य पशुतुल्य, एकाकी, निष्पाप एवं निर्दोष होता है। मनुष्य के स्वभाव में विवेक की शक्ति होती है तथापि प्राकृतिक दशा में यह शक्ति अविकसित एवं सुप्तावस्था में रहती है। व्यक्ति अच्छे-बुरे का कोई ज्ञान नहीं रखता है। वह स्वाधीनता और समानता अनुभव करता है तथा वह आत्मसंतोषी व आत्मनिर्भर है। वह कोई सामाजिक प्राणी नहीं है। वह विवेक के कार्य न करके स्वार्थ की प्रव त्ति से कार्य करता है। सम्पत्ति व तर्क की भावना पैदा होने पर सामाजिक विषमताएँ पैदा हो गईं। इनसे स्वार्थ, घ णा, द्वेष व हिंसा के अवगुणों का जन्म हुआ। इससे दास प्रणाली का जन्म हुआ। कष्टमय अवस्था से निकलने के लिए व्यक्तियों ने एक सामाजिक समझौता किया।

रूसो मानव को प्रकृति में वापिस चलने को कहता है। परन्तु उसकी यह प्राकृतिक अवस्था एक काल्पनिक और दार्शनिक विवेक की धारणा है। रूसो प्राकृतिक दशा को सामाजिक या नागरिक दशा से श्रेष्ठ मानता है। परन्तु उसके राज्य व नागरिक समाज के वास्तविक आधार व उद्देश्य को समझनेके लिए उसकी प्राकृतिक अवस्था की कल्पना को समझना आवश्यक है। रूसो की प्राकृतिक अवस्था एक कल्पना है, जो सम्भवतः कभी विद्यमान नहीं थी और न ही विद्यमान होगी। रूसो की प्राकृतिक अवस्था के विवरण को तीन चरणों में बाँटा जा सकता है :

(क) प्रकृति की अवस्था का प्रथम चरण

(First Stage of State of Nature)

प्राकृतिक अवस्था के पहले चरण में मनुष्य उदात्त वन्य प्राणी (Novel Savage) था। मानव पशुओं की तरह जीवन व्यतीत करता था। वह अपना जीवन पशु की तरह भूख, प्यास, निद्रा, काम-वासना की मूल प्रव त्तियों के अनुसार व्यतीत करता था। वह स्वतन्त्र, सन्तुष्ट, आत्मकेन्द्रत, आत्मनिर्भर, शांत तथा एकाकी जीवन व्यतीत करता था। उसकी आवश्यकताएँ अति सीमित थीं और वह पूर्ण रूप से सुखी था। उसके अन्दर दुर्गुणों का सर्वथा अभाव था, परन्तु सभ्यता के न होने से वह जंगली व पशु तुल्य था। रूसो के अनुसार प्राकृतिक अवस्था के प्रथम चरण से व्यक्ति शांतिमय व निष्पाप जीवन बिताता था।

(ख) प्रकृति की अवस्था का दूसरा चरण

(Second Stage of State of Nature)

रूसो के अनुसार जैसे ही जनसंख्या की व द्धि हुई तथा तर्क का उदय हुआ। इसके परिणामस्वरूप आर्थिक प्रगति हुई। इससे मनुष्य में सम्पत्ति रखने की चाह जाग त हुई। इससे मनुष्य का दूसरे पर आधिपत्य, भौतिकवाद और गर्व का प्रादुर्भाव हुआ। अब प्राकृतिक अवस्था में जाना मुश्किल था। रूसो के अनुसार- "वह पहला व्यक्ति नागरिक समाज का वास्तविक जन्मदाता था जिसने भूमि के टुकड़े को घेर कर कहा कि यह भूमि मेरी है और जिसे इस कथन पर विश्वास करने के लिए सीधे-सादे

व्यक्ति मिल गए।" जनसंख्या में व द्धि और तर्क के उदय ने सामाजिक समानता को नष्ट कर दिया और मेरे-तेरे का भाव पैदा हुआ। अब मनुष्य जंगली जीवन को छोड़कर एक स्थान पर रहकर कृषि करने लगा। इससे समाज में असमानता बढ़ी जब कृषि के उद्‌भव तथा पशु इत्यादि के स्वामित्व ने मनुष्यों में धनी-निर्धन की भावना उत्पन्न कराई। समाज में प्रतियोगिता की भावना का जन्म हुआ। अमीर-गरीब के भेदभाव ने स्वार्थ, द्वेष, घ णा और हिंसा को जन्म दिया। रूसो के अनुसार- "निजी सम्पत्ति के साथ परिवारों ने परस्पर वैमनस्य और संघर्ष पैदा किया जिसके कारण असमानता का जन्म हुआ और दूसरे के अधिकार को सबल के द्वारा छीना जाना एक स्वीकृत सिद्धान्त बन गया।" इससे समाज में गरीबों का शोषण होने लग गया। परस्पर लड़ाई शुरू हो गई। शक्तिशालियों द्वारा कमजोर पर कब्जा करने की प्रथा शुरू हो गई। कृषि, उद्योग, आर्थिक गतिविधियों तथा जीवन की जटिलता ने वातावरण को संघर्षमय बना दिया। समाज की शान्ति व सौम्य जीवन प्रभावित हुआ। मनुष्य का जीवन पापमय बन गया व मनुष्य स्वार्थी और अहंकारी बन गया। रूसो के अनुसार- "कुछ महत्त्वाकांक्षी लोगों ने सम्पूर्ण मानवता को एक निरन्तर श्रम, गुलामी और दरिद्रता की अवस्था में धकेल दिया।"

(ग) प्रकृति की अवस्था का त तीया चरण
(Third Stage of State of Nature)

इस अवस्था में कृषि कार्य, पशुपालन तथा धातु शोधन कार्यों की खोज हुई। इससे मनुष्यों को आपसी सहयोग की आवश्यकता पड़ी और लोग आर्थिक कार्यों को पूरा करने के लिए मिल-जुलकर कार्य करने लगे। अमीर और गरीब के बीच में खाई और चौड़ी हो गई। इस तीव्र आर्थिक असमानता के कारण मनुष्यों में संघर्ष, कलह, चोरी, कपट, भय, हत्या जैसे दुर्गुणों की शुरुआत हुई। रूसो के अनुसार- "सामाजिक विषमता ने अन्य बुराइयों को जन्म दिया। सभ्य समाज के उदय होने से निर्धनता और दुःख का प्रादुर्भाव हुआ। सभ्यता की व द्धि के साथ-साथ दरिद्रता, शोषण, हत्या और बीमारी बढ़ती गई।" मनुष्यों ने अपनी शक्ति, योग्यता एवं चालाकी के आधार पर अन्य मनुष्यों से अधिक सम्पत्ति एकत्रित की। भूमि पर निजी स्वामित्व के कारण, मनुष्यों के बीच स्थायी असमानता हो गई और गरीब व अमीर तथा दास व स्वामी वर्ग बने। प्राकृतिक अवस्था की असहनीय स्थिति ने अत्याचार को जन्म दिया तथा मनुष्यों को पतन की ओर धकेल दिया। इससे व्यक्ति का जीवन दरिद्र, अपवित्र तथा क्षणिक बन गया। रूसो की यह अवस्था हॉब्स की प्राकृतिक दशा के समान थी। रूसो के अनुसार- "इस अवस्था में समाज में मनुष्य का जीवन कष्टमय बन गया तथा कष्टों से मुक्ति पाने के लिए मनुष्यों ने एक सामजिक समझौता किया और नई समाज-व्यवस्था की स्थापना की।" इस अवस्था की अराजकता को देखकर रूसो ने मनुष्यों को "प्रकृति की ओर लौट चलने" की सलाह दी।

रूसो की प्राकृतिक अवस्था की विशेषताएँ
(Characteristics of Rousseau's State of Nature)

रूसो की प्राकृतिक अवस्था की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

1. यह अवस्था आदिम अवस्था थी, जिसमें मनुष्य का जीवन पशुवत था। मानव जंगलों में रहता था और असभ्य था।
2. इस अवस्था में मनुष्य का जीवन शांतिमय था और व्यक्ति सुखी था।
3. प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य आत्मकेन्द्रित अर्थात् वह स्वयं में लीन रहता था। वह एकाकी जीवन व्यतीत करता था। उसका जीवन सहज एवं प्राकृतिक था तथा वह दुर्गुणों से रहित था।
4. इस अवस्था में कोई सभ्यता नहीं थी। इसमें सामाजिक नियम व संस्थाओं का अभाव था।
5. इस अवस्था में निजी सम्पत्ति व तर्क का अभाव था।
6. इस अवस्था में व्यक्ति की आवश्यकताएँ सीमित थीं और वह आत्मनिर्भर था।
7. प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति को पूरी स्वतन्त्रता थी और इस स्वच्छन्द वातावरण में व्यक्ति निर्बाध जीवन बिताता था।
8. इस अवस्था में परिवार जैसी कोई संस्था भी नहीं थी।
9. व्यक्ति को अच्छे बुरे का कोई ज्ञान नहीं था।

हॉब्स व लॉक से तुलना
(Comparison with Hobbes and Locke)

रूसो की प्राकृतिक अवस्था हॉब्स व लॉक की प्राकृतिक अवस्थाओं से भिन्न है। हॉब्स द्वारा वर्णित प्राकृतिक अवस्था युद्ध, आतंक एवं अशान्ति की अवस्था थी जिसमें मानव का जीवन दरिद्र, एकाकी, अपवित्र तथा क्षणिक था। वह पशु तुल्य जीवन व्यतीत करता था। लॉक के अनुसार, प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति परस्पर सहयोग, सद्‌भावना, शान्ति और सौहार्दपूर्ण वातावरण में रहता था। मनुष्यों के बीच मित्रता एवं प्रेम था। रूसो के अनुसार प्राकृतिक अवस्था के प्रथम चरण में व्यक्ति आनन्द व सुख से रहता था। मानव आत्मनिर्भर एवं आदर्श जीवन व्यतीत करते थे। परन्तु व्यक्तिगत सम्पत्ति के उदय होने से यह अवस्था संघर्ष, ईर्ष्या, द्वेष आदि से परिपूर्ण हो गई। समाज में असमानता बढ़ी तथा उसके आदर्श का पतन हो गया।

हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था अराजकता और युद्ध की अवस्था है। रूसो की प्राकृतिक अवस्था परमानन्द की अवस्था है। लॉक की प्राकृतिक अवस्था शान्ति व पारस्परिक सहयोग की अवस्था है। अतः रूसो की प्राकृतिक अवस्था लॉक की प्राकृतिक अवस्था के समान है। हॉब्स व रूसो की प्राकृतिक अवस्था असामाजिक है, जबकि लॉक की प्राकृतिक अवस्था सामाजिक है। हॉब्स व रूसो की प्राकृतिक अवस्था में प्राकृतिक दशा के दोषों को दूर करने के लिए केवल एक ही बार समझौता होता है, जबकि लॉक दो बार समझौते की बात कहता है।

उपर्युक्त असमानताओं के बावजूद भी तीनों विचारकों के विचारों में कुछ समानताएँ भी दिखाई देती है। तीनों समझौते की अनिवार्यता को स्वीकारते हैं। तीनों व्यक्ति के जीवन को शांतमय बनाने के लिए समझौते की अनिवार्यता स्वीकार करते हैं तीनों प्राकृतिक अवस्था का अन्त करने के लिए समझौता करने की बात मानते हैं। अतः हॉब्स व लॉक व रूसो की तुलना करने पर तीनों में कुछ समानताएँ व असमानताएँ उभरती हैं।

प्राकृतिक अवस्था की आलोचनाएँ
(Criticisms of State of Nature)

रूसो की प्राकृतिक अवस्था की निम्न आधारों पर आलोचना की गई है :

1. आलोचकों के अनुसार प्रकृति की अवस्था में मनुष्य अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ रहा है। विपरीत भौतिक परिस्थितियों के विरुद्ध मानव अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ रहा है। अर्थात् रूसो का यह मानना कि प्राकृतिक अवस्था मानव इतिहास का स्वर्णकाल है, एकदम भ्रमपूर्ण एवं असत्य है।
2. रूसो ने काल्पनिक प्राकृतिक अवस्था को सिद्ध करने के लिए बुद्धि, तर्क, अनुमान तथा सामान्य ज्ञान से इसका मेल नहीं किया।
3. प्राकृतिक अवस्था में रूसो ने मानव को आत्मकेन्द्रित तथा आत्मनिर्भर प्राणी माना है। मनुष्य के इन गुणों की कल्पना अनुमान एवं तथ्य की द ष्टि से गलत है।
4. भौतिक द ष्टि से प्रकृति की अवस्था के प्रथम चरण की तुलना में द्वितीय चरण अधिक विकसित अवस्था वाला है और द्वितीय चरण की तुलना में त तीय चरण अधिक विकसित भौतिक अवस्था को प्रकट करता है। परन्तु रूसो के अनुसार त तीय चरण मानवता के पतन को प्रकट करता है। रूसो प्रकृति की अवस्था के प्रथम चरण को आदर्श अवस्था मानता है। इस प्रकार प्रथम चरण को आदर्श एवं असभ्य अवसिा दोनों ही माना है। अर्थात् रूसो असभ्यता को आदर्श मानता प्रतीत होता है। वाल्टेयर ने इस आधार पर रूसो को असभ्यता के युग का विचारक कहा है।
5. रूसो के विचारों में स्पष्टता का अभाव है। उदाहरण के लिए सम्पत्ति सम्बन्धी विचार स्पष्ट नहीं है। कहीं वह सम्पत्ति की सभी बुराइयों की जड़ मानते हुए, 'डिकसोर्सिस' में उसकी आलोचना करता है तो कहीं वह सम्पत्ति को पवित्र मानते हुए 'पोलिटिकल इकोनोमी' में इसका समर्थन करता है।
6. रूसो की 'वापिस प्रकृति और लौट चलो' की उक्ति प्रगति विरोधी है। उसकी यह अपील भावनाओं पर आधारित है तर्क पर नहीं। अतः रूसो में तार्किकता का अभाव है।

सामाजिक समझौते का सिद्धान्त
(Theory of Social Contract)

रूसो ने सामाजिक समझौता सिद्धान्त का वर्णन अपनी पुस्तक 'सोशल कांट्रेक्ट' (सामाजिक समझौता) में किया है। इस रचना में रूसो ने आदर्श समाज की स्थापना की युक्ति सुझाई है, जिससे मानव जाति की मानव जाति को प्राकृतिक अवस्था के कष्टों से मुक्ति मिल सके। जिस प्रकार हॉब्स व लॉक ने राज्य की उत्पत्ति का कारण सामाजिक समझौते को माना है, उसी प्रकार रूसो के अनुसार भी राज्य की उत्पत्ति सामाजिक समझौता का ही परिणाम है। रूसो ने अपने राजनीतिक विचारों एवं निष्कर्षों को प्रस्तुत करने के लिए सामाजिक समझौता सिद्धान्त को अपनाया है। रूसो का मूल प्रयास व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा राज्य की सत्ता के बीच उचित सामंजस्य स्थापित करना था। व्यक्ति को पूर्ण सुरक्षा प्रदान करने के साथ उसे अधिक से अधिक स्वतन्त्रता प्रदान करने के लिए रूसो के सामाजिक समझौता सिद्धान्त को प्रस्तुत किया।

सामाजिक समझौते का उद्देश्य

रूसो के सामाजिक समझौता सिद्धान्त का उद्देश्य इस बात पर प्रकाश डालना नहीं है कि भूतकाल में प्रथम राज्य की स्थापना किस प्रकार हुई। उसके सामाजिक समझौता सिद्धान्त का उद्देश्य तो एक ऐसे आदर्श समाज का निर्माण करना है जहाँ राज्य की सत्ता एवं व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में समन्वय स्थापित हो सके और जहाँ मानव जाति अपने कष्टों से छुटकारा पा सके। उसके समक्ष "समस्या इस प्रकार के समुदाय का निर्माण करना है जो अपनी सामूहिक शक्ति से प्रत्येक सदस्य के जीवन और धन की रक्षा कर सके और जिसमें प्रत्येक व्यक्ति दूसरों के साथ मिलकर बहते हुए भी केवल अपने आदेश का पालन कर सके और पहले की तरह स्वतन्त्र भी रह सके।" रूसो इस समस्या का समाधान सामाजिक समझौते द्वारा करता है।

रूसो के सामाजिक समझौते का अध्ययन हम निम्नलिखित भागों में कर सकते हैं :-

1. **मानव स्वभाव और प्राकृतिक अवस्था** : रूसो मनुष्य को सद्‌गुणों व दुर्गुणों का मिश्रण मानता है। रूसो की द ष्टि में मनुष्य शान्तिप्रिय व दयावान प्राणी है। सामाजिक प्राणी होने के नाते प्रत्येक व्यक्ति में आत्मरक्षा व सहानुभूति की दो प्रव त्तियाँ अवश्य पाई जाती हैं। प्राकृतिक अवस्था में बुद्धि के स्थान पर भावनाओं का ज्यादा महत्त्व है। उसे इस अवस्था में निजी सम्पत्ति और नैतिकता का भी ज्ञान नहीं होता था। इस अवस्था में मनुष्य शान्तिप्रिय, सुखमय जीवन व्यतीत करने वाला प्राणी था। प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य उदात्त वन्य प्राणी था। व्यक्ति भौतिक आवश्यकताओं की द ष्टि से आत्मनिर्भर था और उनका जीवन चिन्ता रहित था। वह अपना जीवन प्रकृति के अनुरूप व्यतीत करता था। उसमें ऊँच-नीच का भेदभाव नहीं था। मनुष्य दूसरों के हितों को हानि नहीं पहुँचाते थे। उदात्त व्यवहार सहज-प्रव त्तियों पर ही आधारित था।

2. **समझौते का कारण** : रूसो के अनुसार मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में शान्तिप्रिय व सुखमय जीवन व्यतीत करता था। यदि ऐसा था तो समझौते की आवश्यकता क्यों पड़ी। प्रत्येक समझौतावादी विचारक ने इसके लिए अलग-अलग कारण बताए हैं। रूसो का कहना है कि तर्क व सम्पत्ति के उदय से प्राकृतिक अवस्था की सुख-शान्ति समाप्त हो गई। समाज में आर्थिक असमानता में व द्धि हुई। कला और विज्ञान, निजी सम्पत्ति, श्रम-विभाजन, जनसंख्या में व द्धि से सभ्य समाज की स्थापना हुई जिससे मनुष्यों की प्राकृतिक समानता व स्वतन्त्रता लुप्त हो गई। आर्थिक प्रतिस्पर्धा के कारण मनुष्यों में ईर्ष्या-द्वेष के सम्बन्ध स्थापित हो गए। इससे प्राकृतिक अवस्था कष्टकारी हो गई। रूसो कहता है - समस्या एक ऐसा संगठन बनाने की है जो पूर्ण सम्मिलित शक्ति से व्यक्ति और उसके साथियों के हितों की रक्षा करे तथा जिसमें हर व्यक्ति सभी के साथ संगठित रहते हुए अपनी ही आज्ञा माने तथा पहले के समान ही स्वतन्त्र हो।" प्राकृतिक अवस्था के कष्टमय बन जाने पर ही मनुष्यों ने नये आदर्श समाज की स्थापना के लिए समझौता किया।

3. **सामाजिक समझौते की विधि** : रूसो के सामाजिक समझौते में प्रत्येक व्यक्ति एक ओर अपनी वैयक्तिक स्थिति में होता है और दूसरी ओर वह स्वयं अपनी निगमित स्थिति में होता है अर्थात् समझौते के दो पक्ष होते हैं। एक ओर व्यक्ति और एक ओर पूरा समुदाय। रूसो के शब्दों में- "हम में से प्रत्येक व्यक्ति दूसरों के साथ-साथ अपने व्यक्तित्व और अपनी सम्पूर्ण शक्ति को सामान्य इच्छा के सर्वोच्च निर्देशन में छोड़ देता है और अपनी निगमित स्थिति में हम प्रत्येक सदस्य से उस पूर्ण सत्ता के अविभाज्य अंश के रूप में मिलते हैं।" इस प्रकार रूसो के अनुसार मनुष्यों ने प्राकृतिक दशा को छोड़कर एक सामाजिक अनुबंध द्वारा सभ्य समाज का निर्माण किया। यह समझौता दो पक्षों के बीच होता है - व्यक्ति

जीवन और सामूहिक जीवन। सामाजिक समझौते द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने प्राकृतिक अधिकार अपने सार्वभौम को सौंप देते हैं। रूसो ने समझौते को स्थायी व प्रभावशाली बनाने के लिए लिखा है- "सामाजिक समझौते को प्रभावित बनाने से रोकने के लिए इसमें यह स्पष्ट शर्त उल्लिखित है कि जो कोई भी लोकमत की अवज्ञा करेगा, उसे सभी नागरिकों के समाज द्वारा आज्ञा मानने के लिए बाध्य किया जाएगा।" इसका तात्पर्य व्यक्ति को समझौता छोड़ने की स्वतन्त्रता नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति सामान्य इच्छा से बँधा हुआ होता है। इससे वह समाज को जो कुछ देता है, उतना ही लेता भी है। जो कुछ उसके पास है, उसको सुरक्षित करने के लिए वह पर्याप्त शक्ति भी प्राप्त करता है। रूसो ने लिखा है- "प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको सभी को समर्पित करते हुए किसी को भी व्यक्तिगत रूप में समर्पित नहीं करता, इस तरह कोई भी ऐसा सदस्य नहीं होता है जो दूसरों पर उन्हीं अधिकारों को प्राप्त नहीं करता है जो कि वह अपने पर दूसरों को देता है; जो कुछ वह गँवाता है, उसी के बराबर वह प्राप्त कर लेता है और अपनी वस्तुओं की सुरक्षा में व द्धि कर लेता है।"

इस समझौते द्वारा प थक् व्यक्तियों के स्थान पर एक नैतिक और सामूहिक निकाय का जन्म होता है, जिसका अपना जीवन होता है, अपना अस्तित्व होता है, अपनी इच्छा होती है एवं अपनी सत्ता और एकता होती है। यदि यह निकाय निष्क्रिय रहता है तो राज्य, यदि सक्रिय तो सम्प्रभु कहलाता है। प्रत्येक सदस्य अपने समस्त अधिकार अथवा शक्तियाँ समाज को देता है। इस समझौते से उत्पन्न समाज एकताबद्ध, सर्वोच्च और नैतिक होता है न कि दमनकारी और स्वतन्त्रता विरोधी। इस समझौते से मनष्य कुछ नहीं खोता है। समाज का सदस्य होने के नाते जो कुछ वह समाज को देता है, वही अधिकार वह समाज के प्रत्येक सदस्य के ऊपर स्वयं प्राप्त कर लेता है। रूसो ने सामाजिक समझौता प्रक्रिया को इस प्रकार समझाया है- "हम में से प्रत्येक अपने शरीर अथवा अपनी सम्पूर्ण शक्ति को सबके साथ सामान्य रूप से सामान्य इच्छा के सर्वोच्च निर्देशन में रख देता है और अपने सामूहिक स्वरूप में हम प्रत्येक सदस्य को सम्पूर्ण के एक अविभाज्य अंग के रूप में स्वीकार करते हैं। एकदम समझौते को करने वाले प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तिगत व्यक्तित्व के स्थान पर इस समूहीकरण से एक नैतिक तथा सामूहिक निकाय का जन्म होता है जो कि उतने ही घटकों से मिलकर बनता है जितने कि उसमें मत होते हैं। समस्त व्यक्तियों के संघटन से बने हुए इस सार्वजनिक व्यक्ति को पहले नगर कहते थे, अब उसे गणराज्य अथवा राजनीतिक समाज कहते हैं।"

समझौते का प्रभाव

रूसो के अनुसार इस समझौते के हो जाने पर मानव-स्वभाव में महान् परितर्वन होता है। जहाँ प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य नैसर्गिक प्रव त्तियों द्वारा निर्देशित होता था, नागरिक समाज में न्याय द्वारा निर्देशित होता है। इससे व्यक्ति में नैतिकता का जन्म होता है। कर्त्तव्य के स्थान पर अधिकार का, शारीरिक संवेग के स्थान पर कर्त्तव्य का, इच्छा के स्थान पर विवेक का और स्वार्थ के स्थान पर परमार्थ का उदय होता है। नागरिक समाज में मनुष्य की प्रतिभा मुखरित होकर उसके विचारों का विकास करती है, उसकी भावना तथा आत्मा ऊँची उठती है। रूसो का कहना है कि नागरिक समाज में व्यक्ति अपने मनुष्यत्व को प्राप्त करता है। दूसरे शब्दों में नागरिक बनने के बाद ही व्यक्ति मनुष्य बनता है।

समझौते की विशेषताएँ

सामाजिक समझौते की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :-

1. यह समझौता एक बार ही हुआ।
2. यह समझौता व्यक्ति द्वारा अपनी स्वतन्त्रता को सुरक्षित करने तथा अराजकता का अन्त करने के लिए किया जाता है। प्राकृतिक दशा में सभी व्यक्ति 'ग्राम्य सुषमा के आनंद' का जीवन व्यतीत करते हैं। परन्तु प्राकृतिक अवस्था में आधारभूत परिवर्तनों जैसे कला और विज्ञान, निजी सम्पत्ति, श्रम-विभाजन आदि के कारण मनुष्य संघर्षरत रहने से दुःखी होकर अराजकता तथा अशान्ति के वातावरण को समाप्त करने के लिए यह कदम उठाता है।
3. इस समझौते द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने प्राकृतिक अधिकार अपने सामूहिक अस्तित्व को समर्पित कर देता है। अर्थात् व्यक्ति स्वयं समझौते का भागी होता है। इसकी स्थापना के बाद व्यक्ति इससे अलग नहीं हो सकता।
4. समझौते के परिणामस्वरूप उत्पन्न समाज स्वतन्त्रता विरोधी नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि समझौता करने से उसकी स्वतन्त्रता सीमित नहीं होती। इस समझौते द्वारा व्यक्ति अपनी प्राकृतिक स्वतन्त्रता खोकर नागरिक स्वतन्त्रता प्राप्त करता है। रूसो के अनुसार- "समझौते द्वारा व्यक्ति सिर्फ उसी स्वतन्त्रता को खोता है जो उसे असामाजिक भावनाओं के अनुसार

कार्य करने के लिए प्रेरित करती है एवं जो केवल शारीरिक शक्ति द्वारा मर्यादित होती है। रूसो इसे नैतिक स्वतन्त्रता कहता है। यह स्वतन्त्रता सच्ची स्वतन्त्रता होती है। इसके द्वारा व्यक्ति अपने ऊपर नियन्त्रण रख सकता है। रूसो के अनुसार- "सामाजिक अनुबंध के द्वारा मनुष्य अपनी प्राकृतिक स्वतन्त्रता खो देता है और उन सब वस्तुओं पर उसका असीमित अधिकार नहीं रह जाता जो उसे आकर्षित करती थी, उसे मिलती है नागरिक स्वतन्त्रता अर्थात जो कुछ उसके पास है वह उसकी सम्पत्ति हो जाता है।" इस समझौते में प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा शामिल रहती है, एतएव व्यक्ति कानूनों का पालन कर सच्ची स्वतन्त्रता का उपभोग करता है। इस प्रकार समझौते द्वारा व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन नहीं होता।

5. रूसो के सामाजिक समझौते द्वारा जिस सामान्य इच्छा का निर्माण होता है, वह सभी व्यक्तियों के लिए सर्वोच्च होती है। सभी व्यक्ति उसके अधीन होते हैं। रूसो की सामान्य इच्छा राज्य शक्ति व सम्प्रभु है।
6. रूसो के समझौते के आधार पर निर्मित सामान्य इच्छा सदैव ही जनहित पर आधारित एवं न्याययुक्त होती है। सभी व्यक्ति रूसो की सामान्य इच्छा द्वारा निर्देशित होते हैं।
7. रूसो के समझौते में प्रत्येक व्यक्ति एक ओर तो वैयक्तिक स्थिति में और दूसरी ओर वह स्वयं अपनी निगमित स्थिति में होता है अर्थात् सामाजिक समझौते के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति के दो पक्ष हैं - व्यक्तिगत और सामूहिक पक्ष। प्रत्येक व्यक्ति प्रभुसत्ता का सहभागी बना रहता है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकारों का समर्पण किसी व्यक्ति विशेष के प्रति नहीं, यह सम्पूर्ण समाज के प्रति करता है। इसलिए यह सिद्धान्त व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों का रक्षक है, विनाशक नहीं।
8. रूसो के सामाजिक समझौता द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अपने समस्त अधिकारों व शक्तियों को सम्पूर्ण समाज को सौंप देता है। इसलिए कोई भी व्यक्ति इसे इतना कठोर नहीं बनाना चाहेगा कि व्यक्ति का दमन हो और स्वतन्त्रता नष्ट हो जाए। अतः यह समझौता दमनकारी और स्वतन्त्रता विरोधी नहीं है।
9. इस समझौते द्वारा प्रत्येक को लाभ होता है, हानि नहीं। वह जो कुछ सबको देता है, उसे सम्पूर्ण समाज का अभिन्न अंग होने के नाते प्राप्त भी कर लेता है। अतः इससे प्रत्येक को लाभ होता है।
10. हॉब्स व लॉक के विपरीत रूसो के समझौते से उत्पन्न राज्य का स्वरूप आंगिक एवं समष्टिवादी है। रूसो राज्य को केल यान्त्रिक साधन न मानकर उसे नैतिक प्राणी मानता है, जिसका अपना जीवन व इच्छा होती है। राज्य मानव में मानवीय गुणों का समावेश करके उसे पूर्ण नैतिक मानव बना देता है। राज्य स्वयं एक उद्देश्य है, किसी उद्देश्य की पूर्ति का साधन नहीं। राज्य का अपना अलग अस्तित्व होता है, जिसमें व्यक्ति का व्यक्तित्व भी शामिल है। अतः रूसो का राज्य आंगिक व समष्टिवादी है।
11. रूसो के अनुसार सामाजिक समझौता व्यक्ति के सभी अधिकारों का स्रोत है। रूसो अधिकार को नैसर्गिक न मानकर राज्य द्वारा प्रदत्त मानता है। राज्य से बाहर व्यक्ति का कोई अधिकार नहीं होता।
12. रूसो के अनुसार सामाजिक समझौता कोई ऐसी घटना नहीं है जो कभी एक बार घटी हो। यह तो निरन्तर चलने वाला क्रम है, जिससे प्रत्येक व्यक्ति सामान्य इच्छा में निरन्तर भाग लेता रहता है।

सामाजिक समझौते के द्वारा सरकार का निर्माण नहीं होता है। सरकार की स्थापना प्रभुसत्तासम्पन्न जनता द्वारा की जाती है। सरकार जनता की प्रतिनिधि है और उसे कोई स्वतन्त्र शक्ति या अधिकार प्राप्त नहीं है। जनता को यह अधिकार है कि वह सरकार बदल दे। रूसो के अनुसार इस समझौते में प्रत्येक व्यक्ति को लाभ होता है। इसमें किसी को कोई हानि नहीं होती। जो अधिकार वह देता है, वही दूसरों के ऊपर प्राप्त कर लेता है। अर्थात् इससे प्रत्येक व्यक्ति को लाभ होता है। रूसो के अनुसार- "प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको सबके हाथ समर्पित करते हुए अपने ओपको किसी के हाथ समर्पित नहीं करता।" यह समझौता निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है। इससे प्रत्येक व्यक्ति को लाभ प्राप्त होता रहता है। इस समझौते का प्रत्येक सदस्य अपने सारे अधिकार अथवा शक्तियाँ सम्पूर्ण समाज को दे देता है। व्यक्ति उन्हीं अधिकारों को राज्य को सौंपता है जो सम्पूर्ण समाज से सम्बन्धित हैं। वह व्यक्तिगत अधिकार अपने पास रख लेता है। व्यक्तिगत या सामाजिक कार्य का निर्माण समाज करता है। राज्य को व्यक्तिगत अधिकारों से कुछ लेना-देना नहीं है। राज्य केवल व्यक्तिगत हित में सार्वजनिक हित की सुरक्षा हेतु ही हस्तक्षेप कर सकता है।

रूसो के अनुसार समझौता निष्क्रिय प्रजा और सक्रिय सम्प्रभु दोनों के बीच होता है। मनुष्य अपनी शक्तियाँ सम्पूर्ण समाज को समर्पित करता है और उसकी क्रियाओं पर समाज के समस्त सदस्यों का समान अधिकार होता है। प्रत्येक व्यक्ति केवल उतना ही स्वतन्त्र रहता है जितना कि वह पहले था, वरन् सामूहिक परिस्थितियों के अन्तर्गत वह पहले से कहीं अधिक स्वतन्त्र हो जाता है। संविदा के फलस्वरूप उत्पन्न समाज का रूप सावयवी होता है। यह समाज नैतिक तथा सामूहिक प्राणी है। व्यक्ति राज्य का अभिन्न अंग होने के नाते, राज्य से किसी प्रकार भी अलग नहीं हो सकता। व्यक्ति राज्य के विरुद्ध आचरण भी नहीं कर सकता। रूसो ने हॉब्स की तरह अराजकता का अन्त करने के लिए ही सामाजिक समझौता किया।

हाब्स व लॉक से तुलना

(Comparison with Hobbes and Locke)

तीनों समझौतावादी प्राकृतिक अवस्था के दोषों से उत्पन्न अव्यवस्था को दूर करने के लिए समझौते द्वारा राज्य की उत्पत्ति की बात पर सहमत हुए भी परस्पर भिन्न-भिन्न विचार रखते हैं। ये विभिन्नताएँ तीनों के दर्शन में हैं :-

1. हॉब्स का सम्प्रभु एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों का समूह है, रूसो का सम्पूर्ण समाज सम्प्रभु है। लॉक भी रूसो की तरह सारे समुदाय को शक्तियों का स्रोत बनता है।
2. हॉब्स और लॉक के समझौते से उत्पन्न राज्य का स्वरूप यान्त्रिक और व्यक्तिवादी है, रूसो के समझौते से उत्पन्न राज्य आंगिक एवं समष्टिवादी है।
3. लॉक दो बार समझौता होने का उल्लेख करता है। हॉब्स व रूसो के अनुसार केवल एक बार समझौता हुआ।
4. हॉब्स शक्ति को न्याय और नैतिकता का स्रोत मानता है, रूसो व्यक्ति को केवल भौतिक बल मानता है जिससे नैतिकता उत्पन्न नहीं हो सकती।
5. हॉब्स व लॉक का समझौता निश्चित समय में होने वाला कार्य है जबकि रूसो का समझौता निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है।
6. हॉब्स व रूसो की प्राकृतिक पूर्व सामाजिक है तथा लॉक की पूर्व राजनीतिक।
7. हॉब्स व रूसो का समझौता कठोर है। व्यक्ति को समझौते से बाहर निकलना, पुनः प्राकृतिक अवस्था में धकेले सकता है। लॉक का सामाजिक समझौता व्यक्ति को बाहर निकलने की छूट प्रदान करता है।
8. हॉब्स सामाजिक समझौते का कारण प्राकृतिक अवस्था की अराजकता को, लॉक प्राकृतिक अवस्था के आधारभूत दोषों को तथा रूसो सम्पत्ति व जनसंख्या व द्वि के कारण उत्पन्न आर्थिक असमानता की कष्टपूर्ण स्थिति से बाहर निकलने को मानते हैं।
9. हॉब्स के सामाजिक समझौते से निरंकुश सम्प्रभु का, लॉक के समझौते से सीमित या मर्यादित सरकार का निर्माण हुआ। परन्तु रूसो के समझौते द्वारा सामान्य इच्छा या प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली का जन्म हुआ।

सामाजिक समझौता सिद्धान्त की आलोचनाएँ

(Criticisms of theory of Social Contract)

रूसो द्वारा प्रतिपादित सामाजिक समझौता सिद्धान्त की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना हुई है :-

1. **तार्किक असंगतियाँ** : रूसो ने जिन तर्कों को आधार बनाकर राज्य का निर्माण किया है, वे हास्यास्पद और विसंगतियों से भरे हैं। रूसो कहता है कि समझौते में शामिल प्रत्येक व्यक्ति जो पूरे समुदाय से समझौता करता है, वह वास्तव में अपने से ही समझौता करता है। ऐसे कथन निरर्थक प्रलाप जैसे लगते हैं। समझौते द्वारा बनने वाला सम्प्रभु न कोई व्यक्ति है और न व्यक्तियों का समूह। वह एक सामान्य इच्छा है, फिर भी उसका अपना व्यक्तित्व है, अपनी इच्छा है। इसका कोई भौतिक अस्तित्व नहीं है। एक मनोवैज्ञानिक इकाई के साथ व्यक्ति का काम करना कल्पना लोक की बात है।
2. **समझौता अवैधानिक** : जिस समय यह समझौता हुआ, उस समय उसे लागू करने वाली कोई वैध शक्ति नहीं थी। अतः इसे वैध नहीं माना जा सकता।

3. **रूसो के राज्य में व्यक्ति समाप्त हो गया है** : रूसो ने राज्य की चेतना को इतना सार्वभौमिक बना दिया है कि उसमें व्यक्ति एकाकार होकर रह गया है। वान का कहना है कि रूसो व्यक्तिवाद को समष्टिवाद के साथ इस तरह मिला देता है कि यह जनसाधारण से परे चला गया है। समझौते के अनुसार व्यक्ति अपने सारे अधिकार राज्य को दे देता है तथा समाज का सदस्य होने के नाते उन्हें पुनः प्राप्त कर लेता है। यह सैद्धान्तिक कथन है। सच्चाई तो यह है कि रूसो ने व्यक्ति को निरंकुशता के हवाले कर दिया है।
4. **प्राकृतिक अवस्था का वर्णन काल्पनिक है** : इतिहास में इस तरह का कोई वर्णन नहीं मिलता कि सम्पत्ति व जनसंख्या की व द्धि ने प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति के जीवन को कष्टमय बना दिया। यह सैद्धान्तिक रूप से तो ठीक हो लेकिन इतिहास में इसका कोई प्रमाण नहीं है। इसलिए रूसो की प्राकृतिक अवस्था का वर्णन निराधार व काल्पनिक है।
5. **विरोधाभासी** : रूसो के अनुसार समझौता व्यक्ति और समाज में होता हे। दूसरी ओर वह कहता है कि समाज समझौते का परिणाम है। उसके विचार में स्पष्ट विरोधाभास है। उसका सामाजिक समझौता सिद्धान्त हॉब्स के मानव समाज के विचार पर आधारित है। आलोचकों के अनुसार कहीं रूसो समझौते को ऐतिहासिक घटना कहता है, कहीं निरन्तर चलने वाला क्रम। अतः यह सिद्धान्त विरोधाभासी है।
6. **मानव स्वभाव का गलत वर्णन** : रूसो ने प्राकृतिक अवस्था में मानव स्वभाव का वर्णन करते हुए कहा है कि मौलिक रूप से मानव अच्छा है। उसके सारे दोष बाह्य परिस्थितियों की देन हैं। वास्तव में ऐसा नहीं है। मानव स्वभाव दैत्य व देव दो प्रव त्तियों का मेल है।
7. **राज्य समझौते का नहीं, विकास का परिणाम है** : आधुनिक समय में यह सिद्ध हो चुका है कि राज्य समझौते का परिणाम न होकर धीरे-धीरे होने वाली सामाजिक संस्थाओं के विकास का परिणाम है। अतः राज्य को समझौते का परिणाम कहना सरासर गलत है।
8. **सामाजिक प्रगति सिद्धान्त का विरोधी** : रूसो का सामाजिक समझौता सिद्धान्त सम्पत्ति का उदय तथा जनसंख्या व द्धि के परिणामस्वरूप प्राकृतिक अवस्था दोषपूर्ण हुई। आज तक का इतिहास विज्ञान व ज्ञान के परिणामस्वरूप निरन्तर प्रगति का इतिहास है। रूसो की धारणा इस सिद्धान्त की विरोधी है।
9. रूसो के सामाजिक समझौते में यह कमी नजर आती है कि रूसो ने मनुष्य को बुराई से बचने के लिए मार्गदर्शन किया है परन्तु अच्छाई के मार्ग पर ध्यान नहीं दिया है अर्थात् रूसो ने भ्रष्टाचार, दुराचार और स्वार्थ से बचने के लिए अपने मत प्रस्तुत किये हैं, परन्तु उनके विकास और प्रगति की ओर ध्यान नहीं दिया है।
10. **स्पष्टता का अभाव** : रूसो सामाजिक समझौते को निरन्तर चलती रहने वाली प्रक्रिया मानता है। इस कथन का कोई स्पष्ट अर्थ रूसो प्रस्तुत नहीं करता। अतः रूसो का यह सिद्धान्त अस्पष्ट है।

रूसो के समझौता सिद्धान्त का महत्त्व

(Importance of Rousseau's theory of Social Contract)

रूसो का समझौता सिद्धान्त ऐतिहासिक, कानूनी और तार्किक द ष्टि से दोषपूर्ण होते हुए भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसका निम्नलिखित महत्त्व है :-

1. इस सिद्धान्त द्वारा राज्य की उत्पत्ति के दैवीय सिद्धान्त पर करारी चोट की गई है।
2. इस सिद्धान्त ने राज्य को मानवीय संस्था बनाकर निरंकुश शासन का विरोध किया और उत्तरदायी प्रजातन्त्रीय शासन प्रणाली का समर्थन किया है।
3. इसने शासन का आधार जन-स्वीकृति को बताया है, जो आधुनिक प्रजातन्त्र को मजबूती प्रदान करती है।
4. रूसो ने लोकप्रिय प्रभुसत्ता को सुद ढ़ बनाया है।
5. यह सिद्धान्त अमेरिका तथा फ्रांसीसी क्रान्तियों का प्रेरणा-स्रोत है।

अतः हम कह सकते हैं कि अनेक त्रुटियों के बावजूद यह सिद्धान्त राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

सामान्य इच्छा का सिद्धान्त
(Theory of General Will)

यह सिद्धान्त रूसो के दर्शन का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण, मौलिक, केन्द्रीय एवं रोचक विचार है। यह रूसो के सम्पूर्ण राजनीतक दर्शन की आधारशिला है। इसी धारणा के आधार पर रूसो ने स्वतन्त्रता, अधिकार, कानून, सम्प्रभुता, राज्य की उत्पत्ति, संगठन आदि विषयों पर अपने विचार प्रकट किये हैं। जोन्स के शब्दों में- "सामान्य इच्छा का विचार रूसो के सिद्धान्त का न केवल सबसे अधिक केन्द्रीय विचार है, अपितु यह उसका अधिक मौलिक व रोचक विचार भी है। रूसो का राजनीतिक क्षेत्र में उसकी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण देन है।" इसी प्रकार मैक्सी ने भी कहा है- "सामान्य इच्छा की धारणा सूक्ष्म मनोयोग की पात्र है। वह रूसो के दर्शन का मर्म है और शायद राजनीतिक चिन्तन के प्रति उनका सबसे विशिष्ट योगदान है।" रूसो के राजनीतिक विचारों को समझने के लिए उसकी सामान्य इच्छा की धारणा समझना आवश्यक है। सामान्य इच्छा का सिद्धान्त रूसो की सबसे विवादास्पद धारणा है। जहाँ प्रजातन्त्र के समर्थकों ने रूसो की सामान्य इच्छा का स्वागत किया है, वहीं निरंकुश शासकों ने इसका गलत प्रयोग करके जनता पर अत्याचार किये हैं।

रूसो ने जब एकान्त में रहने वाले व्यक्तियों से अनुशासनपूर्ण संस्था का निर्माण कराना चाहा तो ऐसा करना तार्किक द ष्टि से असम्भव हो गया। रूसो का समझौता किसी चमत्कार का परिणाम लगने लगा। पशुत्व का जीवन जीने वाले रातोंरात नागरिक बन गए। इस विसंगति को दूर करने के लिए रूसो ने सामान्य इच्छा का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। रूसो ने इस सिद्धान्त द्वारा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा सामाजिक सत्ता में समन्वय का प्रयास किया है। रूसो के सामान्य इच्छा के सिद्धान्त को समझने के लिए सबसे पहले 'यथार्थ या स्वार्थी' इच्छा तथा वास्तविक या आदर्श इच्छा में भेद करना आवश्यक है। सामान्यतः इन दोनों इच्छाओं का एक ही अर्थ लिया जाता है। परन्तु रूसो द्वारा इनका प्रयोग विशेष अर्थ में किया गया है।

1. **यथार्थ या स्वार्थी इच्छा** (Actual Will) : यह व्यक्ति की क्षणिक आवेग से उत्पन्न इच्छा है। यह सदैव निम्न व परिवर्तनशील कोटि की होती है। यह प्रत्येक क्षण व्यक्ति का स्वार्थ देखने के लिए उठती है। इससे सारे समाज को स्थायी आनन्द प्राप्त नहीं होता। यह इच्छा स्वार्थ-प्रेरित, संकीर्ण और अस्थिर है। इसे व्यक्तिगत या ऐन्द्रिक इच्छा का नाम भी दिया गया है। इसी इच्छा के कारण व्यक्ति दूसरों से झगड़ता रहता है। आशीर्वादन के अनुसार- "यह व्यक्ति की समाज विरोधी इच्छा है। यह क्षणिक एवं तुच्छ इच्छा है। यह संकुचित तथा स्वविरोधी भी है।"
2. **वास्तविक इच्छा** (Real Will) : वास्तविक इच्छा निश्चित और स्थिर होती है। इसमें स्वार्थ सार्वजनिक हित के अधीन रहता है। यह शाश्वत, विवेकपूर्ण एवं सामाजिक कल्याण के हित में होती है। इस इच्छा से व्यक्ति अपने हित को सार्वजनिक हित के रूप में देखता है। यह मनुष्य की श्रेष्ठता तथा स्वतन्त्रता की द्योतक है। नागरिक के बौद्धिक चिन्तन का परिणाम एवं वैयक्तिक स्वार्थ से रहित होने के कारण यह व्यक्ति की आदर्श इच्छा भी कही जा सकती है। वास्तविक इच्छा निर्विकार, नित्य और स्थिर है। डॉ॰ आशीर्वादन के अनुसार- "यह जीवन के सभी पहलुओं पर व्यापक रूप में द ष्टिपात करती है। यह विवेकपूर्ण इच्छा है। यह व्यक्ति तथा समाज के सामंजस्य में प्रदर्शित होती है।"

वास्तविक इच्छा व स्वार्थी इच्छा के अन्तर को एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है - यदि एक व्यक्ति रिश्वत लेकर नौकरी देता है तो यह उसकी स्वार्थी या यथार्थ इच्छा है। यदि वह रिश्वत न लेकर नौकरी देता है तो यह उसकी वास्तविक या आदर्श इच्छा है।

सामान्य इच्छा का अर्थ
(Meaning of General Will)

सामान्य इच्छा राज्य के सभी नागरिकों की वास्तविक या आदर्श इच्छाओं का योग है। इस इच्छा द्वारा वे अपने व्यक्तिगत हितों की कामना न करके सार्वजनिक कल्याण की कामना करते हैं, यह सभी के कल्याण के लिए सभी की आवाज है। बोसाँके के अनुसार- "सामान्य इच्छा सम्पूर्ण समाज की सामूहिक अथवा सभी व्यक्तियों की ऐसी इच्छाओं का समूह है जिसका लक्ष्य सामान्य हित है।" समाज में व्यक्तिगत हितों का सामाजिक हितों के साथ समन्वय और सामंजस्य ही सामान्य इच्छा है। समझौतावादी विचारक रूसो के अनुसार- "नागरिकों की वह इच्छा जिसका उद्देश्य सामान्यहित हो, सामान्य इच्छा कहलाती है। ग्रीन के शब्दों में, "सामान्य हित ही सामान्य चेतना है।" वेपर के अनुसार- "सामान्य इच्छा नागरिकों की वह इच्छा है जिसाक

उद्देश्य ही सबकी भलाई है, व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं। यह सबकी भलाई के लिए सबकी आवाज है।"

रूसो के अनुसार- "जब बड़ी संख्या में लोग आपस में एकत्रित होकर अपने को ही एक समुदाय का निर्माता मान लेते हैं तो उनसे केवल एक ही इच्छा का निर्माण होता है जिसका सम्बन्ध पारस्परिक संरक्षण और सबके कल्याण से होता है। यही सार्वभौमिक इच्छा है।"

सामान्य इच्छा का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व सामान्य हित पर आधारित अर्थात् आदर्श या वास्तविक इच्छा है। रूसो ने स्वयं कहा है- "मतदाताओं की संख्या से कम तथा उस सार्वजनिक हित की भावना से अधिक इच्छा सामान्य बनती है, जिसके द्वारा वे एकता में बँधते हैं। इससे स्पष्ट है कि सामान्य इच्छा का निर्माण दो तत्त्वों से होता है - सामान्य व्यक्तियों की इच्छा तथा सार्वजनिक हित पर आधारित इच्छा। इनमें यथार्थ व वास्तविक इच्छा ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। हम सबकी इच्छा पर चलकर सामान्य इच्छा पर पहुँचते हैं। व्यक्ति अपने व्यक्तिगत द ष्टिकोण के अनुसार विभिन्न समस्याओं पर चिन्तन करता है। यह चिन्तन उनकी व्यक्तिगत या वास्तविक इच्छा जहाँ-जहाँ एक-दूसरे को रद्द कर देती है। अतः उनकी वास्तविक इच्छा उभर कर ऊपर आ जाती है जो सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार सामान्य इच्छा का निर्माण होता है।

सामान्य इच्छा का निर्माण

व्यक्ति में दो प्रकार की इच्छाएँ - यथार्थ तथा वास्तविक होती हैं। यथार्थ इच्छाएँ भावना प्रधान होती हैं, जबकि वास्तविक इच्छाएँ भावना प्रधान नहीं होतीं। ये वास्तविक अर्थात् आदर्श इच्छाएँ इसलिए कहलाती हैं कि इनमें स्वार्थ की भावना का समावेश नहीं होता। यथार्थ इच्छाएँ हमेश पक्षपातपूर्ण व स्वार्थी होती हैं। वास्तविक इच्छा हमेशा कल्याणकारी होती है। यह किसी की अहित नहीं करती। यदि मनुष्य के स्वभाव में से यथार्थ या स्वार्थी इच्छाओं को निकाल दिया जाए तो वास्तविक इच्छा ही शेष बचेंगी। अतः सामान्य इच्छा व्यक्ति की सभी वास्तविक या आदर्श इच्छाओं का योग है। वास्तविक इच्छाएँ ही निर्णय लेने वाली इच्छाएँ हैं। सामान्य इच्छा के निर्माण को एक उदाहरण देकर समझाया जा सकता है- एक व्यक्ति के पास क $क^1$, ख $ख^1$, ग $ग^1$ इच्छाएँ हैं। इनमें क, ख, ग, भावना प्रधान इच्छाएँ है। ये स्वार्थी या व्यक्तिगत हित पर आधारित इच्छाएँ हैं। यदि इनको व्यक्ति की इच्छाओं में से निकाल दिया जाए तो शेष $क^1$, $ख^1$, $ग^1$ बचेंगी। ये वास्तविक या आदर्श इच्छाएँ हैं। $क^1 + ख^1 + ग^1$ का योग सामान्य इच्छा है। अतः सामान्य इच्छा के निर्णय के निर्णय आदर्श होते हैं और सभी उसका पालन करते हैं। सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति के लिए विषयों को सामान्य हित के रूप में देखना चाहिए।

सामान्य इच्छा और बहुमत की इच्छा
(General Will and Will of Majority)

रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति के लिए मतदाताओं की संख्या नहीं, बल्कि सार्वजनिक का विचार ही प्रधान होता है। रूसो के अनुसार "जो तत्त्व इच्छा को सामान्य बनाता है, वह इसे रखने वाले व्यक्तियों की संख्या नहीं, अपितु वह सार्वजनिक हित है जो उन्हें एकता के सूत्र में बाँधता है।" बहुसंख्यक मतदाता सार्वजनिक हित के बदले सामूहिक स्वार्थ का प्रतिनिधित्व कर सकते हैं अर्थात् वे सार्वजनिक हित के विपरीत कार्य कर सकते हैं। रूसो के अनुसार- "समाज के समस्त सदस्यों की इच्छाओं का कुल योग सामान्य इच्छा कभी नहीं हो सकता, क्योंकि समस्त सदस्यों की इच्छाओं में सदस्यों के व्यक्तिगत स्वार्थों का मिश्रण होता है, जबकि सामान्य इच्छा का सम्बन्ध केवल सामान्य हितों से होता है।" सर्वसम्मति सामान्य इच्छा की कसौटी नहीं हो सकती। सामान्य इच्छा बहुमत की इच्छा से सर्वथा अलग है। सामान्य इच्छा लोक-कल्याण के उद्देश्य से प्ररित है।

सामान्य इच्छा और सर्वसम्मति से इच्छा
(General Will and Will of All)

रूसो ने इन दोनों में भेद किया है। समस्त सदस्यों की इच्छाओं में व्यक्तिगत हितों का समावेश होता है। सामान्य इच्छा का सम्बन्ध सामान्य हितों से ही होता है। रूसो के अनुसार- "सामान्य इच्छा का लक्ष्य सार्वजनिक होता है, जबकि सर्वसम्मति या सभी की इच्छा का लक्ष्य वैयक्तिक हित होता है। यह सभी द्वारा व्यक्त इच्छा भी हो सकती है। सर्वसम्मति व्यक्तियों के हितों से भी सम्बन्धित हो सकती है, पर सामान्य इच्छा अनिवार्यतः सारे समाज के कल्याण से ही सम्बन्धित होती है।"

सामान्य इच्छा और लोकमत
(General Will and Public Opinion)

रूसो सामान्य इच्छा और लोकमत में अन्तर स्पष्ट करता है। लोकमत का रूप हमेशा समाज की भलाई नहीं है। कभी-कभी लोकमत समाज के हित में नहीं होता। परन्तु सामान्य इच्छा सदैव समाज के स्थायी हित का ही प्रतिनिधि होती है। प्रचार साधनों; जैसे- रेडियो, टी॰ वी॰, समाचार-पत्र व पत्रिकाओं आदि द्वारा लोकमत पथभ्रष्ट हो सकता है, परन्तु सामान्य इच्छा कभी भ्रष्ट नहीं होती।

सामान्य इच्छा की विशेषताएँ
(Characteristics of General Will)

रूसो द्वारा प्रतिपादित सामान्य इच्छा की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :-

1. **सामान्य इच्छा सम्प्रभुतासम्पन्न है** (General Will is Sovereign) : सामान्य इच्छा सर्वोच्च और सम्प्रभु होती है। इस पर किसी प्रकार के दैवी और प्राकृतिक नियमों का प्रतिबन्ध नहीं होता। यह कानून का निर्माण करती है, धर्म का निरूपण करती है, एवं नैतिक और सामाजिक जीवन को संचालित करती है। जो सामान्य इच्छा की अवज्ञा करता है, उसे इसका पालन करने के लिए बाध्य किया जा सकता है। यह जनवाणी होती है, इसलिए कोई अवहेलना नहीं कर सकता। सामान्य इच्छा सभी की शक्ति, अधिकार और हितों का योग है। अतएव सामान्य इच्छा सम्प्रभु है। यह कल्याणकारी निर्णय लेती है और निर्णयों को क्रियान्वित करती है। इसमें बाध्यता की शक्ति है। सामान्य इच्छा समुदाय की प्रभुसत्ता की अभिव्यक्ति है जिसे टाला नहीं जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति सामान्य इच्छा के आदेशों के पालन के लिए बाध्य है। सामान्य इच्छा व्यक्ति पर दबाव डाल सकती है। अतः सामान्य इच्छा ही सम्प्रभु है।

2. **अविभाज्य** (Indivisibile) : रूसो का मानना है कि सामान्य इच्छा को सम्प्रभुता से अलग नहीं किया जा सकता। सामान्य इच्छा सम्प्रभु होती है और सम्पूर्ण समाज में निवास करती है। आधुनिक बहुलवादियों की तरह रूसो की सामान्य इच्छा छोटे-छोटे भागों में नहीं बँट सकती। यहाँ रूसो सर्वसत्ताधिकारवादी राज्य का समर्थक है। विधायिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका सम्प्रभु के आदेशों का पालन करती है, लेकिन स्वयं सम्प्रभु नहीं बन सकती। वे सरकार का अंग मात्र है, सम्प्रभु नहीं। अतः सामान्य इच्छा अविभाज्य है।

3. **प्रतिनिधियों द्वारा अभिव्यक्ति नहीं** (Unrepresentable) : रूसो के अनुसार जनता अपनी सम्प्रभुता को किसी एक व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह के सामने समर्पित नहीं कर सकता। अर्थात् सामान्य इच्छा प्रतिनिधियों द्वारा अभिव्यक्त किये जाने योग्य नहीं है। रूसो ने कहा है- "जब कोई राष्ट्र प्रतिनिधियों को नियुक्त करता है तब स्वतन्त्र नहीं रह जाता, अपना अस्तित्व कायम नहीं रख सकता। संसद के सदस्यों के केवल निर्वाचन के समय ही इंगलैण्ड की जनता स्वतन्त्र होती है। निर्वाचनों के बाद जनता दास और नगण्य बन जाती है।"

4. **सामान्य इच्छा एकता स्थापित करती है** (Establishes Unity) : सामान्य इच्छा सदैव युक्तिसंगत होती है। सामान्य इच्छा विभिन्नता में एकता स्थापित करती है, क्योंकि राज्य के व्यक्तिगत स्वार्थ उसमें विलीन हो जाते हैं। लार्ड के अनुसार- "यह राष्ट्रीय चरित्र की एकता को उत्पन्न और स्थिर करती है और उन समान गुणों में प्रकाशित होती है जिनके किसी राज्य के नागरिकों में होने की आशा की जाती है। व्यक्तियों की स्वार्थमयी इच्छाएँ परस्पर एक-दूसरे की इच्छाओं को समाप्त कर देती हैं जिससे सामान्य इच्छा का उदय होता है। सभी व्यक्ति सार्वजनिक हित में ही अपने निजी हितों का दर्शन करते हैं।

5. **सामान्य इच्छा अदेय है** (General Will is Inalienable) : रूसो की सामान्य इच्छा अदेय है। इसे हस्तांतरित नहीं किया जा सकता। यह समाज का प्राण होती है। शक्ति तो किसी को दी जा सकती है, इच्छा नहीं। सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति सम्पूर्ण समाज ही कर सकता है। सामान्य इच्छा को दूसरे को सौंपने का अर्थ उसे नष्ट करना है। रूसो ने लिखा है- "जिस समय वहाँ कोई स्वामी नहीं होता है, उसी क्षण सम्प्रभु का अस्तित्व नष्ट हो जाता है और राजनीतिक समुदाय नष्ट होता है।"

6. **सामान्य इच्छा स्थायी है** (General Will is Permanent) : रूसो के अनुसार- "सामान्य इच्छा का कभी अन्त नहीं होता, यह कभी भ्रष्ट नहीं होती। यह अपरिवर्तनशील तथा पवित्र होती है।" सार्वजनिक हित का मार्ग एक ही हो सकता है,

इसलिए सामान्य इच्छा स्थिर और निश्चित है। ज्ञान और विवेक पर आधारित होने के कारण यह स्थायी है। यह किसी प्रकार के भावात्मक आवेगों का परिणाम नहीं है अपितु मानव के जन-कल्याण की स्थायी प्रव त्ति और विवेक का परिणाम है। अतः इसमें परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

7. **सामान्य इच्छा का सम्बन्ध जनहित से होता है** (General Will is related to Public Interest) : रूसो की सामान्य इच्छा लोक कल्याण से सम्बन्ध रखती है। सामान्य इच्छा का उद्देश्य समाज के किसी एक अंग का विकास करना न होकर, सम्पूर्ण समाज का कल्याण करना है, रूसो का यह विचार सर्वसत्ताधिकारवादी विचार का पोषक हैं।
8. **सामान्य इच्छा में बाध्यता की शक्ति है** (Coersive Force) : रूसो की सामान्य इच्छा सम्प्रभु होने के कारण बाध्यता की शक्ति रखती है। उसका उद्देश्य सभी का कल्याण है, इसलिए कोई उसके विरुद्ध कदम नहीं उठा सकता। उसके पास कानून बनाने तथा दण्ड देने की शक्ति होती है। यदि यह शक्ति न हो तो कोई उसका पालन नहीं करेगा।
9. **सामान्य इच्छा और सदैव न्यायशील है** (Always Just) : सामान्य इच्छा सदैव न्यायशील होती है क्योंकि उसका उद्देश्य सदैव सामान्य होता है। रूसो के अनुसार- "सामान्य इच्छा सदैव ही विवेकपूर्ण एवं न्यायसंगत होती है क्योंकि जनता की वाणी वास्तव में देववाणी होती है। यह सभी की सामूहिक सदिच्छा है। इसमें कोई सदस्य अन्यायपूर्ण कार्य नहीं कर सकता।
10. **सामान्य इच्छा स्वतन्त्रता और समानता की पोषक है** : रूसो के अनुसार- "सामाजिक संविदा में यह बात निहित है कि जो कोई भी सामान्य इच्छा की अवज्ञा करेगा तो उसे सम्पूर्ण समाज द्वारा ऐसा करने के लिए विवश किया जाएगा।" इसका अर्थ है कि उसे स्वतन्त्र होने के लिए बाध्य किया जाएगा क्योंकि यह वही शर्त है जो कि प्रत्येक व्यक्ति को उसके देश को देकर उसकी समस्त व्यक्तिगत अधीनता को सुरक्षित करती है। सामान्य इच्छा ही सभ्य समाज में स्वतन्त्रता को स्थापित करने का उपाय है। राज्य की अधीनता में सभी को समान अधिकार होते हैं और सभी को समान कानूनों का पालन करना पड़ता है, इसलिए सम्प्रभु समानता का पोषक है।
11. **सामान्य इच्छा अचूक होती है** (General Will is Infalliable) : रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा कोई गलती नहीं करती। "यह सदैव न्यायोचित होती है और सदैव सार्वजनिक हित के लिए प्रयत्नशील रहती है।" यह सभी व्यक्तियों की आदर्श इच्छाओं का योग होने के कारण न्यायसंगत व उचित होती है।
12. **सामान्य इच्छा अपने को कानून द्वारा अभिव्यक्त करती है** : रूसो सिर्फ उन्हीं मौलिक कानूनों को कानून मानता है जिनसे संविधान का निर्माण होता है। मौलिक कानूनों की उत्पत्ति सामान्य इच्छा से होती है। सामान्य इच्छा का कार्य कानून बनाना है, उन्हें लागू करना नहीं। कानून का उद्देश्य किसी विशेष व्यक्ति या वर्ग का हित न होकर सार्वजनिक कल्याण होता है। अतः रूसो की इच्छा की अभिव्यक्ति का माध्यम कानून ही है।
13. **सामान्य इच्छा का स्वरूप अवैयक्तिक और निस्वार्थ है** : रूसो के अनुसार सामान्य हित के लिए सामान्य इच्छा का जन्म होता है। अतः वह सामान्य हित के मार्ग से हटकर कार्य नहीं कर सकती। वह सदैव जनकल्याण और जन-सेवा की भावना से प्रेरित होती है। अतः यह निस्वार्थ और अवैयक्तिक है।
14. **सामान्य इच्छा कार्यपालिका की इच्छा नहीं हो सकती** : सामान्य इच्छा का कार्य केवल कानून बनाना है, उसे लागू करना नहीं। कानून को लागू करना सरकार का काम है। रूसो समुदाय और सरकार में भेद करते हुए कहता है कि कानून को लागू करना सम्प्रभु सत्ताधारी राजनीतिक समुदाय का काम नहीं है, यह तो सरकार का है। जिस समय सामान्य इच्छा सरकार के कार्य अर्थात् कानून को लागू करने का प्रयास करेगी, सामान्य इच्छा कहलाने से वंचित हो जाएगी। अतः सामान्य इच्छा कार्यपालिका की इच्छा नहीं हो सकती।

सामान्य इच्छा के निहितार्थ
(Implications of General Will)

रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा के निम्नलिखित निहितार्थ हैं :-

1. सामान्य इच्छा सभी कानूनों का स्रोत है। इसका कार्य कानून बनाना है।

2. सामान्य इच्छा हमेशा जनकल्याण के लिए होती है। प्रत्येक व्यक्ति उसकी आज्ञा का पालन करने के लिए बाध्य होता है।
3. न्याय का निर्धारण सामान्य इच्छा से होता है। सामान्य इच्छा जितनी अधिक सामान्य होती है, उतनी ही न्यायपूर्ण होती है।
4. राज्य में मनुष्यों की सावयविक एकता सामान्य इच्छा का महत्त्वपूर्ण परिणाम है।
5. सामान्य इच्छा का लक्ष्य सदैव सामान्य हित होता है। अतः सामान्य इच्छा सम्पूर्ण समाज के कल्याण के लिए सदैव प्रयत्नशील रहती है।
6. यह सदैव सार्वजनिक हित का पोषण करने वाली होती है।
7. सामान्य इच्छा सदैव न्यायपूर्ण होती है।

सामान्य इच्छा सिद्धान्त का महत्त्व
(Importance of Theory of General Will)

रूसो के सामान्य इच्छा सिद्धान्त का महत्त्व निम्न तथ्यों के आधार पर आँका जा सकता है :-

1. **आदर्शवादी विचारधारा पर प्रभाव** : रूसो के इस सिद्धान्त ने हीगल, काण्ट और ग्रीन जैसे आदर्शवादियों पर गहरा प्रभाव डाला है। काण्ट ने रूसो की तरह सामान्य इच्छा को कानून का स्रोत माना है। काण्ट की 'शुभ इच्छा', विवेक का आदेश' का सिद्धान्त रूसो से प्रेरित है। हीगल का विश्वात्मा का विचार भी रूसो की सामान्य इच्छा के समान है। ग्रीन भी राज्य का आधार इच्छा को मानता है। अतः रूसो के सामान्य इच्छा सिद्धान्त के आदर्शवाद को प्रभावित किया।
2. **राष्ट्रवाद का प्रेरक** : रूसो की सामान्य इच्छा में राष्ट्रवाद के प्रेरक तत्त्वों - एकता, समता, समर्पण, आत्मीयता तथा सम्मान की भावना आदि का समोवश है। अतः यह राष्ट्रवाद का प्रेरक है।
3. **लोकतन्त्रीय व्यवस्था का समर्थक** : रूसो की सामान्य इच्छा बहुमत द्वारा व्यक्त होती है और बहुमत ही लोकतन्त्र का आधार है। रूसो के इस सिद्धान्त ने लोकतान्त्रिक व्यवस्था के लिए एक आदर्श प्रस्तुत किया है। उसने सार्वजनिक हित को प्रधानता देकर लोकतन्त्र का समर्थन किया है।
4. **राज्य का आधार जनसमूह की इच्छा है शक्ति नहीं** : रूसो ने स्पष्ट कर दिया है कि राज्य का आधार जनसमूह की इच्छा है, शक्ति नहीं। यह राज्य के आंगिक सिद्धान्त का बोध कराता है। सार्वजनिक हित को व्यक्तिगत हितों से ऊपर रखता है। यह स्वार्थ की जगह परमार्थ की सीख देता है। यह व्यक्ति को पाशविक स्तर से उठाकर नैतिक स्तर पर प्रतिष्ठित करना चाहता है। अतः राज्य की प्रमुख शक्ति जन-इच्छा है, बल नहीं।
5. **राज्य का उद्देश्य जनकल्याण है** : रूसो के इस सिद्धान्त के अनुसार आधुनिक कल्याणकारी राज्य का जन्म होता है। इस सिद्धान्त ने राज्य का उद्देश्य जन-कल्याण है। राज्य किसी वर्ग-विशेष का प्रतिनिधि न होकर सार्वजनिक हित के लिए है।

सामान्य इच्छा सिद्धान्त की आलोचनाएँ
(Criticisms of Theory of General Will)

अपने महत्त्वपूर्ण योगदान के बावजूद भी रूसो के सामान्य इच्छा सिद्धान्त की निम्न आलोचनाएँ हुई हैं :-

1. **अस्पष्टता** : रूसो के सामान्य इच्छा सिद्धान्त में अस्पष्टता पाई जाती है। रूसो यह बताने में असमर्थ रहा है कि हम सामान्य इच्छा को कैसे और कहाँ प्राप्त कर सकते हैं। रूसो ने हमें ऐसी स्थिति में छोड़ दिया है, जहाँ हम सामान्य इच्छा के बारे में नहीं जान सकते। वेपर के अनुसार- "जन सामान्य इच्छा का पता ही हमें रूसो नहीं दे सकता तो इस सिद्धान्त के प्रतिपादन का क्या लाभ हुआ।" रूसो द्वारा सामान्य इच्छा की व्याख्या सामान्य इच्छा को समझने के लिए अपर्याप्त है। कहीं-कहीं पर रूसो बहुमत की इच्छा को सामान्य मान लेता है। वह स्वयं स्पष्ट करता है कि बहुमत गलती कर सकता है, जबकि सामान्य इच्छा गलती नहीं कर सकती। अतः इस सिद्धान्त में भ्रामकता, कल्पना और अस्पष्टता का दोष विद्यमान है।

2. रूसो का सामान्य इच्छा का सिद्धान्त प्रतिनिधि लोकतन्त्र के लिए अनुपयुक्त है। सामान्य इच्छा की प्रभुसत्ता की व्याख्या करते हुए रूसो ने यह विचार प्रकट किया है कि प्रभुसत्ता का प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता अर्थात् सभी नागरिक प्रत्यक्ष रूप से शासन में भाग लेते हैं। परन्तु यह आधुनिक राज्यों में सम्भव नहीं है। इसमें केवल जन-प्रतिनिधि ही शासन कार्यों में भाग लेते हैं।
3. रूसो ने यथार्थ इच्छा तथा वास्तविक इच्छा में भेद किया है। यह विभाजन काल्पनिक व कृत्रिम है।
4. रूसो का सामान्य इच्छा का सिद्धान्त सार्वजनिक हित के लिए है। उसका विचार है कि सामान्य इच्छा का लक्ष्य जनकल्याण है। सार्वजनिक हित की परिभाषा देना कठिन काम है। तानाशाह भी अपने कार्यों को उचित सिद्ध करने के लिए सार्वजनिक हित का बहाना बना सकता है।
5. सामान्य इच्छा आधुनिक युग के बड़े राज्यों के लिए अनुपयुक्त है। जनसंख्या की कमी के कारण छोटे राज्यों में सामान्य इच्छा का पता लगाना आसान है, बड़े राज्यों में नहीं।
6. रूसो के सामान्य इच्छा की व्याख्या पर भी आलोचकों ने प्रहार किया है। रूसो वास्तविक इच्छाओं के योग को सामान्य इच्छा का नाम देता है। टोजर के अनुसार- "यह भी सम्भव है कि व्यक्तिगत इच्छाएँ एक-दूसरे को नष्ट न करें।"
7. रूसो के पास समस्त की इच्छा और सामान्य इच्छा में अन्तर करने का कोई मापदण्ड नहीं है।
8. सामान्य इच्छा की एक आलोचना यह भी है कि "जहाँ तक यह सामान्य होती है, यह इच्छा नहीं होती, जहाँ तक यह इच्छा होती है, यह सामान्य नहीं होती।" इसका अर्थ यह है कि इच्छा व्यक्तिगत ही हो सकती है, सामान्य नहीं। सामान्य इच्छा सामान्य तभी होती है जब व्यक्तियों का मन अलग नहीं हो, परन्तु ऐसा नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति का मन अलग-अलग होता है, जिसमें स्वार्थ और निःस्वार्थ इच्छाएँ पनपती हैं।
9. रूसो के सिद्धान्त में व्यक्ति अपने समस्त अधिकारों तथा शक्तियों को सामान्य इच्छा के सामने समर्पित कर देता है जो कि सर्वोच्च शक्ति के रूप में शासन करती है। बहुमत से सहमत न होने वाले व्यक्ति को बहुमत के सामने झुकने के लिए विवश किया जाता है। रूसो का उद्देश्य व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को सुरक्षित करना था परन्तु उसने किसी संरक्षण की व्यवस्था नहीं की।
10. रूसो की धारणा काल्पनिक है। रसेल, ब्राऊन, मुरे आदि विचारकों ने उस पर अधिनायकवाद और सर्वसत्तधिकारवादी होने का आरोप लगाया है। राईट के अनुसार- "रूसो की सामान्य इच्छा एक हवाई उड़ान है। वह एक ऐसी तर्कना है जो तथ्यों की पहुँच से परे तथा परिणामों की चिन्ता से ऊपर शून्य उड़ान भरती है।"
11. यह अव्यावहारिक है। रूसो का मानना है कि सभी नागरिक प्रत्यक्ष रूप से शासन कार्यों में भाग लेते हैं। यह स्थिति यूनान के नगर राज्यों पर ही लागू हो सकती है। आधुनिक युग तो अप्रत्यक्ष या प्रतिनिधि प्रजातन्त्र का युग है।
12. रूसो के सामान्य इच्छा सिद्धान्त में तार्किक असंगति है। एक तरफ तो रूसो कहता है कि प्रभुसत्ता का प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता और दूसरी ओर वह बहुमत के माध्यम से सामान्य इच्छा के प्रतिनिधित्व की सम्भावना प्रस्तुत करता है।
13. सामान्य इच्छा अनैतिहासिक तथा काल्पनिक है। इतिहास में इस बात का कोई वर्णन नहीं मिलता कि राज्य की उत्पत्ति समझौते द्वारा हुई हो।
14. यह सिद्धान्त दलों द्वारा तथा गुटों का विरोध करता है। आधुनिक प्रजातन्त्र के सफल संचालन में राजनीतिक दलों का बहुत महत्त्व है। अतः निष्कर्ष तौर पर कहा जा सकता है कि रूसो का सामान्य इच्छा का सिद्धान्त अनेक त्रुटियों से ग्रस्त होनेके बावजूद भी आधुनिक राजनीतिक विचारकों के लिए अमूल्य सामग्री पेश करता है। उसके इस सिद्धान्त का आदर्शवादियों पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। उसने मार्क्स व हीगल जैसे विचारकों को भी प्रभावित किया है। लोकतन्त्रीय व्यवस्था का समर्थक होने के साथ-साथ यह सिद्धान्त फ्रांस में राज्य-क्रान्ति का सूत्रधार भी है। रूसो ने स्पष्ट किया है कि नैतिकता, न्याय और सद्‌गुण के अभाव में लोकतांत्रिक संस्थाएँ महत्त्वहीन हैं। रूसो विश्व क्रान्तियों के प्रेरणा-स्रोत रहे हैं। उसकी राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में यह अमूल्य देन है।

सम्प्रभुता का सिद्धान्त
(Theory of Sovereignty)

रूसो के सम्प्रभुता सम्बन्धी विचार उसके 'सामाजिक अनुबंध सिद्धान्त' से सम्बन्धित है। इस सिद्धान्त में रूसो ने निरंकुशवाद एवं उदारवाद जैसे दो परस्पर विरोधी विचारों को समन्वित करने का प्रयास किया है। रूसो के सिद्धान्त में सामाजिक समझौता, सम्प्रभुता और सामान्य इच्छा की धारणाएँ परस्पर इस प्रकार जुड़ी हुई हैं कि एक के बिना दूसरे की व्याख्या नहीं की जा सकती। समप्रभुता की आधुनिक धारणा का विकास बोदाँ के सिद्धान्त से प्रारम्भ हुआ, जिसे हॉब्स ने और अधिक स्पष्ट किया। बोदाँ और हॉब्स ने निरंकुश सम्प्रभुता का समर्थन किया। लॉक और माण्टेस्क्यू ने सम्प्रभुता के सिद्धान्त की उपेक्षा की। उन्होंने इसे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का शत्रु माना। रूसो ने लॉक के उदारवाद तथा हॉब्स के निरंकुशवाद में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया है।

रूसो के अनुसार समुदाय सभी मनुष्यों के योग से बनता है। इस समुदाय में सामान्य इच्छा का निवास है जो सर्वोच्च होती है। जब समुदाय सामान्य इच्छा द्वारा संचालित होता है, तो वह सम्प्रभु कहलाता है। परन्तु जब वह निष्क्रिय होता है तो वह राज्य कहलाता है। रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा ऐसी प्रभुसत्ताधारी है जो लॉक के लोकप्रिय प्रभुसत्ताधारी और हॉब्स के पूर्ण सत्ताधारी प्रभु के समन्वय का प्रतीक है। रूसो सम्प्रभुता को परिभाषित करते हुए कहता है- "सम्प्रभुता सामान्य इच्छा की कार्यान्विति है" (Sovereignty is the exercise of the General Will)। दूसरे शब्दों में रूसो के राज्य में सामान्य इच्छा ही सम्प्रभु है। रूसो के अनुसार- "जिस प्रकार प्रकृति ने मानव को अपने सभी अंगों के ऊपर निरपेक्ष शक्ति प्रदान की है, उसी प्रकार सामाजिक समझौता राजनीतिक समाज को अपने सभी सदस्यों पर असीम शक्ति प्रदान करता है और यही असीम शक्ति जब सामान्य इच्छा के द्वारा निर्देशित होती है तो सम्प्रभुता का नाम धारण कर लेती है। इस प्रकार रूसो के अनुसार सामाजिक समझौता द्वारा उत्पन्न समुदाय सम्प्रभु होता है। रूसो की मान्यता है कि संधीकरण का कार्य एक नैतिक तथा सामूहिक सत्ता को जन्म देता है। इस सत्ता का अपना अस्तित्व, जीवन व इच्छा होती है। रूसो इस इच्छा को सामान्य इच्छा कहता है। इसी सामान्य इच्छा में सम्प्रभुता निवास करती है। रूसो के अनुसार सामाजिक समझौता राजनीतिक समाज को अपने सभी सदस्यों पर निरंकुश शक्ति प्रदान करता है। सामान्य इच्छा द्वारा निर्देशित होने पर यह शक्ति सम्प्रभुता होती है। अतः सम्प्रभुता समपूर्ण समाज में निहित है, वह सर्वोच्च शक्ति है। उसके विरुद्ध किसी को भी विद्रोह करने का अधिकार नहीं है, क्योंकि वह जनता की शक्ति की प्रतीक है।" रूसो के अनुसार सम्प्रभुत्ता सम्पूर्ण समाज में निहित है। प्रत्येक व्यक्ति समझौते में भागीदार होने के कारण सम्प्रभुता का भी भागीदार है। किसी को उसके विरुद्ध विद्रोह का अधिकार नहीं है। अतः रूसो ने जनता की सत्ता का प्रतिपादन करके 'लोकप्रिय प्रभुसत्ता के सिद्धान्त' का प्रतिपादन किया है। रूसो के शब्दों में- "प्रभुसत्ता का प्रत्येक कार्य अर्थात् लोकमत का प्रत्येक अधिकृत कार्य सभी नागरिकों के लिए समान रूप से हितकर हो।" प्रभुसत्ता लोकमत में होती है। रूसो का सम्प्रभु सारा समाज है। इसलिए आलोचक कहते हैं कि यह हॉब्स का 'लेवियाथन' है जिसका सिर काट दिया गया है।

सम्प्रभुता की विशेषताएँ
(Features of Sovereignty)

रूसो की सम्प्रभुता की निम्न विशेषताएँ हैं :-

1. **प्रभुसत्ता अहस्तान्तरणीय है** : प्रभुसत्ता जनता में निहित होती है और उसे वहीं रहना चाहिए। रूसो कहता है- "मैं कहता हूँ कि प्रभुसत्ता केवल लोकमत का कार्यान्वयन होने के कारण भी हस्तान्तरणीय नहीं हो सकती। शक्ति को तो हस्तान्तरिक किया जा सकता है, प्रभुसत्ता का नहीं।" यदि सम्प्रभु अपनी सम्प्रभुता का हस्तान्तरण करता है तो उसका अस्तित्व ही नष्ट हो जाएगा।

2. **प्रभुसत्ता अविभाज्य है** : जिस प्रकार सम्प्रभुता का हस्तान्तरण नहीं हो सकता, उसी प्रकार सम्प्रभुता अविभाज्य भी है। मत का एक गुण यह होता है कि वह एकतायुक्त तथा अविभाज्य होता है। यदि लोकमत का विभाजन करेंगे तो वह नष्ट हो जाएगा। इसलिए लोकमत ही सम्प्रभुता हो सकती है। प्रभुसत्ता का कार्यपालिका, विधानपालिका व न्यायपालिका में विभाजन वास्तव में प्रभुसत्ता का विभाजन न होकर उसके कार्यों का विकेन्द्रीयकरण है। इसके बाद भी सम्प्रभुता अविभाज्य रूप में जनता में निवास करती है। प्रभुसत्ता के विभाजन का अर्थ है पहले उसे अपने स्थान से हटाना।

3. **प्रभुसत्ता अदेय है** : रूसो के अनुसार किसी समुदाय को प्रभुसत्ता से दूर नहीं हटाया जा सकता। इसलिए यह अदेय है। रूसो के शब्दों में- "जिस कारण से प्रभुसत्ता अदेय है, उसी कारण से अविभाज्य भी है।" अतः रूसो की सम्प्रभुता अदेय है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति के शरीर से उसके प्राण को प थक् नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार सामान्य इच्छा से सम्प्रभुता को अलग करना सम्भव नहीं है। इसका हस्तान्तरण भी सम्भव नहीं है।
4. **प्रभुसत्ता का प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता** : रूसो के अनुसार- "चूँकि सम्प्रभुता अदेय होती है और सामान्य इच्छा में निहित रहती है। सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व नहीं किया जा सकता; इसलिए सम्प्रभुता का भी प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता। प्रभुसत्ता जनता में निहित होने का कारण उसका प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता। "जैसे कोई जाति अपना प्रतिनिधि नियुक्त करती है, वह स्वतन्त्र नहीं रहती तथा अपने अस्तित्व को खो देती है।"
5. **सम्प्रभुता असीम है** : सामाजिक समझौते के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने प्राकृतिक अधिकार अपने सामूहिक अस्तित्व को समर्पित कर देता है। अतः प्रभुसत्ताधारी पूर्ण सत्तासम्पन्न हो जाती है। सिद्धान्त के विरोध का अधिकार किसी को नहीं है तथा प्रभुसत्ताधारी के आदेश का पालन होता है।
6. **रूसो के अनुसार सम्प्रभुता सभी कानूनों का स्रोत है** : राज्य के समस्त कानून सम्प्रभु के द्वारा निर्मित होते हैं। सम्प्रभु कानून द्वारा अपनी इच्छा को व्यक्त करता है और अपने सारे कार्यों का सम्पादन करता है। सम्प्रभुता दोषातीत है, क्योंकि यह सामान्य इच्छा पर आधारित है। इससे त्रुटि की अपेक्षा नहीं की जा सकती।
7. सम्प्रभुता एकता स्थापित करने का सूत्र है।
8. सम्प्रभुता सदैव नयायशील होती है।
9. सम्प्रभुता अविच्छेद्यता का गुण भी रखती है। सामान्य इच्छा के रूप में यह जनता में रहती है। अतः इसको जनता से दूर नहीं किया जा सकता।

उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि रूसो जनप्रभुता का उपासक है। उसकी सम्प्रभुता अदेय, अविभाज्य, असीम, दोषातीत है। सम्प्रभुता एकता का प्रतीक तथा कानून का स्रोत है। रूसो ने लोकप्रिय प्रभुसत्ता के विचार को आगे बढ़ाया है। उसने सम्प्रभु सामान्य इच्छाको अविभाज्य, अदेय, असीम, अप्रतिनिधिक तथा एकता का सूत्र कहा है। रूसो ने अपने सामान्य इच्छा के सिद्धान्त द्वारा जनता को सम्प्रभु बनाया है।

हॉब्स व लॉक से तुलना
(Comparison with Hobbes and Locke)

हॉब्स और रूसो के सम्प्रभुता सम्बन्धी विचारों में समानताएँ हैं। दोनों सम्प्रभुता को असीम, अविभाज्य, अनियन्त्रित और निरंकुश मानते हैं। दोनों समझौते द्वारा अपने समस्त अधिकार सम्प्रभु को सौंपते हैं। इसी प्रकार लॉक व रूसो दोनों सम्प्रभुता का निवास स्थल समाज को मानते हैं। दोनों ने सम्प्रभुता को जनसहमति पर आधारित किया है। इन आधारभूत समानताओं के बावजूद भी तीनों की सम्प्रभुता सम्बन्धी धारणा में कुछ अन्तर है :-

1. रूसो तथा लॉक के अनुसार सम्प्रभुता समाज या समस्त समुदाय में निवास करती है, जबकि हॉब्स के अनुसार सम्प्रभुता शासन या सत्ता में निवास करती है।
2. रूसो तथा लॉक ने लोकप्रभुता के सिद्धान्त का समर्थन किया है, जबकि हॉब्स ने निरंकुश सम्प्रभुता का वर्णन किया है।
3. रूसो तथा लॉक ने राज्य व सरकार में भेद किया है, जबकि हॉब्स ने ऐसा कोई विभाजन स्वीकार नहीं किया है।
4. हॉब्स और रूसो के अनुसार सम्प्रभुता असीम, अविभाज्य, निरंकुश है, जबकि लॉक के अनुसार सम्प्रभुता निरंकुश नहीं हो सकती। निरंकुश सम्प्रभु के विरुद्ध जनता को विद्रोह करके उसे हटाने का अधिकार है।
5. हॉब्स निरंकुश राजतन्त्र का, लॉक सीमित राज्य का तथा रूसो लोकप्रिय प्रभुसत्तासम्पन्न प्रजातन्त्र का समर्थन करता है। लॉक अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र तथा रूसो प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र का समर्थन करता है।
6. हॉब्स व रूसो की सम्प्रभुता भ्रष्ट नहीं हो सकती, लॉक की सम्प्रभुता को विद्रोह द्वारा नष्ट किया जा सकता है।
7. हॉब्स की सम्प्रभुता एक व्यक्ति या समूह में, लॉक की सम्प्रभुता सारे समुदाय में तथा रूसो की सामान्य इच्छा में निहित है। हॉब्स के राज्य में व्यक्ति लॉक के राज्य में व्यक्ति तथा रूसो के राज्य में समाज में सम्प्रभुता निवास करती है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि निरंकुश सम्प्रभुता का समर्थक होते हुए भी रूसो लॉक से अधिक प्रजातांत्रिक है। रूसो का सम्प्रभु हॉब्स की तरह स्वेच्छाचारी नहीं है। रूसो का सम्प्रभु जनहित में कार्य करता है और जनसहमति पर आधारित होता है। तीनों समझौतावादी विचारकों की सम्प्रभुता सम्बन्धी विचारों का विश्लेषण करने पर यह बात सामने आती है कि- "रूसो का प्रभुसत्ता सिद्धान्त हॉब्स की कानूनी एवं लॉक की राजनीतिक सम्प्रभुता का सम्मिश्रण है अर्थात् रूसो ने हॉब्स की कानूनी सम्प्रभुता और लॉक की राजनीतिक सम्प्रभुता के मध्य सामंजस्य स्थापित करता है।

रूसो का महत्त्व और योगदान

(Importance and Contribution of Rousseau)

रूसो का राजनीतिक दर्शन में इतिहास में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसे फ्रांस की क्रान्ति का अग्रदूत और आवारा मसीहा कहा जाता है। जी॰ डी॰ एच॰ कोल ने उसे 'राजदर्शन का पिता' कहा है। रूसो महान् विचारों का महान् भविष्यवक्ता है। उनकी प्रतिभा सर्वव्यापी थी और उसे आधुनिक युग में एक गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। आधुनिक युग के सभी महान् राजनीतिक विचारों की उत्पत्ति किसी न किसी रूप में रूसो में पाई जाती है। समाजवाद, लोकतन्त्र, सर्वसत्तावाद, उपयोगितावाद एवं आदर्शवाद जैसे आधुनिक विचार रूसो की ही देन हैं। इसलिए उन्हें आधुनिक युग का सबसे प्रभावशाली विचारक माना जाता है। वेपर के अनुसार- "उसने राजनीतिक शिक्षा, धर्म एवं साहित्य के क्षेत्र में अपनी सुद ढ़ तथा मौलिक प्रतिभा की छाप छोड़ी है।" लैन्सन के अनुसार- "वह आधुनिक युग की ओर जाने वाले प्रत्येक द्वार पर उपस्थित है।" प्रो॰ डनिंग के अनुसार- "रूसो के चिन्तन ने जनता को माण्टेस्क्यू को संतुलित तर्क तथा गम्भीर पर्यवेक्षण की अपेक्षा अधिक प्रभावित किया है।" इस प्रकार रूसो का राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में बहुत महत्त्व है।

यद्यपि रूसो का चिन्तन विरोधाभासी व अस्पष्ट है, फिर भी रूसो ने राजनीतिशास्त्र को महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त दिए हैं। उनके दर्शन में अधिनायकवाद और रुमानी तत्त्वों का समावेश होने के बावजूद भी उसके महत्त्व को कम नहीं आंका जा सकता। उसकी राजनीतिक दर्शन को महत्त्वपूर्ण देन निम्नलिखित हैं :-

1. **सामान्य इच्छा का सिद्धान्त** : यह रूसो की सबसे अधिक मौलिक देन है। साामान्य इच्छा सिद्धान्त ने राजनीतिक जीवन में 'समुदाय' के महत्त्व की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। काण्ट, ग्रीन तथा बोसांके ने रूसो के सामान्य इच्छा सिद्धान्त को अपना आधार बनाया। हीगल की 'निरपेक्ष आत्मा'का विचार रूसो के दर्शन पर ही आधारित है।

2. **लोकप्रिय सम्प्रभुता का विचार** : जनता की प्रभुसत्ता सम्बन्धी सिद्धान्त रूसो का मौलिक विचार है। रूसो से पहले भी हॉब्स ने इस विचार को प्रस्तुत किया था, लेकिन उन्होंने राजा या शासन की प्रभुसत्ता की ही बात सोची थी। रूसो से पहले किसी विचारक ने सारी जनता को या सामान्य इच्छा को प्रभुसत्ता नहीं माना। सम्प्रभुसत्ता को स्थापित करके लोकप्रिय सम्प्रभुता के सिद्धान्त का शिलान्यास किया। रूसो ने घोषणा की- "जनवाणी देववाणी के सद श हैं।" रूसो ने शासन का आधार जनता की सहमति को बताकर प्रजातान्त्रिक विचारों के विकास का मार्ग प्रशस्त किया। इस प्रकार रूसो जनता की प्रभुता के विचार को सामान्य रूप में जनता तथा विशेष रूप में बुद्धिजीवियों के निकट लाए।

3. **राष्ट्रवाद का प्रणेता** : रूसो की राष्ट्र-राज्य की धारणा का विचार उनकी एक महत्त्वपूर्ण देन है। सामान्य भलाई, सामान्य हित तथा सामान्य इच्छा इन विचारों पर दिया गया उनका जोर जनता की एकता तथा एक-प्रणता से संयोजित होकर राष्ट्र-राज्य के रूप में विकसित हुए। रूसो ने सामान्य इच्छा के सिद्धान्त द्वारा राष्ट्रवाद के नैतिक पक्ष को प्रस्तुत किया। आगे चलकर हीगल ने राष्ट्र की आत्मा के रूप में रूसो की सामान्य इच्छा को ग्रहण करके जिस आदर्शवाद का प्रतिपादन किया, वह उग्र-राष्ट्रवाद में परिणत हुआ। यद्यपि वह स्वयं राष्ट्रवादी नहीं था, परन्तु समूह की एकता की भावना को महत्त्व देना तथा उसकी लोकप्रिय प्रभुसत्ता के विचार ने राष्ट्रवादियों पर गहरा प्रभाव डाला। आधुनिक राष्ट्र-राज्य अपने अस्तित्व के लिए रूसो के ही विचारों के .ऋणी हैं। राष्ट्र निर्माण के सभी संघटक रूसो की विचारधारा में मिलते हैं। सेबाइन ने लिखा है- "स्वयं एक राष्ट्रवादी न होते हुए भी रूसो ने नागरिकता के प्राचीन आदर्श को एक ऐसा रूप देने में सहायता दी कि राष्ट्रीय भावना उसे अपना सके।"

4. **राज्य का महत्त्व** : अन्य यूनानी विचारकों की तरह रूसो ने भी राज्य के खिलाफ व्यक्ति को कोई अधिकार नहीं दिए। रूसो का मानना है कि मनुष्य के हित राज्य में ही सुरक्षित हैं। व्यक्ति राज्य के अन्दर ही अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास

कर सकता है। रूसो के मतानुसार राज्य अपने आप में साध्य न होकर सामान्य हित को प्राप्त करने का साधन है। राज्य का लक्ष्य व्यक्तियों को सदाचारी बनाना है। इस प्रकार रूसो का राज्य चाहे कितना ही शक्तिशाली हो, लेकिन वह जन-कल्याण का एक उपकरण मात्र ही है।

5. **आदर्शवादी विचारधारा पर प्रभाव** : रूसो के सामान्य इच्छा सिद्धान्त का हीगल, काण्ट जैसे विचारकों पर गहरा प्रभाव पड़ा। काण्ट का 'निरपेक्ष आदेश' हीगल की 'राष्ट्र की आत्मा' का विचार रूसो से ही प्रभावित है। रूसो के कारण आदर्शवादी विचारधारा में एक नए युग का सूत्रपात हुआ। इसने आदर्शवाद को अमूर्त बनाने में अपना अमूल्य योगदान दिया।

5. **उपयोगिता का अग्रदूत** : रूसो ने अच्छाई और बुराई का निर्णय करने के लिए सही मापदण्ड प्रदान किया है। रूसो का कहना है कि यदि सामान्य हित साधना के मार्ग से हटकर कोई काम होता है तो वह बुरा है परन्तु यदि वह काम सार्वजनिक हित के लिए होता है तो वह अच्छा है। उसका सामान्य हित का विचार ही किसी अच्छे या बुरे का मापदण्ड है। किसी कार्य की उपयोगिता इसी कसौटी पर परखी जाती है। सामान्य हित के इस विचार ने बेन्थम और मिल जैसे उपयोगितावादियों को अत्यन्त प्रभावित किया। इसलिए रूसो को उपयोगितावाद का अग्रदूत कहा जाता है।

7. **समाजवाद का पोषक** : समाजवाद का प्रमुख आधार यह है कि समाज ही प्रमुख है। रूसो व्यक्तिगत हितों की तुलना में समाज या समुदाय के हितों को ही प्राथमिकता देता है। रूसो का सामान्य इच्छा में व्यक्ति अपना हित देखता है। अतः यह सिद्धान्त समाजवाद का पोषक है।

8. **सर्वसत्ताधिकार का प्रणेता** : रूसो ने राज्य के व्यक्तित्व को इतना ऊँचा उठा दिया है कि व्यक्ति और उसके सारे अधिकार राज्य में ही समा जाते हैं। राज्य ही लोगों के हितों का संरक्षक बन जाता है। राज्य से बाहर व्यक्ति का कोई अस्तित्व नहीं है। रूसो ने राज्य को व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता व सम्पत्ति को निर्बाध शक्ति देकर राज्य को सर्वसत्ताधिकारवादी बना दिया है। आगे चलकर यह सिद्धान्त हिटलर तथा मुसोलिनी जैसे तानाशाहों के लिए प्रेरणा-स्रोत बन गया।

9. रूसो ने राज्य व सरकार में स्पष्ट भेद किया है। रूसो का यह भेद राजनीति विज्ञान में एक महत्त्वपूर्ण देन है।

10. **फ्रांस की क्रान्ति का अग्रदूत** : नेपोलियन के अनुसार- "यदि रूसो न होता, तो फ्रांस में क्रान्ति न होती।" वस्तुतः फ्रांस की क्रान्ति के मूल मन्त्र 'स्वतन्त्रता, समानता और भ्रात त्व' का शंखनाद करने वाला रूसो ही है। उनके कथन- "मनुष्य स्वतन्त्र पैदा हुआ है, लेकिन सर्वत्र बेड़ियों से जकड़ा हुआ है" ने क्रान्ति की ज्वाला को तीव्र करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। स्वयं क्रान्ति का समर्थक न होते हुए भी उसके सिद्धान्त को फ्रांस की क्रान्ति का प्रेरणा-स्रोत माना जाता है।

11. **रोमांसवाद का जनक** : रूसो की एक महत्त्वपूर्ण देन यह भी है कि उसने तर्क एवं युक्ति पर जोर देने वाले बुद्धिवाद के युग में रोमांसवाद का भी बीजारोपण किया। उसने विवेक की जगह भावना को महत्त्व दिया। इसलिए रूसो को रोमांसवाद का जनक कहा जाता है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि रूसो बहुमुखी प्रतिभा का धनी विचारक था। उसका सामान्य इच्छा का सिद्धान्त राजनीति शास्त्र को एक अमूल्य एवं महत्त्वपूर्ण देन है। उनके दर्शन ने आधुनिक विचारकों के मानव मस्तिष्क को पूरी तरह प्रभावित किया है। उसने ही फ्रांस की क्रान्ति का मन्त्र फूँका और लोकप्रिय प्रभुसत्ता का सिद्धान्त पेश किया। उनकी पुस्तक 'सोशल काण्ट्रेक्ट' आधुनिक राजनीतिक चिन्तन के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण निधि है। आधुनिक राजनीतिक विचारधाराओं व्यक्तिवाद, समष्टिवाद, सर्वसत्तावाद, निरंकुशवाद, समाजवाद एवं लोकतन्त्र के विकास में रूसो का महत्त्वपूर्ण योगदान है। वेपर के अनुसार- "रूसो ने अपनी सबल और मौलिक प्रतिभा की छाप राजनीति, शिक्षा, धर्म, साहित्य, सभी पर छोड़ी अैर यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि वर्तमान तक आने वाले सभी मार्गों के प्रवेश द्वार पर उसे खड़ा पाया जाता है।" इसी प्रकार कोल के अनुसार- "रूसो का राजनीतिक प्रभाव समाप्त होने की बजाय प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है।" जे॰ एल॰ टैतमान ने उसे बीसवीं शताब्दी के सर्वाधिकारवाद का बौद्धिक अग्रदूत कहा है। अतः निष्कर्ष तौर पर कहा जा सकता है कि रूसो के राजनीतिक दर्शन का राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में एक अमूल्य और बहुत ही महत्त्वपूर्ण योगदान है। उनके इस योगदान को भुलाया नहीं जा सकता।

अध्याय-9

जेरेमी बेन्थम

(Jeremy Bentham)

परिचय
(Introduction)

उपयोगितावाद के जनक जेरेमी बेन्थम को उपयोगिता के सिद्धान्त के कारण घोर यथार्थवादी दार्शनिक माना जाता है। उसने औद्योगिक क्रान्ति तथा वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण उत्पन्न हुए सामाजिक व राजनीतिक वातावरण में एक नए प्रकार के उदारवादी दर्शन का प्रतिपादन किया। उसने 'अधिकतम लोगों का अधिकतर सुख' का नारा देकर राज्य का परम लक्ष्य निर्धारित किया। उसने राजनीतिक, शैक्षणिक, न्यायियक, कानून, दण्ड, जेल-व्यवस्था में सुधार के उपाय बताकर एक सुधारवादी विचारक होने का गौरव प्राप्त किया। उसके सुधारवादी विचारों का प्रभाव केवल इंगलैण्ड में ही नहीं, अपितु रूस, स्पेन, पुर्तगाल आदि देशों पर भी पड़ा। उसके सुधारवादी विचारों के कारण उसे इंगलैण्ड का सबसे बड़ा सामाजिक-राजनीतिक सुधारक माना गया। इसलिए कुछ विद्वानों ने बेन्थम पर यह आरोप भी लगाया कि वह इंगलैण्ड का राजनीतिक दार्शनिक न होकर सुधारवादी विचारक था। इस विरोधाभास के बावजूद सत्य तो यह है कि राजनीतिक व सामाजिक दर्शन के इतिहास को जितना प्रभावित बेन्थम ने किया है, अन्य किसी ने नहीं।

जीवन परिचय
(Life Sketch)

असाधारण प्रतिभा के धनी उपयोगितावादी विचारक जेरेमी बेन्थम का जन्म 15 फरवरी 1748 ई॰ को लन्दन के एक प्रतिश्ठित वकील परिवार में हुआ। उसने अपनी विलक्षण बुद्धि के बल पर मात्र 4 वर्ष की आयु में ही लेटिन भाषा का ज्ञान प्राप्त कर लिया। उसने 13 वर्ष की आयु में मैट्रिक तथा 15 वर्ष की आयु में 1763 में ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से स्नातक की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। उसके बाद उसने 'लिंकन्स इन' में कानून का अध्ययन किया और वहाँ से कानून का अध्ययन करने के पश्चात् उसने वकालत करना शुरू कर दिया। वकालत के पेशे से उसको अनुभव हुआ कि इंगलैण्ड के कानून में भारी त्रुटियाँ हैं। यदि ये त्रुटियाँ इंगलैण्ड के कानून में रहेंगी तो न्याय-व्यवस्था निरर्थक रहेगी। उसने महसूस किया कि कानून भंग करने वाले दण्ड से आसानी से बच जाते थे और निरपराध दण्ड पाते थे। उसने इंगलैण्ड के कानून के समस्त दोषों को दूर करने के प्रयास शुरू कर दिए। उसने 1776 में अपनी पुस्तक 'Fragments on Government' प्रकाशित करके इंगलैण्ड की राजनीति में तहलका मचा दिया। इस पुस्तक में बलेकस्टोन द्वारा प्रतिपादन इंगलिश कानून की टीकाओं में प्रतिपादित सिद्धान्तों की आलोचना की गई। इसके बाद कानून विशेषज्ञों ने बेन्थम के सुझावों के अनुसार ही इंगलैण्ड की कानून व न्याय व्यवस्था में परिवर्तन व सुधार करने शुरू कर दिए। इसके पश्चात् भी बेन्थम प्रतिदिन कुछ न कुछ लिखता रहा। उसकी ख्याति को देखकर उसके पिता ने उसके लिए एक सौ पौण्ड की वार्षिक आय की व्यवस्था कर दी ताकि वह आर्थिक चिन्ता से मुक्त होकर अपना लेखन कार्य करता रहे। उसने नीतिशास्त्र, कानून, तर्कशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, दण्डशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि विषयों का गहरा ज्ञान था। उसने इन क्षेत्रों में अपनी प्रतिभा के जौहर दिखाए और एक विशाल राजनीतिक चिन्तन को जन्म दिया। 1789 में उसकी रचना 'नैतिकता और विधान निर्माण के सिद्धान्त' का प्रकाशन हुआ। इससे उसकी प्रसिद्धि चारों ओर फैल गई। 1792 में फ्रांस की राष्ट्रीय सभा ने उसे 'फ्रेंच नागरिक' की सम्मानजनक पदवी प्रदान की। इसी वर्ष उसके पिता की म त्यु हो गई। विरासत में मिले धन से उसकी आर्थिक स्थिति अधिक सुद ढ़ हो गई और उसने अपने जीवन का शेष समय लन्दन स्थित अपने भवन

'Hermitage' में बिताया। यहीं पर उसने एक उग्र-सुधारवादी के रूप में अपना कार्य किया। उसने अपने उपयोगितावादी दर्शन को इसी भवन में परिपक्व किया। 6 जून 1832 को 84 वर्ष की आयु में उसका इसी स्थान पर निधन हो गया।

महत्त्वपूर्ण रचनाएँ
(Important Works)

बेन्थम निर्बाध रूप से लिखने वाला एक महान् विचारक था। उसने तर्कशास्त्र, कानून, दण्डशास्त्र, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि विविध क्षेत्रों में अपनी प्रतिभा के जौहर दिखाए। उसकी अधिकतर रचनाएँ अपूर्ण हैं। उसका सम्पूर्ण लेखन कार्य 148 सन्दूकों में पाण्डुलिपियों के रूप में लन्दन विश्वविद्यालय और ब्रिटिश संग्रहालय में सुरक्षित रखा हुआ है। उसकी प्रमुख रचनाएँ निम्नलिखित हैं :-

1. **फ्रेगमेण्टस ऑन गवर्नमेंट (Fragments on Government)** : यह पुस्तक 1776 ई॰ में प्रकाशित हुई। यह बेन्थम की प्रथम पुस्तक है। इस पुस्तक में बेन्थम ने ब्लैकस्टोन की कानूनी टीकाओं पर तीव्र प्रहार किए हैं। इस पुस्तक ने इंगलैण्ड के न्यायिक क्षेत्रों में हलचल मचा दी और इससे बेन्थम का सम्मान बढ़ा। इस पुस्तक में बेन्थम ने तत्कालीन इंगलैण्ड की न्याय-व्यवस्था के दोषों व उन्हें दूर करने के उपायों का वर्णन किया है।
2. **एन इण्ट्रोडक्शन टू दि प्रिन्सिपल्स ऑफ मारल्स एण्ड लेजिस्लेशन (Introduction to the Principles of Morals and Legislation)** : इस पुस्तक का प्रकाशन 1789 ई॰ में हुआ। इस पुस्तक में उपयोगितावाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। यह बेन्थम की सर्वोत्तम रचना है।

   इन दो पुस्तकों के अतिरिक्त भी बेन्थम ने कुछ अन्य रचनाएँ भी लिखीं जो निम्नलिखित हैं :-

   (i) डिसकोर्सेज आन सिविल एण्ड पेनल लेजिस्लेशन (Discourses on Civil and Penal Legislation, 1802)

   (ii) प्रिन्सिपल्स ऑफ इण्टरनेशनल लॉ (Principles of International Law)

   (iii) ए थ्योरी ऑफ पनिशमेण्ट एण्ड रिवाड्र्स (A Theory of Punishment and Rewards, 1811)

   (iv) ए ट्रीएटाईज ऑन ज्यूडिशियल एवीडेंस (A treatise on Judicial Evidence, 1813)

   (v) दॉ बुक ऑफ फैलेसीज (The Book of Fallacies, 1824)

   (vi) कॉन्सटीट्यूशनल कोड (Constituttional Code, 1830)

अध्ययन पद्धति
(Method of Study)

बेन्थम ने अपने चिन्तन में प्रयोगात्मक पद्धति का अनुसरण किया है। उसके उपयोगितावाद का सम्बन्ध जीवन के व्यावहारिक मूल्यों से है। इसलिए उसने वास्तविक जगत् के मनुष्यों के व्यवहार को जानने के लिए अनुभवमूलक पद्धति का ही सहारा लिया है। बेन्थम ने निरीक्षण, प्रमाण और अनुभव के आधार पर ही वास्तविक तथ्यों को जानने का प्रयास किया है। वह किसी वस्तु को कल्पना के आधार पर स्वीकार करने के पक्ष में नहीं है। उसका विश्वास है कि निरीक्षण-परीक्षण एवं अनुभव पर आधारित परिणाम के अनुसार ही सत्य या असत्य की पहचान हो सकती है। वह प्रत्येक वस्तु को उपयोगिता की कसौटी पर रखता है। यदि कोई वस्तु उपयोगिता की द ष्टि से निरर्थक है, तो वह त्याज्य है। उपयोगिता की धारणा मूलतः प्रयोगात्मक है। बेन्थम उस अनुभव में विश्वास करता है जो वास्तविक तथ्यों से उत्पन्न होता है और जिसका प्रयोग व्यावहारिक जगत् में किया जा सकता है। उसका मानना है कि अनुभव ही ज्ञान का स्त्रोत है और सत्यता की कसौटी है। यदि किसी तथ्य के बारे में कोई सन्देह होता है तो उसका समाधान अनुभव के द्वारा ही किया जा सकता है। इस प्रकार अनुभव विचारों का अन्तिम स्त्रोत भी है। इसके अतिरिक्त बेन्थम ने तथ्यों की बौद्धिक व्याख्या एवं वैज्ञानिक विश्लेषण के लिए इन्द्रिय संसर्ग का होना भी अनिवार्य माना है। इन्द्रिय संसर्ग से संवेदना उत्पन्न होती है और संवेदना से विचार उत्पन्न होते हैं। यही संसर्ग अनुभव को प्रभावित करता रहता है। इस प्रकार बेन्थम की पद्धति संसर्ग, निरीक्षण, अनुभव और प्रमाण पर आधारित होने के कारण आगमनात्मक, अनुभवात्मक, विश्लेषणात्मक व विवेचनात्मक है। बेन्थम की प्रयोगात्मक पद्धति उसकी महत्त्वपूर्ण देन है।

प्रेरणा-स्रोत
(Inspirations)

किसी भी विचारक का चिन्तन तत्कालीन परिस्थितियों व अपने पूर्ववर्ती विचारकों से अवश्य प्रभावित होता है। बेन्थम भी अपवाद नहीं है। उसके विचारों के प्रेरणा-स्रोत निम्नलिखित हैं :-

1. बेन्थम के उपयोगितावादी का सुखवादी सिद्धान्त लॉक व ह्यूम के सुख-दुःख सिद्धान्त (Principle of Pleasures and Pain) पर आधारित है। इस सिद्धान्त के अनुसार सुख का सम्बन्ध अच्छाई से तथा दुःख का सम्बन्ध बुराई से होता है। बेन्थम ने इस आत्मपरक मापदण्ड को वस्तुपरक मापदण्ड में बदल दिया। उसने कहा कि राज्य तभी अच्छा है, जब वह समग्र रूप में अधिकतम सुख प्रदान करता है।
2. बेन्थम ने अहस्तक्षेप का आर्थिक सिद्धान्त रिकार्डो से ग्रहण किया है। इसी पर उसने अपना उदारवाद खड़ा किया है। उसका कहना है कि राज्य को आर्थिक मामलों में कम हस्तक्षेप करना चाहिए।
3. अपने सुधारवादी द ष्टिकोण के लिए वे इटली के लेखक बेककारिया की पुस्तक 'क्राइम एण्ड पनिशमेण्ट' (Crime and Punishment) से अत्यधिक प्रभावित है। उसने इस पुस्तक के सिद्धान्तों के आधार पर ही राजनीतिक, शैक्षणिक, कानून, न्याय, दण्ड व जेल व्यवस्था में सुधार के उपाय प्रस्तुत किए।
4. बेन्थम का व्यक्तिवाद हॉब्स के विचारों पर ही आधारित है। हॉब्स की तरह बेन्थम ने भी राज्य को व्यक्ति से कम महत्त्वपूर्ण माना है। उसका मानना है कि व्यक्ति राज्य के आदेश उसी सीमा तक मानते हैं, जहाँ तक उनको फायदा होता है। वह राज्य के बन्धनों को किसी भी रूप में अस्वीकार करते हैं।
5. बेन्थम के राजनीतिक विचारों का सबसे महत्त्वपूर्ण स्रोत प्रीस्टले का सरकार सम्बन्धी निबन्ध 'Priestly is Essary on Government' है। इसमें प्रीस्टले ने ह्चेसन की पुस्तक से लिया गया वाक्य 'अधिकतम संख्या का अधिकतम सुख' का वर्णन किया है। इस वाक्य के आधार पर बेन्थम ने राज्य का उद्देश्य 'अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख' बताया। उसने कहा कि अधिकतम सुख के आधार पर ही नागरिकों को राज्य के कानूनों का पालन करना चाहिए।

इस प्रकार बेन्थम ने अनेक पूर्ववर्ती विचारकों से प्रेरणा ग्रहण करके अपने राजनीतक चिन्तन रूपी भवन की आधारशिला रखी। अपनी अनुभववादी पद्धति का सहारा लेकर उसने पूर्ववर्ती विचारों को इंगलैण्ड की तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार ढालकर अपने उपयोगितावादी सिद्धान्त व अन्य सुधारवादी कार्यक्रमों की रूपरेखा निर्धारित की।

उपयोगितावाद का सिद्धान्त
(Theory of Utilitarianism)

उपयोगितावाद का सिद्धान्त बेन्थम की सबसे महत्त्वपूर्ण एवं अमूल्य देन है। उसके अन्य सभी राजनीतिक विचार उसके उपयोगितावाद पर ही आधारित हैं। लेकिन उसे इसका प्रवर्तक नहीं माना जा सकता। रोचक बात यह है कि बेन्थम ने कहीं भी उपयोगितावाद शब्द का प्रयोग नहीं किया। बेन्थम के उपयोगितावादी दर्शन का वर्णन उसकी दो पुस्तकों - 'फ्रैग्मेण्ट्स ऑन दि गवर्नमेंट' (Fragments on the Government) तथा 'इण्ट्रोडक्शन टू दॉ पिंसिपल्स ऑफ मॉरल्स एण्ड लेजिस्लेशन' (Introduction to the Principles of Morals and Legislation) में मिलता है।

उपयोगितावाद का विकास
(Development of Utilitarianism)

उपयोगितावाद के सर्वप्रथम आचारशास्त्र के एक सिद्धान्त के रूप में प्राचीन यूनान के एपीक्यूरियन सम्प्रदाय में ही दर्शन होते हैं। इस सम्प्रदाय के अनुसार मनुष्य पूर्णतया सुखवादी है। वह सुख की ओर भागता है तथा दुःखों से बचना चाहता है। इसके बाद सामाजिक समझौतावादियों ने भी 17 वीं शताब्दी में इसका कुछ विकास किया। हॉब्स ने कहा कि मनुष्य पशुवत आचरण करने वाला एक सुखवादी प्राणी है। लॉक तथा पाश्चात्य दर्शन के सिरेनाक वर्ग के प्रचारकों ने भी उपयोगितावाद का विकास किया। डेविड ह्यूम ने भी इसका विकास किया। आगे चलकर ह्चेसन ने अपनी पुस्तक 'नैतिक दर्शन पद्धति' (System of Moral Philosophy) में उपयोगितावाद के मूलमन्त्र 'अधिकतम संख्या के अधिकतम सुख' (The Greatest Happiness of the Greatest

Number) का प्रथम बार प्रयोग किया। आगे प्रीस्टले ने भी इसी मूलमन्त्र का प्रयोग किया। इसके बाद बेन्थम ने भी प्रीस्टले के निबन्ध 'Priestley's Essay on Government' से उपयोगितावाद की प्रेरणा ग्रहण की। बेन्थम ने बताया कि राज्य की सार्थकता तभी है जब वह अधिकतम लोगों के लिए अधिकतम सुख की व्यवस्था करे।

उपयोगितावाद का अर्थ
(Meaning of Utilitarianism)

उपयोगितावाद राजनीतिक सिद्धान्तों का ऐसा कोई संग्रह नहीं है जिसमें राज्य और सरकार के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया हो। यह मानव आचरण की प्रेरणाओं से सम्बन्धित एक नैतिक सिद्धान्त है। उपयोगितावाद 18 वीं शताब्दी के आदर्शवाद के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया है जो इन्द्रियानुभववाद की स्थापना करता है। उपयोगितावादियों की द ष्टि में उपयोगितावाद का अर्थ - 'अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख' है। इसका अर्थ "किसी वस्तु का वह गुण है जो लाभ, सुविधा, आनन्द, भलाई या सुख प्रदान करता है तथा अनिष्ट, कष्ट, बुराई या दुःख को पैदा होने से रोकता है।" बेन्थम के मतानुसार- "उपयोगिता किसी कार्य या वस्तु का वह गुण है जिससे सुखों की प्राप्ति तथा दुःखों का निवारण होता है।" बेन्थम ने आगे कहा है कि उपयोगितावाद की अवधारणा हमें यह बताती है कि हमें क्या करना चाहिए तथा क्या नहीं करना चाहिए। यह हमारे जीवन के समस्त निर्णयों की आधारशिला है। उपयोगितावाद का वास्तविक अर्थ सुख है। व्यक्ति ही नहीं सम्पूर्ण समाज का लक्ष्य भी सुख की प्राप्ति है।

उपयोगितावाद की विशेषताएँ
(Features of Utilitarianism)

बेन्थम के उपयोगितावाद के सिद्धान्त की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :-

1. **सुख और दुःख पर आधारित** (Based on Pleasure and Pain) : बेन्थम का उपयोगितावादी सिद्धान्त सुख और दुःख के दो आधारों पर आधारित है। बेन्थम का मानना है कि जो कार्य हमें सुख देता है, उपयोगी है तथा जो कार्य दुःख पहुँचाया है, उपयोगी नहीं। बेन्थम का मानना है कि प्रकृति ने मनुष्य को सुख और दुःख की दो शक्तियों के अधीन रखा है। यही शक्तियाँ हमें बताती हैं कि मनुष्य को क्या करना चाहिए और क्या नहीं। सही और गलत के मानदण्ड उन शक्तियों से बँधे हुए हैं।

2. **सुख की प्राप्ति और दुःख का निवारण** (Attainment of Pleasure and Avoidance of Pain) : बेन्थम का मत है कि जो वस्तु सुख प्रदान करती है, वह अच्छी है और उपयोगी है। जिस कार्य या वस्तु से मनुष्य को दुःख प्राप्त होता है वह अनुपयोगी है। मानव के समस्त कार्यों की कसौटी उपयोगितावाद है। बेन्थम का मानना है कि जिस कार्य से प्रसन्नता या आनन्द में व द्धि होती है तो वह कार्य उपयोगी है। उससे सुख की प्राप्ति होती है और दुःख का निवारण होताहै। अतः उपयोगितावाद का सिद्धान्त सुख की प्राप्ति और दुःख के निवारण का सिद्धान्त है।

3. **सुख व दुःख का वर्गीकरण** (Classification of Pleasure and Pain) : बेन्थम ने सुख-दुःख को दो भागों - सरल व जटिल में विभाजित किया है। उसके अनुसार सरल सुख 14 प्रकार के तथा सरल दुःख 12 प्रकार के हैं। सरल सुखों या दुःखों को परस्पर मिलाने से जटिल सुख या दुःख का जन्म होता है।

   (i) **सरल सुख** : (1) मित्रता का सुख (2) इन्द्रिय सुख (3) सहायता का सुख (4) सम्पर्क सुख (5) दया का सुख (6) स्मरण- शक्ति का सुख (7) आशा का सुख (8) सत्ता का सुख (9) धार्मिकता का सुख (10) ईर्ष्या का सुख (11) उदारता का सुख (12) सम्पत्ति का सुख (13) कुशलता का सुख (14) यात्रा का सुख

   (ii) **सरल दुःख** - (1) अपमान का दुःख (2) धर्मनिष्ठा का दुःख (3) सम्पर्क का दुःख (4) कल्पना का दुःख (5) शत्रुता का दुख (6) इन्द्रिय दुःख (7) अभाव का दुःख (8) स्मरण शक्ति का दुःख (9) उदारता का दुःख (10) आशा का दुःख (11) ईर्ष्या का दुःख (12) अकुशलता का दुःख।

4. **सुख-दुःख के स्त्रोत** (Sources of Pleasure and Pain) : बेन्थम ने सुख-दुःख के चार स्त्रोत - धर्म, राजनीति, नैतिकता तथा भौतिक मानते हैं। धार्मिक सुख धर्म में आस्था रखने से व धार्मिक व्यवस्था को स्वीकार करने से प्राप्त होता है। जैसे कुम्भ के मेले में स्नान करना। यदि वहाँ कोई अनहोनी हो जाए तो उसे धार्मिक दुःख कहा जाएगा। राजनीतिक सुख राज्य

की नीतियों व कार्यों से प्राप्त होता है। जैसे सरकार द्वारा धर्मनिरपेक्ष नीति का पालन करना। यदि सरकार कोई ऐसा कार्य करे जो जन-कल्याण के विपरीत हो तो उससे प्राप्त दुःख राजनीतिक दुःख होगा। व्यक्ति को नैतिक सुख उसके नैतिक आचरण से प्राप्त होता है। जैसे दूसरों की सहायता करना। यदि आवश्यकता पड़ने पर तुम्हें कोई सहायता न मिले तो उससे प्राप्त दुःख नैतिक दुःख कहलाएगा। भौतिक सुख प्राकृतिक वस्तुओं से प्राप्त होता है। जैसे सन्तुलित वर्षा का होना सभी को सुख प्रदान करता है। यदि वर्षा अत्यधिक मात्रा में होकर जनजीवन को अस्त-व्यस्त कर दे तो इससे प्राप्त दुःख भौतिक या प्राकृतिक दुःख कहलाएगा।

5. **सुखों में मात्रात्मक अन्तर (Quantitative difference between Pleasures)** : बेन्थम का मानना है कि सभी सुख गुणों में एक जैसे होते हैं। इसलिए उनमें गुणात्मक की बजाय मात्रात्मक अन्तर पाया जाता है, उसका कहना है कि "पुष्पिन (बच्चों का खेल) उतना ही अच्छा है जितना कविता पढ़ना" खेलने से भौतिक-सुख प्राप्त होता है जबकि कविता पढ़ने से मानसिक सुख। दोनों सुखी की मात्रा को मापा जा सकता है। इनकी गणना सम्भव है। बेन्थम ने कहा है कि एक कील भी उतना ही दर्द करती है जितना कर्कश आवाज। अतः सुखों में मात्रात्मक अन्तर है, गुणात्मक नहीं।

6. **सुखों-दुःखों का मापन (Measurement of Pleasures and Pains)** : बेन्थम के अनुसार सुखों व दुःखों को परिमाणिक तौरपर मापा जा सकता है। इससे कोई अपने सुख या दुःख को माप सकता है। यह मापन ही किसी वस्तु या कार्य को सुख-दुःख के आधार पर अच्छा या बुरा प्रमाणित कर सकता है। ये सुख-दुःख मानवीय क्रियाओं के आचार व उद्देश्य होते हैं। इन सुखों को फेलिसिफिक केलकुलस द्वारा मापा जा सकता है।

7. **सुखवादी मापक यन्त्र (Felicific Calculus)** : बेन्थम का विचार है कि सुख-दुःख को तुलनात्मक आधार पर परखा जा सकता है। बेन्थम ने सुख-दुःख के मापन की जो पद्धति सुझाई है, उसे सुखवादी मापक यन्त्र (Felicific Calculus) का नाम दिया गया है। बेन्थम का मानना है कि सुख-दुःख का गणित के सहारे पारिमाणिक नापतोल (Mathematical Computation), सम्भव है। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत तीव्रता (Intensity), अवधि (Duration), निश्चिन्तता (Certainty), अनिश्चित्तता (Uncertainty), सामीप्य (Propinquity), अन्य सुख उत्पन्न करने की क्षमता (Fecundity), विशुद्धता (Purity) व विस्तार (Extent) के आधार पर सुख-दुःख का मापन किया जाता है। बेन्थम ने स्पष्ट किया है कि जो सुख तीव्र होता है, वह अधिक समय तक टिका रहता है। कम तीव्र सुख कम समय तक रहते हैं। निश्चित सुख अनिश्चित की तुलना में अधिक मात्रा वाला होता है। इस प्रकार अन्य तथ्यों के आधार पर भी सुख-दुःख का निरूपण किया जा सकता है। बेन्थम ने सुख-दुःख की गणना करते समय सुखों के समस्त मूल्यों को एक तरफ तथा दुःखों के समस्त मूल्यों को दूसरी तरफ जोड़ने का सुझाव दिया है। यदि एक-दूसरे को आपस में घटाने से सुख बच जाए तो वह कार्य उचित है अन्यथा अनुचित। इस प्रकार इस सिद्धान्त के द्वारा बेन्थम ने यह सिद्ध किया है कि कोई कार्य उचित है या अनुचित।

8. **परिणामों पर जोर (Emphasis on Results)** : बेन्थम का उपयोगितावाद का सिद्धान्त परिणामों पर आधारित है, नीयत (Motive) पर नहीं। बेन्थम का मानना है कि सुख और दुःख स्वयं ही उद्देश्य हैं। इनके होते हुए अच्छे या बुरे इरादों को मानने की आवश्यकता नहीं। किसी भी कार्य की अच्छाई या नैतिकता इस बात पर निर्भर नहीं करती कि वह किस उद्देश्य को लेकर किया जाता है, बल्कि इस बात पर निर्भर करती है कि उसके परिणाम क्या निकलते हैं। बेन्थम का मानना है कि किसी भी विधि या संस्था की उपयोगिता की जाँच इस आधार पर ही हो सकती है कि स्त्रियों या पुरुषों पर उनका क्या प्रभाव पड़ता है। बेन्थम नीयत (Motive) को उसी सीमा तक स्वीकार करता है, जहाँ तक वह परिणाम को निर्धारित करती है। इस प्रकार उसने नैतिक बुद्धि, ईश्वरीय इच्छा, कानून के नियम आदि को तिलांजलि दे दी। उसने किसी वस्तु के परिणाम को ही सत्य-असत्य, अच्छाई-बुराई का मापदण्ड स्वीकार किया है।

9. **राज्य का उद्देश्य अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख है (Greatest Happiness of the Greatest Number is the Aim of the State)** : बेन्थम के अनुसार राज्य के वे कार्य ही उपयोगी हैं जो व्यक्तियों को लाभ पहुँचाते हैं। सभी व्यक्ति राज्य के आदेशों का पालन इसलिए करते हैं, क्योंकि वे उनके लिए उपयोगी हैं। राज्य का उद्देश्य किसी एक व्यक्ति को सुख प्रदान करना नहीं है बल्कि अधिक से अधिक व्यक्तियों को सुख प्रदान करना है। इसलिए बेन्थम कहता है कि व्यक्ति को अधिक से अधिक लोगों के कल्याण में राज्य को सहयोग देना चाहिए।

10. **अनुशस्तियों का सिद्धान्त** (Theory of Sanctions) : बेन्थम का मानना है कि व्यक्ति के अधिकतम सुख तथा व्यक्तियों के अधिकतम सुख के मध्य संघर्ष की सम्भावना को देखते हुए व्यक्ति पर अंकुश लगाना आवश्यक होता है ताकि वह दूसरों के सुख को कोई हानि नहीं पहुँचाए। इसलिए दूसरों के सुखों का ध्यान रखने में व्यक्ति को प्रेरित करने के लिए कुछ अनुशस्तियों (Sanctions) की आवश्यकता पड़ती है। सुख की अनुशस्तियाँ शारीरिक, नैतिक, धार्मिक और राजनीतिक 4 प्रकार की होती है। धार्मिक अनुशस्ति व्यक्ति के आचरण को ठीक करती है। नैतिक अनुशस्ति व्यक्ति के मन को अनुशासित करती है। यह सदैव उपयोगी होती है। राजनीतिक अनुशस्ति राज्य द्वारा पुरस्कार और दण्ड के रूप में व्यक्तियों पर लगाई जाती है। इसे कानून अनुशस्ति भी कहा जाता है।

उपयोगितावाद की आलोचनाएँ
(Criticisms of Utilitarianism)

बेन्थम ने अपने उपयोगितावाद के सिद्धान्त को सरल और सुबोध बनाने का इतना अधिक प्रयास किया कि इस सिद्धान्त में अनेक दोष उत्पन्न हो गए। आलोचकों ने उसके इस सिद्धान्त को भ्रम एवं विरोधाभास का पिटारा कह दिया। इसकी आलोचना के प्रमुख आधार निम्नलिखित हैं:-

1. **मौलिकता का अभाव** (Lack of Originality) : यह सिद्धान्त बेन्थम की मौलिक देन नहीं है। बेन्थम ने प्रीस्टले के विचारों को ही नया रूप देने का प्रयास किया है। बेन्थम ने भी प्रीस्टले के ही इस विचार को उधार लिया है कि राज्य का उद्देश्य 'अधिकतम लोगों को अधिकतम सुख' प्रदान करना है। 'अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख' का विचार प्रीस्टले के माध्यम से बेन्थम तक पहुँचा। अतः इसमें मौलिकता का अभाव है।

2. **अमनोवैज्ञानिक सिद्धान्त** (Unpsychological Theory) : बेन्थम ने मानव-प्रकृति को कोरा सुखवादी माना है। उसके अनुसार मनुष्य घोर स्वार्थी और अपने सुख के लिए प्रयास करने वाला प्राणी है। किन्तु सत्य तो यह है कि मनुष्य स्वार्थी न होकर परोपकारी भी है। वह दूसरों के लिए भी जीवन जीता है। वह सुख की भावना से नहीं बल्कि देश-प्रेम, बलिदान, त्याग आदि भावनाओं से भी प्रेरित होकर कार्य करता है। ईसा मसीह ने म तयु को गले क्यों लगाया ? राम वन में क्यों गए ? इन सब के पीछे एक ही कारण था - परोपकार। इस प्रकार बेन्थम ने आध्यात्मिक विकास एवं उच्च आदर्शों की अवहेलना करके केवल सुख को ही महत्त्व दिया है। अतः यह सिद्धान्त अमनोवैज्ञानिक है जो मानव-प्रकृति का गलत चित्रण करता है।

3. **स्पष्टता का अभाव** (Lack of Clarity) : बेन्थम ने सब कार्यों का आधार 'अधिकतम संख्या के अधिकतम सुख' के विचार को माना है। बेन्थम ने यह स्पष्ट नहीं किया है कि प्रधानता व्यक्तियों की संख्या को दी जाएगी या सुख की मात्रा को। उदाहरण के लिए हम मान लें कि कानून बनाने से 10 मिल मालिकों में से प्रत्येक को 1000 रुपये का लाभ होता है किन्तु मजदूरों की मजदूरी में 2 रुपये प्रति मजदूर के हिसाब से 1000 मजदूरों को 2000 रुपये की हानि होती है। मालिकों को कुल 10000 रुपये का लाभ होता है। इसमें देखा जाए तो 10 मालिकों का लाभ 1000 मजदूरों की हानि से अधिक है। अतः कानून बनाना उपयोगी है। यदि अधिकतम लोगों की द ष्टि से देखा जाए तो 1000 मजदूरों की हानि को महत्त्व देकर कानून बनाया जाए। ऐसी अवस्था में अधिकतम संख्या व अधिकतम सुख में अन्तर्विरोध उत्पन्न होता है। इसलिए उपयोगिता का सिद्धान्त यह स्पष्ट नहीं करता कि कानून किसके पक्ष में बनाया जाए। अतः इस विषय में यह सिद्धान्त पद-प्रदर्शन न कर पाने के कारण अस्पष्ट व दोषपूर्ण है।

4. **सुखवादी मान्यता दोषपूर्ण है** : बेन्थम केवल सुख को ही मानवीय क्रियाओं का एकमात्र प्रेरक कारण मानते हैं। आलोचकों का कहना है कि यदि संसार में केवलमात्र सुख को ही प्रेरक मान लिया जाए तो सुखों की प्राप्ति की होड़ लग जाएगी। इससे कर्त्तव्य व स्वार्थ का संघर्ष समाप्त हो जाएगा। यदि भौतिक सुख ही सब कुछ होता तो कवि कविता की रचना क्यों करता? महात्मा बुद्ध राजसी ठाठबाट का त्याग क्यों करते ? जिस प्रकार सुख की खोज मानव-स्वभाव का अंग है, वैसे ही देशभक्ति, त्याग, परोपकार आदि उदात्त भावनाएँ भी उसके स्वभाव का अंग है। मानव जीवन आदर्शों पर आधारित है, न कि सुखवादी द ष्टिकोण पर।

5. **सुखवादी मापन यन्त्र दोषपूर्ण है** : बेन्थम द्वारा बताई गई इस विधि से सुखों का मात्रा को सही ढंग से मापना असम्भव है। बेन्थम ने सुख मापन के विभिन्न तत्त्वों की तुलना करने का मूल्यांकन करने की निश्चित पद्धति नहीं बताई है। उदाहरण

के लिए यदि एक सुख की प्रगाढ़ता (Intensity) कम तथा अवधि (Duration) अधिक हो तथा दूसरे की प्रगाढ़ता (Intensity) अधिक तथा अवधि (Duration) कम हो तो दोनों सुखों की मात्रा और तारतम्य का निर्धारण कैसे हो ? इस विषय पर बेन्थम कुछ नहीं कह सका। अतः यह अनुपयोगी पद्धति है। व्यक्तियों की रुचि, समय और परिस्थितियों के कारण सुख-दुःख में भी परिवर्तन आता रहता है। एक समय पर सुख देने वाली वस्तु दूसरे समय दुःख भी प्रदान कर सकती है। रुचि वैचित्र्य के कारण अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख का अनुमान लगाना कठिन हो जाता है। अतः सुखवादी मापन यन्त्र में अस्पष्टता तथा अनिश्चितता है।

6. **बहुसंख्यकों की निरंकुशता** : बेन्थम का सिद्धान्त प्रत्येक व्यक्ति के सुख पर नहीं बल्कि बहुसंख्या के सुख पर जोर देता है। यदि बहुसंख्यक अपने आनन्द के लिए अल्पसंख्यकों को दास भी बनाना चाहें तो उचित है। इस दशा में अल्पसंख्यकों का सुख बहुसंख्यकों के सुख के नीचे हमेशा दफन रहेगा। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से यह सिद्धान्त बहुसंख्यकों के अत्याचार को उचित व न्यायपूर्ण ठहराता है। इसलिए यदि सुख स्वाभाविक प्रव त्ति है तो उसे प्राप्त करने का अधिकार सभी को मिलना चाहिए। अतः यह सिद्धान्त बहुसंख्यकों के अत्याचार व अन्याय को प्रोत्साहन देता है।

7. **नैतिकता की उपेक्षा** : बेन्थम ने केवल भौतिक सुखों के आधार पर अपना सिद्धान्त खड़ा किया हैं उसने सुख को ही जीवन का चरम लक्ष्य माना है। उसकी द ष्टि में उच्च नैतिक भावना, अन्तःकरण और धर्म-अधर्म का कोई महत्त्व नहीं है। उदाहरणार्थ पाँच डाकू एक सज्जन पुरुष को लूटकर उसे जान से मार दें तो इससे अधिकतम का ही लाभ हुआ। उस सज्जन व्यक्ति की हानि का कोई महत्त्व नहीं रह जाता है। किन्तु नैतिक रूप से ऐसा नहीं होना चाहिए। अतः बेन्थम ने नैतिकता की घोर उपेक्षा करके अव्यवस्था को ही जन्म देने वाली स्थिति पैदा की है।

8. **सुखों के गुणात्मक भेद की उपेक्षा** - बेन्थम की द ष्टि से विभिन्न वस्तुओं और कार्यों से प्राप्त सुख मात्रात्मक होता है, गुणात्मक नहीं। उसका कहना है कि आनन्द का जितनी मात्रा घर पर रहने से मिलती है, उतनी ही घूमने से नहीं मिलती है। दोनों सुखों में मात्रात्मक अन्तर होता है। लेकिन सत्य तो यह है कि एक चित्रकार को चित्र बनाने में जो आनन्द प्राप्त होता है, वह उस चित्र को देखने वाले के आनन्द से अलग होता है। स्वादिष्ट वस्तुओं से मिलने वाला आनन्द, खेलने से प्राप्त होने वाले आनन्द से भिन्न है। इन सब में मात्रात्मक भेद के साथ-साथ गुणात्मक भेद भी होता है। घर पर लेटे रहना एक निकृष्ट कोटि का आनन्द है, एवरेस्ट पर चढ़ना एक उत्कृष्ट कोटि का आनन्द है। अतः बेन्थम का सिद्धान्त गुणों की उपेक्षा करने के कारण दोषपूर्ण है। बेन्थम के अनुयायी जे॰ एस॰ मिल ने भी इस भूल को स्वीकार किया।

9. **शासन विषयक सिद्धान्त** : बेन्थम ने राज्य और सरकार में कोई अन्तर नहीं किया है। वह व्यक्ति द्वारा सुख की प्राप्ति के लक्ष्य पर बल देता है। वह मनुष्य के और राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों का विवेचन नहीं करता। वह केवल इतना कहता है कि राज्य को न्यूनतम हस्तक्षेप करना चाहिए। वह केवल शासन कार्यों का विवेचन करता है, राज्य के सैद्धान्तिक पक्ष का नहीं।

10. **अतर्कसंगत** : बेन्थम ने एक सुख से दूसरे सुख की उत्पत्ति की बात तो कही है लेकिन इस सुख कके जनक की अवहेलना की है। प्रत्येक सुख की उत्पत्ति के पीछे कोई न कोई कारण अवश्य होता है। बेन्थम इसका कारण बताने में असफल रहे हैं। अतः यह सिद्धान्त तर्कसंगत नहीं है।

11. **सभी सुख समान नहीं होते** : बेन्थम ने भौतिक सुख और मानसिक सुखों को समान माना है। शरीर और आत्मा की अनुभूति के उद्देश्य और मात्रा असमान होते हैं। बेन्थम ने मात्रात्मक आधार पर सुखों में अन्तर मानकर मनुष्य को पशु स्तर तक गिरा दिया है। मैक्सी का कहना है- "बेन्थम की धारणा के अनुसार मनुष्य सूअर है।"

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि बेन्थम का उपयोगितावाद का दर्शन गलत धारणाओं पर आधारित है। बेन्थम ने सुख और आनन्द को समानार्थी मान लिया है। यह अन्तर्विरोधों से ग्रस्त है। यह गुणात्मक पहलू की उपेक्षा करता है। उसका सुखवादी मापन यन्त्र वैज्ञानिक तरीका नहीं है। 'सबसे बड़ा सुख' और 'सबसे बड़ी संख्या' के मध्य कोई तार्किक सम्बन्ध नहीं है। यह सिद्धान्त बहुमत की निरंकुशता को बढ़ावा देता है। अतः यह सिद्धान्त भ्रान्त, भौतिक व एकांगी है। इसमें यथार्थवाद व मनोवैज्ञानिकता का पुट नहीं है। इसलिए यह सिद्धान्त अस्पष्ट व अपूर्ण है। लेकिन अनेक दोषों के बावजूद भी यह सिद्धान्त लोक-कल्याणकारी राज्य की उदात्त भावना से प्रेरित है। आधुनिक प्रजातन्त्र में इसका विशेष महत्त्व है।

बेन्थम का राजनीतिक विचार
(Political Ideas of Bentham)

राजनीतिक दर्शन के इतिहास में यह एक विवादास्पद मुद्दा रहा है कि क्या बेन्थम को एक राजनीतिक दार्शनिक माना जाए या नहीं। कई लेखक उसको राजनीतिक दार्शनिक की बजाय एक राजनीतिक सुधारक मानते हैं। उनके अनुसार बेन्थम का ध्येय किसी राजनीतिक सिद्धान्त का प्रतिपादन करना नहीं था बल्कि अपने सुधारवादी कार्यक्रम की प ष्ठभूमि के लिए राज्य के सम्बन्ध में कुछ विचार प्रस्तुत करना था ताकि इंगलैण्ड की शासन प्रणाली में वांछित सुधार किए जा सकें। उसके प्रमुख राजनीतिक विचार उसके सुधारवादी कार्यक्रम का ही एक हिस्सा हैं। उसके प्रमुख राजनीतिक विचार निम्नलिखित हैं :-

1. **राज्य सम्बन्धी विचार** (Views on State) : बेन्थम राज्य को एक कृत्रिम संस्था मानता है। उसने राज्य की उत्पत्ति के 'सामाजिक समझौता सिद्धान्त' का खण्डन किया है। वह राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक समझौता को नकारते हुए कहता है कि इस प्रकार का समझौता कभी हुआ ही नहीं था और यदि हुआ भी हो तो वर्तमान पीढ़ी को इसे स्वीकार करने के लिए बाध्य करना न्यायसंगत नहीं है। उसका कहना है कि इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि समझौता हुआ हो। उसका कहना है कि यदि समझौता होना स्वीकार कर भी लिया जाए तो समझौते द्वारा आज्ञा पालन के कर्त्तव्य की कोई निश्चित व्याख्या नहीं की जा सकती। बेन्थम का मानना है कि मनुष्य द्वारा कानून तथा सरकार की अधीनता स्वीकार करने का मुख्य कारण मूल समझौता न होकर वर्तमान हित व उपयोगिता है। सरकारों का अस्तित्व इसलिए है कि वे सुख को बढ़ाती हैं। मनुष्य कानून और राज्य की आज्ञा का पालन इसलिए करते हैं कि वे जानते हैं कि "आज्ञा पालन से होने वाली संभावित हानि आज्ञा का पालन न करने से होने वाली हानि से कम होती है।" इसलिए राज्य की उत्पत्ति का आधार सामाजिक उपयोगिता है न कि सामाजिक समझौता। उसके अनुसार- "राज्य एक काल्पनिक संगठन है जो व्यक्तियों के हितों का योग मात्र है।" राज्य का हित उसमें रहने वाले व्यक्तियों के हितों का योग मात्र होता है। बेन्थम के मतानुसार- "राज्य व्यक्तियों का एक समूह है जिसका संगठन उपयोगिता अथवा सुख की व द्धि करने के लिए किया गया है।" उसके अनुसार राज्य का ध्येय या लक्ष्य न तो व्यक्ति के व्यक्तित्व को निखारना है और न ही समुदाय के सद् और नैतिक जीवन की उन्नति करना है बल्कि वह तो 'अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख' में व द्धि करना है।

   इस प्रकार बेन्थम राज्य की उत्पत्ति के 'सामाजिक समझौता सिद्धान्त', 'आदर्शवादी सिद्धान्त', 'आंगिक सिद्धान्त', आदि का खण्डन करते हुए राज्य की उत्पत्ति का आधार सामाजिक उपयोगिता को मानते हुए राज्य को एक कृत्रिम संस्था स्वीकार करता है। उसके अनुसार राज्य व्यक्तियों के हितों का योग मात्र है। वह राज्य को एक साध्य न मानकर एक साधन मात्र मानता है जिसका उद्देश्य सार्वजनिक हित में व द्धि करने के साथ-साथ 'अधिकतम लोगों के लिए अधिकतम सुख' को खोजना है। अतः राज्य की उत्पत्ति का यह सिद्धान्त सीमित व संकुचित है। इसके अनुसार राज्य व्यक्ति के सुख का साधन मात्र है। यह एक व्यक्तिवादी धारणा है।

   राज्य की विशेषताएँ (Features of the State):बेन्थम के सिद्धान्त के अनुसार राज्य को निम्नलिखित विशेषताएँ है :

   (i) यह अधिकतम सुख को बढ़ाने वाला एक मानवी अभिकरण है।

   (ii) यह व्यक्ति के अधिकारों का स्रोत है।

   (ii) यह व्यक्ति के हितों में व द्धि करने का एक साधन है।

   (iv) इसका लक्ष्य अपने नागरिकों के सुख में व द्धि करना है।

   (v) यह दण्ड-विधान द्वारा नागरिकों को अनुचित कार्यों को करने से रोकने वाला साधन है।

   इस प्रकार राज्य अपने नागरिकों के हितों को अधिकतम सीमा तक बढ़ाने के लिए कानून का सहारा लेता है। वह कानून को ढाल बनाकर 'अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख' में व द्धि के मार्ग में आने वाली रुकावटों पर अंकुश लगाता है।

   राज्य के कार्य (Functions of the State) : बेन्थम के अनुसार राज्य के कार्य सकारात्मक न होकर नकारात्मक हैं। उसने राज्य को व्यक्ति की अपेक्षा कम महत्त्व प्रदान किया है। उसके अनुसार राज्य के निम्नलिखित कार्य हैं :-

   (i) राज्य लोगों के सुख में व द्धि तथा दुःख में कमी करने का प्रयास करता है।

   (ii) वह नागरिकों को गलत कार्यों को करने से रोककर उनके आचरण का नियन्त्रित करता है।

इस प्रकार राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में बेन्थम का द ष्टिकोण नकारात्मक ही रहा है। उसने व्यक्तिवादी और लेसेज-फेरे (Individualist and Laissez-faire) की धारणा पर ही अपने राज्य सम्बन्धी विचारों को खड़ा किया है। उसका राज्य नागरिकों के व्यक्तित्व का विकास करने की बजाय उनके सुख में व द्धि करना है। अतः बेन्थम की द ष्टि में नागरिकों का स्थान राज्य से उच्चतर है।

2. **सरकार सम्बन्धी विचार** (**Views on Government**) : बेन्थम के सरकार या शासन सम्बन्धी विचार भी उसके उपयोगितावादी सिद्धान्त पर ही आधारित हैं। बेन्थम राज्य और सरकार में अन्तर करते हुए सरकार को राज्य का एक छोटा सा संगठन मानता है तो कानून तथा अधिकतम सुख के लक्ष्य को कार्यान्वित करता है। बेन्थम उपयोगितावाद के सिद्धान्त की कसौटी पर विभिन्न शासन प्रणालियों को परखकर गणतन्त्रीय सरकार का ही समर्थन करता है। उसका विश्वास है कि "अन्ततोगत्वा प्रतिनिधि लोकतन्त्र ही एक ऐसी सरकार है जिसमें अन्य सभी प्रकार की सरकारों की तुलना में अधिकतम लोगों की अधिकतम सुख प्राप्त कराने की क्षमता है।" उसके विचारानुसार गणतन्त्रीय सरकार में कुशलता, मितव्ययिता, बुद्धिमत्ता तथा अच्छाई जैसे गुण पाए जाते हैं। उसके विचार में राजतन्त्र बुद्धिमानों का शासन तो है, परन्तु वह 'अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख' का पालन करने में असक्षम है। गणतन्त्र में कानून बनाने का अधिकार जनता के पास होने के कारण कानून जनता के हित में बनते हैं और 'अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख' का लक्ष्य सरलता से प्राप्त हो सकता है। इसी तरह कुलीनतन्त्र में बुद्धिमत्ता तो पाई जाती है, क्योंकि यह गुणी और अनुभवी व्यक्तियों द्वारा संचालित होती है, लेकिन इसमें ईमानदारी कम पाई जाती है। यह शासन व्यवस्था भी "अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख' के सिद्धान्त की उपेक्षा करती है। गणतन्त्र में जनता व शासक के हितों में समानता रहती है। इसलिए 'अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख' का ध्येय गणतन्त्र में ही प्राप्त किया जा सकता है, अन्य शासन-प्रणालियों में नहीं। अतः गणतन्त्रीय सरकार ही सर्वोत्तम सरकार है।

3. **सम्प्रभुता सम्बन्धी विचार** (**Views on Sovereignty**) : बेन्थम ने राज्य की सम्प्रभुता का समर्थन किया है। उसका मानना है कि शासक सभी व्यक्तियों और सब बातों के सम्बन्ध में कानून बना सकता है। चूँकि कानून आदेश होता है, अतएव यह सर्वोच्च शक्ति का ही आदेश हो सकता है। बेन्थम का मानना है कि राज्य का अस्तित्व तभी तक रहता है, जब तक सर्वोच्च सत्ता की आज्ञा की अनुपालन लोगों द्वारा स्वभावतः की जाती है। बेन्थम के अनुसार राज्य सम्प्रभु होता है, क्योंकि उसका कोई कार्य गैर-कानूनी नहीं होता। कानूनी द ष्टि से सम्प्रभु निरपेक्ष एवं असीमित होता है। उस पर प्राकृतिक कानून एवं प्राकृतिक अधिकार का कोई बन्धन नहीं हो सकता। लेकिन बेन्थम के अनुसार सम्प्रभु निरंकुश, अमर्यादित एवं अपरिमित नहीं हो सकता। बेन्थम के अनुसार व्यक्ति उसी सीमा तक सम्प्रभु की आज्ञा का पालन और कानून का आदर करते हैं, जिस सीमा तक वैसा करना उनके लिए लाभदायक और उपयोगी होता है। बेन्थम के मतानुसार शासक कानून बनाने का अधिकार तो रखता है लेकिन वह उसी सीमा तक कानून बना सकता है जहाँ तक व्यक्तियों के अधिकतम हित के लक्ष्य की प्राप्ति होती हो। यदि कानून व्यक्तियों के लिए लाभदायक व उपयोगी न हों तो जनता का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह शासक व उसके द्वारा बनाए गए कानूनों का प्रतिरोध करे।

   इस प्रकार हॉब्स की तरह बेन्थम भी कानून-निर्माण को सम्प्रभु का सर्वोच्च अधिकार मानता है लेकिन वह कार्यपालिका और न्यायपालिका सम्बन्धी अधिकारों को सम्प्रभु को नहीं सौंपता। वह शासक की असीमित शक्तियों के विरुद्ध है। उसके अनुसार शासक समस्त सामाजिक सत्ता का केन्द्र नहीं है। उसका सम्प्रभु तो कानून निर्माण के क्षेत्र में ही सर्वोच्च है, अन्य में नहीं।

4. **प्राकृतिक अधिकारों सम्बन्धी धारणा** (**Views on Natural Rights**) : बेन्थम ने प्राकृतिक अधिकारों की धारणा का खण्डन करते हुए प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त को मूर्खतापूर्ण, काल्पनिक, आधारहीन व आडम्बरपूर्ण बताया है। उसने कहा है- "प्राकृतिक अधिकार बकवास मात्र हैं - प्राकृतिक और हस्तान्तरणीय अधिकार आलंकारिक बकवास हैं - शब्दों के ऊपर भी बकवास है।" उसके मतानुसार प्रकृति एक अस्पष्ट शब्द हैं, इसलिए प्राकृतिक अधिकारों की धारणा भी निरर्थक है। उसके मतानुसार अधिकार प्राकृतिक न होकर कानूनी हैं जो सम्प्रभु की सर्वोच्च इच्छा का परिणाम हैं। उसके अनुसार पूर्ण स्वतन्त्रता पूर्ण रूप से असम्भव है, इसलिए अधिकार प्राकृतिक न होकर कानूनी हैं।

   बेन्थम ने टामस पेन तथा गॉडविन जैसे प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त के समर्थक विचारकों का खण्डन करते हुए कहा कि प्राकृतिक अधिकार केवल एक प्रलाप और मूर्खता का नंगा नाच हैं। उसका मानना है कि प्राकृतिक अधिकारों का

निर्माण केवल सामाजिक परिस्थितियों में होता है। वे अधिकारों का निर्माण केवल सामाजिक परिस्थितियों में होता है। वे अधिकार ही उचित हो सकते हैं जो 'अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख' के लक्ष्य को प्राप्त कराने में सहायक हों। बेन्थम ने कहा है- "अधिकार मानव जीवन के सुखमय जीवन के वे नियम हैं जिन्हें राज्य के कानून मान्यता प्रदान करते हैं।"

अतः अधिकार प्रकृति-प्रदत्त न होकर समाज-प्रदत्त होते हैं। वे मनुष्य के सुख के लिए हैं जिन्हें राज्य मान्यता देता है और उनके अनुसार अपनी नीति बनाता है। राज्य ही अधिकारों का स्रोत है। नागरिक प्राकृतिक अधिकारों के लिए राज्य के विरुद्ध किसी प्रकार का दावा नहीं कर सकते, क्योंकि अधिकारों के साथ कुछ कर्त्तव्य भी बँधे हैं जिनके अभाव में अधिकार निष्प्राण व निरर्थक हैं।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि बेन्थम ने प्राकृतिक अधिकारों की धारणा को कोरी मूर्खता बताया है। उसके अनुसार अधिकार कानून की देन है और अच्छे कानून की परख 'अधिकतम लोगों की अधिकतम सुख' प्रदान करने के लक्ष्य को प्राप्त करने पर ही हो सकती है। इस तरह बेन्थम ने प्राकृतिक अधिकारों की धारणा का खण्डन करते हुए उन्हें काल्पनिक कहा है।

5. **कानून सम्बन्धी विचार (Views on Law) :** बेन्थम का विचार है कि मनुष्य एक स्वार्थी प्राणी होने के नाते सदैव अपने सुख की प्राप्ति में लगा रहने के कारण दूसरों के हितों के रास्ते में बाधा उत्पन्न कर सकता है। ऐसी स्थिति से निपटने के लिए कुछ बन्धनों का होना जरूरी है। इसलिए राज्य के पास कानून की शक्ति होती है जो परस्पर विरोधी हितों से उत्पन्न संघर्ष से अधिक कारगर ढंग से निपटने में सक्षम होती है। बेन्थम का मत है- "विभिन्न अनुशस्तियों (Sanctions) के द्वारा व्यक्ति के हित और समुदाय के हितों के मध्य तालमेल बैठाया जाना चाहिए।" बेन्थम का मानना है कि इन अनुशस्तियों में सबसे अधिक कारगर अनुशस्ति कानून की होती है। राज्य मूलतः कानून का निर्माण करने वाला संगठन है और यह अपने व्यक्तियों पर कानून के द्वारा ही नियन्त्रण रखता है।

बेन्थम के मतानुसार- "कानून सम्प्रभु का आदेश है। कानून सम्प्रभुता की इच्छा का प्रकटीकरण है। समाज के व्यक्ति स्वाभाविक रूप से कानून की आज्ञा का पालन करते हैं। कानून न तो विवेक का और न ही किसी अलौकिक शक्ति की आज्ञा है। सामान्य रूप से यह उस सत्ता का आदेश है, जिसका पालन समाज के व्यक्ति अपनी आदत के कारण करते हैं।" कानून व्यक्ति की मनमानी पर अंकुश है। यह व्यक्ति व समुदाय के हितों में तालमेल बैठाने का साधन है जो अपना कार्य दण्ड व पुरस्कार के माध्यम से करता है। कानून का सम्बन्ध व्यक्ति के समस्त कार्यों से न होकर केवल उन्हीं कार्यों का नियमन करने से है जो व्यक्ति के अधिकतम सुख के लक्ष्य को प्राप्त कराने के लिए आवश्यक है।

बेन्थम का मानना है कि कानून इच्छा की अभिव्यक्ति है। ईश्वर और मनुष्य के पास तो इच्छा होती है लेकिन प्रकृति के पास कोई इच्छा नहीं होती। इसलिए दैवी कानून और मानवीय कानून तो हो सकते हैं, लेकिन प्राकृतिक कानून नहीं हो सकते। दैवी कानून भी अनिश्चित होता है। अतः मानवीय कानून ही सर्वोच्च कानून होता है जो समाज व व्यक्ति के सम्बन्धों का सही दिशा निर्देशन व नियमन कर पाने में सक्षम होता है।

कानून का उद्देश्य : बेन्थम का मानना है कि कानून का उद्देश्य भी सामाजिक उपयोगिता है। कानून व्यक्ति के आचरण को अनुशासित करता है जिससे समाज में 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख' में व द्धि होती है। बेन्थम के अनुसार कानून के चार उद्देश्य हैं - सुरक्षा, आजीविका, सम्पन्नता तथा समानता। बेन्थम का कहना है कि सार्वजनिक आज्ञा पालन ही कानून को स्थायित्व प्रदान करके उसे प्रभावी बनाता है और उसे अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख को प्राप्त करने में योगदान देता है। इसलिए कानून की भाषा स्पष्ट व सरल होनी चाहिए ताकि साधारण व्यक्ति भी उसका ज्ञान प्राप्त कर सके।

कानून के प्रकार (Types of Law) : बेन्थम ने कानून का वर्गीकरण करते हुए उसे चार भागों में बाँटा है :

(i) नागरिक कानून (Civil Law)

(ii) फौजदारी कानून (Criminal Law)

(iii) संवैधानिक कानून (Constitutional Law)

(iv) अन्तरराष्ट्रीय कानून (International Law)

इस प्रकार बेन्थम ने कानून को सम्प्रभु का आदेश मानते हुए उसे व्यक्तियों के अधिकतम सुख प्राप्त करने के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए आवश्यक माना है। उसने मानवीय कानून को सर्वोच्च कानून माना है। अपने अन्य सभी सिद्धान्तों की तरह बेन्थम ने कानून को भी उपयोगितावादी आधार प्रदान किया है।

6. **न्याय सम्बन्धी विचार** (Views on Justice) : अपने अन्य विचारों की ही तरह बेन्थम ने न्याय को भी उपयोगिता के आधार पर परिभाषित किया है। बेन्थम का कहना है कि कानून पर आधारित होने के कारण न्याय का परिणाम उपयोगिता होना चाहिए। बेन्थम ने अपने न्याय सम्बन्धी विचारों में तत्कालीन इंगलैण्ड की न्याय व्यवस्था की कटु आलोचनाएँ की हैं। उसने कहा है कि मुकद्दमे में वादी और प्रतिवादी दोनों पक्षों के लिए न्याय प्राप्ति के मार्ग में दुर्गम बाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं। उन्हें न्याय प्राप्त करने के लिए भारी फीसें वकीलों को देनी पड़ती हैं। साथ में ही समय अधिक लगता है। न्याय प्राप्त करने के लिए न्यायपालिका के कर्मचारियों को कदम कदम पर सुविधा शुल्क देने पड़ते हैं। इसलिए बेन्थम के तत्कालीन न्याय-व्यवस्था पर टिप्पणी करते हुए लिखा है- "इस देश में न्याय बेचा जाता है, बहुत महंगा बेचा जाता है और जो व्यक्ति इसके विक्रय मूल्य को नहीं चुका सकता है, न्याय पाने से वंचित रह जाता है।" बेन्थम न्यायधीशों को एक कम्पनी की संज्ञा देता है। यह कम्पनी अपने लाभ के लिए उन कानूनों का सहारा लेती है जिन्हें अपने लाभ के लिए न्यायधीशों ने बनाया है।

इस प्रकार बेन्थम ने तत्कालीन न्याय-व्यवस्था के दोषों पर भली-भान्ति विचार करके उन्हें अपने दर्शन में प्रस्तुत किया है। उसके न्याय-सम्बन्धी विचार आज भी प्रासंगिक है। जैसे दोष उसने उस समय बताए थे, वे आज भी विद्यमान हैं।

बेन्थम : एक सुधारक के रूप में
(Bentham As a Reformer)

अनेक लेखकों ने बेन्थम को एक राजनीतिक दार्शनिक की बजाए एक महान् सुधारवादी विचारक माना है। उसने तत्कालीन इंगलैण्ड की न्याय-व्यवस्था, जेलखानों, विधि, शासन-प्रणाली, शिक्षा-पद्धति, धार्मिक व्यवस्था आदि में जो सुधार किए, उन पर ही आगामी सुधारों की प्रक्रिया आश्रित हो गई। उनके सुधारवादी विचारों के सुझावों से ही सारे संसार में सुधारों की लहर चल पड़ी। सेबाइन ने कहा है- "सामाजिक दर्शन के इतिहास में ऐसे विचारक कम ही हुए हैं, जिन्होंने इतना व्यापक और इतना उपयोगी प्रभाव डाला हो, जितना बेन्थम ने।" इसी तरह मैक्सी ने कहा है- "यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि जिन सुधारों का बेन्थम में इतनी तत्परता और लाभ के साथ समर्थन किया था, उनमें से अनेक सुधार आज विभिन्न देशों में विधि का रूप पा चुके हैं।" बेन्थम के प्रमुख सुधारवादी विचार निम्नलिखित हैं :-

1. **न्याय व्यवस्था में सुधार** (Reforms in Judicial System) : बेन्थम ने तत्कालीन इंगलैण्ड की न्याय-व्यवस्था को दोषपूर्ण मानते हुए उसमें वांछित सुधारों का सुझाव दिया है। उसने महंगी व जटिल न्याय-व्यवस्था की कटु आलोचना की है। उसने तत्कालीन इंगलैण्ड की अदालतों की कार्य-विधि को आसान बनाने व उसकी कार्यक्षमता बढ़ाने के सुझाव दिए हैं। उसके प्रमुख सुझाव निम्नलिखित हैं -

   (i) किसी मुकद्दमे का निर्णण एक ही न्यायधीश के द्वारा ही होना चाहिए, तीन या चार न्यायधीशों द्वारा नहीं। उसका मत है कि अधिक संख्या से उत्तरदायित्व में कमी आती है। पूर्ण उत्तरदायित्व की भावना केवल एक न्यायधीश में ही हो सकती है। अनेक न्यायधीशों में परस्पर मतभेद की सम्भावना होने के कारण न्याय निरपेक्ष नहीं रह जाता है। अतः पूर्ण न्याय की प्राप्ति के लिए न्यायधीशों की संख्या सीमित होनी चाहिए।

   (ii) प्रत्येक व्यक्ति को अपना वकील स्वयं बनना चाहिए ताकि वह मध्यस्थ की औपचारिक कार्यवाही से बच सके।

   (iii) न्याय-व्यवस्था में दक्षता, निपुणता और निष्पक्षता लाने के लिए यह आवश्यक है कि न्यायधीशों की नियुक्ति योग्यता, गुण और प्रशिक्षण के आधार पर होनी चाहिए, वंश या कुल के आधार पर नहीं। इससे न्याय-व्यवस्था में अज्ञान व पक्षपात को बढ़ावा मिलता है।

   (iv) मुकद्दमे का निर्णय कठोर नियमों के अनुसार न करके न्यायिक विवेक (Judicial Discretion) के अनुसार किया जाना चाहिए।

   (v) न्याय-व्यवस्था सस्ती होनी चाहिए।

(vi) न्याय शीघ्र मिलना चाहिए।

(vii) न्यायिक प्रक्रिया में ज्यूरी पद्धति का प्रयोग करना चाहिए ताकि न्यायधीशों की निरंकुशता को रोका जा सके।

(viii) न्याय-व्यवस्था को सुद ढ़ बनाने के लिए कानूनों की भाषा सरल व स्पष्ट होनी चाहिए।

(ix) प्रत्येक न्यायालय का क्षेत्राधिकार अलग-अलग होना चाहिए ताकि अतिक्रमण को रोका जा सके।

(x) जनमत की अभिव्यक्ति के लिए न्याय-व्यवस्था में प्रेक्षक नियुक्त किए जाने चाहिएं।

2. **जेल-व्यवस्था में सुधार (Reforms in Prison System)** : बेन्थम के समय में जेलों में कैदियों के साथ अमानवीय व्यवहार किया जाता था। उन्हें अन्धेरी कोठरियों व तहखानों में रखा जाता था। उन्हें गन्दा भोजन दिया जाता था। बालक और वयस्क अपराधियों को एक साथर रखा जाता था। जेल अपराधियों व अपराधों का अखाड़ा मात्र थे। जेल में जाने के बाद वहाँ से बाहर आने वाला प्रत्येक अपराधी भयानक व कुख्यात अपराधी की संज्ञा प्राप्त कर लेता था। इस व्यवस्था से दुःखी होकर बेन्थम ने इंगलैण्ड की जेल व्यवस्था में निम्न सुधारों का सुझाव दिया :-

(i) जेल में ही अपराधियों को औद्योगिक शिक्षा प्रदान की जानी चाहिए ताकि वे बाहर आकर समाज की आमधारा से जुड़ जाएँ।

(ii) उसने 'गोलाकार कारावास' (Panopticon) के निर्माण का सुझाव दिया ताकि उसमें रहकर कैदी ईमानदार और परिश्रमी बन सकें। उसने इस योजना के तहत अर्ध-चन्द्राकार इमारतें बनाने का सुझाव दिया ताकि जेल की अधिकारी अपने निवास स्थान से इन इमारतों पर नजर रख सके।

(iii) अपराधियों को आत्मिक उत्थान हेतु नैतिक व धार्मिक शिक्षा भी दी जानी चाहिए ताकि वे जेल से बाहर जाने पर अच्छे नागरिक साबित हों।

(iv) कारावास से मुक्त होने पर उनके लिए उस समय तक नौकरी देने की व्यवस्था की जाए जब तक वे समाज की अभिन्न धारा से न जुड़ जाएँ।

आगे चलकर जेलों में जो भी सुधार हुए उन पर बेन्थम का ही व्यापक प्रभाव पड़ा।

3. **दण्ड-व्यवस्था में सुधार (Reforms in Punishment)** : बेन्थम ने दण्ड-विधान के क्षेत्र में भी अपने उपयोगिता के सिद्धान्त को लागू करके उस समय में प्रचलित दण्ड-व्यवस्था के अनेक दोषों पर विचार किया है। उस समय छोटे-छोटे अपराधों के लिए अमानवीय व कठोर दण्ड दिया जाता था। बेन्थम ने महसूस किया कि छोटे से अपराध के लिए कठोर सजा देने से अपराधों में व द्धि होती है। दण्ड का लक्ष्य समाज में अपराधों को रोकना होना चाहिए। इसलिए उसने दण्ड-व्यवस्था में कुछ सुधारों के उपाय सुझाए हैं।

(i) दण्ड समान भाव से देना चाहिए ताकि अपराधी को अनावश्यक पीड़ा उत्पन्न न हो। अर्थात् समान अपराध के लिए समान दण्ड का प्रावधान होना चाहिए।

(ii) अपराधी को दण्ड अवश्य मिलना चाहिए। उसका मानना था कि दण्ड की निश्चितता अपराधों को रोकती है।

(iii) दण्ड की पीड़ा अपराध की बुराई से थोड़ी ही अधिक होनी चाहिए ताकि अपराध की पुनराव त्ति न हो।

(iv) अपराधों का वर्गीकरण किया जाना चाहिए।

(v) दण्ड का उद्देश्य अपराधी को सुधारना होना चाहिए।

(vi) दण्ड का स्वरूप अपराधी की आयु व लिंग के आधार पर निर्धारित होना चाहिए।

(vii) दण्ड देने से पहले अपराधी की मानसिक स्थिति व अपराध के कारणों पर अच्छी तरह विचार करना चाहिए।

(viii) कानून द्वारा दण्ड को कम करने या क्षमा करने की व्यवस्था नहीं होनी चाहिए।

इस प्रकार बेन्थम ने अपने दण्ड विधान में सुधारों को प्रतिरोध सिद्धान्त (Deterrent Theory) तथा सुधारात्मक सिद्धान्त (Reformative Theory) के मिश्रण से तैयार किया है। उसके द्वारा सुझाए गए उपाय आज भी प्रासंगिक हैं। उसके सुझावों को आगे चलकर अनेक देशों ने स्वीकार किया है।

4. **कानून-व्यवस्था में सुधार** (**Reforms in Law**) : बेन्थम ने अपने समय के कानून को अव्यावहारिक व अनुपयोगी मानते हुए उसकी आलोचना की है। उसने महसूस किया कि सभी कानून गरीबों को दबाने वाले हैं और अमीरों का पोषण करने वाले हैं। उसने तत्कालीन कानून-व्यवस्था में निम्न सुधारों के सुझाव दिए :-

   (i) कानूनों का संहिताकरण (Codification) किया जाना चाहिए ताकि उनके मध्य क्रमबद्धता कायम की जा सके। इसके लिए कानूनों को विभिन्न श्रेणियों व वर्गों में बाँटा जाना चाहिए।

   (ii) सरकार को कानून की अनभिज्ञता को दूर करने के लिए अपने नागरिकों को अनिवार्य शिक्षा के माध्यम से प्रशिक्षित करना चाहिए। इसके लिए सरकार को सस्ते मूल्यों पर पुस्तकें जनता तक पहुँचानी चाहिएं।

   (iii) कानून की भाषा सरल व स्पष्ट होनी चाहिए ताकि आम व्यक्ति भी उसको समझ सके। कानून में प्रयुक्त होने वाले कठिन शब्दों का सरलीकरण किया जाना चाहिए।

   (iv) कानून जनता के हित को ध्यान में रखकर ही बनाए जाने चाहिएं।

इस प्रकार बेन्थम ने कानून को ऐसा बनाने का सुझाव दिया जिससे व्यक्तियों के सुखों में व द्धि हो।

5. **शासन व्यवस्था में सुधार** (**Reforms in Administrative System**) : बेन्थम ने सरकार या शासन का उद्देश्य अधिकतम लोगों के लिए अधिकतम सुख को प्रदान करना माना है। उसने सभी शासन-प्रणालियों में गणतन्त्रीय शासन-प्रणाली का ही समर्थन किया है। लेकिन उसने तत्कालीन ब्रिटिश -पद्धति को अपूर्ण मानकर उसमें कुछ सुधारों की योजना प्रस्तुत की है।

   (i) उसने सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार का समर्थन किया है। उसने इसके लिए थोड़ा-बहुत पढ़ा-लिखा होना भी आवश्यक बताया है। उस समय संसद का सदस्य चुनने का अधिकार कम ही व्यक्तियों को प्राप्त था।

   (ii) उसने संसद के चुनाव प्रतिवर्ष समय पर कराने का सुझाव दिया है। इससे सदस्य क्रियाशील होंगे व निर्वाचकों को उनकी योग्यता परखने का अवसर प्राप्त होगा।

   (iii) उसने गुप्त मतदान प्रणाली का समर्थन किया है। इससे निष्पक्ष चुनावों को बढ़ावा मिलेगा।

   (iv) उसने संसद के उपरि सदन को समाप्त करने का भी सुझाव दिया है ताकि इसके अनावश्यक हस्तक्षेप का निम्न सदन पर दुष्प्रभाव न पड़ सके।

   उसने राजतन्त्र को समाप्त करके गणतन्त्रीय शासन प्रणाली अपनाने का सुझाव दिया है। उसका सोचना है कि गणतन्त्रीय शासन-प्रणाली ही लोकहित में कार्य करेगी। इससे जनता की स्वतन्त्रता सुरक्षित रहेगी। उसका गणतन्त्रीय व्यवस्था का समर्थन करना राजतन्त्र की आलोचना को दर्शाता है। उसके सुझावों को आज अनेक लोकतन्त्रीय देशों में अपनाया जा चुका है। आज इंगलैण्ड में उपरि सदन का महत्त्व गौण हो चुका है। इससे बेन्थम की राजनीतिक दूरदर्शिता का पता चलता है।

6. **शिक्षा में सुधार** (**Reforms in Education**) : बेन्थम ने मनुष्य जाति के उत्थान के लिए शिक्षा को आवश्यक माना है। उसका मानना है कि शिक्षा व्यक्ति की कार्यक्षमता में व द्धि करती है और आनन्द में भी व द्धि करती है। इसलिए उसने तत्कालीन शिक्षा योजना को समाज के लिए अनुपयोगी बतलाया। उसने कहा कि यह शिक्षा-पद्धति अमीरों के एकाधिकार के रूप में उनके हितों का ही पोषण करती है। अतः इसे जनतान्त्रिक बनाने के लिए इसमें कुछ परिवर्तन करने जरूरी हैं। उसने शिक्षा में निम्न सुधार किए :-

   (i) उसने मतदान के लिए पढ़ने की योग्यता को आवश्यक माना।

   (ii) उसे जेल में रहने वाले अपराधियों की औद्योगिक व नैतिक शिक्षा पर जोर दिया।

   (iii) उसने निर्धन वर्ग के छात्रों के लिए विषेष रूप से शिक्षा पर बल दिया। इसके लिए उसने अपने शिक्षा सम्बन्धी प्रस्ताव में दो प्रकार की शिक्षा-व्यवस्थाओं का सुझाव दिया। एक निर्धन वर्ग के लिए तथा दूसरी मध्यम तथा सम द्ध वर्ग के बच्चों के लिए।

   (iv) उसने शिक्षा में बौद्धिक विकास के विषयों के अध्ययन पर बल दिया।

   (v) अपने छात्रों के लिए जीवन में उपयोगी तथा लाभदायक विषयों के अध्ययन पर जोर दिया।

(vi) उसने छात्रों की नैसर्गिक क्षमता या स्वाभाविक रुचि के अनुसार ही शिक्षा प्रदान करने का समर्थन किया।

(vii) उसने उच्च वर्ग के लिए अलग शिक्षा पद्धति का सुझाव दिया। इसे 'Monitorial System' कहा जाता है।

बेन्थम के समय में सार्वजनिक शिक्षा के प्रति कोई रुचि नहीं थी। सत्तारूढ़ वर्ग को भय था कि यदि गरीब वर्ग शिक्षित हो गया तो वह उनकी सत्ता को चुनौती देकर उखाड़ फेंकेगा। इससे सरकारी खर्च में भी व द्धि होगी। इसके बावजूद भी बेन्थम ने शिक्षा सुधारों की योजना प्रस्तुत की जो आगे चलकर इंगलैण्ड की शिक्षा योजना का आधार बनी। अमेरिका, कनाडा तथा अन्य प्रगतिशील देशों ने भी बेन्थम के ही सुझावों को स्वीकार करके उसके महत्त्व को बढ़ाया है। अतः आधुनिक समय में शिक्षा-प्रणाली बेन्थम की बहुत ऋणी है। बेन्थम के शाश्वत महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता।

7. **अन्य सुधार (Other Reforms)** : बेन्थम ने उपर्युक्त सुधारों के अतिरिक्त भी सुधार प्रस्तुत किए हैं। उसने अहस्तक्षेप की नीति का समर्थन किया है। उसने उपनिवेशों को आर्थिक हित के लाभदायक नहीं माना है। उसने स्वतन्त्र व्यापार नीति का समर्थन किया है। उसने धर्म के क्षेत्र में चर्च की कटु आलोचना की है। वह चर्च को एक ऐसी संस्था बनाने का सुझाव देता है जो मनुष्य मात्र का हित पूरा करने में सक्षम हो। उसने गरीबों की भलाई के लिए (Poor Law) बनाने का सुझाव दिया है। उसने स्वास्थ्य सेवाओं के बारे में भी अपनी योजनाएँ प्रस्तुत की हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं है जिस पर बेन्थम ने अपने सुधारवादी विचार प्रस्तुत न किए हों। अतः बेन्थम को राजनीतिक दार्शनिक की अपेक्षा एक सुधारवादी विचारक मानना सर्वथा सही है।

बेन्थम का योगदान
(Contribution of Bentham)

अनेक अन्तर्विरोधों व सम्भ्रान्तियों के बावजूद बेन्थम राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में एक श्रेष्ठ विचारक के रूप में गिना जाता है। उसने उन्नीसवीं शताब्दी के घटनाचक्र को इंगलैण्ड तथा अन्य देशों में सुधारने के रूप में इतना अत्यधिक प्रभावित किया, उतना अन्य किसी विचारक ने नहीं किया। उसके सुधारों सम्बन्धी सुझाव सम्पूर्ण संसार के लिए उपयोगी सिद्ध हुए हैं उसकी रचनाओं का विभिन्न भाषाओं में अनुवाद किया गया और उसने रूस, स्पेन, पुर्तगाल व दक्षिणी अमेरिका की राजनीतिक विचारधारा को भी प्रभावित किया। उसका राजनीतिक चिन्तन के विकास में निम्नलिखित योगदान है :-

1. **राज्य व सरकार का कल्याणकारी लक्ष्य** : बेन्थम ने राज्य व सरकार का लक्ष्य अधिकतम लोगों को अधिकतम सुख प्रदान करना बताया है। बेन्थम ने कहा कि राज्य मनुष्य के लिए है न कि मनुष्य राज्य के लिए है। उसने कहा कि वही राज्य उत्तम हो सकता है जो अपने प्रजाजनों का अधिकतम हित चाहता हो। उसने राज्य व सरकार की सफलता की कसौटी व्यक्तियों को अधिक से अधिक सुख प्रदान करने को माना है। बेन्थम ने राज्य व सरकार को कल्याणकारी संस्थाएँ माना है। उसका कहना है कि राज्य व सरकार की उत्पत्ति मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ही होती है और इनका अस्तित्व इन आवश्यकताओं की पूर्ति पर ही निर्भर है। इसलिए उसने राज्य व सरकार को जनता की भलाई के लिए अधिकतम प्रयास कर अपने अस्तित्व को न्यायसंगत सिद्ध करने के लिए कहा है। उसका 'अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख' का लक्ष्य आधुनिक राज्यों व सरकारों का भी लक्ष्य है। अतः यह बेन्थम की शाश्वत देन है।

2. **न्याय-व्यवस्था में सुधार** : बेन्थम ने ब्रिटिश न्याय प्रणाली की कटु आलोचना करते हुए न्यायिक सुधार के सुझाव दिए हैं। उसने कहा है कि न्याय अमीरों को ही मिलता है, गरीबों को नहीं। उसने गरीबों के लिए 'Poor Law' बनाने का सुझाव दिया। उसने न्यायिक कार्यवाहियों को सरल व सस्ता बनाने का जो सुझाव दिया, वह आज भी अनेक देशों की न्यायिक व्यवस्थाओं में अपनाया गया है। इंगलैण्ड की सरकार ने भी बेन्थम के सुझावों पर ही अपनी न्याय-प्रणाली का विकास किया है।

3. **कानूनों का सुधार** : बेन्थम ने कानून के क्षेत्र में अविलम्ब तथा स्थायी प्रभाव डाला है। उसने कानून में सरलता, स्पष्टता व व्यावहारिकता लाने का जो सुझाव दिया था, वह ब्रिटिश सरकार द्वारा बाद में अपनाया गया। उसने कानूनों को नागरिक, फौजदारी तथा अन्तरराष्ट्रीय कानून के रूप में बाँटकर कानूनशास्त्र को एक नई दिशा दी। अमेरिका, रूस तथा अन्य देशों ने उसके संहिताकरण के आधार पर ही अपनी कानून व्यवस्था को ढालने का प्रयास किया है। उसके प्रयत्न से ही कानून के मौलिक सिद्धान्तों के चिन्तन में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। भारत में भी उसके सुधारों का व्यापक प्रभाव पड़ा है।

4. **दण्ड व्यवस्था में परिवर्तन** : बेन्थम ने दण्ड व्यवस्था में सुधार के अनेक उपायों को प्रस्तुत किया है। उसने जेलों में सुधार के अनेक उपायों को प्रस्तुत किया है। उसने जेलों में सुधार की जो योजना सुझाई थी, वह आज भी अनेक देशों में व्यावहारिक रूप ले चुकी है।

5. **समानता का विचार** : बेन्थम ने कहा है कि "एक व्यक्ति को एक ही गिनना चाहिए।" इस विचार से समानता के सिद्धान्त का जन्म होता है। प्रत्येक व्यक्ति चाहे अमीर हो या गरीब, कानून की द ष्टि में समान है। उसका समानता का विचार प्रतिनिधि लोकतन्त्र का आधार है।

6. **लोकतन्त्र का संस्थापक** : बेन्थम ने गुप्त मतदान, प्रेस की आजादी, वयस्क मताधिकार, धर्मनिरपेक्षता आदि विचारों का समर्थन करके लोकतन्त्र को सुद ढ़ आधार प्रदान किया है। आधुनिक युग में भी सभी प्रजातान्त्रिक देशों में इनका वही महत्त्व है जो बेन्थम ने सुझाया था। अतः बेन्थम लोकतन्त्र के संस्थापक हैं।

7. **अनुसंधान व गवेषणा की प्रव त्ति को प्रोत्साहन** : बेन्थम ने ही सर्वप्रथम इस बात पर बल दिया कि राज्य की नीति सोच-विचार करके ही निश्चित की जानी चाहिए। उसने ही गवेषणात्मक पद्धति को सर्वप्रथम राजनीतिशास्त्र में लागू किया। उसने दर्शनशास्त्र के अनुभववाद तथा आलोचनात्मक पद्धति को राजनीति, शासन और कानून के क्षेत्र में लागू करने का प्रयास किया। उसने कहा कि राज्य के सिद्धान्त, परम्परा व कल्पनावादी अन्तःकरण पर आधारित नहीं हो सकते। ये अनुसन्धान व प्रमाण पर ही आधारित होने चाहिएं। इसी धारणा को आगे चलकर अनेक राजनीतिशास्त्र के विचारकों ने अपनाया है। इसलिए यह उसकी एक महत्त्वपूर्ण देन है।

8. **उपयोगितावादी सिद्धान्त को दार्शनिक आधार प्रदान किया** : बेन्थम ने सर्वप्रथम दार्शनिक सम्प्रदाय की स्थापना करके उसे वैज्ञानिक रूप देने का प्रयास किया है। यद्यपि उसने अपने उपयोगितावाद के मूल सिद्धान्त प्रीस्टले व हचेसन जैसे विद्वानों से ग्रहण किए हैं लेकिन इनको व्यवस्थित रूप प्रदान करने का श्रेय बेन्थम को ही जाता है।

9. **मध्यकालीन राजनीतिक विचारों का खण्डन** : बेन्थम ने सामाजिक समझौता सिद्धान्त का खण्डन किया और कहा कि राज्य किसी काल्पनिक समझौते का परिणाम नहीं है। उसने प्रजाजनों द्वारा स्वाभाविक रूप से आज्ञापालन को राज्य का आधार बताया है। उसने कहा कि मनुष्य राज्य की आज्ञा का पालन अपने लाभ के लिए करते हैं। इसी तरह उसने मध्ययुग में प्रचलित राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त का भी खण्डन किया है। उसने अपने अनुभववाद पर आधारित विचारों द्वारा मध्ययुगीन अन्धकार व रहस्यवाद के जाल में फँसी राजनीतिक व्यवस्था को नई आशा की किरण दिखाई।

10. **राजनीतिक स्थिरता का सिद्धान्त** : बेन्थम ने तीव्र परिवर्तनों की अपेक्षा धीरे-धीरे होने वाले सुधारों से ब्रिटिश प्रणाली में स्थिरता का गुण पैदा करने के सुझाव दिए। उसने सुधारों को क्रान्तियों की तुलना में अधिक वांछनीय और स्प हणीय बताया। उसके सुझावों को ब्रिटिश सरकार द्वारा बाद में मान लिया गया। इससे ब्रिटिश राजनीति में स्थिरता के युग का सूत्रपात हुआ।

11. **व्यक्तिवाद का आरक्षक** : बेन्थम ने व्यक्ति को राज्य के सर्वसत्ताकारवादी पाश से मुक्त कराने का प्रयास किया है। उसने स्पष्ट कहा है कि राज्य व्यक्ति के लिए है, न कि व्यक्ति राज्य के लिए। उसने राज्य को मनुष्यों की उपयोगिता की कसौटी पर परखने का सुझाव देकर व्यक्तिवाद की आधारशिला मजबूत की हैं आधुनिक युग में अनेक सरकारें व्यक्ति की उपयोगितावादी धारणा के आधार पर ही कार्य कर रही हैं। व्यक्ति आधुनिक युग में राज्य के प्रत्येक कार्य का केन्द्र-बिन्दु है।

12. बेन्थम ने अप्रत्यक्ष रूप से समाजवाद के विकास में भी योगदान दिया है। उसने स्वतन्त्र व्यापार तथा अहस्तक्षेप के सिद्धान्त का समर्थन करके समाजवाद का ही पोषण किया है।

अतः निष्कर्ष तौर पर कहा जा सकता है कि बेन्थम का राजनीति-दर्शन के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसकी महत्त्वपूर्ण देनों को भुलाया नहीं जा सकता। उसके विचार शाश्वत सत्य के हैं जो आधुनिक युग में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

अध्याय-10

जॉन स्टुअर्ट मिल

(John Stuart Mill)

परिचय
(Introduction)

जॉन स्टुअर्ट मिल उपयोगितावादी दर्शन को एक नई दिशा प्रदान करने वाला अन्तिम उपयोगितावादी विचारक था। उसके विचारों में व्यक्तिवाद व उदारवाद का उचित सामंजस्य पाया जाता है। उसका प्रमुख ग्रन्थ 'ऑन लिबर्टी' (On Liberty) ने संसार के सभी लेखकों का ध्यान आकृष्ट किया है। उसकी राष्ट्रवादी भावना ने भी एशिया के देशों पर अमिट छाप छोड़ी है। उसने स्त्री-मताधिकार का समर्थन करके स्वयं को स्त्री-जाति का ऋणी बना लिया है। उसका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य तो उपयोगितावाद की काया पलट करना हैं उसने उपयोगितावाद के उन सभी दोषों के निवारण का प्रयास किया है, जो उसके पूर्ववर्ती चिन्तकों के दर्शन में थे। सत्य तो यह है कि राजनीतिक चिन्तन के विकास में उसका अमूल्य एवं महान् योगदान है।

जीवन परिचय
(Life Sketch)

उपयोगितावाद के अन्तिम प्रबल समर्थक जॉन स्टुअर्ट मिल का जन्म 20 मई, सन् 1806 ई॰ को लन्दन में हुआ। वह अपने पिता जेम्स मिल (1773-1836) की प्रथम सन्तान था। उसके पिता स्वयं उपयोगितावादी सुधारक होने के नाते उसे उपयोगितावादी शिक्षा देना चाहते थे। जॉन स्टुअर्ट मिल स्वयं भी एक प्रतिभाशाली बालक था। उसने मात्र 3 वर्ष की आयु में ही ग्रीक तथा 8 वर्ष की आयु में लैटिन भाषा सीख ली थी। उसकी प्रतिभा से प्रभावित होकर उसके पिता जेम्स मिल ने उसे अपने निर्देशन व अनुशासन में रखा। उसने अपने पिता के मार्ग-दर्शन में ही जेनोफोन, हेरोडोटस, आइसोक्रेटस, प्लेटो, होमर, थ्यूसीडाइटस, अरिस्टोफेन्स, डेमोन्सथेनीज, अरस्तू, एडम स्मिथ, रिकार्डो आदि के ग्रन्थों का गहन एवं तर्कपूर्ण अध्ययन किया। वह एक एकान्तप्रिय एवं अध्ययन प्रेमी विचारक था। वह किसी से मिलना नहीं चाहता था, इसलिए उसे मानसिक तनाव ने घेर लिया। इसलिए उसके पिता ने उसे 1820 में फ्रांस भेज दिया ताकि वह स्वास्थ्य लाभ पा सके। वहाँ उसने बेन्थम के छोटे भाई सैमुअल बेन्थम के पास रहकर प्राकृतिक सौन्दर्य का भरपूर आनन्द उठाया। इससे उसे मानसिक तनावों से मुक्ति मिली और वह वापिस आकर इंगलैण्ड में रहकर अध्ययन में जुट गया।

वापिस लौटकर जॉट स्टुअर्ट मिल ने बेन्थम की पुस्तक 'कानून के सिद्धान्त' का अध्ययन किया। तत्पश्चात् उसने प्रसिद्ध विधि-वेता जॉन ऑस्टिन से कानून की शिक्षा प्राप्त की। वह मात्र 16 वर्ष की आयु में ही एक प्रौढ़ विद्वान् बन चुका था। 1823 में उसे ईस्ट इण्डिया कम्पनी में क्लर्क की नौकरी मिल गई और वह इस पद पर 1858 तक कार्यरत रहा। यहाँ रहकर उसे शासन सम्बन्धी समस्याओं का गहरा अनुभव प्राप्त हुआ। 1826 में उसके जीवन में कठोर बौद्धिक अनुशासन के कारण मानसिक संकट पैदा हो गया। इस दौरान उसने वड्र्सवर्थ एवं कॉलरिज की कविताएँ पढ़ीं। इससे उसके स्वभाव व चिन्तन में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। अब उसके अन्दर एक नवीन मानव का जन्म हुआ। इसके बाद 1831 में उसका परिचय श्रीमती हैरियट टेलर नामक सम्भ्रान्त महिला से हुआ। उसकी मित्रता ने उसके मानसिक तनाव को दूर कर दिया। दोनों की प्रगाढ़ मित्रता टेलर के पति की म त्यु के पश्चात् 1851 में परिणय-सूत्र में बदल गई। इसके बाद दोनों ने पारस्परिक सहयोग से रचनाएँ लिखीं। मिल ने स्वयं कहा है- "श्रीमती टेलर बुद्धि और प्रतिभा की साकार प्रतिमा थी।" उसने अपने जीवन के शेष वर्ष अपनी पत्नी की म त्यु (1858 ई॰) के बाद 'एविग्वान' नामक नगर में अपनी पत्नी की कब्र के पास बिताए। 1865 में वह वेस्टमिंस्टर

निर्वाचन क्षेत्र से संसद सदस्य चुना गया। 1866 से 1868 तक भी वह संसद सदस्य रहा। इस दौरान उसने आयरलैण्ड में भूमि-सुधार, किसानों की स्थिति, महिला-मताधिकार, बौद्धिक कार्यकारियों की स्थिति, श्रमिक वर्ग के हितों आदि के बारे में अपने विचार व्यक्त किए। लेकिन वह जन-नायक नहीं बन सका। ग्लैडस्टन ने कहा है- "राजनीतिज्ञ के रूप में उसके असफल होने का कारण उसके आगे बढ़े हुए विचारों की अपेक्षा उसकी समझ-बूझ एवं व्यवहार की कमियाँ थीं।" लेकिन इस कथन में पूर्ण सच्चाई नहीं है। मिल एक असाधारण, श्रेष्ठ एवं संत कोटि का विचारक था। उसमें बौद्धिक प्रतिभा, आन्दोलनकारी क्षमता, संवेदनशील हृदय, स्नेही प्रव त्ति एवं स्वतन्त्रता के प्रति अथाह प्रेम का सुन्दर समन्वय था। स्वयं ग्लैडस्टन ने स्वीकार किया है- "जब जॉन बोलता था तो मुझे यह अनुभूति होती थी कि मैं एक सन्त की वाणी सुन रहा हूँ।" 1873 में उसकी जीवन-लीला समाप्त हो गई और उसे उसकी पत्नी की कब्र में ही दफना दिया गया।

मिल पर प्रभाव
(Influence on Mill)

जानॅ स्टुअर्ट मिल को प्रभावित करने वाली दो प्रमुख घटनाएँ हैं : प्रथम उसके पिता का अनुशासन तथा दूसरी उसकी पत्नी टेलर का चरित्र। जॉन स्टुअर्ट का पिता एक कठोर अनुशासन वाला व्यक्ति था। अपने अध्ययन कार्य की अधिकता व कठोर नियमों में बँधा होने के कारण मिल को मानसिक अवसाद का सामना करना पड़ा। उसे बेन्थम का सुखवाद निरर्थक प्रतीत हुआ। उसने कहा है- "मैं उन विचारों व परिवर्तनों को मूर्त रूप देने में लगा रहा, जिन्हें यदि क्रियात्मक रूप दे भी दिया जाए तो मुझे महान् आनन्द और सुख कभी प्राप्त नहीं हो सकता।" उसे अनुभव हुआ कि कोरा ज्ञान मानवीय भावनाओं व अनुभूतियों को सन्तुष्ट नहीं कर सकता। इसलिए उसने बेन्थम के उपयोगितावाद को निरर्थक मान लिया। इससे उसके चिन्तन में महान् क्रान्ति आई। उसने कॉलरिज तथा वड्र्सवर्थ की कविताओं की मदद से अपने को मानसिक अवसाद के सागर से बाहर निकाला। इससे उसके अन्दर मानव संवेदनाओं को समझने की महान् क्षमता पैदा हुई। उसने बेन्थम के उपयोगितावादी दर्शन में परिवर्तन करने शुरू कर दिए। उसने स्वयं कहा है- "मैं पीटर हूँ जिसने अपना गुरु नकार दिया है।"

उसके चिन्तन को प्रभावित करने वाली दूसरी घटना उसकी श्रीमती टेलर के साथ प्रगाढ़ मित्रता थी। टेलर के पति की म त्यु के बाद उसने उससे विवाह कर लिया। उसके बाद दोनों ने मिलकर रचनाएँ लिखीं। उसने अपनी पत्नी टेलर के साथ मिलकर 'ऑन लिबर्टी' (On Liberty) नामक ग्रन्थ की रचना की। टेलर के व्यक्तित्व और कुशाग्र बुद्धि से प्रभावित होकर मिल ने 'दि सबजेक्शन ऑफ विमैन' (The Subjection of Women) नामक पुस्तक लिखी।

इस प्रकार बेन्थम के उपयोगितावाद अपने पिता जेम्स मिल द्वारा उपयोगितावाद के विकास का उस पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ा। एडम स्मिथ तथा रिकार्डो जैसे अर्थशास्त्रियों ने भी उसके चिन्तन को प्रभावित किया। उसकी पत्नी टेलर तथा कॉलरिज व वड्र्सवर्थ जैसे कवियों ने भी उसके मानस-पटल पर अमिट छाप छोड़ी।

महत्त्वपूर्ण रचनाएँ
(Important Works)

जॉन स्टुअर्ट मिल एक तर्कशील व बुद्धिमान लेखक था। उसने अपनी प्रतिभा के 'राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, अध्ययनशास्त्र, आचारशास्त्र तथा न्यायशास्त्र आदि विषयों में जौहर दिखाए। उसकी रचनाओं पर उसके पिता जेम्स व बेन्थम का प्रभाव परिलक्षित होता है। उसकी रचनाओं को दो भागों में बाँटा जा सकता है :- (i) उसके जीवनकाल की रचनाएँ (ii) उसकी म त्यु के बाद की रचनाएँ।

प्रथम कोटि की रचनाओं में निम्नलिखित रचनाएँ शामिल हैं:-

1. सिस्टम ऑफ लॉजिक (System of Logic, 1843)
2. दि प्रिंसिपल्स ऑफ पॉलिटिकल इकोनॉमी (The Principles of Political Economy, 1848)
3. ऑन लिबर्टी (On Liberty, 1859)
4. थॉटस ऑन पार्लियामेण्टरी रिफोर्म (Thoughts on Parliamentary Reform 1859)
5. कंसीडरेशन ऑफ रिप्रेजैण्टेटिव गवर्नमेंट (Consideration on Representative Government, 1860)
6. यूटिलिटेरियनिज्म (Utilitarianism, 1863)
7. दि सब्जेक्शन ऑफ विमैन (The Subjection of Women, 1869)

उसके जीवनकाल में ये रचनाएँ ही लिखी गईं। परन्तु उसकी म त्यु के बाद भी उसके शुभचिन्तकों ने उसकी रचनाओं को प्रकाशित करवाया। उसकी म त्यु के बाद (1873 ई॰) की रचनाएँ निम्नलिखित हैं :-

1. **आटोबॉयोग्राफी** (Autobiography, 1873)
2. **एसेज ऑन रिलीजन** (Essays on Religion, 1874)
3. **लैटरस** (Letters, 1910)

मिल की रचनाएँ उसकी बहुमुखी प्रतिभा को साकार करने वाले प्रतिबिम्ब हैं। उसकी रचनाएँ उसके व्यक्तित्व को प्रकट करने वाली तथा जीवन के सत्य पहलुओं पर प्रकाश डालने वाली जीवन गाथाएँ हैं।

अध्ययन की पद्धति
(Method of Study)

जॉन स्टुअर्ट मिल ने अपनी पुस्तक 'सिस्टम ऑफ लॉजिक' (System of Logic) में समाजशास्त्रों के अध्ययन के लिए वैज्ञानिक पद्धति' (Scientific Method) के बारे में चर्चा की हैं उसका कहना था कि समाजशास्त्र की पद्धतियों को भी प्राकृतिक विज्ञानों की पद्धतियों की तरह ही कठोर बनाना चाहिए। उसने अपने अध्ययन में चार तरह की पद्धतियों का वर्णन किया है। उसकी प्रमुख पद्धतियाँ निम्नलिखित हैं :-

ऐतिहासिक पद्धति (Historical Method) में किसी भी वस्तु अथवा विचार के उद्भव और विकास के इतिहास का अध्ययन किया जाता है। मिल का मानना है कि ऐतिहासिक पद्धति आगमनात्मक होती है। वह मानव व समाज को परिवर्तनशील मानकर उसके परिवर्तनों का इस विधि से अध्ययन करना चाहता है। उसका मानना है कि किसी विशिष्ट समय में सामाजिक परिस्थितियाँ ही समाज का स्वरूप निर्धारित करती है। परन्तु कई बार ऐतिहासिक तथ्य और घटनाएँ कालांतर में सामान्यकृत हो जाते हैं। इससे इस विधि की सत्यता व विश्वसनीयता कम हो जाती है।

प्रयोगात्मक पद्धति (Experimental Method) किसी विशिष्ट अनुभव पर आधारित होती है। इसको रासायनिक पद्धति भी कहा जाता है। इसके अन्तर्गत रसायनशास्त्री की तरह समाजशास्त्र के विद्वान् विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों को मिलाकर सामान्य सिद्धान्त के निर्माण के प्रयास करते हैं। मिल की धारणा है कि सामाजिक परिस्थितियाँ सदैव बदलती रहती हैं। किसी एक घटना को दूसरी घटना से जोड़ना तर्कसंगत नहीं हो सकता। इसलिए यह पद्धति भी राजनीतिशास्त्र के अध्ययन के लिए उपयोगी नहीं हो सकती।

ज्यामितीय विधि (Geometric Method) भी पूर्व कतिपय नियमों पर आधारित होती है। नियमों को परिवर्तनशील समाज में लागू करना कठिन कार्य है। इससे समाज की वास्तविक घटनाओं की व्याख्या करना असम्भव होता है। समाजशास्त्र में पूर्व निर्धारित नियमों के अभाव में इसे लागू नहीं किया जा सकता।

निगमनात्मक पद्धति (Deductive Method) में निगमन तथा आगमन दोनों का सम्मिश्रण होता है। इसे भौतिक पद्धति भी कहा जाता है। इस पद्धति में किसी एक या कुछ मौलिक मान्यताओं से नहीं, अपितु अनेक पूर्वकथित तथ्यों से निगमन की प्रक्रिया शुरू की जाती है। प्रत्येक कार्य को कारण का परिणाम मानकर समाज की घटनाओं का अध्ययन किया जाता है। इसमें तथ्यों का निरीक्षण, परीक्षण व परीक्षण से प्राप्त परिणामों का सामान्यीकरण करके सिद्धान्तों की रचना की जाती है। उन सिद्धान्तों को विशेष परिस्थितियों में दोबारा परीक्षण करके निश्चित रूप प्रदान किया जाता है।

इस प्रकार जॉन स्टुअर्ट मिल ने अध्ययन की चार पद्धतियों पर विस्त त चर्चा करके आगमनात्मक (Inductive) तथा निगमनात्मक (Deductive) का मिश्रित रूप स्वीकार किया है। उसने कहा है कि समाजशास्त्रों में रायायनिक व ज्यामितीय विधियों का प्रयोग नहीं हो सकता। उसने अपने अध्ययन में आगमनात्मक तरीके द्वारा उपलब्ध तथ्यों की निगमनात्मक प्रयोग करके ऐतिहासिक व भौतिक पद्धतियों को मिला दिया है। उसकी अध्ययन पद्धति में तीन बातें प्रमुख हैं :-

(i) अनुभव के आधार पर ऐतिहासिक तथ्यों व घटनाओं से सामान्य सिद्धान्त की खोज करना।

(ii) अनुभव द्वारा उपलब्ध तथ्यों का निगमनात्मक प्रयोग करना।

(iii) अनुभव के द्वारा तथ्यों की सत्यता को प्रमाणित करना।

उसके द्वारा आगमनात्मक तथा निगमनात्मक पद्धति को मिलाना विरोधाभास पैदा करता है। इसलिए उसकी अध्ययन पद्धति को आलोचना का भी शिकार होना पड़ा है। लेकिन सेबाइन ने कहा है कि- "सामाजिक विज्ञानों को आगमनात्मक व निगमनात्मक दोनों पद्धतियों की जरूरत है।" इसलिए जॉन स्टुअर्ट मिल की पद्धति को समाजशास्त्री पद्धति भी कहा जाता है। यह पद्धति आगमनात्मक व निगमनात्मक दोनों पद्धतियों को सामंजस्यपूर्ण प्रयोग पर आधारित है।

मिल द्वारा बेन्थम के उपयोगितावाद में किए गए संशोधन
(Mill's Modifications of Bentham's Utilitarianism)

मिल के समय में बेन्थम के उपयोगितावाद की बहुत अधिक आलोचना हो रही थी। आलोचक विद्वानों का आरोप था कि यह कोरे भौतिक एवं ऐन्द्रिय सुख पर आधारित है। कई लेखकों ने इसे सूअर-दर्शन (Pig Philosophy) कहकर आलोचना की है। लेकिन जॉन स्टुअर्ट मिल बेन्थम के सच्चे शिष्य होने के नाते उसकी आलोचनाओं को सहन नहीं कर सकते थे। इसलिए वे इसके बचाव में आगे आए और उपयोगितावाद के ऊपर लगाए गए आरोपों को मुक्त करने के प्रयास शुरू कर दिए। लेकिन मिल ने बेन्थम के उपयोगितावाद का अन्धाधुन्ध अनुसरण करने की बजाय उसे कुछ परिवर्तनों के साथ पेश किया। उसने बेन्थम के भौतिकवाद के स्थान पर नैतिकता, अन्तःकरण और स्वतन्त्रता पर बल दिया। परन्तु बेन्थम के उपयोगितावाद के बचाव व संशोधन में वह इतना आगे निकल गया कि वह अपने वास्तविक मार्ग से लगभग हट सा गया। इसलिए अनेक विद्वानों ने कहा है कि "जो कुछ मिल ने लिखा है, उसका बेन्थम के उपयोगितावाद से कुछ लेना-देना नहीं है। उसने स्वयं भी कहा है कि- "मैं पीटर हूँ जिसने अपना गुरु नकार दिया है।"

उसके द्वारा बेन्थम के उपयोगितावाद में किए गए संशोधन निम्नलिखित हैं :-

1. **सुखमापक गणनाविधि में संशोधन** : मिल का कहना है कि इस विधि से सुख की मात्रा का आकलन निष्पक्ष रूप से नहीं किया जा सकता। सुख को वस्तुगत द ष्टि से नहीं मापा जा सकता। सुख एक आत्मपरक अनुभूति है जिसे सम्बन्धित व्यक्ति ही अनुभव कर सकता है। उसके अनुसार सुख का तात्पर्य केवल इन्द्रिय-सुख ही नहीं, बल्कि मानसिक एवं नैतिक सुख से भी होता है। इस आधार पर मिल ने सुखमापक गणना विधि को मूर्खतापूर्ण बताया है। उसका कहना है कि सुख की गणना दो सुख देने वाली वस्तुओं की प्रगाढ़ता की तुलना करके ही ज्ञात की जा सकती है। इसके लिए समुचित अनुभव का होना आवश्यक है। दोनों वस्तुओं के समुचित अनुभव के बिना सुख का पता नहीं लगाया जा सकता। इस प्रकार सुखमापक गणनाविधि (Felicific Calculus) हास्यास्पद व उपयोगितावाद के दुर्ग में एक दरार है।

2. **सुखों में गुणात्मक अन्तर** : मिल के अनुसार विभिन्न प्रकार के सुखों में अन्तर होता है। मिल ने बेन्थम के मात्रात्मक भेद का खण्डन करते हुए कहा है कि विभिन्न सुखों में गुणात्मक भेद भी होता है। उसका कहना है कि "कुछ सुख मात्रा में कम होने पर भी इसलिए प्राप्त करने योग्य होते हैं कि वे श्रेष्ठ और उत्कृष्ट कोटि के होते हैं।" जिन व्यक्तियों ने उच्चतर तथा निम्नतर दोनों प्रकार के सुखों का अनुभव हो, वे निम्नतर की तुलना में उच्चतर सुख को प्राथमिकता देते हैं। बेन्थम के इस कथन से कि- "यदि सुख की मात्रा समान हो तो पुश्पिन (एक खेल) भी इतना ही श्रेष्ठ है जितना काव्यपाठ" - मिल सहमत नहीं है। इस सन्दर्भ में उसका कहना है कि- "एक सन्तुष्ट सूअर की तुलना में एक असन्तुष्ट मनुष्य होना अच्छा है, एक असन्तुष्ट सुकरात होना एक सन्तुष्ट मूर्ख से अच्छा है और यदि सूअर और मूर्ख उससे सहमत नहीं हैं तो उसका कारण यह है कि वे केवल अपने पक्ष को ही जानते हैं।" इस आधार पर मिल ने सुखों के गुणात्मक अन्तर को स्पष्ट किया है। उसका यह सिद्धान्त अधिक सन्तोषप्रद, सत्य और अनभवानुकूल प्रतीत होता है। इस प्रकार मिल के गुणात्मक अन्तर को स्वीकार करने का तात्पर्य यह होगा कि जीवन का लक्ष्य उपयोगिता न होकर श्रेष्ठतम सुख की प्राप्ति करना होता है।

3. **अन्य व्यक्तियों का सुख** : बेन्थम के अनुसार मनुष्य एक स्वार्थी प्राणी है जो सदैव अपने हित को ही पूरा करने में लगा रहता है। उसमें दूसरों के सुख-दुःख को समझने की योग्यता नहीं है। परन्तु मिल ने बेन्थम के इस विचार का खण्डन करते हुए कहा है कि मनुष्य केवल स्वार्थी ही नहीं, परमार्थी भी होता है। उसमें अपने सुख की इच्छा के साथ-साथ दूसरे के सुख के लिए त्याग करने की माखा भी विद्यमान रहती है। मिल का कहना है- "अपना सुख बिलकुल त्यागकर दूसरों के सुख का ध्यान रखना संसार की वर्तमान अपूर्ण व्यवस्था की दशा में वह सर्वश्रेष्ठ गुण है जो मनुष्य में पाया जाता है।" मिल के अनुसार सुख की प्राप्ति का सीधा प्रयास करना व्यर्थ है। उसका मानना है कि सुख की प्राप्ति तभी सम्भव है

जब इसके लिए सीधा प्रयास न किया जाए। उसके अनुसार वे व्यक्ति सुखी हैं जो स्वयं की तुलना में दूसरों पर अपने विचार केन्द्रित करते हैं। इस तरह मिल ने बेन्थम के उपयोगितावादी दर्शन का खण्डन किया है।

4. **इतिहास व परम्पराओं को महत्त्व** : बेन्थम ने इतिहास व परम्पराओं की घोर उपेक्षा की थी। उसने कहा था कि उसके सर्वव्यापी उपयोगिता के सिद्धान्त पर आधारित सिद्धान्त सार्वदेशिक (Universal) महत्त्व के हैं। उसका कहना था कि उसके द्वारा तैयार किए गए कानून व शासन प्रणालियाँ संसार के किसी भी हिस्से में समान रूप से लागू किए जा सकते हैं। मिल ने बेन्थम की इस धारणा का खण्डन करते हुए कहा कि प्रत्येक देश और जाति का अपना इतिहास व परम्पराएँ अलग होती हैं। इतिहास व परम्परा का विकास उस देश की परिस्थितियों के अनुसार ही होता है। इसलिए प्रत्येक देश की शासन प्रणाली वहाँ की परम्पराओं व इतिहास से घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई है। बेन्थम द्वारा इतिहास व परम्परा का तिरस्कार करना वहाँ की जन-भावनाओं का तिरस्कार करना है। ये उस शासन प्रणाली के शाश्वत मूल्य होते हैं जिनसे शासन प्रणालियाँ स्थायित्व का गुण प्राप्त करती हैं। इससे निष्कर्ष निकलता है कि अलग-अलग देशों में अलग-अलग शासन प्रणालियाँ ही पाई जाती हैं। उसका कहना था कि जिस देश में असमानता अधिक हो वहाँ लोकतन्त्र सफल नहीं हो सकता। उसने इसे भारत के लिए अनुपयुक्त शासन प्रणाली बताया है। इसलिए मिल ने इस संशोधन द्वारा इतिहास व परम्परा के महत्त्व पर प्रकाश डाला है।

5. **राजनीतिक बनाम नैतिक सिद्धान्त** : बेन्थम का विचार था कि राज्य के प्रति व्यक्तियों की निष्ठा स्वार्थपूर्ण कारणों पर आधारित है। राज्य का आदेश मानने के पीछे उनकी कोई नैतिक बाध्यता नहीं है। राज्य अपने नागरिकों का सुख बढ़ाने तथा पीड़ा कम करने के लिए ही अस्तित्व में रहता है। बेन्थम ने इस बात पर बल दिया है कि- "विधि निर्माता एवं शासक वर्ग सामाजिक नीतियों के निर्धारण तथा विधि-निर्माण में सुख के सिद्धान्त का प्रयोग करें।" इसके विपरीत मिल ने बेन्थम के उपयोगितावादी सिद्धान्त में परिवर्तन करते हुए कहा- "मनुष्य के राज्य के प्रति कुछ सार्वजनिक कर्त्तव्य तथा दायित्व होते हैं जिनकी उपयोगितावादी सिद्धान्त के द्वारा व्याख्या करना असम्भव है। व्यक्ति के आन्तरिक मनोवेग जिसे अन्तःकरण कहा जाता है, हमें नैतिक तौर पर राज्य के प्रति बाध्य बना देता है।" मिल ने कहा है कि अन्तःकरण अन्य लोगों के सुख में व द्धि तथा दूसरों के दुःखों का ह्रास चाहता है। मिल ने ईसा मसीह का उदाहरण देकर बेन्थम के उपयोगितावाद को नैतिक आधार पर प्रदान करने का प्रयास किया है। इस प्रकार बेन्थम का 'अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख का सिद्धान्त' मिल के दर्शन में नैतिक आधार में परिवर्तित हो गया है।

6. **व्यक्ति की स्वतन्त्रता को महत्त्व** : मिल ने बेन्थम के स्वतन्त्रता सिद्धान्त में भी संशोधन किया है। बेन्थम ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता की तुलना में व्यक्ति के सुख को प्राथमिकता दी है। उसके अनुसार मनुष्य परतन्त्र होकर भी सुख को प्राप्त कर सकता है। परन्तु मिल ने स्वतन्त्रता को विशेष महत्त्व देते हुए इसे उपयोगिता के सिद्धान्त की अग्रगामिनी माना है। मिल के अनुसार स्वतन्त्रता का अपना विशेष महत्त्व है और यह स्वयं एक साध्य है। उपयोगिता की प्राप्ति के लिए यह साधन नहीं हो सकती। बेन्थम के विपरीत मिल ने स्वतन्त्रता के नैतिक महत्त्व को स्वीकार किया है। उसका कहना है कि इससे व्यक्ति का आत्मिक विकास होता है। मिल ने स्वतन्त्रता को व्यक्तिगत अधिकार के रूप में स्वीकार किया है। मिल के अनुसार स्वतन्त्रता उपयोगिता से बड़ी साध्य है।

7. **मनुष्य के जीवन व राज्य का लक्ष्य** : बेन्थम के अनुसार जीवन का अन्तिम लक्ष्य उपयोगिता है। उसके अनुसार मनुष्य का चरम लक्ष्य आत्मानुभूति न होकर सुख की प्राप्ति एवं दुःख का निवारण है। इसके विपरीत मिल के अनुसार जीवन का लक्ष्य अपने व्यक्तित्व को उत्कृष्ट बनाना है। उसका कहना है कि व्यक्ति को वही कार्य करना चाहिए जो उसके व्यक्तित्व को उत्कृष्ट बनाता हो। उसने अच्छे जीवन को सुखमय जीवन से श्रेष्ठ माना है। उसके अनुसार नैतिकता सुख से महान् है। उसने बेन्थम के उपयोगितावादी दर्शन में नैतिक सिद्धान्तों का समावेश करके महान् परिवर्तन ला दिया है। उसके अनुसार राष्ज्य का उद्देश्य सुख की व द्धि करना न होकर व्यक्तियों के सद्गुणों का विकास करना है।

8. **राज्य का आधार व कार्य** : बेन्थम ने राज्य को व्यक्तिगत हित पर आधारित माना है। उसका मानना है कि राज्य की उत्पत्ति व्यक्तिगत हितों को पूरा करने के लिए होती है। लेकिन मिल ने राज्य को व्यक्तिगत हित की बजाय व्यक्ति की इच्छा पर आधारित माना है। उसके अनुसार इच्छा संख्या का नहीं बल्कि गुण का प्रतीक है। जो इच्छा राजनीतिक संस्थाओं का निर्माण करती है, वही आगे चलकर विश्वास का रूप लेती है। इसलिए जिस व्यक्ति का अपना विश्वास

होता है, वह सामाजिक शक्ति में उन सैंकड़ों व्यक्तियों के बराबर होता है, जिनकी भावना व्यक्तिगत हित से लदी होती है। मिल ने कहा है कि व्यक्ति की इच्छा और उसके व्यक्तित्व के अभाव में राज्य पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिए व्यक्तिगत हित की अपेक्षा व्यक्ति की इच्छा ही राज्य का आधार होती है। इसी प्रकार बेन्थम के अनुसार राज्य के कार्य निषेधात्मक हैं जबकि मिल के अनुसार राज्य व्यक्ति के विकास मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करता है तथा उसके जीवन को सुखमय बनाता है। बेन्थम का राज्य केवल अधिकतम सुख पाने में व्यक्तियों के रास्ते में आने वाली रुकावटों को ही दूर कर सकता था। लेकिन मिल ने चाहा है कि राज्य के कार्य सकारात्मक होने चाहिएं जो सार्वजनिक कल्याण के लिए जरूरी हैं। इस प्रकार मिल ने बेन्थम के राज्य के नकारात्मक कार्यों को सकारात्मक कार्यों में बदल दिया।

9. **आर्थिक क्षेत्र में राज्य-हस्तक्षेप का समर्थन** : बेन्थम ने व्यक्तियों को अधिकतम सुख प्राप्त करने के लिए उनको अधिक आर्थिक स्वतन्त्रता प्रदान करने का समर्थन किया है। उसका मानना है कि इससे व्यक्ति की प्रसन्नता में व द्धि होगी और इसके परिणामस्वरूप सामाजिक प्रसन्नता में भी आनुपातिक व द्धि होगी। इस प्रकार बेन्थम ने अहस्तक्षेप की नीति समर्थन किया है। इसके विपरीत मिल का मानना है कि इससे सार्वजनिक कल्याण का मार्ग अवरुद्ध होता है। कारखानों तथा भूसम्पत्ति पर अमीर लोगों के एकाधिकार से बहुसंख्यकों के सर्वांगीण विकास में बाधा पहुँचती है। इसलिए व्यक्ति का आर्थिक क्षेत्र में एकाधिकार शोषण की प्रव त्ति को बढ़ावा देता है। इसलिए समाज में आर्थिक असमानता पाई जाती है। ऐसे समाज में राज्य का यह कर्त्तव्य बनता है कि वह सार्वजनिक कल्याण के लिए आर्थिक असमानता के दोषों को दूर करने के लिए कानून बनाए। इस प्रकार मिल के आर्थिक क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप का पूर्ण समर्थन किया है।
10. **समाज को महत्त्व** : बेन्थम के अनुसार समाज एक कृत्रिम संस्था है। मिल के अनुसार समाज एक स्वाभाविक संस्था है। उसका विश्वास है कि स्वस्थ सामाजिक वातावरण में ही व्यक्तियों का सार्वजनिक कल्याण सम्भव है। उसके अनुसार नैतिकता का सामाजिक उद्देश्य होता है। इसी प्रकार समाज का भी आध्यात्मिक तथ्य होता है और वह है - समाज के समस्त लोगों का आध्यात्मिक कल्याण। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को सार्वजनिक सुख की कामना व उसकी प्राप्ति का प्रयास करना चाहिए।
11. **मतदान प्रणाली** : बेन्थम ने गुप्त मतदान प्रणाली का समर्थन किया है, जबकि मिल ने खुले मतदान का समर्थन किया है।
12. **मताधिकार** : बेन्थम ने सबको मताधिकार प्रदान करने की बात कही है। लेकिन मिल ने इसका खण्डन करते हुए शिक्षित, ज्ञानी, उत्तरदायी व बुद्धिमान लोगों को ही मताधिकार प्राप्त करने की बात कही है। उसका कहना है कि मतादाता इतना विवेकशील तो अवश्य होना चाहिए जो उचित व अनुचित में स्पष्ट भेद कर सके।
13. **स्त्री-मताधिकार** : बेन्थम ने इसका कहीं उल्लेख नहीं किया है, जबकि मिल ने स्त्री-मताधिकार का जोरदार समर्थन किया है।
14. **प्रजातन्त्र पर विचार** : बेन्थम ने प्रजातन्त्र को हर परिस्थिति में उपयुक्त माना है, जबकि मिल ने इसे केवल उस समाज में ही सफल माना है, जहाँ के व्यक्तियों का चरित्र उत्कृष्ट हो। उसने भिन्न-भिन्न समाजों के लिए अलग-अलग शासन प्रणालियों का समर्थन किया है।

इस प्रकार निष्कर्ष तौर पर कहा जा सकता है कि मिल ने बेन्थम के उपयोगितावाद में महत्त्वपूर्ण संशोधन किए हैं। लेकिन वह उपयोगितावाद की रक्षा करते समय इतनी दूर चला गया कि इससे बेन्थम का उपयोगितावाद ही लुप्त हो गया। उसने स्वयं को उपयोगितावाद का व्याख्याता बताकर किसी नवीन सिद्धान्त का संस्थापक होने के पद से वंचित कर लिया। इसलिए सेबाइन ने कहा है कि- “मिल की सामान्य स्थिति यह है कि उसने पुराने उपयोगितावादी सिद्धान्त का एक अत्यन्त अमूर्त वर्णन किया परन्तु सिद्धान्त को ऐसे समय शुरू किया कि अन्त में पुराना सिद्धान्त तो समाप्त हो गया, किन्तु उसके स्थान पर किसी नवीन सिद्धान्त की स्थापना नहीं हुई।” इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मिल द्वारा बेन्थम के उपयोगितावाद में किए गए परिवर्तनों से जो नया सिद्धान्त उभरा है, वह उपयोगितावाद के स्थान पर एक अन्तर्वर्ती (Transitional) दर्शन है। उसके प्रयासों से इसमें उपयोगितावाद का अंश नाममात्र ही रह गया है। इसलिए मिल को अनेक आलोचनाओं का शिकार होना पड़ा है।

आलोचनाएँ
(Criticisms)

बेन्थम के उपयोगितावाद में मिल द्वारा किए गए परिवर्तनों के कारण उसकी निम्न आधारों पर आलोचना हुई है :-

1. मिल ने सुख के गुणात्मक पहलू पर जोर दिया है, लेकिन वह यह भूल जाता है कि सुख को मात्रा व गुण को मापा नहीं जा सकता। इसलिए उसकी सुखमापक गणना विधि (Felicific Calculus) सही नहीं है। यह केवल एक भ्रमजाल व मिथ्या प्रयास है।
2. मिल का स्वतन्त्रता का सिद्धान्त भी दोषपूर्ण है। वह अधिकारों की कोई बात नहीं करता। इसलिए समानता और अधिकारों के अभाव में उसका स्वतन्त्रता का विचार दोषपूर्ण है। उसकी इस धारणा के कारण उसे 'खोखली स्वतन्त्रता का पैगम्बर' कहा जाता है।
3. मिल ने सीमित मताधिकार का समर्थन करके लोकतन्त्र की आधारशिला पर ही प्रहार किया है। वह प्रजातन्त्र का समर्थक होने के बावजूद भी धनी व शिक्षित लोगों के लिए ही मताधिकार की बात करता है। यह प्रजातन्त्रीय भावनाओं के खिलाफ है।
4. उसका सुखवादी द ष्टिकोण अतार्किक है। वह कहता है कि व्यक्तिगत कल्याण सार्वजनिक कल्याण में व द्धि करता है। उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का सुख मनुष्य के अपने लिए श्रेष्ठ है, इसलिए सार्वजनिक सुख भी समाज के सभी व्यक्तियों के लिए श्रेष्ठ है। लेकिन वह यह सिद्ध नहीं कर सका कि सार्वजनिक कल्याण से व्यक्तिगत कल्याण की भी व द्धि होती है।
5. मिल का राज्य द्वारा हस्तक्षेप का सिद्धान्त संदिग्ध व अस्पष्ट है। उसने अहस्तक्षेप के सिद्धान्त पर आधारित बेन्थम के राज्य की निन्दा तो की है परन्तु यह स्पष्ट करने में असफल रह गया है कि अहस्तक्षेप की नीति का त्याग करने पर राज्य में संघों की भूमिका अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है। इसलिए वह संघों के रचनात्मक महत्त्व पर कुछ भी कहने में असफल रहा है।
6. आलोचकों का कहना है कि मिल के उपयोगितावादी दर्शन में मौलिकता का गुण नहीं है। उनका कहना है कि मिल ने बेन्थम के ही सिद्धान्तों को तोड़-मरोड़कर पेश किया है। इसमें नया कुछ भी नहीं है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि मिल के दर्शन में सामंजस्य तथा तार्किक संगति का पूर्ण अभाव है। इसमें मौलिकता का गुण भी नहीं है। यह सिद्धान्त विवादग्रस्त, असंगत, अस्पष्ट व भ्रान्त है। इसका कोई व्यावहारिक महत्त्व भी नहीं है। फिर भी मिल का महत्त्व इस बात में है कि उसने बेन्थम के उपयोगितावाद को और अधिक उदार और मानवीय बनाया है। उसने बेन्थम के उपयोगितावाद की अपर्याप्तता व उसकी अपूर्णता को दूर करने का प्रयास किया है। अनेक आलोचनाओं के बावजूद हमें यह मानना ही पड़ेगा कि सभी उपयोगितावादियों में मिल का ही सिद्धान्त सबसे अधिक बोधगम्य, स्वीकार्य और सन्तोषजनक है। उसने बेन्थम के उपयोगितावाद को आधुनिक बनाने का सफल प्रयास किया है। इसलिए उनका उपयोगितावादी दर्शन राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में एक महत्त्ववपूर्ण स्थान रखता है।

स्वतन्त्रता का सिद्धान्त
(Theory of Liberty)

जॉन स्टुअर्ट मिल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार उनके राजनीतिक चिन्तन को एक महत्त्वपूर्ण व अमूल्य देन है। मिल द्वारा लिखा गया ग्रन्थ 'आन लिबर्टी' (On L:iberty) उसके स्वतन्त्रता विषयक विचारों का विस्त त लेखा है। इस पुस्तक में उसने स्वतन्त्रता के स्वरूप एवं महत्त्व पर व्यापक रूप में चर्चा की है। उसकी इस पुस्तक की तुलना मिल्टन की 'एरोपेजिटिका' (Aeropagitiaca) से की जाती है। इस पुस्तक में स्वतन्त्रता के मूल्यों को सर्वसमर्थित मिल की भावना के कारण उसे स्वतन्त्रता के उपासकों की श्रेणी में अभूतपूर्व स्थान प्राप्त हुआ है। इस पुस्तक में धारा-प्रवाह भाषा और तार्किक शैली का भरपूर प्रयोग हुआ है। यह पुस्तक सभी तरह के निरंकुशवाद के विरुद्ध एक मुखर आवाज है। इसलिए इस पुस्तक को एक सर्वश्रेष्ठ रचना माना जाता है और मिल को एक सर्वश्रेष्ठ राजनीतिक चिन्तक।

स्वतन्त्रता पर निबन्ध लिखने की प्रेरणा

इस रचना के प्रतिपादन के पीछे मिल के प्रमुख प्रेरणा-स्त्रोत - व्यक्तिगत अनुभव एवं समकालीन राजनीतिक वातावरण हैं। मिल का विश्वास था कि स्वतन्त्रता के द्वारा ही व्यक्ति के मस्तिष्क और आत्मा का विकास हो सकता है। इससे ही सामाजिक कल्याण में व द्धि हो सकती है। सामाजिक प्रगति व्यक्ति की मौलिक रचनात्मक प्रतिभा पर निर्भर करती है। उसने देखा कि इंगलैण्ड की आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियाँ तेजी से बदल रही थीं। राजय के कार्यक्षेत्र का विस्तार हो रहा था। बेन्थमवाद से उत्प्रेरित राज्य प्रजा पर अपना कानूनी शिकंजा कसता जा रहा था। व्यक्ति की स्वतन्त्रता कम हो रही थी। विधि-निर्माता संसद जीवन के किसी भी क्षेत्र में कानून बना सकता था। संसद ही सर्वोच्च थी। उसे भय था कि बहुमत का प्रतीक संसद अल्पसंख्यकों का शोषण करेंगे। उन पर जनमत का कानून थोपा जाएगा। इसलिए मिल ने बेन्थम के उपयोगितावाद के स्थान पर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता (Individual Freedom) का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उसने अपनी रचना 'Essay on Liberty' में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की पूरी व्याख्या प्रस्तुत की।

स्वतन्त्रता की परिभाषा
(Definition of Liberty)

मिल ने अपने स्वतन्त्रता-सिद्धान्त में इसको दो प्रकार से परिभाषित किया है। प्रथम परिभाषा के अनुसार व्यक्ति अपने मन व शरीर का अकेला स्वामी है अर्थात् 'व्यक्ति की स्वयं पर प्रभुता' है। इस परिभाषा के अनुसार व्यक्ति के कार्यों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए। मिल ने कहा है- "अपने आप पर, अपने कार्यों पर तथा अपने विचारों पर व्यक्ति अपना स्वयं सम्प्रभु है।" मिल का कहना है कि व्यक्ति का सर्वांगीण विकास स्वतन्त्र वातावरण में ही सम्भव है। उसके अनुसार यदि किसी व्यक्ति का कार्य दूसरों के लिए हानिकर नहीं है तो उस पर प्रतिबन्ध लगाना न्यायसंगत नहीं है। यह परिभाषा व्यक्ति के आत्मपरक कार्यों के सम्बन्ध में पूरी स्वतन्त्रता प्रदान करने के पक्ष में है। यह परिभाषा उपयोगिता के स्थान पर आत्म विकास पर जोर देती है।

दूसरी परिभाषा के अनुसार व्यक्ति उन कार्यों को नहीं कर सकता जिनसे दूसरों के हित को हानि पहुँचती हो। मिल का कहना है कि - "व्यक्ति को उस कार्य को करने की स्वतन्त्रता है जिसको वह करना चाहता है किन्तु वह नदी में डूबने की स्वतन्त्रता नहीं रख सकता।" व्यक्ति केवल वही कार्य कर सकता है जिससे दूसरों पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता हो। इस परिभाषा के अनुसार व्यक्ति को सकारात्मक कार्य करने के अधिकार प्राप्त हैं। यदि व्यक्ति कोई अनुचित कार्य करता है तो समाज या राज्य को उसे रोकने का अधिकार है। यह परिभाषा अन्यपरक कार्यों से सम्बन्धित है। इस प्रकार मिल का स्वतन्त्रता से तात्पर्य करने योग्य कार्यों से है तथा न करने योग्य कार्यों पर रोक से है।

स्वतन्त्रता के दार्शनिक आधार
(Philosophical Basis of Liberty)

मिल ने अपने स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का समर्थन दो प्रकार के दार्शनिक आधारों पर किया है। पहला व्यक्ति ही द ष्टि से है तथा दूसरा समाज की द ष्टि से। मिल का मानना है कि व्यक्ति का उद्देश्य अपने व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विकास है जो कि स्वतन्त्र वातावरण में ही सम्भव हो सकता है। यदि व्यक्ति को स्वतन्त्रता प्रदान न की जाए तो उसके जीवन का मूल उद्देश्य ही नष्ट हो जाएगा। इसलिए व्यक्ति के व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के लिए स्वतन्त्रता का होना बहुत जरूरी है। दूसरे दार्शनिक आधार के समर्थन में मिल ने कहा है कि मानव समाज की प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि सभी व्यक्तियों को विकास के अवसर प्रदान किए जाएँ ताकि वे अपना सर्वांगीण विकास कर सकें। मिल का मानना है कि समाज का विकास विशेष व्यक्तियों के कारण होता है। ये व्यक्ति कला, विज्ञान साहित्य आदि क्षेत्रों में नवीनता लाने का सतत प्रयास करते रहते हैं। परन्तु समाज में रूढ़िवादियों की संख्या अधिक होने के कारण परिवर्तन में बाधा पहुँचती है। इससे समाज के उत्थान का मार्ग अवरुद्ध होता है। रूढ़िवादी व्यक्ति ही परम्परागत विचारों और जीवन-पद्धतियों को उत्कृष्ट व आदर्श मानते हैं, नवीन विचारों व प्रव त्तियों का विरोध करते हैं। वे नवीन विचारधाराओं के प्रवर्तकों को सनकी समझते हैं और उनका मजाक उड़ाते हैं। लेकिन मिल का मानना है कि समाज की प्रगति इन्हीं पागल, सनकी व दीवाने व्यक्तियों के कारण होती है। जेम्सवाट, जार्ज स्टीवन्सन, कार्लमार्क्स, लेनिन आदि सनकी व्यक्ति ही थे जिन्होंने रूढ़िवादी विचारों का खण्डन किया। रूढ़िवादी समाज ऐसे व्यक्तियों का दमन करता है। इससे समाज के विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। इसलिए समाज के निर्बाध विकास और उन्नति के लिए इन नवीन विचारकों को अपने विकास के समुचित अवसर दिए जाएं। इस प्रकार मिल ने व्यक्ति व समाज के विकास के लिए स्वतन्त्रता को आवश्यक माना है।

स्वतन्त्रता के प्रकार
(Types of Liberty)

मिल के अनुसार स्वतन्त्रता के दो प्रकार हैं :-(i) विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता (Freedom of Thought and Expression) (ii) कार्यों की स्वतन्त्रता (Freedom of Action)

विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता
(Freedom of Thought and Expression)

मिल का मानना है कि व्यक्ति को विचार व अभिव्यक्ति की पूरी स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए ताकि व्यक्ति और समाज दोनों का सम्पूर्ण विकास हो सके। समाज में परिवर्तन का आधार स्वतन्त्र विचार एवं स्वतन्त्र अभिव्यक्ति ही होते हैं। इनके अभाव में समाज की प्रगति रुक जाती है। समाज की प्रगति के लिए वह सनकी व्यक्तियों की भी पूरी स्वतन्त्रता देने का पक्षधर है। लेकिन उसने मानसिक रूप से विकलांग, पिछड़ी जातियों व बच्चों को स्वतन्त्रता देने का विरोध किया है, क्योंकि इन पर दूसरों के विवेक का प्रभुत्व रहता है। उसका कहना है कि यदि स्वतन्त्र विचार उत्पन्न न हो तो समाज शीघ्र ही अपरिवर्तनशील व रूढ़िवादी हो जाता है। उसके अनुसार किसी व्यक्ति के विचारों पर प्रतिबन्ध लगाने का अधिकार न तो समाज को है और न ही किसी व्यक्ति को। ऐसा प्रतिबन्ध व्यक्ति और समाज दोनों के लिए अहितकर है। मिल ने कहा है- "यदि एक व्यक्ति को छोड़कर सारी मानव जाति का मत एक हो तो भी मानव जाति को उस एक व्यक्ति को बलपूर्वक चुप करने का कोई अधिकार नहीं है। जैसे यदि उस एक व्यक्ति के पास शक्ति होती है, तो उसे मानव जाति को चुप कराने का अधिकार नहीं होता।" मिल ने अपने विचार के पक्ष में अनेक तर्क प्रस्तुत किए हैं।

विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के पक्ष में तर्क
(Arguments in favour of freedom of Thought and Expression) :

1. मिल का विश्वास है कि प्रत्येक समाज की कुछ धारणाएँ व परम्पराएँ होती हैं। उनका एकमात्र आधार समाज का विश्वास होता है। व्यक्ति को ऐसे विश्वास पर आधारित परम्पराओं व धारणाओं के प्रति उन्मुक्त विचार प्रकट करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। यदि उसे स्वतन्त्रता से वंचित किया जाएगा तो नई विचारधारा का प्रचार नहीं होगा। ऐसा न होना समाज के लिए घातक होता है। अक्सर यह सम्भव हो सकता है कि प्राचीन विचारधारा की जगह नवीन विचारधारा सत्य हो। मिल ने कहा है कि- "यदि केवल एक व्यक्ति को छोड़कर समूची मानव-जाति एक विचार को मानने वाली हो तो भी मानव जाति के लिए यह न्यायसंगत नहीं है कि वह विरोधी मत रखने वाले व्यक्ति का दमन करे या वह एक व्यक्ति शक्ति सम्पन्न होने पर मानव-जाति के विचार का दमन करे।" मिल के इतिहास को साक्षी बनाकर सुकरात और ईसा के ऐतिहासिक द ष्टान्तों के द्वारा इस बात को सत्य सिद्ध करने का प्रयास किया है कि इन दोनों की उपेक्षा करके तत्कालीन समाज ने नवीन सत्यों का दमन किया है। मिल ने कहा है- "मानव जाति को बार-बार यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि किसी जमाने में यूनान में सुकरात नाम का एक व्यक्ति था जिसके विचारों तथा तत्कालीन समाज के प्रचलित कानूनों के मध्य एक संघर्ष हुआ था। उसके विरोधी किन्तु सत्य विचारों के बावजूद भी उसे ही म त्युदण्ड दिया था।" इसी तरह ईसा मसीह का उदाहरण देते हुए वह कहता है- "मानव जाति को बार-बार यह याद दिलाने की आवश्यकता नहीं है कि येरूशलम से जीसस क्राइस्ट को समाज ने सूली पर चढ़ा दिया था, क्योंकि वह समाज द्वारा मान्य विचारों के प्रतिकूल विचार व्यक्त करता था। परन्तु इतिहास साक्षी है कि उसके विचार समाज के विचारों की तुलना में अधिक अच्छे थे।" इसलिए सत्य का रूप निखारने के लिए उसका दमन करना न्यायसंगत नहीं है। यदि ईसा और सुकरात का दमन न किया जाता तो समाज को आधुनिक बनाने वाली परिस्थितियाँ पहले ही उत्पन्न हो जातीं। इसलिए यदि सामाजिक प्रगति की इच्छा रखनी है तो सत्य को पुष्ट करने के लिए विचारों एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता प्रदान करनी चाहिए, उसका दमन समाज की प्रगति रोकता है।

2. **सत्य के दमन का भ्रम** : विचारों की स्वतन्त्रता न देने का एक दुष्परिणाम सत्य का दमन है। इसका अर्थ समाज की उपयोगिता का दमन करना है। जब हम कानूनी दण्डविधान द्वारा या सार्वजनिक निन्दा द्वारा किसी के विचार को दबाते हैं तो यह सम्भव है कि हम सत्य का दमन कर रहे हैं। मिल का कहना है कि यह विचार भ्रान्तिपूर्ण है कि जिस बात को बहुमत मानता हो वह सत्य हो। उसने गैलिलियो के विचार का उदाहरण दिया है। गैलिलियो के विचार में प थ्वी सूर्य

के चारों ओर घूमती है। लेकिन तत्कालीन समाज के अधिकांश व्यक्तियों के मत में सूर्य प थ्वी के चारों ओर घूमता है। इस विषय में समाज द्वारा प्रचलित नियम व मान्यताएँ असत्य हो सकते हैं। इन विचारों के स्थान पर सत्य को स्थापन करने वाले व्यक्तियों के विचारों के प्रयत्नों को महत्त्व न देना समाज की प्रगति को रोकता है। इसलिए इन सत्य विचारों को पूरा महत्त्व प्रदान करना चाहिए।

3. **परस्पर विरोधी विचारों की अभिव्यक्ति** : सत्य को समुचित रूप में स्पष्ट करने के लिए विचार की स्वाधीनता आवश्यक है। वाद-विवाद से सत्य का स्वरूप निखरता है। यह स्वाभाविक ही है कि एक ही समय एक विषय पर अनेक मत होते हैं जो परस्पर विरोधी हो सकते हैं। हर मत के समर्थकों की द ष्टि में उनका अपना मत सम्पूर्ण सत्य और दूसरों का मत अर्द्ध सत्य या असत्य होता है। विरोधी विचारों का उत्तर देने के लिए उसे तर्क पर कसना आवश्यक हो जाता है। इससे सत्य का ज्ञान प्राप्त होता है। अन्धविश्वास समाज की प्रगति के लिए घातक होते हैं। अतः स्वतन्त्र विचार तथा तर्क द्वारा सत्य को सुद ढ़ बनाया जा सकता है। मिल का विश्वास है कि वही विचार सत्य का रूप धारण करता है जो तर्क रूपी संघर्ष में विजय प्राप्त करता है। अतः राज्य को विचार और भाषण की स्वतन्त्रता देनी चाहिए।

4. **सत्य के विभिन्न पहलू होते हैं** : मिल का मानना है कि सत्य किसी एक व्यक्ति की धरोहर नहीं है। सत्य का रूप विराट है और उसके अनेक पहलू हैं। सत्य की खोज में मनुष्य की स्थिति अन्धों जैसी होती है। हम सत्य के समग्र रूप का दर्शन नहीं कर सकते, किन्तु अपने अनुभव के आधार पर आंशिक रूप को ही पूर्ण समझने का आग्रह करते हैं। अतः सत्य के वास्तविक रूप को समझने के लिए उसे जितने अधिक द ष्टिकोणों से देखने की व्यक्तियों को स्वतन्त्रता प्रदान की जाएगी, हम उतना ही सत्य को अधिक अच्छे रूप में समझने में समर्थ होंगे। ये विभिन्न द ष्टिकोण एक-दूसरे के विरोधी न होकर पूरक ही हैं। इनको समझनेके लिए व्यक्ति को विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता प्रदान करनी चाहिए।

5. **विचारों की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध हानिकारक होता है** : मिल का मानना है कि सत्य की खोज एक निरन्तर प्रक्रिया है। विचारों की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध से न केवल इस खोज में विघ्न पड़ता है, अपितु इस पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। इससे व्यक्ति का बौद्धिक, मानसिक एवं चारित्रिक विकास का मार्ग अवरुद्ध होता है। विचारों की स्वतन्त्रता से समाज की प्रगति तथा व्यक्ति के नैतिक चरित्र का विकास होता है। इसलिए विचारों की स्वतन्त्रता व्यक्ति और समाज दोनों के लिए लाभदायक है।

इस प्रकार उपर्युक्त तर्कों के आधार पर मिल ने विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर किसी भी प्रकार के प्रतिबन्ध का खण्डन किया है। उसने विचारों की स्वतन्त्रता को मानव जाति की प्रगति का आधार बताया है।

कार्यों की स्वतन्त्रता

मिल का कहना है कि विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता तभी सार्थक है जब व्यक्ति को कार्य करने की स्वतन्त्रता प्रदान की जाए। स्वतन्त्र कार्य के अभाव में स्वतन्त्र चिन्तन की तुलना ऐसे पक्षी से की जा सकती है जो उड़ना तो चाहता है लेकिन उसके पर कुतर दिये गये हों। मिल का मानना है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास तभी सम्भव है जब व्यक्ति को कार्यों की स्वतन्त्रता प्राप्त हो। कार्यों की स्वतन्त्रता सामाजिक जीवन की प्रगति के लिए उतनी ही आवश्यक है जितनी व्यक्तिगत जीवन के लिए। मिल का कहना है- "सम्पूर्ण मानव जाति के विकास के लिए जिस प्रकार विचारों की स्वतन्त्रता लाभदायक है; उसी प्रकार जब तक दूसरों को हानि नहीं पहुँचती हो तब तक विभिन्न व्यक्तियों को विभिन्न रूपों से कार्य करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए जिससे वे अपने चरित्रों का विकास विभिन्न रूपों से कर सकें।"

कार्यों की स्वतन्त्रता के सन्दर्भ में मिल ने कार्यों को दो भागों में बाँटा है :- (i) स्व-विषयक कार्य (Self-ragarding Action)

(ii) पर-विषयक कार्य (Other-regarding Action)

मिल का कहना है कि ऐसे कार्य जिनका प्रभाव करने वाले पर ही पड़ता है, दूसरों पर नहीं पड़ता, स्वविवेक के अन्तर्गत आते हैं। खाना, पीना, सोना, नहाना आदि स्व-विषयक कार्य हैं। शराब पीना व जुआ खेलना भी इस श्रेणी में आते हैं।

ऐसे कार्य जो दूसरे व्यक्तियों पर अपना प्रभाव डालते हैं, पर-विषयक कार्यों के अन्तर्गत आते हैं। इन्हें सामाजिक कार्य भी कहा जाता है। चोरी करना, शोर मचाना, सार्वजनिक सम्पत्ति को नुकसान पहुँचाना, शान्ति भंग करना आदि कार्य इस श्रेणी में आते हैं।

मिल का कहना है कि आत्म-विषयक या स्व-कार्यों के सम्बन्ध में व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए। इसमें राज्य का हस्तक्षेप ठीक नहीं है। उसने कहा है कि व्यक्ति का आहार, वेशभूषा, रहन-सहन समाज में प्रचलित पद्धति से भिन्न हो तो भी उसको पूर्ण स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। परन्तु यदि उसके कार्यों से समाज को हानि पहुँचती हो तो उस पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है। यदि एक व्यक्ति शराब पीकर झगड़ा करता है तो उस पर प्रतिबन्ध लगाना चाहिए। मिल का कहना है कि "किसी व्यक्ति को अपने आपको दूसरों के लिए दुःखदायी नहीं बनाना चाहिए।" मिल ने कार्य करने के क्षेत्र में व्यक्ति को अधिक से अधिक स्वतन्त्रता प्रदान करने का समर्थन किया है।

कार्यों की स्वतन्त्रता के पक्ष में तर्क

मिल ने कार्य की स्वतन्त्रता का समर्थन तीन तर्कों के आधार पर किया है :-

1. मिल ने वैयक्तिक अनुभव द्वारा चरित्र निर्माण और व्यक्तित्व के विकास की बात स्वीकार की है। उसने एक शराबी का उदाहरण देकर स्पष्ट किया है कि एक शराबी शराब पीना दो तरीकों से छोड़ सकता है। प्रथम यदि सरकार शराबबन्दी कानून बनाकर लागू कर दे। दूसरा वह स्वयं समझ जाए कि इससे उसका व उसके परिवार का अहित हो रहा है। इनमें से उसका अनुभव पर आधारित शराब छोड़ने का निर्णय ही अधिक उत्कृष्ट है। जब व्यक्ति आत्मसंघर्ष द्वारा बुराई का त्याग करता है तो उससे उसके चरित्र का निर्माण होता है। इसलिए व्यक्ति को अन्य नागरिकों को हानि न पहुँचाने वाले कार्यों को करने की अधिक से अधिक स्वतन्त्रता होनी चाहिए।
2. मिल ने मनुष्यों को सामाजिक रीति-रिवाजों और परम्पराओं से मुक्त करने का समर्थन इसलिए किया है कि वे सामाजिक विकास में बाधा डालते हैं। इसलिए व्यक्तित्व के विकास के लिए राज्य द्वारा व्यक्ति को कार्यों की पूरी स्वतन्त्रता प्रदान करनी चाहिए।
3. व्यक्तियों को पूर्ण स्वतन्त्रता देने का एक प्रबल तर्क नवीनता और आविष्कार का है। मिल का कहना है कि जनता प्रायः लकीर की फकीर होती है। समाज का विकास नवीन आविष्कारों के कारण होता है। इसलिए व्यक्तियों को नवीन परीक्षण करने की पूर्ण स्वतन्त्रता देनी चाहिए। समाज की उन्नति स्वतन्त्रतापूर्ण वातावरण में ही सम्भव है।

स्वतन्त्रता पर सीमाएँ

(Limitations on Freedom)

मिल ने इस बात को स्वीकार किया है कि विशेष परिस्थितियों में व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सीमित किया जा सकता है। मिल के अनुसार ये परिस्थितियाँ निम्नलिखित हो सकती हैं :-

1. **स्वतन्त्रता का दुरुपयोग** : यदि किसी व्यक्ति की स्वतन्त्रता से दूसरे व्यक्ति की स्वतन्त्रता को कोई हानि पहुँचने की सम्भावना हो तो इस पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है। यदि कोई व्यक्ति चोरी करता है तो उसे इस कार्य से रोका जा सकता है, क्योंकि इससे दूसरे को हानि होती है और चोरी करने वाले का स्वयं का भी नैतिक पतन होता है। इसी तरह यदि मदिरा पीकर कोई व्यक्ति दंगा करता है तो उस पर प्रतिबन्ध लगाना उचित है। अतः राज्य को सामाजिक प्रगति की द ष्टि से अहितकर कार्यों में ही हस्तक्षेप करना चाहिए।
2. **राज्य व समाज की सुरक्षा** : जब राज्य व समाज की सुरक्षा को कोई खतरा हो तो व्यक्ति की स्वतन्त्रता का कुछ अंश प्रतिबन्धित किया जा सकता है। राज्य पर आक्रमण के समय सभी नागरिकों से अनिवार्य सैनिक सेवा की व्यवस्था की माँग की जा सकती है। यदि किसी नगर में चोरी का भय हो तो राज्य नागरिकों को पहरा देने के लिए कह सकता है, किन्तु ऐसे प्रतिबन्ध विशेष परिस्थितियों में ही लगाए जाने चाहिएं।
3. **कर्त्तव्यपालन से विमुखता** : यदि कोई व्यक्ति अपने कर्त्तव्य के प्रति विमुख हो जाए तो उसकी स्वतन्त्रता पर रोक लगाई जा सकती है। यदि कोई पुलिस कर्मचारी अपनी ड्यूटी के समय पर मदिरापान करके जनता को परेशान करता है तो राज्य उसके इस स्व-कार्य पर पर-कार्य समझकर प्रतिबन्ध लगा सकता है, क्योंकि इससे शान्ति भंग होती है। इसलिए कोई व्यक्ति स्व-कार्य की आड़ में दूसरों के हित में बाधा नहीं पहुँचा सकता।
4. **स्व-अहित की द ष्टि से किए गए कार्यों पर** : यदि कोई व्यक्ति आत्म-हत्या का प्रयास करता है तो उसे समाज के द्वारा रोका जा सकता है, क्योंकि आत्म-हत्या करना एक पाप है। यह सामाजिक मानदण्डों के विरुद्ध है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति टूटे हुए पुल को पार करना चाहे तो राज्य उसकी सुरक्षा की द ष्टि से उसे पुल पार करने से रोक सकता है।

स्वतन्त्रता-सिद्धान्त के अपवाद

(Exception of Theory of Freedom)

मिल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों के निम्न अपवाद हैं :-

1. **पिछड़ा वर्ग** : मिल का मानना है कि इस वर्ग में शिक्षाका अभाव और मानसिक अपरिपक्वता होती है। इसलिए इस वर्ग के उत्थान के लिए राज्य को कार्यशील होना चाहिए। जब तक वे अन्य वर्गों के समान न हो जाएँ उनकी स्वतन्त्रता में लगातार व द्धि करते रहना चाहिए। जब तक वे पिछड़े रहें, उनको उक्त स्वतन्त्रताएँ प्रदान नहीं की जानी चाहिएं।
2. **नाबालिग** : मिल का कहना है कि अव्यस्क व्यक्ति मानसिक तौर पर विकसित नहीं होते। उन्हें दूसरों के विवेक पर ही कार्य करने पड़ते हैं। दूसरों के विवेक पर आश्रित रहने के कारण वे स्वतन्त्रता का सदुपयोग नहीं कर सकते। इसलिए उन्हें स्वतन्त्रता प्रदान नहीं की जा सकती।
3. **मानसिक रूप से विकलांग** : मिल मानसिक रूप से पिछड़े व्यक्तियों को भी स्वतन्त्रता देने का विरोध करता है। उसका कहना है कि इन व्यक्तियों में अच्छे-बुरे का ज्ञान नहीं होता। इसलिए ये समाज-अहित के कार्य कर सकते हैं। अतः इनको स्वतन्त्रता प्रदान नहीं करनी चाहिए।
4. **दुश्चरित्र व्यक्ति** : मिल दुश्चरित्र व्यक्तियों की स्वतन्त्रता प्रदान करने के विरुद्ध हैं। उनका मानना है कि इस तरह के व्यक्ति समाज की प्रगति में बाधक होते हैं। यदि इन्हें हर तरह की स्वतन्त्रता प्रदान की जाए तो ये समाज में विघटन को ही बढ़ावा देते हैं, विकास को नहीं।

आलोचनाएँ

(Criticisms)

मिल के स्वतन्त्रता मिल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार निरस्सन्देह राजनीतिक दर्शन के इतिहास में महत्त्वपूर्ण होते हुए भी अनेक आलोचनाओं का शिकार हुए हैं। अनेक विद्वानों ने विभिन्न दार्शनिक एवं व्यावहारिक द ष्टिकोणों से उसकी आलोचना की है। बार्कर, लिंडसे, सेबाइन, डेविडसन आदि आलोचकों ने उसके विचारों को अमान्य व अनुपयुक्त बताया है। बार्कर ने उसे 'रिक्त स्वतन्त्रता' तथा 'अपूर्ण व्यक्ति का मसीहा' कहा है। उसके स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों की आलोचना के निम्न आधार हैंः-

1. **समानता का अभाव** (Absence of Equality) : मिल ने स्वतन्त्रता पर तो जोर दिया है, लेकिन समानता की उपेक्षा की है। स्वतन्त्रता की सार्थकता के लिए समानता आवश्यक है। इसके अभाव में स्वतन्त्रता को स्थायित्व प्रदान नहीं किया जा सकता।
2. **सीमित द ष्टिकोण** : मिल ने पिछड़े वर्ग, बच्चों, मानसिक रूप से विकलांग व्यक्तियों को अपनी स्वतन्त्रता की परिधि से बाहर रखा है। ऐसा करने से इनका विकास का मार्ग रुक जाएगा और समाज की आमधारा से कट जाएँगे।
3. **अधिकारों का अभाव** (Absence of Rights) : मिल ने केवल स्वतन्त्रता पर तो जोर दिया है लेकिन अधिकारों की उपेक्षा की है। स्वतन्त्रता के अर्थपूर्ण प्रयोग के लिए अधिकारों का होना आवश्यक है। स्वतन्त्रता और अधिकार एक-दूसरे के पूरक हैं। एक के अभाव में दूसरे का कोई अस्तित्व नहीं। बार्कर के अनुसार- "अधिकारों के बारे में मिल के पास कोई स्पष्ट दर्शन नहीं था, जिसके आधार पर स्वतन्त्रता की धारणा को कोई यथार्थ रूप प्राप्त होता।" अधिकारों के अभाव में व्यक्ति सच्ची स्वतन्त्रता का उपभोग नहीं कर सकता।
4. **व्यक्ति अपने हितों का श्रेष्ठ निर्णायक नहीं** : मिल की यह मान्यता है कि व्यक्ति अपने हित का स्वयं निर्णायक होता है। किन्तु आधुनिक जटिल आर्थिक समाज में एक सामान्य व्यक्ति अपने हितों को सही रूप में नहीं समझ सकता। इसके लिए उसे दूसरों की मदद की आवश्यकता पड़ती है।
5. **अवैज्ञानिकता** : मिल ने कहा है कि व्यक्ति अपने मन और शरीर का स्वामी है। इस धारणा को वैज्ञानिक आधार पर सत्य सिद्ध नहीं किया जा सकता। सत्य तो यह है कि व्यक्ति स्वार्थी और अज्ञानी है। वह अपना स्वामी न होकर अपनी प्रकृति का दास हैं

6. **अल्पमत को बहुमत से अधिक महत्त्व** : मिल ने बहुमत की निरंकुशता की तुलना में अल्पमत को अधिक महत्त्व दिया है। उसने बहुमत को गलत धारणाओं के आधार पर स्वेच्छाचारी मानने की भूल की है। बहुमत सदा आततायी नहीं होता। आधुनिक युग में बहुमत का शासन सर्वश्रेष्ठ है।
7. **कार्य-स्वतन्त्रता का भ्रामक विभाजन** : मिल द्वारा कार्य करने की स्वतन्त्रता के सन्दर्भ में व्यक्ति के कार्यों को स्व-विषयक (Self-regarding) तथा पर-विषयक (Othe-regarding) में बाँटना भ्रान्तिपूर्ण और असम्भव है। व्यवहार में व्यक्ति के कार्यों में ऐसा भेद नहीं किया जा सकता। मिल के अनुसार शराब पीना स्व-विषयक कार्य है क्योंकि इससे पीने वाले पर ही प्रभाव पड़ता है। किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से उसका प्रभाव समाज के दूसरे व्यक्तियों पर भी पड़ता है। ऐसा कोई भी स्व-विषयक कार्य नहीं होता जिसका प्रभाव प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में दूसरों पर न पड़ता हो। इसलिए मिल के स्वकार्य पर पर-कार्य सम्बन्धी विचार दोषपूर्ण हैं।
8. **सनकी व्यक्तियों की स्वतन्त्रता** : मिल ने सनकी व्यक्तियों को भी पूरी स्वतन्त्रता देने का समर्थन किया हैं उसका मानना है कि ये व्यक्ति ही समाज की प्रगति का मार्ग खोलते हैं। इसलिए वह इन व्यक्तियों में सुकरात व ईसा मसीह का रूप देखता है। सत्य तो यह है कि सभी सनकी व्यक्ति सुकरात या ईसा मसीह नहीं हो सकते। सनकीपन चरित्र की दुर्बलता का प्रतीक होता है, न कि उत्कृष्टता का। सनकी व्यक्ति प्रायः मनोविज्ञान के प्रयोगों से विकृत मानसिकता वाले ही सिद्ध हुए हैं। इसलिए इन्हें विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता प्रदान करना समाज व राज्य दोनों के लिए अहितकर है।
9. **खोखली और नकारात्मक स्वतन्त्रता** : बार्कर ने मिल को 'खोखली स्वतन्त्रता का पैगम्बर' कहा है। उसके पास अधिकारों के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट दर्शन नहीं था। मिल ने 'बन्धनों के अभाव' को स्वतन्त्रता का नाम दिया है। दूसरी तरफ वह राज्य के हस्तक्षेप का भी समर्थन करता है।
10. **विरोधाभास** : मिल एक तरफ तो कहता है कि व्यक्ति अपने शरीर और विचार का एकमात्र स्वामी है और इसलिए उसे किसी भी मनचाहे कार्य को करने की पूरी स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। वहीं दूसरी तरफ वह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर सामाजिक नियन्त्रण का पक्ष लेता है। इससे पहले विचार का विरोध होता है।
11. **वाद-विवाद की पवित्रता** : मिल का कहना है कि सत्य की खोज के लिए वाद-विवाद जरूरी होते हैं। लेकिन सत्य तो यह है कि वाद-विवाद में भाग लेने वाला प्रत्येक व्यक्ति स्वार्थवश ऐसा करता है। प्रत्येक संगठन तथा राजनीतिक दल, समचार-पत्र, श्रमिक संगठन आदि वाद-विवाद के माध्यम से अपने हितों की रक्षा करते हैं, न कि सत्य की खोज। सत्य की खोज वाद-विवाद द्वारा नहीं, अपितु चिन्तन के द्वारा की जा सकती है। महात्मा गांधी, ईसा, सुकरात, गौतम बुद्ध आदि महापुरुषों ने चिन्तन एवं आत्मानुभूति के द्वारा ही सत्य की खोज की, न कि वाद-विवाद द्वारा।

मिल के स्वतन्त्रता विषयक विचारों की चतुर्दिक आलोचना हुई। बार्कर ने उसे 'खोखली स्वतन्त्रता का मसीहा' कहा। बेवर, मैक्सी, लिंडसे आदि विद्वानों ने उसे 'निरंकुश स्वतन्त्रता का प्रतिपादक' बताया। लेकिन इससे मिल का महत्त्व कम नहीं हुआ है। आज राज्य व्यक्ति के सम्पूर्ण कार्यों का नियमन करता है। मनुष्य के जन्म से लेकर म त्यु तक राज्य का नियन्त्रण होता है। मिल की स्वतन्त्रता की पुकार मानव व्यक्तित्व की गरिमा की रक्षा के लिए एक अमोघ अस्त्र प्रतीत होती है। मिल का कथन आज भी सत्य है कि स्वतन्त्रता के वातावरण में ही मनुष्य का सर्वांगीण विकास सम्भव है। मिल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार राजनीतिक दर्शन के इतिहास में उसकी शाश्वत व अमूल्य देन हैं। मैक्सी ने कहा है कि- "मिल ने वही उत्कृष्टता प्राप्त की है, जो मिल्टन, स्पिनोजा, वाल्टेयर, रूसो, पेन, जैफरसन के विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के विचारों से प्राप्त हुई है।"

मिल के प्रतिनिधि शासन पर विचार : एक असन्तुष्ट प्रजातान्त्रिक के रूप में
(Mill's Ideas on Representative Government : As a Reluctant Domocrat)

मिल ने प्रजातान्त्रिक शासन व्यवस्था पर अपने विचार अपनी पुस्तक 'प्रतिनिधि शासन' (Representative Government) में व्यक्त किए हैं। मिल ने शासन की उस प्रणाली को ही श्रेष्ठ माना है जो नागरिकों को राजनीतिक शिक्षा प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाये और जनसाधारण को अधिकारों और कर्त्तव्यों का ज्ञान कराने में सक्षम हो। उसकी द ष्टि में राज्य का लक्ष्य व्यक्ति की शक्तियों का अधिकतम विकास करना है और वही शासन प्रणाली श्रेष्ठ होती है जो इनका अधिकतम विकास करे। उसके अनुसार श्रेष्ठ शासन की प्रथम विशेषता यह है कि "वह जनता के गुणों और बुद्धि का विकास करने वाली हो। शासन की उत्तमता की प्रथम कसौटी यह जाँचना है कि वह नागरिकों में मानसिक एवं नैतिक गुणों का कहाँ तक संचार करती है, उनके चारित्रिक

एवं बौद्धिक विकास के लिए कितना प्रयास करती है।" इसी प्रकार मिल ने आगे कहा है कि "आदर्श की द ष्टि से सर्वोत्तम सरकार वह है जिसमें प्रभुसत्ता समुदाय के समूचे व्यक्तियों में निहित है, प्रत्येक नागरिक को न केवल इस अन्तिम प्रभुसत्ता का प्रयोग करने का अधिकार प्राप्त है, अपितु सार्वजनिक कार्यों में व्यक्तिगत रूप से भाग लेने का अधिकार प्राप्त है।" मिल का कहना है कि जहाँ शासन की बागडोर एक ही व्यक्ति या विशेष वर्ग के लोगों के हाथ में होती है, वहाँ बहुमत के हितों की रक्षा कर पाना सम्भव नहीं है। उसके अनुसार प्रजातन्त्र ही एक ऐसी शासन प्रणाली है जिसमें सभी के हित सुरक्षित करने का समान अवसर प्राप्त होते हैं। इसमें व्यक्ति अपने हितों के साथ-साथ दूसरों के हितों का भी ध्यान रखता है।

मिल ने प्रजातन्त्र को शासन सर्वश्रेष्ठ प्रणाली मानते हुए उसे अन्य शासन प्रणालियों से अलग माना है। उसके अनुसार आधुनिक युग में प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र की बजाय अप्रत्यक्ष या प्रतिनिधि लोकतन्त्र ही सर्वोत्तम शासन है। मनुष्य इस शासन को अच्छा या बुरा बना सकते हैं। उसने बेन्थम के विपरीत यह कहा है कि प्रजातन्त्र सभी देशों के लिए उपयुक्त नहीं हो सकता। यह जहाँ भी सम्भव हो, उपयोगी व सर्वोत्तम होता है। मिल ने प्रजातन्त्र या प्रतिनिधि शासन को स्पष्ट करते हुए कहा है कि- "प्रतिनिधि शासन या सरकार का अर्थ है कि सम्पूर्ण नागरिक या उनके अधिकतर भाग समय-समय पर स्वयं द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा शासन चलाते हैं और शासन की सत्ता जिसे प्रत्येक शासन में रहना अनिवार्य है, अपने नियन्त्रण में रखते हैं।" अर्थात् इसमें जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा शासन की सर्वोच्च शक्ति पर नियन्त्रण रखा जाता है। उसने कहा है कि इस शासन प्रणाली में सभी लोगों को शासन में भाग लेने का अवसर प्राप्त होता है। इससे उनके व्यक्तित्व का विकास होता है। इसलिए यह शासन-प्रणाली सबसे अच्छी होती है।

प्रजातन्त्र के पक्ष में तर्क

मिल ने प्रतिनिधि शासन का समर्थन कई आधारों पर किया है। इससे उसके प्रजातांत्रिक होने के विचार को बल मिलता है। ये तर्क निम्नलिखित हैं :

1. किसी मनुष्य के अधिकार और हित प्रजातन्त्र में ही सम्भव हैं।
2. प्रजातन्त्र के द्वारा ही लोगों का कल्याण हो सकता है। इसमें सभी की समानता व स्वतन्त्रता सुरक्षित रह सकती है।
3. इसमें सभी व्यक्तियों के बौद्धिक और नैतिक विकास की सम्भावना अधिक रहती है।
4. यह प्रणाली मनुष्यों में सहयोग और आत्मनिर्भरता की प्रव त्ति जगाती है।
5. यह लोगों में देश-प्रेम की भावना पैदा करता है। इससे राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण होता है।
6. इसमें स्त्री-पुरुष सभी वयस्कों को समान मताधिकार प्राप्त होता है।

मिल का मानना है कि अन्य सभी शासन-प्रणालियाँ विशेष वर्गों के स्वार्थ-सिद्धि का साधन होती हैं। लोकतन्त्र ही एक ऐसी शासन प्रणाली है जिसमें सभी वर्गों के हित सुरक्षित रहते हैं। लेकिन यह प्रणाली सभी के लिए उपयुक्त नहीं हो सकती। जिन व्यक्तियों में सार्वजनिक कर्त्तव्यों का पालन करने की उपयुक्त भावना और चरित्र न हो तो उनके लिए यह व्यवस्था हितकर नहीं हो सकती। इस प्रकार मिल ने बेन्थम के लोकतन्त्र सम्बन्धी विचारों से भिन्न लोकतन्त्र को परिस्थितियों के आधार पर श्रेष्ठ माना है।

प्रजातन्त्र के प्रकार

(Types of Democracy)

मिल ने अपनी पुस्तक 'प्रतिनिधि शासन' (Representative Government) में प्रजातन्त्र के दो रूपों 'नकली प्रजातन्त्र' (False Democracy) तथा 'असली प्रजातन्त्र' (True Democracy) का वर्णन किया है। उसने कहा है कि असली प्रजातन्त्र गुणों पर आधारित होता है, जबकि नकली प्रजातन्त्र संख्या पर आधारित होता है। उसने गुणों पर आधारित असली प्रजातन्त्र (True Democracy) का ही पक्ष लिया है। लेकिन दोनों प्रजातन्त्र के रूपों को मिलाकर (संख्या तथा गुण) विशुद्ध लोकतन्त्र के निर्माण का प्रयास भी किया है।

प्रतिनिधि शासन का सिद्धान्त
(Principle of Representative Government)

मिल के अनुसार- "प्रतिनिधि सरकार व शासन वह व्यवस्था है, जिसमें सम्पूर्ण जन-समुदाय या उसका अधिकांश अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों के द्वारा अन्तिम नियन्त्रण-शक्ति का प्रयोग करता है।" उसने प्रतिनिधि शासन के लिए तीन शर्तें निर्धारित की हैं। जो सरकार इन तीन शर्तों को पूरा करती हो, प्रतिनिधि सरकार है।

1. वे लोग जिनके लिए ऐसी सरकार का निर्माण किया जाए, जो ऐसी सरकार को स्वीकार करने के इच्छुक हों या इतने अनिच्छुक न हों कि इसकी स्थापना में बाधाएँ पैदा करें।
2. ऐसी सरकार के स्थायित्व के लिए जो कुछ भी करना आवश्यक हो वह सब करने के लिए इच्छुक और योग्य हो।
3. ऐसी सरकार के उद्देश्य को पूरा करने के लिए ऐसे लोगों में जो कुछ सरकार चाहे वह करने के लिए तत्पर और योग्य हों। शासन की जो आवश्यक शर्तें हों वे उन्हें पूरा करने के लिए तैयार हों।

सरकार के कार्य
(Functions of Government)

मिल ने प्रतिनिधि सरकार के निम्नलिखित कार्य निर्धारित किए हैं :-

1. सरकार को व्यक्तियों के विकास के लिए उपर्युक्त वातावरण का निर्माण करना चाहिए।
2. सरकार द्वारा कानूनों का निर्माण कम से कम होना चाहिए क्योंकि कानून व्यक्तियों पर प्रतिबन्ध लगाते हैं और नागरिकों के व्यक्तिगत जीवन में हस्तक्षेप करते हैं।
3. सरकार को आपत्तिजनक कार्यों की समीक्षा करके उनके औचित्य को सिद्ध करना चाहिए।
4. उसे विश्वासघाती शासक-गणों को पदच्युत करके उनके उत्तराधिकारियों को नियुक्त करना चाहिए।
5. उसे बुरे कार्यों की निन्दा करनी चाहिए अर्थात् बचना चाहिए।
6. लोगों को राजनीतिक शिक्षा देनी चाहिए।
7. उसे जनकल्याण के कार्यों पर नियन्त्रण रखना चाहिए।

सच्चे प्रजातन्त्र के लिए सुझाव
(Suggestion for a True Democracy)

मिल का विश्वास है कि सभी परिस्थितियों में प्रजातन्त्र सफल नहीं हो सकता। प्रजातन्त्र वहीं सफल हो सकता है, जहाँ नागरिकों में पारस्परिक सष्णुिता, राजनीतिक परिपक्वता, राष्ट्रीय एकता एवं उत्तरदायित्व की भावना हो। लेकिन प्रजातन्त्र सर्वथा दोषमुक्त नहीं होता। इसमें बहुत निरंकुश बन सकता है। शासक जन विरोधी नीतियाँ बनाकर उन्हें जनता पर थोंप सकते हैं। सामाजिक दबाव भी मानवीय गुणों को नष्ट कर सकता है। मिल प्रजातन्त्र के सभी दोषों से परिचित था। इसलिए उसने प्रजातन्त्र को सुद ढ़ बनाने के लिए कुछ दोषों को दूर करने के सुझाव दिए हैं। उसके महत्त्वपूर्ण सुझाव निम्नलिखित हैं :-

1. **बहुल मतदान** (Plural Voting) : मिल ने समानता के सिद्धान्त पर आधारित 'एक व्यक्ति एक वोट' के सिद्धान्त को एक बुराई माना है। समाज में गुणी व्यक्ति निकृष्ट व्यक्तियों से ज्यादा महत्त्व रखते हैं। अतः उन्हें अधिक वोट देने का अधिकार मिलना चाहिए। उसके अनुसार राज्य की रक्षा बुद्धि और चरित्र से ही हो सकती है। इसलिए उसने प्रजातन्त्र को सच्चे अर्थ में प्रजातन्त्र बनाने के लिए योग्य एवं शिक्षित व्यक्तियों को अशिक्षित एवं मूढ़ व्यक्तियों की तुलना में अधिक महत्त्व दिया है। उसने अल्पसंख्यकों के पर्याप्त प्रतिनिधित्व के साथ-साथ बहुमत के योग्य, शिक्षित एवं पक्षपात रहित विधायकों की आवश्यकता पर भी जोर दिया है। उसने वयस्क मताधिकार का समर्थन किया है। मिल के अनुसार- "बुद्धिमान, गुणी एवं शिक्षित नागरिकों को बुद्धिहीन, गुणहीन एवं अशिक्षित नागरिकों से अधिक मत देने का अधिकार होना चाहिए।" उसका विश्वास है कि बुद्धिमान, चरित्रवान एवं शिक्षित व्यक्तियों द्वारा ही प्रजातन्त्र की रक्षा की जा सकती है।
2. **आनुपातिक प्रतिनिधित्व** (Poportional Representation) : मिल ने लोकतन्त्रात्मक प्रतिनिधि शासन का सबसे बड़ा दोष बहुमत का अत्याचार और अल्पसंख्यकों की घोर उपेक्षा को माना है। इसलिए अल्पसंख्यकों को बहुमत के अत्याचार

से मुक्त रखने के लिए साधारण बहुमत के स्थान पर आनुपातिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त का समर्थन किया है। उसका कहना है कि साधारण बहुमत प्रणाली में अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व की कभी आशा नहीं की जा सकती। उनके प्रतिनिधित्व के अभाव में उनके हित असुरक्षित रहते हैं। आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली द्वारा अल्पसंख्यकों को उनकी जनसंख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाता है। उसने इस प्रणाली की उपयोगिता पर विचार करते हुए कहा है कि- "अल्पमत भी बहुमत के समान अधिकार रखते हैं और अल्पमतों की बात देश के शासन संचालन के सम्बन्ध में नहीं सुनी जाती है तो जनतन्त्र की स्थिति को स्वस्थ या सन्तोषजनक नहीं माना जा सकता।" इसलिए जनतन्त्र के दोषों को दूर करने के लिए आनुपातिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था होनी आवश्यक है।

3. **शैक्षिक योग्यता (Educational Qualifications)** : मिल ने बहुसंख्यकों के शासन को अज्ञानी व निरक्षर लोगों का शासन माना है। उसका कहना है कि देश में अधिकतर संख्या ऐसे लोगों की ही होती है। यदि वोटरों की योग्यता और गुणों को बढ़ाने का प्रयास न किया जाए तो लोकतन्त्र में अल्पबुद्धि और कम योग्यता वाले व्यक्ति ही हावी हो जाएंगे। लोकतन्त्र को सफल बनाने के लिए ऐसे व्यक्तियों को मताधिकार से वंचित कर देना चाहिए। उसने निरक्षर व्यक्तियों को वोट देने के अधिकार का विरोध करते हुए कहा है कि- "मैं इस बात को पूर्ण रूप से अस्वीकार करता हूँ कि जो व्यक्ति पढ़ने-लिखने में और गणित के सामान्य सवाल हल करने में समर्थ नहीं है, उसे मतदान में हिस्सा न लेने दिया जाए।" उसने विधायकों के सम्बन्ध में भी ऐसे बुद्धिमान, शिक्षित तथा प्रबुद्ध व्यक्तियों की आवश्यकता पर बल दिया है, जिन्हें विशिष्ट ज्ञान हो, जो विधायक का अर्थ जानते हों और जिनकी राज्य निष्पक्ष तथा तर्क-सम्मत हो। इस प्रकार लोकतन्त्र को सच्चा व सुद ढ़ बनाने के लिए नागरिक व प्रतिनिधियों का शिक्षित होना जरूरी है।

4. **सम्पत्ति की योग्यता (Property Qualifications)** : मिल ने सम्पत्ति की योग्यता को भी उतना ही महत्त्व दिया है जितना शैक्षिक योग्यता को। उसका विचार है कि सम्पत्ति रखने वाले व्यक्ति के पास सम्पत्ति न रखने वाले व्यक्ति की तुलना में उत्तरदायित्व की भावना अधिक होती है। मिल ने कहा है- "यह महत्त्वपूर्ण बात है कि जो सभा कर लगाती है, वह केवल उन्हीं लोगों की होनी चाहिए जो इन करों का भार सहन करते हों। यदि कर न देने वालों को दूसरों पर कर लगाने का अधिकार दिया गया तो वे व्यक्ति आर्थिक मामलों में खूब खर्च करने वाले तथा कोई बचत न करने वाले होंगे।" इस प्रकार के लोगों के हाथ में कर लगाने की शक्ति देना स्वतन्त्रता के मौलिक सिद्धान्त को चुनौती देना होगा। इसलिए कर लगाने का अधिकार उन्हीं व्यक्तियों को मिलना चाहिए जो स्वयं कर अदा करते हों।

5. **खुला मतदान (Open Ballot)** : मिल के समय में गुप्त मतदान प्रणाली का बोलबाला था। गुप्त मतदान के समर्थकों का मत था कि इससे भ्रष्टाचार कम होता है। लेकिन मिल का मानना है कि गुप्त मतदान से व्यक्ति की स्वार्थमयी प्रव त्तियों का विकास होता है। उसका मानना है कि मतदान का अधिकार सार्वजनिक कर्त्तव्य है। इसलिए उसने मतदान को लोकतान्त्रिक दायित्व मानते हुए खुले मतदान का समर्थन किया है। उसका कहना है कि मतदान एक पवित्र धरोहर है। इसलिए इसका प्रयोग खूब सोच-समझकर और सामान्य हित की भावना को ध्यान में रखकर ही करना चाहिए। यदि गुप्त मतदान प्रणाली के दोषों को दूर करना हो तो नागरिकों को किसी अन्य आधार पर मत का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

6. **विधि-निर्माण (Law Making)** : मिल का मानना है कि विधि-निर्माण का कार्य योग्य एवं अनुभवी व्यक्तियों के हाथ में ही होना चाहिए। यह कार्य विधान-सभा का नहीं है। इस कार्य के लिए विधि-आयोग को करना चाहिए और इसके सदस्य सिविल सर्विस के व्यक्ति होने चाहिएं। इन कर्मचारियों पर नियन्त्रण रखने व उन्हें पद से हटाने का अधिकार विधान-सभा के पास हो सकता है। कानूनों को पास करने का कार्य विधानसभा का हो सकता है। इस व्यवस्था द्वारा मिल ने शासन के कार्यों का संचालन योग्य व्यक्तियों द्वारा तथा कानून बनाने का अधिकार भी इन्हीं व्यक्तियों के हाथों में सौंपने का समर्थन किया है। इस प्रकार मिल ने श्रेष्ठ शासन में प्रजातन्त्र और कार्यकुशलता के बीच समन्वय स्थापित करने का समर्थन किया है। उसने लोकतन्त्र के स्वरूप को विशुद्ध बनाने का प्रयास किया है।

7. **द्वितीय सदन (Second Chamber)** : मिल ने द्वितीय सदन की स्थापना का समर्थन किया है। उसने इसकी स्थापना हित-प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त के आधार पर करने का प्रयास किया है। उसका मानना है कि इससे निम्न सदन की निरंकुशता पर रोक लगती है। इस सदन के सदस्य बुद्धिमान, शिक्षित, सभ्य और राजनीति में निपुण होते हैं। ये व्यक्ति निजी स्वार्थों से ऊपर उठकर सार्वजनिक हित में कार्य करते हैं। ये निम्न सदन द्वारा पारित विधियों में सुधार लाते हैं। अतः यह सदन लोकतन्त्र की नींव को मजबूत आधार प्रदान करता है।

8. **वेतन और भत्ता निषेध** (No Salary and no Allowance) : मिल का मानना है कि यदि संसद सदस्यों को वेतन और भत्ते दिए गए तो लोग आर्थिक हितों को पूरा करने के लिए संसद सदस्य बनने का प्रयास करने लग जाएँगे। संसद में असक्षम व अयोग्य व्यक्तियों का प्रवेश शुरू हो जाएगा। लोगों की निष्काम सेवा की भावना संसद सदस्यों से दूर हो जाएगी। संसद महत्त्वाकांक्षी लोगों का अखाड़ा बन जाएगी। इसलिए मिल ने संसद सदस्यों के लिए वेतन व भत्तों की व्यवस्था से इंकार किया है।
9. **चुनाव पद्धति** (Election Method) : मिल का कहना है कि बौद्धिक द ष्टि से योगय व्यक्तियों को ही चुनाव लड़ने का अधिकार मिलना चाहिए। अच्छे लेखक या सामाजिक कार्यकर्ता तथा किसी दल के सदस्य न होने पर भी ख्याति प्राप्त व्यक्तियों को चुनाव में चुन लिया जाना चाहिए। चुनाव पूरे राज्य में एक साथ ही कराए जाने चाहिएं। चुनावों का खर्च उम्मीदवार पर नहीं डालना चाहिए। उसका मत है कि मतों की केवल गिनती ही नहीं, बल्कि उनका वजन भी होना चाहिए।
10. **महिला मताधिकार** (Women Suffrage) : मिल ने महिला मताधिकार का पूरा समर्थन किया है। उसका कहना है कि न्याय की माँग है कि महिलाओं और पुरुषों दोनों पर शासन केवल पुरुष द्वारा ही संचालित नहीं होना चाहिए। उसका मानना है कि यदि महिलाओं पर से पुरुषों का स्वामित्व समाप्त कर दिया जाए तो वे सामाजिक और राजनीतिक जीवन में अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं। इसलिए उसने कहा है- "मैं राजनीतिक अधिकारों के सम्बन्ध में लिंग-भेद को उसी प्रकार सर्वथा अनुचित मानता हूँ जिस प्रकार बालों के रंग को। यदि दोनों में कोई भेद हो भी तो महिलाओं को पुरुष की अपेक्षा अधिक अधिकारों की आवश्यकता है, क्योंकि वे शारीरिक द ष्टि से अबला है और अपनी रक्षा के लिए कानून तथा समाज पर ही आश्रित है।" इस तरह मिल ने महिला मताधिकार व महिला शिक्षा का जोरदार समर्थन करके इंगलैण्ड में महिलाओं के सुधार की वकालत की है।

उपर्युक्त तर्कों से यह सिद्ध हो जाता है कि मिल अपने समय के असन्तुष्ट लोकतन्त्रवादी विचारक थे। उन्होंने तत्कालीन शासन-व्यवस्था में जो बुराइयाँ देखीं, उनसे वे काफी असन्तुष्ट थे। उन सभी बुराइयों को दूर करने के लिए ही उसने अपने सुधारवादी सुझाव प्रस्तुत किए। उसने लोकतन्त्र की रक्षा के जो उपाय बताए, उनसे उसके महत्त्व में और अधिक व द्धि हुई। उसके सुझावों को अनेक देशों में अपनाया गया। इसलिए उसके सुझाव शाश्वत मूल्यों पर आधारित माने जा सकते हैं। उसके विचारों का महत्त्व आज भी है।

आलोचनाएँ
(Criticisms)

तर्कपूर्ण और बौद्धिकता के गुण पर आधारित होते हुए भी मिल के शासन-सम्बन्धी विचारों की व्यावहारिक आधार पर अनेक आलोचनाएँ हुई हैं। उसकी आलोचना के प्रमुख आधार निम्नलिखित हैं :-

1. यदि मिल के मतदाता की योग्यता का मापदण्ड लागू किया जाए तो भारत जैसे बड़े देश में कुछ ही प्रतिशत लोगों को यह अधिकार प्राप्त होगा क्योंकि यह सम्भव नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति को इतिहास, भूगोल और गणित की जानकारी हो। अतः इस सिद्धान्त को लागू करना न्यायसंगत नहीं हो सकता।
2. मिल का बहुल मतदान का सिद्धान्त भी व्यवहार में लागू नहीं हो सकता क्योंकि राजनीतिक योग्यता का कोई औचित्यपूर्ण आधार तलाशना कठिन कार्य होता है।
3. मिल ने संसद सदस्यों के लिए वेतन और भत्तों का निषेध किया है। इससे अमीर-व्यक्ति ही संसद सदस्य बनेंगे। गरीब व्यक्ति या मध्यम वर्ग के व्यक्ति प्रतिनिधि बनना नहीं चाहेंगे। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि आर्थिक कारणों से भी व्यक्ति राजनीतिक कार्यकलापों में भाग लेते हैं। मनुष्य सदैव धन सम्पत्ति में व द्धि करना चाहता है।
4. मिल का यह विचार कि मतों की गणना के साथ-साथ उनका वजन भी किया जाए, बड़ा उचित प्रतीत होता है। परन्तु ऐसा तभी सम्भव है जब जनता का नैतिक स्तर ऊँचा हो। लोगों में स्वार्थ की भावना के रहते इसे लागू करन कठिन कार्य है।
5. मिल ने मतदाता के लिए शैक्षिक योग्यता को आवश्यक माना है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि शिक्षा व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास करती है। परन्तु व्यावहारिक अनुभव का भी विशेष महत्त्व है। सूरदास व कबीर के पास कोई शैक्षणिक योग्यताएँ न होने पर भी उनके ज्ञान के आगे संसार नतमस्तक होता है।

6. मिल ने आनुपातिक प्रतिनिधित्व का समर्थन किया है। इससे किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं होने के कारण स्थायी सरकार की स्थापना कर पाना असम्भव है।
7. मिल का खुले मतदान का समर्थन करना सामाजिक द्वेष को जन्म देता है। इसको अपनाने से समाज में सामाजिक सद्भाव समाप्त हो सकता है। इससे प्रजातन्त्र आतंकवादी ओर वर्गतन्त्रीय व्यवस्था का रूप ले सकता है।
8. मिल की आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली से प्रत्येक दल को कुछ न कुछ सीटें अवश्य प्राप्त हो जाती हैं। इससे राजनीतिक दलों में अनावश्यक व द्धि होती है। असीमित राजनीतक दल राजनीतिक अस्थिरता को जन्म देते हैं।
9. मिल ने संसद के कार्यों को सीमित करके उसे वाद-विवाद का केन्द्र बना देना उचित नहीं है। इससे संसद का कानून बनाने और प्रशासन करने के अधिकारों में कमी आती है।
10. मिल का यह सिद्धान्त प्रजातन्त्र की भावना के विपरीत है कि धनी व्यक्तियों को तो अनेक मत का अधिकार दे दिया जाए और अशिक्षितों को एक वोट का अधिकार भी प्राप्त न रहे। मिल ने लोकतन्त्र के आधार 'समानता के सिद्धान्त' पर ही कुठाराघात कर दिया है। अतः मिल का यह सिद्धान्त अप्रजातान्त्रिक है।

इन आलोचनाओं के बावजूद भी मिल को लोकतन्त्र का सशक्त समर्थक और वफादार सेवक माना जाता है। उसने प्रतिनिधियों के व्यक्तिगत चरित्र पर बल देकर प्रजातन्त्र को जो आध्यात्मिक आधार प्रदान करने का प्रयास किया है, वह आधुनिक राजनीतिक वातावरण में मुख्य माँग है। उसने मानव-कल्याण की भावना पर आधारित लोकतन्त्र को सच्चा लोकतन्त्र माना है। उसने लोकतन्त्र को सुद ढ़ बनाने के लिए जो सुझाव दिए हैं, वे आज भी प्रासंगिक हैं। उसने प्रजातन्त्रीय और प्रशासनिक दक्षता के तत्त्वों का समन्वय करने का जो सुझाव दिया है, वह उसकी राजनीतिक दूरदर्शिता का परिचायक है। उसके द्वारा महिला मताधिकार का समर्थन भी नितान्त औचित्यपूर्ण है। उसके विचारों का महत्त्व शाश्वत है।

मिल का योगदान
(Contribution of Mill)

राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में जॉन स्टुअर्ट मिल को श्रद्धा की द ष्टि से देखा जाता है। उसने आक्सफोर्ड से पढ़कर निकलने वाले प्रत्येक बुद्धिजीवी को कुछ न कुछ अवश्य प्रभावित किया। राजनीतक शास्त्र के जगत् में उसकी प्रशंसा के साथ-साथ कुछ आलोचना भी हुई है। मिल की आलोचना से उसका महत्त्व कम नहीं हुआ। उसकी रचना 'Political Economy' ने प्रो॰ मार्शल को अत्यधिक प्रभावित किया। उसकी रचना 'On Liberty' को राजनीतिक दर्शन के इतिहास में स्वतन्त्रता का प्रथम प्रकाश स्तम्भ माना जाता है। प्रो॰ बाल ने कहा है कि- "मिल एक न्यायशास्त्री, अर्थशास्त्री तथा राजनीतिक दार्शनिक के रूप में अपने समय का अवतार है।"

मिल के योगदान को निम्न क्षेत्रों में देखा जा सकता है :-

1. **उदारवादी विचारक के रूप में** : मिल अपने राजनीतिक चिन्तन के कारण सबसे श्रेष्ठ और महान् उदारवादियों में गिने जाते हैं। उसके विचार में राज्य का अस्तित्व व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए है। उसकी 'विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता' सम्पूर्ण राजनीतिक चिन्तन में उसे एक श्रेष्ठ उदारवादी विचारक के रूप में प्रतिष्ठित करती है। उसे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का सबसे प्रबल समर्थक माना जाता है। उसने कहा कि हमें मनुष्य के प्रति गौरव का भावन रखना चाहिए। उसके उदाहरण को चार प्रकार से समझा जा सकता है :-

   (i) उसने उपयोगितावादी सिद्धान्त में नैतिक भावना का मिश्रण कर उसे काण्ट के समान ही मानव-व्यक्तित्व को मान्यता दी और और नैतिक उत्तरदायित्व से उसका सम्बन्ध स्पष्ट किया।

   (ii) उसने सामाजिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता को स्वयं में अच्छा बताया।

   (iii) स्वतन्त्र समाज में उदारवादी राज्य का कार्य नकारात्मक नहीं बल्कि सकारात्मक है।

   (iv) स्वतन्त्रता केवल व्यक्तिगत नहीं, बल्कि एक सामाजिक अच्छाई भी है। विचार के दमन से समाज को भी हानि पहुँचती है। मिल ने कहा है कि श्रेष्ठ समाज वह है जो स्वतन्त्रता की अनुमति देता है और विकास के विभिन्न अवसर प्रदान करता है।

इस प्रकार इन चार बातों से मिल का उदारवादी विचारक होने की धारणा को बल मिलता है। मिल ने कहा है कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता का विनाश करने से राज्य अधिक श्रेष्ठ नहीं बन सकता। राज्य का अस्तित्व तो व्यक्ति के विकास पर ही निर्भर करता है। राज्य व्यक्तियों के कल्याण का साधन मात्र है।

2. **समाज सुधारक के रूप में** : समाज सुधारक की द ष्टि से मिल का अपूर्व योगदान है। उसने महिला मुक्ति के समर्थन में जोरदार आवाज उठाई। उसने महिला मताधिकार का समर्थन किया। उसने कहा कि यदि महिलाओं पर से पुरुषों का स्वामित्व समाप्त कर दिया जाए तो उन्हें सामाजिक और राजनीतिक द ष्टि से उपयोगी बनाया जा सकता है। इसलिए उसने महिलाओं की समानता, शिक्षा और राजनीतिक अधिकारों का समर्थन किया।

3. **लोकतन्त्र के उपचारक के रूप में** : मिल लोकतन्त्र के अतिक्रमणों व दुरुपयोगों से भली-भाँति परिचित थे। उसने लोकतन्त्र तथा प्रतिनिधि शासन प्रणाली पर विचार करते हुए लोकतन्त्र को एक सर्वश्रेष्ठ शासन प्रणाली स्वीकार किया है। उसने लोकतन्त्र के गुणों के साथ-साथ उसके दोषों पर भी विचार करके उनको दूर करने के सुझाव प्रस्तुत किए हैं। उसने अल्पमत की बहुमत की निरंकुशता से रक्षा का उपाय सुझाया जो आज भी उचित है। उसने नागरिकों की अज्ञानता तथा उदासीनता को लोकतन्त्र की सबसे बड़ी कमजोरी बताया। उसने जनता के हित को प्रभावी बनाने के लिए प्रौढ़ मताधिकार का पक्ष लिया। उसने लोकतन्त्र के दोषों को दूर करने के लिए आनुपातिक प्रतिनिधित्व, द्वितीय सदन, शैक्षिक योग्यता जैसे सुझाव दिए। वेपर का कथन उचित है कि- "मिल प्रजातन्त्र की बुराइयों से प्रजातन्त्र की रक्षा चाहता था।"

4. **स्वतन्त्रता का प्रबल समर्थक** : मिल ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का समर्थन करके स्वयं को राजनीतिक दार्शनिकों व चिन्तकों की अग्रिम पंक्ति में खड़ा कर लिया। उसके 'विचार एवं अभिव्यक्ति' की स्वतन्त्रता के बारे में विचारों ने उसको राजनीतिक दर्शन के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान पर प्रतिष्ठित कर दिया है। उसकी रचना 'On Liberty' विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के समर्थन में सम्पूर्ण राजनीतिक दर्शन के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। उसे इस द ष्टि से रूसो, पेन, जैफर्सन आदि की श्रेणी में रखा जाता है।

5. **पद्धतिशास्त्र की द ष्टि से** : पद्धतिशास्त्र के क्षेत्र में मिल ने गहरा चिन्तन एवं अध्ययन किया। उसने बेन्थम के अनुभववाद और अपने पिता जेम्स मिल के बुद्धिवाद के विपरीत ऐतिहासिक या प्रतिलोम निगमनात्मक पद्धति को प्रश्रय देकर पद्धतिशास्त्र के क्षेत्र में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। उसने आगमनात्मक तथा निगमनात्मक दोनों पद्धतियों के समन्वय रूप को सामाजिक विज्ञानों के लिए आवश्यक माना है।

6. **उपयोगितावादी के रूप में** : मिल ने बेन्थम तथा अपने पिता जेम्स मिल के उपयोगितावादी दर्शन को नया रूप प्रदान किया है। उसने बेन्थम के उपयोगितावाद को 'सूअर दर्शन' (Pig Philosophy) की संज्ञा से मुक्त किया है। उसने इसे मानवीय रूप प्रदान किया है। उसने समाज-सुधार को वैधानिक प्रक्रिया माना है। मिल ही पहला उपयोगितावादी था जिसने यह स्पष्ट अनुभव किया कि समाज के बिना न तो कोई सभ्यता हो सकती है और न ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास सम्भव है। उसका उपयोगितावाद नैतिकता और आध्यात्मिकता पर आधारित है। उसका उपयोगितावादी दर्शन पूर्ववर्ती सभी उपयोगितावादियों के दर्शन से महान् है। उसने बेन्थम के उपयोगितावाद को बुद्धिवादी दर्शन के आधार पर परिमार्जित किया है।

7. **राज्य का उद्देश्य व कार्य** : मिल ने राज्य का उद्देश्य जन-कल्याण बताकर सर्वसत्ताधिकारवादी राज्य के युग में हलचल पैदा कर दी है। मिल का जन-कल्याण का सिद्धान्त व्यक्तिवाद के लिए एक रक्षा-कवच से कम नहीं आंका जा सकता। उसने लोक-कल्याण पर जोर देकर समाजवाद का मार्ग प्रशस्त किया है। उसने राज्य के सकारात्मक कार्यों पर जोर दिया है। उसने कहा है कि सुअवसर उत्पन्न करने में तथा मानव को मानवोचित जीवन व्यतीत करने के लिए उपर्युक्त परिस्थितियाँ पैदा करने में राज्य को बहुत बड़ी सकारात्मक भूमिका निभानी पड़ती है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि मिल ने निर्जीव व निष्प्रभ उपयोगितावादियों के विचारों को मानवीय पुट प्रदान किया। उसने उपयोगितावादी सिद्धान्तों को नई दिशा प्रदान की। उसने उपयोगितावादको आधुनिक रूप प्रदान करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। उसने लोकतन्त्र को सुद ढ़ आधार प्रदान करने के लिए उपर्युक्त सुझाव भी प्रस्तुत किए। उसके द्वारा स्त्री-जाति की मुक्ति व मताधिकार, आनुपातिक प्रतिनिधित्व, उदारवाद, व्यक्तिवाद, स्वतन्त्रता का प्रबल समर्थन किया जाना उसको राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान दिलाता है। उसका सम्पूर्ण विचार-दर्शन जन-कल्याण की भावना से ओत-प्रोत है। इसलिए उसका महत्त्व शाश्वत व अमूल्य है। सम्पूर्ण राजनीतिक चिन्तन का इतिहास उसका ऋणी है।

अध्याय-11
जॉर्ज विल्हैल्म फ्रेड्रिक हीगल
(George Wilhelm Friedrich Hegel)

परिचय
(Introduction)

जर्मन आदर्शवादी हीगल को अपने युग का महानतम दार्शनिक माना जाता है। सेबाइन के मतानुसार हीगल का दर्शन आधुनिक विचार के पूर्ण तथा क्रमबद्ध पुनर्रचना के प्रयास से कम नहीं है। इसी तरह वेपर ने भी हीगल के दर्शन का मूल्यांकन करते हुए उसे राज्य के सावयविक सिद्धान्त का सबसे प्रमुख व प्रबल समर्थक बताया है। दुर्भाग्यवश उसका दर्शन समझने में अत्यन्त कठिन है और साथ ही उसकी भाषा भी इतनी क्लिष्ट है कि बहुत से पाठक उसके दर्शन को समझने में अपने आप को असमर्थ पाते हैं। फिर भी हीगल राजदर्शन के इतिहास में अत्यन्त प्रभावशाली दार्शनिक है। उसकी द्वन्द्वात्मक पद्धति, राष्ट्र राज्य की अवधारणा और प्रगति की अवधारणा परवर्ती विचारधाराओं जैसे कि आधुनिक राष्ट्रवाद, फासीवाद नाजीवाद का प्रेरणा-स्रोत रही है।

जीवन परिचय
(Life Sketch)

जर्मनी के प्रसिद्ध आदर्शवादी दार्शनिक हीगल का जन्म 1770 ई॰ में स्टटगार्ट नामक नगर में हुआ। हीगल के पिता वुर्टमवर्ग राज्य में एक सरकारी कर्मचारी थे। वे हीगल को धार्मिक शिक्षा दिलाना चाहते थे। 18 वर्ष की आयु तक हीगल ने स्टटगार्ट के 'ग्रामर स्कूल' में शिक्षा ग्रहण की। 1788 ई॰ में उसने ट्यूबिनजन के विश्वविद्यालय में धर्मशास्त्र पढ़ना शुरू किया और 1790 में दर्शनशास्त्र के डॉक्टर की उपाधि प्राप्त की। यहाँ पर उसने कठोर परिश्रम किया। लेकिन धार्मिक विषयों की अपेक्षा उसने यूनानी साहित्य में रुचि दिखाई। वह दर्शनशास्त्र का प्रोफेसर बनना चाहता था। 1793 में उसे 'धर्मशास्त्र का प्रमाण-पत्र' प्राप्त किया। इस प्रमाण-पत्र में उसे दर्शनशास्त्र का कम ज्ञान होने की बात अंकित थी। यहाँ पर उसका परिचय कवि होल्डरलिन तथा प्रसिद्ध दार्शनिक शेलिंग से हुआ। उनके प्रभाव से उसने यूनानी दर्शन का अध्ययन किया। उसने प्लेटो के तत्त्वशास्त्र तथा यूनानी नगर राज्य की प्रशंसा करनी शुरू कर दी। उसके जर्मनी के विभाजन के कारण यूनानी नगर राज्यों पर विचार करना शुरू कर दिया। उसने यूनानी चिन्तकों द्वारा उपेक्षित स्वतन्त्रता के विचार को आगे बढ़ाया। 1796 में उसने 'The Positivity of the Christian Religion' नामक लेख में जेसस के सरल धर्म का समर्थन किया। 1799 में उसने ईसाई धर्म को यूनानी तथा काण्ट के दर्शन में समन्वय करने का प्रयास किया।

अपना अध्ययन कार्य समाप्त करने के बाद हीगल ने स्विटरज़रलैण्ड के बर्न नामक नगर में निजी शिक्षक के रूप में कार्य किया। 1797 में उसने बर्न को छोड़कर फ्रेंकफर्ट में निजी-शिक्षक के रूप में कार्य करते हुए अपनी धर्मशास्त्र में रुचि जारी रखी। उसने धर्मशास्त्र के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला कि ईश्वर का ज्ञान केवल धर्म के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। लेकिन उसने अपने इस विचार में परिवर्तन करते हुए कहा कि ईश्वर का ज्ञान धर्मशास्त्र की तुलना में दर्शनशास्त्र द्वारा सरलता से प्राप्त किया जा सकता है। 1799 में उसके पिता की म त्यु से उसकी आजीविका की समस्या का समाधान भी निकल आया। उसकी इच्छा प्राध्यापक बनने की थी। उसने जीना विश्वविद्यालय में अपने पिता से प्राप्त 1500 डालर की आर्थिक सहायता से अध्यापक का पद प्राप्त करने का प्रयास किया। जीना उस समय जर्मनी के सांस्कृतिक पुनरुत्थान तथा पुनरुज्जीवन का केन्द्र बना हुआ था। उस समय वहाँ पर फिक्टे, शेलिंग, श्लेगल पढ़ा रहे थे। उन प्रकाण्ड विद्वानों के सम्पर्क में आने पर हीगल

को भी अपनी प्रतिभा निखारने का अवसर प्राप्त हुआ। उसे जीना विश्वविद्यालय में ही 1803 ई॰ में अस्थायी प्राध्यापक की नौकरी मिल गई और 1805 में उसकी सेवा स्थायी हो गई। लेकिन भाग्य ने उसका साथ नहीं दिया। 1806 ई॰ में नेपोलियन की सेनाओं ने जीना नगर में प्रवेश किया। हीगल को भी अपनी जान बचाने के लिए जीना छोड़ना पड़ा, क्योंकि इस युद्ध में जर्मनी की हार तथा नेपोलियन की जीत हुई। इससे जीना में शिक्षण-कार्य अस्त-व्यस्त हो गया और हीगल को भी प्राध्यापक का पद छोड़ना पड़ा। नौकरी छूट जाने पर हीगल की आर्थिक स्थिति खराब हो गई। इस दौरान गेटे ने भी उसकी मदद की। उसने एक वर्ष तक सम्पादक के पद पर भी कार्य किया। इसी समय 1807 में उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Phenomenology of Spirit' का प्रकाशन किया। उसने 1808 में न्यूरमबर्ग के एक माध्यमिक विद्यालय में प्रधानाध्यापक के पद को प्राप्त किया और 1816 ई॰ तक वह इस पद पर रहा। 1811 में उसने बॉन टकर नामक महिला से विवाह कर लिया। उसे अपने परिवार से गहरा लगाव था। इसी कारण उसने आगे चलकर परिवार के महत्त्व पर लिखा। 1816 में उसने 'Logic' नामक ग्रन्थ का प्रकाशन किया। इससे हीगल की प्रसिद्धि बढ़ गई। इसके बाद उसने एरलानजन, बर्लिन तथा हीडलबर्ग विश्वविद्यालय में अध्यापक कार्य किया। 1821 ई॰ में उसने 'Philosophy of Rights' नामक रचना का प्रकाशन किया। इस पुस्तक के कारण हीगल की ख्याति राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय स्तर तक फैल गई। हीगल ने तत्कालीन प्रशिया की सरकार की विचारधारा को बदल दिया। इसलिए उसे 'सरकारी दार्शनिक' की भी संज्ञा दी गई। 1830 में उसे बर्लिन विश्वविद्यालय का रेक्टर बना दिया गया। 1831 में बर्लिन में हैजे का प्रकोप बढ़ गया। इस दौरान हैजे की बीमारी से इस महान् दार्शनिक की जीवन लीला समाप्त हो गई।

हीगल पर प्रभाव
(Influences of Hegal)

कोई भी चिन्तक समकालीन परिस्थितियों व पूर्ववर्ती विचारकों से अवश्य ही प्रभावित होता है। हीगल भी इसका अपवाद नहीं है। उस पर निम्न प्रभाव पड़े :-

1. **फ्रांसीसी क्रान्ति का प्रभाव** : हीगल के समय में स्वतन्त्रता का विचार चिन्तन का प्रमुख विषय था। लेकिन नेपोलियन के युद्धों ने उसके मन को व्यापक रूप से दुःखी कर दिया। उसने इस क्रान्ति की प्रशंसा इसलिए की थी कि इससे सामन्तवादी व्यवस्था का अन्त होगा और उदारवादी संस्थाओं का विकास होगा जिससे व्यक्ति को स्वतन्त्रता में व द्धि होगी। फ्रांसीसी क्रान्ति में श्रेणीबद्ध जर्मन-समाज के समक्ष बौद्धिक और सैद्धान्तिक चुनौतियाँ उपस्थित कीं। हीगल पर इस क्रान्ति का नकारात्मक प्रभाव भी पड़ा। उसने स्वतन्त्रता और सत्ता में समन्वय करने का प्रयास शुरू कर दिया। इस क्रान्ति के बारे में हीगल ने लिखा है कि- "फ्रांस की क्रान्ति शानदार बौद्धिक उषाकाल थी।"
2. **सुकरात का प्रभाव** : हीगल ने द्वन्द्वात्मक पद्धति को सुकरात से ही ग्रहण किया है, क्योंकि द्वन्द्वात्मक पद्धति के जनक सुकरात ही थे। उसने सुकरात के प्रश्न पूछने के तरीके पर ही अपना चिन्तन खड़ा किया है। सुकरात की वाद, प्रतिवाद व संवाद को प्रक्रिया पर आधारित करते हुए हीगल ने भी राज्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त पेश किया। अपने परिवार को वाद, नागरिक समाज को प्रतिवाद तथा राज्य को संवाद पर आधारित किया। उसने कहा कि मानव आत्मा इन्हीं माध्यमों या प्रक्रिया से गुजरकर अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करती है। उसने सुकरात की ही तरह संवाद को वाद और प्रतिवाद से श्रेष्ठ माना है।
3. **प्लेटो का प्रभाव** : हीगल अपने अध्ययन के दौरान ही यूनानी दर्शन में रुचि लेने लग गए थे। प्लेटो की ही तरह हीगल का विश्वास है कि व्यक्तियों का सच्चा व्यक्तित्व राज्य के अन्तर्गत ही विकसित हो सकता है। उसका मानना है कि मूलतः व्यक्ति राज्य की स ष्टि है, राज्य के अन्दर ही उसके अधिकार हैं। उसने राज्य को 'प थ्वी पर भगवान का अवतरण' (March of God on Earth) कहा है। इससे प्लेटो के सर्वसत्ताधिकारवादी राज्य की कल्पना का प्रभाव द ष्टिगोचर होता है। उसने प्लेटो के 'विचार' सम्बन्धी विचार को भी ग्रहण किया है। इसलिए उसने पदार्थ की तुलना में विचार तत्त्व को ही प्रमुखता दी है। उसका मानना है कि भौतिक वस्तुओं का नाश हो सकता है, विचार का नहीं। उसके अनुसार यह संसार सर्वव्यापी विचार का प्रकटीकरण है।
4. **अरस्तू का प्रभाव** : हीगल ने अरस्तू के सोदेश्यवाद के सिद्धान्त से भी कुछ न कुछ ग्रहण किया है। अरस्तू का मानना था कि किसी वस्तु की प्रकृति ही उसका ध्येय है। इसलिए संसार की प्रत्येक वस्तु इस ध्येय को प्राप्त करने के लिए अग्रसर रहती है। इसी प्रकार हीगल ने भी स्पष्ट कहा है कि प्रकृति की प्रत्येक वस्तु का अपना इतिहास होता है। वह

अपने उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए आगे बढ़ने के कारण इस इतिहास का निर्माण करती है। हीगल ने अरस्तू की ही तरह निरपेक्ष विचार में भी विश्वास व्यक्त किया है। यह विचार अपनी वास्तविक प्रकृति या रूप को प्राप्त करने का प्रयास करता है। यह विभिन्न स्तरों से गुजरते हुए अन्त में अपने वास्तविक रूप (पूर्णता) को पा लेता है। इस प्रकार हीगल पर अरस्तू के सोद्देश्यवाद (Teleology) तथा इतिहासवाद का गहरा प्रभाव है।

5. **मैकियावली का प्रभाव** : शक्ति के पुजारी के रूप में हीगल पर सबसे अधिक प्रभाव मैकियावली का ही पड़ा है। उसने अपनी राष्ट्रवादी धारणा मैकियावली के शक्ति-सिद्धान्त पर ही आधारित की है। हीगल ने स्वीकार किया है कि राजनीति में शक्ति का बहुत महत्त्व है।

6. **रूसो का प्रभाव** : हीगल ने रूसो की 'सामान्य इच्छा' पर ही राज्य को सावयविक स्वरूप प्रदान किया है। उसने 'आत्मा' को प्रभुसत्तासम्पन्न बताया है। रूसो की सामान्य इच्छा की तरह हीगल ने भी 'आत्मा' को समुदाय की सामान्य भलाई का ध्येय लिए हुए बताया है। हीगल ने निजी हित पर सार्वजनिक हित के विचार की सर्वोच्चता को रूसो से ही ग्रहण किया है। उसने रूसो की सामान्य इच्छा की ही तरह राज्य में ही व्यक्ति का पूर्ण जीवन सम्भव बताया है।

7. **काण्ट का प्रभाव** : हीगल ने 'सकारात्मक भलाई' का विचार काण्ट से ही ग्रहण किया है। उसनेकहा है कि राज्य एक सकारात्मक भलाई है। यह युक्ति पर आधारित है। व्यक्तियों को नैतिक बनाने में राज्य महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। हीगल भी काण्ट की तरह ही राज्य को सर्वशक्तिसम्पन्न तथा निरपेक्ष मानता है। वह व्यक्तियों को राज्य के विरुद्ध क्रान्ति करने की इजाजत नहीं देता। हीगल ने काण्ट के सभी उपयोगी विचारों को ही अपने दर्शन में स्थान दिया है। उसने बुद्धि के अनुसार कार्य करने को ही स्वतन्त्रता कहा है। उसने काण्ट की तरह यह स्वीकार किया है कि विश्व की समस्याओं का समाधान दार्शनिक चिन्तन द्वारा ही किया जा सकता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि हीगल के विचार दर्शन पर पूर्ववर्ती विचारकों व समकालीन परिस्थितियों का प्रभाव व्यापक है। लेकिन हीगल ने अन्धाधुन्ध अनुकरण करने की बजाय उपयोगी विचारों को ही अपने चिन्तन में ग्रहण किया है। उसने सुकरात, प्लेटो, अरस्तू, फिक्ते, रूसो, मैकियावली, काण्ट आदि विचारकों से ग्रहण किया और उन्हें अपनी आवश्यकतानुसार अपने दर्शन में प्रयोग किया।

महत्त्वपूर्ण रचनाएँ
(Important Works)

हीगल एक महान दार्शनिक होने के साथ-साथ एक विद्वान लेखक भी था। उसने दर्शन, राजनीति, अध्यात्म, कला व इतिहास आदि क्षेत्रों में अपना लेखन कार्य किया। जिस समय वह अपनी प्रथम पुस्तक 'Phenomenology of Spirit' लिख रहा था, उस समय जीना पर नेपोलियन ने आक्रमण कर दिया। इससे उसका लेखन कार्य बाधित हुआ। उसने जीना से बाहर जाकर भी अपना लेखन कार्य किया। उसकी रचनाओं का प्रकाशन 1807 ई॰ में शुरू हुआ। उसकी प्रमुख रचनाएँ निम्नलिखित हैं :-

1. **फिनोमिनोलॉजी ऑफ स्पिरिट (Phenomenology of Spirit, 1807)** : यह पुस्तक हीगल के दार्शनिक विचारों का निचोड़ है। इसमें हीगल ने एक सार्वभौमिक सत्य (Universal Truth) की खोज करने का प्रयास किया है। इस पुस्तक में उसने विश्वात्मा (Geist) का विचार प्रस्तुत किया है।

2. **साईंस ऑफ लॉजिक (Science of Logic, 1816)** : इस पुस्तक में हीगल ने द्वन्द्ववाद का क्रमबद्ध विश्लेषण किया है। इस पुस्तक में दुर्बोधता और जटिलता का गुण होने के कारण हीगल को ख्याति बहुत बढ़ गई।

3. **एनसाइक्लोपीडिया ऑफ दि फिलोसीफिकल साईंस (Encyclopaedia of the Philosophical Scinces, 1817)** : इस पुस्तक में हीगल के व्याख्यानों का सार है। इसमें हीगल ने अधिकारों और स्वतनत्रता की विस्त त विवेचना प्रस्तुत की है।

4. **फिलोसॉफी ऑफ राइट (Philosophy of Rights, 1821)** : इस पुस्तक में हीगल ने अपने राजनीतिक सिद्धान्तों का व्यवस्थित रूप में निरूपण किया है। इसमें हीगल ने स्वतन्त्रता की अवधारणा पर विस्त त रूप से चर्चा की है। इस पुस्तक के कारण हीगल की ख्याति राष्ट्रीय व अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर बहुत बढ़ गई।

5. **फिलोसॉफी ऑफ हिस्ट्री** (Philosophy of History) : इसका प्रकाशन हीगल की म त्यु के बाद हुआ। यह पुस्तक उन व्याख्यानों का संग्रह है जो उसने बर्लिन विश्वविद्यालय में अध्यापक के रूप में दिए थे। इन व्याख्यानों में अधिकांश धर्म दर्शन तथा सौन्दर्यशास्त्र पर हैं। इस पुस्तक में हीगल ने इतिहास की द्वन्द्वात्मक व्याख्या प्रस्तुत की है।

6. **कान्स्टीट्यूशन ऑफ जर्मनी** (Constitution of Germany) : इस पुस्तक का प्रकाशन भी हीगल की म त्यु के पश्चात् हुआ। इस पुस्तक में टुकड़ों-टुकड़ों में विभाजित जर्मनी की हालत पर प्रकाश डालते हुए हीगल ने एक नीति, एक शासन और एक विधान से युक्त केन्द्रीकृत जर्मन राज्य को पुनर्जीवित करने की आवश्यकता को प्रमाणित किया है। इस प्रकार यह पुस्तक जर्मनी के एकीकरण के उपायों पर गहरा प्रकाश डालती है।

इन रचनाओं में 'Science of Logic' तथा 'Phenomenology of Spirit' हीगल की महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं।

हीगल के राजनीतिक विचारों के दार्शनिक आधार
(Philosophical Basis of Hegel's Political Ideas)

हीगल के राजनीतिक चिन्तन का दार्शनिक आधार उसके 'विश्वात्मा के विचार' में मिलता है। विश्वात्मा की अवधारणा एक आध्यात्मिक विचारा है। हीगल ने इतिहास को विश्वात्मा की अभिव्यक्ति माना है। हीगल इस संसार में दिखाई देने वाली सभी वस्तुओं का उद्‌भव विश्वात्मा के रूप में देखता है। हीगल का दार्शनिक सूत्र है- "जो कुछ वास्तविक है, वह विवेकमय है और जो कुछ विवेकमय है वह वास्तविक है।" (The real is rational and rational is real)।

उसने आत्मा को वास्तविक सत्य मानकर इसे शाश्वत तथा सर्वव्यापी व अपने में ही पूर्ण सम्पूर्ण माना है। हीगल का विश्वास है कि इस संसार में कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है। इस संसार में हर एक वस्तु गतिशील है। वह आत्मा को प्रज्ञा या निरपेक्ष भाव (Reason or Absoute Idea) की संज्ञा देता है। उसके अनुसार परिवर्तन नित्य विश्व प्रक्रिया का अंग है। निरपेक्ष इसके अधीन है। प्रज्ञा या आत्मा को अपनी सर्वोच्च अवस्था तक पहुँचने के लिए अनेक सोपानों को पार करना पड़ता है। यह द श्यमान भौतिक जगत् आत्मा का साकार रूप है। इसके महान् रचनात्मक शक्ति होती है जो विकास के लिए मचलती है और इस प्रकार नए रूप को ग्रहण कर लेती है। हीगल के अनुसार विश्वात्मा के विकास का प्रारम्भिक रूप भौतिक अथवा जड़ जगत् है। मानव इसका उच्चतम रूप है। इस विकास-क्रम में मानव की स्थिति सर्वोपरि है क्योंकि इसमें चेतना आत्मा रहती है। हीगल का यह मानना है कि विश्वात्मा का विकास अवरुद्ध नहीं होता क्योंकि सम्पूर्ण विश्व अर्थात् प्रकृति की प्रत्येक वस्तु विकास-क्रम से बँधी हुई है तथा वह विश्वात्मा की ओर अग्रसर है। विश्वात्मा का बाह्य विकास विभिन्न संस्थाओं के रूप में होता है, जिनमें राज्य का सर्वोच्च स्थान है क्योंकि यह अन्य सभी संस्थाओं का नियामक व रक्षक है। इसलिए राज्य प थ्वी पर विश्वात्मा का प्रकटीकरण है। नैतिकता तथा विधि निर्माण सब कुछ राज्य के अन्तर्गत ही निहित है। राज्य का अपना व्यक्तित्व है और राज्य सबसे ऊपर है।

हीगल के अनुसार विश्वात्मा का विकास द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के द्वारा होता रहता है। यह विकास सीधी रेखाओं में न होकर टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं में होता है। इस प्रक्रिया का सूख त्रिमुखी है। इसमें पहले वाद, फिर प्रतिवाद तथा अन्त में संवाद आता है जो प्रथम व दूसरे से श्रेष्ठ होता है। इन तीनों में परस्पर स्थानान्तरण होता रहता है। वाद में वास्तविकता का प्रकटीकरण होता है। प्रतिवाद में उसका विपरीत रूप होता है। संवाद में इन दोनों का संश्लेषण हो जाता है। कालान्तर में संवाद वाद बन जाता है और अपने प्रतिवाद को जन्म देता है। इन दोनों का विरोध या दोष संवाद में समाप्त हो जाते हैं। इस प्रक्रिया में परिवारवाद होता है। इसमें समाज को प्रतिवाद के रूप में बदलने के बीज निहित रहते हैं। जहाँ परिवार की विशेषता परस्पर प्रेम होती है, वहीं समाज की विशेषता सार्वभौमिक प्रतिस्पर्धा होती है। मनुष्य की आवश्यकताओं को पूरा करने में परिवार के असफल रहने पर ही समाज का जन्म होता है और समाज के सर्वसत्ताधिकारवाद के कारण राज्य का जन्म होता है। राज्य संवाद के रूप में परिवार व समाज दोनों से श्रेष्ठ होता है। इस प्रकार द्वन्द्वात्मक विकास का अन्तिम चरण राज्य ही है। इस द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के अनुसार हीगल ने विश्वात्मा के विकास को तीन चरणों में विभाजित किया है। वह पहली स्थिति पूर्वी देशों की; दूसरी यूनानी तथा रोमन राज्यों की तथा तीसरी जर्मन राज्य के उत्थान की मानता है। वह घोषणा करता है कि जर्मनी शीघ्र ही एक विकसित राष्ट्र के रूप में उभरकर समूचे यूरोप महाद्वीप का प्रतिनिधित्व करेगा।

हीगल का कहना है कि संसार के विकास का मार्ग पूर्व निर्धारित है। इस विकास मार्ग को निर्धारित करने वाली शक्ति बुद्धि है। संसार की कोई भी वस्तु बुद्धि से परे नहीं है। इस विकास का अन्तिम लक्ष्य आत्मा द्वारा पूर्ण आत्मचेतना की प्राप्ति है।

अपने अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए आत्मा अनेक रूप धारण करती है। जब मनुष्य द्वारा आत्मचेतना की प्राप्ति कर ली जाती है तो विकास की इस प्रक्रिया का अन्त हो जाता है। विश्वात्मा ने जितने भी रूप धारण किए हैं और जितने भविष्य में धारण करेगी, उन सबमें मनुष्य ही सर्वोच्च है।

हीगल की विश्वात्मा की विशेषताएँ

1. यह बहुनामी विचार है। इसे आत्मा, विवेक, दैवीय मानस आदि नामों से पुकारा जाता है।
2. इसके अनुसार मानव तथा जगत् दोनों ही विश्वात्मा के प्रकटीकरण हैं।
3. यह सब वस्तुओं को अपने में समेटने का गुण रखती है। सब वस्तुओं के उद्‌भव का स्रोत है।
4. इसमें परिवर्तनशीलता का गुण होता है। यह अपने अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सदैव गतिशील रहती है।
5. इसका विकास द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के माध्यम से होता है। यह विकास-क्रम सीधा न होकर टेढ़ा-मेढ़ा होता है।
6. विश्वात्मा के विकास की अन्तिम परिणिति राज्य के रूप में होती है। इसलिए राज्य प थ्वी पर ईश्वर का अवतरण (March of God) है।

द्वन्द्वात्मक पद्धति
(Dialectical Method)

हीगल का द्वन्द्ववाद का विचार उसके सभी महत्त्वपूर्ण विचारों में से एक महत्त्वपूर्ण विचार है। यह विश्व इतिहास की सही व्याख्या करने का सबसे अधिक सही उपकरण है। हीगल ने इस उपकरण की सहायता से अपने दार्शनिक चिन्तन को एक नया रूप दिया है। इसी विचार के कारण हीगल को राजनीतिक चिन्तन में एक महत्त्वपूर्ण जगह मिली है। हीगल का द्वन्द्ववाद प्राथमिक महत्त्व का है। हीगल की प्रसिद्ध पुस्तक 'Science of Logic' में इसका विवरण मिलता है।

हीगल के अनुसर अन्तिम सत्य बुद्धि या विवेक है। इसलिए इसके विकास की प्रक्रिया को द्वन्द्ववाद का नाम दिया है। हीगल ने इस शब्द को यूनानी भाषा के 'डायलैक्टिक' जो कि 'डायलेगो' (Dialego) से निकला है, से इसका अर्थ लिया है। डायलेगो का अर्थ वाद-विवाद या तर्क-वितर्क करना होता है। इसका सर्वप्रथम प्रयोग सुकरात ने किया था। सुकरात इस पद्धति का परम भक्त था। इस पद्धति का प्रयोग करके वह अपने विरोधियों द्वारा दिए गए तर्कों का विरोध करके तथा उनका समाधान करके अन्तिम सत्य तक पहुँचने का प्रयास करता था। उस समय सत्य की खोज वाद-विवाद द्वारा ही की जाती थी। भारतीय दर्शन व यूनानी दर्शन में भी इस विधि का प्रयोग मिलता है। प्राचीन यूनानी विचारकों प्लेटो तथा अरस्तू के दर्शन में भी इस पद्धति का व्यापक प्रयोग मिलता है। हीगल तक यह पद्धति प्लेटो के माध्यम से पहुँची है। हीगल अपने द्वन्द्ववादी विचार के लिए प्लेटो के बहुत ऋणी हैं। उसने यूनानी दर्शन की त्रिमुखी प्रक्रिया को अपने दर्शन में प्रयोग किया है। यूनानी दार्शनिकों ने इस प्रक्रिया राजनीति में ही किया है। यूनानी विचारकों के अनुसार राजतन्त्र अपने प्रतिवाद के रूप में निरंकुश शासन में बदल जाता है। जब निरंकुशवाद अपने चरम शिखर पर पहुँच जाता है तो इस प्रतिवाद का नाश होकर लोकतन्त्र की स्थापना होती है। यूनानी विचारक द्वन्द्ववाद को तिहरी प्रक्रिया मानते थे। उनके अनुसार राजतन्त्र पहले कुलीनतन्त्र में और बाद में लोकतन्त्र में परिवर्तित हो जाता है। लोकतन्त्र पहले अधिनायकतन्त्र में तथा बाद में यह राजतन्त्र में बदल जाता है। यह प्रक्रिया अनवरत रूप से चलती रहती है।

हीगल ने इस त्रिमुखी प्रक्रिया में परिवर्तन करते हुए इसे राजनीतिक क्षेत्र की बजाय जीवन के सभी क्षेत्रों में लागू किया। उसने इस प्रक्रिया के तीन तत्त्व - वाद (Thesis), प्रतिवाद (Antithesis) और संवाद (Synthesis) बताए। उसका कहना था कि प्रत्येक विचार और घटना परस्पर दो विरोधी नीतियों - वाद और प्रतिवाद के संघर्ष से उत्पन्न होती है। इन दोनों के सत्य तत्त्वों को ग्रहण करके एक नया रूप जन्म लेता है, जिसे संवाद कहा जाता है। यह वाद और प्रतिवाद दोनों से श्रेष्ठ होता है, क्योंकि इसमें दोनों के गुण अन्तर्निहित होते हैं। कालान्तर में यह वाद बन जाता है। वही त्रिमुखी प्रक्रिया फिर से दोहराई जाती है। इस प्रकार वाद, प्रतिवाद और संवाद की प्रक्रिया अनवरत रूप से चलती रहती है। हीगल का कहना है कि यह निरन्तर आगे बढ़ने वाली प्रक्रिया है। यह सदैव विकास के उच्चतर स्तर की ओर बढ़ने वाली होती है। इस प्रकार हीगल ने द्वन्द्ववाद के यूनानी राजनीतिक सिद्धान्त को सार्वभौमिक रूप प्रदान कर दिया है। हीगल के अनुसार यह प्रक्रिया जीवन के सभी क्षेत्रों में चलती रहती है। हीगल के अनुसार वाद किसी वस्तु का होना (Being) या अस्तित्व को स्पष्ट करता है। प्रतिवाद जो वह

नहीं है (Non-being) को सिद्ध करता है। इस प्रकार वाद में ही प्रतिवाद के बीज निहित होते हैं। जब होना या अस्तित्व तथा न होना (Non-being) परस्पर मिलते हैं तो संवाद का जन्म होता है। इस तरह की प्रणाली संसार की सभी वस्तुओं व क्षेत्रों में मिलती है। इसी प्रणाली पर संसार का निरन्तर विकास हो रहा है।

हीगल का मानना है कि संसार के जड़ व चेतन सभी पदार्थों, सभी सामाजिक सस्थाओं, विचार के क्षेत्र में तथा अन्य सभी क्षेत्रों में इस प्रक्रिया को देखा जा सकता है। हीगल ने गेहूँ के दाने का उदाहरण देते हुए कहा कि दाना एक वाद है। उसको खेत में बोने से उसका अंकुरित होना प्रतिवाद है। पौधे के रूप में विकसित होने की तीसरी दशा संवाद है। यह प्रथम दोनों से उत्कृष्ट है। गेहूँ का एक दाना वाद है और संवाद में बीसियों दाने उत्पन्न हो गए। इसी तरह अण्डे में वीर्याणु वाद है। उसमें पाया जाने वाला रजकण प्रतिवाद है। वीर्य तथा रज के संयोग से जीव का जन्म होता है। यह अण्डे के भीतर भोजन प्राप्त करके पुष्ट होकर चूजे के रूप में अण्डे से बाहर आता है, यही संवाद है। इस प्रकार वीर्य (वाद) तथा रजकण (प्रतिवाद) दोनों ने मिलकर अधिक उत्कृष्ट रूप को जन्म दिया। यही बात मानव शिशु के बारे में भी कही जा सकती है। इसी प्रकार हीगल ने तर्क, प्रकृति और आत्मा के क्षेत्र में भी इस प्रक्रिया को लागू किया है। तर्क के क्षेत्र में जब हम इसको लागू करते हैं तो सर्वप्रथम वस्तुओं की सत्ता (Being) का ही बोध होता है; किन्तु आगे बढ़ने पर वस्तुओं के सार (Essence) का आभास हो जाता है। इसके बाद और आगे बढ़ने पर इसके बारे में और अधिक विचार (Notion) मिलते हैं। इसी प्रकार आत्मा के विकास की भी तीन दशाएँ - अन्तरात्मा (Subjective Spirit), ब्रह्मात्मा (Objective Spirit) तथा निरपेक्षात्मा (Absolute Spirit) हैं। जब प्रथम दशा से आत्मा दूसरे रूप में बाह्य जगत् के नियमों और संस्थाओं के रूप में व्यक्त होती है तो यह आत्मा का प्रतिवादी रूप है। अन्तरात्मा वाद का अध्ययन मानवशास्त्र तथा मनोविज्ञान द्वारा किया जाता है। ब्रह्मात्मा (प्रतिवाद) का आचारशास्त्र, राजनीतिशास्त्र या विधि-शास्त्र द्वारा किया जाता है। आत्मा का तीसरा रूप (संवाद) का अध्ययन कला, धर्म और दर्शन द्वारा किया जाता है। राज्य ब्रह्मात्मा के विकास की अन्तिम कड़ी है। इसमें आत्मा अपने मानसिक जगत् से निकलकर बाह्य जगत के विभिन्न नियमों तथा संस्थाओं के रूप में प्रकट होती हुई अन्त में राज्य के रूप में विकसित होती है। हीगल ने परिवार को एक वाद मानते हुए उसे समाज के रूप में विकसित करके राज्य के रूप में सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा दिया है। हीगल के मतानुसार परिवार का आधार पारस्परिक प्रेम है। परिवार एक वाद के रूप में मनुष्य की सारी आवश्यकताएँ पूरी नहीं कर सकता। इसलिए प्रतिवाद के रूप में समाज की उत्पत्ति होती है। समाज प्रतिस्पर्धा तथा जीवन संघर्ष पर आधारित होता है। जीवन को अच्छा व सुखमय बनाने के लिए संवाद के रूप में राज्य का जन्म होता है। इसमें परिवार तथा समाज दोनों के गुण पाए जाते हैं। इसमें प्रेम तथा स्पर्धा दोनों के लिए उचित स्थान है। इस आधार पर हीगल जर्मन राष्ट्रवाद के पूर्णत्व को प्रमाणित करते हुए कहता है कि यूनानी राज्य वाद थे; धर्मराज्य उसके प्रतिवाद तथा राष्ट्रीय राज्य उनका संवाद होगा। इस प्रकार जर्मनी राष्ट्र को उसने विश्वात्मा का साकार रूप कहा है।

द्वन्द्ववाद की विशेषताएँ
(Features of Dialecticis)

हीगल के द्वन्द्ववाद की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :

1. **स्वतः प्रेरित** : द्वन्द्ववाद की प्रमुख विशेषता इसका स्वतः प्रेरित (Self propelling) होते हुए निरन्तर अग्रसर रहना है। इसे आगे बढ़ने के लिए किसी दूसरी शक्ति से प्रेरणा ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है। यह विश्वात्मा में स्वयंमेव ही निहित है और इससे प्रेरणा लेती हुई आगे बढ़ती है। हीगल का कहना है कि आत्मा अपने आदर्शों को प्राप्त करने के लिए जब आगे बढ़ती है तो प्रतिवाद के रूप में उसे संघर्ष का सामना करना पड़ता है, जिसके परिणामस्वरूप संवाद की दशा पैदा होती है। इस प्रकार वाद में ही प्रतिवाद पैदा करने की शक्ति निहित होती है और इसी कारण से यह संघर्ष शाश्वत रूप से चलता रहता है। यह संघर्ष एक ऐतिहासिक आवश्यकता है, जिसके परिणामस्वरूप जर्मनी एक राष्ट्रवादी राज्य के रूप में उभरेगा।

2. **संघर्ष ही विकास का निर्धारक है** : हीगल का मानना है कि प्रगति या विकास दो परस्पर विरोधी वस्तुओं के संघर्ष या द्वन्द्व का परिणाम है। यह विकास टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं के माध्यम से होता है। हीगल ने कहा है- "मानव सभ्यता का विकास एक सीधी रेखा के रूप में न होकर टेढ़ी-मेढ़ी रेखा के रूप में होता है।"

3. **मानव का इतिहास प्रगति का इतिहास है** : हीगल का कहना है कि मानव की प्रगति संयोगवश या अचानक नहीं होती। इन प्रक्रिया को निश्चित करने वाला तत्त्व विश्वात्मा का विवेक है। यह विश्वात्मा अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अनेक रूप धारण करती है। इसका लक्ष्य आत्म-प्रकाशना (Self-realization) है। यह उसे मनुष्य के रूप में प्राप्त होती है। इसके बाद कोई अन्य उच्चतम विकास नहीं होता।
4. **सत्य की खोज का तरीका** : हीगल का कहना है कि किसी वस्तु के वास्तविक स्वरूप का पता उसकी दूसरी वस्तु के साथ तुलना करके ही लगाया जा सकता है। इसलिए वास्तविक स्वरूप (सत्य) की खोज द्वन्द्ववाद द्वारा ही की जा सकती है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि इस ब्रह्माण्ड में एक सार्वभौमिक आत्मा का अस्तित्व है और यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उसी का साकार रूप है। इस संसार में जो वास्तविक है, वह विवेकमय है और जो विवेकमय है वही वास्तविक है। प्रत्येक विचार में उसका सार निहित रहता है जो संसार की प्रत्येक वस्तु को गतिशील बनाए रखता है। इसी से मानव आत्मा अपने चरम लक्ष्य तक पहुँच जाती है।

द्वन्द्ववाद की आलोचना
(Criticisms of Dilectical Method)

सत्य के अन्वेषण की प्रमुख पद्धति होने के बावजूद भी हीगल के द्वन्द्ववाद की अनेक आधारों पर आलोचना हुई है। उसकी आलोचना के प्रमुख आधार निम्नलिखित हैं :-

1. **अस्पष्टता** : हीगल ने अपने द्वन्द्ववाद में विचार, निरपेक्ष भाव, नागरिक समाज, प थ्वी पर ईश्वर का आगमन आदि शब्दों का बड़ी अस्पष्टता के साथ प्रयोग किया है। हीगल ने धर्म, दर्शन, अर्थशास्त्र आदि में परिवर्तन का कारण 'विचार' में प्रगति को माना है। विज्ञान और दर्शन में जो भी नए-नए परिवर्तन होते हैं, उनका कारण विचारों में विरोध ही नहीं हो सकता, अन्य कारण भी होते हैं। हीगल ने जिन अवधारणाओं को द्वन्द्ववाद में प्रयोग किया है, वे बड़ी अस्पष्ट हैं। उनके अनेक अर्थ निकलते हैं। उसका प्रत्येक वस्तु के मूल में छिपा अन्तर्विरोध का विचार भी स्पष्ट नहीं है। इसलिए कहा जा सकता है कि हीगल के द्वन्द्ववाद में अस्पष्टता का पुट है।
2. **वैज्ञानिकता का अभाव** : हीगल ने अपने द्वन्द्ववाद में किसी वस्तु को मनमाने ढंग से वाद और प्रतिवाद माना है। उसका कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। उसने कहा है कि कोई वस्तु एक ही समय में सत्य भी हो सकती है और असत्य भी। यह पद्धति वस्तुनिष्ठ न होकर आत्मनिष्ठ है क्योंकि इसमें इतिहास के तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर वाद, प्रतिवाद और संवाद के रूप में पेश किया गया है। यदि द्वन्द्ववाद वैज्ञानिकता पर आधारित होता तो हीगल के तर्का के अलग अलग अर्थ नहीं निकलो होते। हीगल ने जहाँ राज्य को 'प थ्वी पर ईश्वर का आगमन' कहा है, वहीं मार्क्स ने राज्य को शैतान की संज्ञा दी है। इसकी आधारभूत मान्यता भी गलत सिद्धान्त पर टिकी हुई है कि एक बात एक समय पर सत्य और असत्य दोनों हो सकती है। अतः हीगल के द्वन्द्ववाद में वैज्ञानिक परिशुद्धता का अभाव है।
3. **व्यक्ति की इच्छा की उपेक्षा** : हीगल ने कहा है कि ऐतिहासिक विकास की गति पूर्व निश्चित है। प्रो॰ लेकेस्टर ने कहा है- "हीगल के द्वन्द्ववादी सिद्धान्त में व्यक्तिगत इच्छाओं और वरीयताओं को महज एक सनक (Caprice) मान लिया गया है।" हीगल के अनुसार- "मानव इतिहास के अभिनेता मनुष्य नहीं, बल्कि विशाल अवैयक्तिक शक्तियाँ (विचार) हैं।" यदि निष्पक्ष व तटस्थ द ष्टि से देखा जाए तो हीगल का यह सिद्धान्त इतिहास की पूर्ण व्याख्या प्रस्तुत नहीं करता। व्यक्ति की इच्छाएँ, अभिलाषाएँ व प्रयास इतिहास की गति बदलने की क्षमता रखते हैं। वैयक्तिक मूल्यों की उपेक्षा करके हीगल ने अपने आप को आलोचना का पात्र बना लिया है।
4. **मौलिकता का अभाव** : हीगल ने द्वन्द्ववादी सिद्धान्त को सुकरात तथा अन्य यूनानी चिन्तकों के दर्शन से ग्रहण किया है। उसने उसमें आमूल परिवर्तन करके नया रूप अवश्य देने का प्रयास किया है, लेकिन यह उसका मौलिक विचार नहीं कहा जा सकता।
5. **अतार्किकता** : हीगल ने भविष्यवाणी की थी कि वाद, प्रतिवाद और संवाद की प्रक्रिया द्वारा जर्मनी एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में पूर्णता को प्राप्त कर लेगा। तत्पश्चात् ऐतिहासिक विकास का मार्ग रुक जाएगा। लेकिन U.N.O. (संयुक्त राष्ट्र

संघ) की स्थापना हीगल के तर्क को झूठा साबित कर देती है। सभी राष्ट्रों की आर्थिक निर्भरता में भी पहले की तुलना में अधिक व द्धि हुई है। अतः उसकी भविष्यवाणी तार्किक द ष्टि से गलत है।

6. **अनुभव तत्त्व की उपेक्षा** : हीगल ने तर्क को सबसे ज्यादा महत्त्व दिया है। उसके अनुसार संसार के समस्त कार्यकलापों का आधार तर्क ही है। व्यक्तियों और राज्य के अतीत के अनुभव भी मानव इतिहास के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं। इसलिए हीगल ने अनुभव तत्त्व की उपेक्षा करने की भारी भूल की है। जस्टिस होमज़ ने कहा है- "मनुष्य के सभी कार्यकलापों में अनुभव तर्क से अधिक महत्त्वपूर्ण है।"
7. **वस्तुनिष्ठता का अभाव** : हीगल का द्वन्द्ववाद ऐतिहासिक अर्न्द ष्टि, यथार्थवाद, नैतिक अपील, धार्मिक रहस्यवाद आदि का विचित्र मिश्रण है। व्यवहार में उसने वास्तविक, आवश्यक, आकस्मिक, स्थायी और अस्थायी आदि शब्दों का मनमाने ढंग से प्रयोग किया है। इसी कारण से उसका द्वन्द्ववाद वस्तुनिष्ठ नहीं है।
8. **अत्यधिक एकीकरण पर बल** : हीगल ने नैतिक निर्णय और ऐतिहासिक विकास के आकस्मिक नियमों को मिला दिया है। उसने बुद्धि और इच्छा को भी मिला दिया है। उसने कहा कि जर्मनी को राज्य अवश्य बनना चाहिए। इसका अभिप्राय यह है कि जर्मनी को ऐसा करना चाहिए क्योंकि उसके पीछे कारणात्मक शक्तियाँ काम कर रही है। इसलिए इस अनावश्यक व अत्यधिक एकीकरण के कारण उसका द्वन्द्ववाद तर्क की अपेक्षा नैतिक अपील पर ज्यादा जोर देता है।
9. विश्वनाथ वर्मा ने हीगल के द्वन्द्ववाद को रोमांसवादी कल्पना कहा है।
10. हीगल ने आकस्मिक और महत्त्वहीन में अन्तर नहीं किया है।
11. हीगल का द्वन्द्ववाद सफलता की आराधना करता है, विफलता की नहीं। इसलए नीत्शे ने हीगल के द्वन्द्ववाद को 'सफलताओं की श ंखला का गौरवगान' कहा है।

उपर्युक्त आलोचनाओं के बाद यह नहीं कहा जा सकता कि हीगल का द्वन्द्ववाद पूर्णतया महत्त्वहीन है। हीगल के द्वन्द्ववाद का अपना विशेष महत्त्व है। इससे वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को समझने में मदद मिलती है। इससे मानव सभ्यता के विकास के बारे में पता चलता है। हीगल का ऐतिहासिक विकास में उतार-चढ़ाव की बात करना अधिक तर्कसंगत है। इस सिद्धान्त से मानव की बौद्धिक क्रियाओं के मनोविज्ञान को समझा जा सकता है। उसके द्वन्द्ववाद में सार्वभौतिकता का गुण होने के कारण इसे प्रत्येक क्षेत्र में लागू किया जा सकता है। हीगल ने दर्शन और विज्ञान की दूरी पाटने का प्रयास करके ज्ञान की विभिन्न शाखाओं में एकीकरण का प्रयास किया है। हीगल के द्वन्द्ववादी सिद्धान्त को मार्क्स ने उलटा करके अपना साम्यवादी दर्शन खड़ा किया है जिससे हीगल को अमरत्व प्राप्त हो गया है। इसलिए यही कहा जा सकता है कि अनेक गम्भीर त्रुटियों के बावजूद भी हीगल का द्वन्द्ववाद राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण और अमूल्य देन है।

राज्य का सिद्धान्त
(Theory of State)

हीगल के राज्य सम्बन्धी विचार सम्पूर्ण राजनीतिक चिन्तन में एक महत्त्वपूर्ण एवं मौलिक विचार हैं। उसके प्रमुख राज्य सम्बन्धी विचार 'फिनोमिनोलॉजी ऑफ स्पिरिट' तथा 'फिलोसॉफी ऑफ राइट' नामक ग्रन्थों में वर्णित हैं। हीगल ने जर्मनी की तत्कालीन राजनीतिक दुर्दशा को देखकर अपने चिन्तन को खड़ा किया था ताकि जर्मनी का एकीकरण हो सके और जर्मनी एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में उभर सके। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर उसने राज्य को बहुत महत्त्व प्रदान किया है।

हीगल के अनुसार इस संसार में जो चीज वास्तविक है, विवेकमय है, जो विवेकमय है, वास्तविक है। इसका तात्पर्य यह है कि जो वस्तु अस्तित्व में है वह तर्क के अनुकूल है और जो तर्क के अनुकूल है वह अस्तित्व में है। हीगल का मानना है कि पूर्ण विचार या तर्क का ज्ञान धीरे-धीरे तर्कसंगत शैली से ही हो सकता है। हीगल के अनुसार राज्य में पूर्ण विचार या दैवी आत्मा पूर्ण रूप से स्वतः सिद्ध अनुभूति को प्राप्त होता है। अर्थात् राज्य तर्क पर आधारित है। किसी वस्तु की सत्य प्रकृति का ज्ञान राज्य में ही सम्भव है। हीगल ने अरस्तू के आदर्श राज्य की वास्तविकता का खण्डन करते हुए कहा है कि सभी राज्य तर्कसंगत होते हैं, क्योंकि उनका विकास ऐतिहासिक क्रम में होता है। अर्थात् संसार की समस्त घटनाएँ एक पूर्व निश्चित योजना के अनुसार घटित होती है। इसके पीछे दैवी आत्मा या विश्वात्मा का हाथ होता है। इसलिए राज्य जैसी संस्था भी 'प थ्वी पर भगवान का अवतरण' (March of God on Earth) है।

हीगल ने अपने लेख 'The German Constitution' में राज्य को परिभाषित करते हुए कहा है कि- "राज्य मानवों का एक ऐसा समुदाय है जो सामूहिक रूपसे सम्पत्ति की रक्षा के लिए संगठित होता है। इसलिए सार्वजनिक सेना और सत्ता का निर्माण कर ही राज्य की स्थापना की जा सकती है।" यद्यपि हीगल ने शक्ति को राज्य का अनिवार्य तत्त्व माना है लेकिन राज्य अपने क्षेत्र में कानून के अनुसार कार्य करता है, शक्ति के द्वारा नहीं। उसके अनुसार राज्य किसी समझौते का परिणाम न होकर ऐतिहासिक विकास, सामुदायिक जीवन एवं परिवर्तित परिस्थितियों का परिणाम है। हीगल ने ग्रीक दर्शन से प्रभावित होकर अपनी पुस्तक 'Philosophy of Rights' में राज्य का व्यापक अर्थ में प्रयोग करते हुए राज्य को एक सर्वोच्च नैतिक समुदाय कहा है। उसके अनुसार- "राज्य मानव जीवन की सम्पूर्णता का प्रतीक है जिसमें परिवार, नागरिक समाज तथा राजनीतक राज्य क्षणिक हैं। इसमें नैतिक शक्तियाँ ही व्यक्तियों के जीवन को अनुशासित रखती हैं।"

राज्य की उत्पत्ति

Origin of the State

हीगल के अनुसार राज्य किसी समझौते की उपज न होकर विश्वात्मा का द्वन्द्वात्मक पद्धति से होने वाले विकास का परिणाम है तथा इसका अपना व्यक्तित्व है। हीगल का कहना है कि संसार में सभी जड़ व चेतन पदार्थ विश्वात्मा से ही जन्म लेते हैं और उसी में ही विलीन हो जाते हैं। यह विश्वात्मा (आत्मतत्त्व) आत्मज्ञान के अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए विश्व में अनेक रूप धारण करती है। वह निर्जीव वस्तुओं, वनस्पतियों और पशुओं के माध्यम से गुजरती हुई मानव का रूप धारण करती है। मानव विश्वात्मा का श्रेष्ठ रूप है। इसके बाद इसका परिवार तथा समाज के रूप में प्रकटीकरण होता है जो राज्य पर जाकर रुक जाता है क्योंकि राज्य विश्वात्मा का प थ्वी पर साक्षात् अवतरण होताहै।

राज्य का विकास

(Growth of the State)

हीगल का मानना है कि विश्वात्मा का द्वन्द्वात्मक रूप से चरम लक्ष्य की ओर विकास होता है। विश्वात्मा बाह्य जगत् में विकास के अनेक स्तरों को पार करती हुई सामाजिक संस्थाओं के रूप में प्रकट होती हैं। ये संस्थाएँ परिवार, समाज व राज्य हैं। परिवार का उद्‌भव व्यक्ति की भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए होता है। परिवार का आधार पारस्परिक प्रेम व सहिष्णुता है। परिवार राज्य की उत्पत्ति की प्रथम सीढ़ी है। परिवार व्यक्ति की सभी आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकता। ज्यों-ज्यों परिवार में सदस्यों की संख्या बढ़ती है तो परिवार व्यक्ति की सभी आवश्यकताओं का भार सहन नहीं कर पाता है। अपनी बढ़ी हुई आवश्यकताओं को पूरा करने के उद्देश्य से व्यक्ति समाज की ओर अग्रसर होते हैं। इसे हीगल ने बुर्जुआ समाज या नागरिक समाज का नाम दिया है। समाज में पारस्परिक निर्भरता प्रतिस्पर्धा और स्वार्थ पर आधारित होती है। इसके कारण संघर्ष की स्थिति पैदा हो जाती है और पुलिस की शक्ति भी अस्तित्व में आ जाती है। इस संघर्ष की स्थिति पर नियन्त्रण करने तथा पारस्परिक प्रेम व सहयोग की भावना पैदा करने के लिए राज्य का जन्म होता है जो परिवार तथा नागरिक समाज दोनों का सम्मिलित रूप है। इस प्रकार हीगल ने परिवार को वाद, नागरिक समाज को प्रतिवाद मानकर संवाद रूप में राज्य की उत्पत्ति की बात स्वीकार की है। संवाद के रूप में राज्य परिवार और नागरिक समाज दोनों से उत्कृष्ट होता है। यह समाज में एकता व सामंजस्य की स्थापना करता है और उसे सामाजिक हितों के अनुकूल कार्य करने के लिए प्रेरित करता है।

राज्य और नागरिक समाज में अन्तर

हीगल ने परिवार और राज्य में अन्तर स्वीकार किया है। उसके अन्तर के प्रमुख आधार निम्नलिखित हैं :

1. परिवार पारस्पारिक स्नेह और प्रेम भावना पर आधारित होता है, नागरिक समाज समझौते और स्वार्थ के बँधनों से बँधा हुआ एक समूह है।
2. परिवार के सदस्यों में एकता की भावना होती है, नागरिक समाज के सदस्यों में घोर प्रतिस्पर्धा होती है।
3. परिवार कृषि-प्रधान आर्थिक व्यवस्था पर आधारित होता है, नागरिक समाज उद्योग-प्रधान आर्थिक व्यवस्था पर आधारित होता है।
4. परिवार एक आंगिक (Organic) व्यवस्था है, नागरिक समाज कृत्रिम और यान्त्रिक व्यवस्था है।

5. परिवार में विवादों का निपटारा करने के लिए किसी कानून की आवश्यकता नहीं पड़ती, नागरिक समाज में झगड़ों का निपटारा करने के लिए कानून की व्यवस्था करनी पड़ती है।
6. नागरिक समाज में किए गए कार्यों के बदले पारिश्रमिक मिलता है, परिवार में नहीं।
7. परिवार में धैर्य व सहिष्णुता की भावना पाई जाती है, नागरिक समाज में इसका अभाव होता है।

हीगल के राज्य की विशेषताएँ
(Features of Hegel's State)

हीगल के राज्य सम्बन्धी उपर्युक्त विचारों का व्यापक अध्ययन करने के पश्चात् उसके राज्य की निम्नलिखित विशेषताएँ उभरकर आती हैं :

1. **राज्य दैवी संस्था है** **(State is a Divine Institution)** : हीगल ने राज्य को विश्वात्मा का साकार रूप माना है। उसके अनुसार राज्य 'भगवान का प थ्वी पर अवतरण' है। अनन्त युगों से असीम रूपों में विकसित होने वाली विश्वात्मा - भगवान का चरम रूप होने के कारण यह स्वतःसिद्ध और स्पष्ट है। ईश्वर ने अपनी दैवी इच्छा को प्रकट करने के लिए राज्य को अपना साधन बनाया है। इसलिए यह प थ्वी पर विद्यमान एक दैवीय विचार है।
2. **राज्य एक साध्य तथा एक समष्टि है** **(State is an End as well as Whole)** : हीगल का राज्य अपना उद्देश्य स्वयं ही है। राज्य का अस्तित्व व्यक्तियों के लिए नहीं है। व्यक्ति का अस्तित्व राज्य के लिए है। राज्य से परे नैतिक विकास असम्भव है क्योंकि राज्य से परे विश्वात्मा का आध्यात्मिक विकास उसी प्रकार सम्भव नहीं है, जिस प्रकार मनुष्य से आगे भौतिक विकास सम्भव नहीं है। राज्य प थ्वी पर विश्वात्मा का अन्तिम रूप के कारण अपने आप में एक साध्य है। अपने आप में साध्य होने के कारण राज्य एक समष्टि है। हीगल ने अपने ग्रन्थ 'Philosophy of History' में कहा है कि "मनुष्य का सारा मूल्य और महत्त्व उसकी समूची आध्यात्मिक सत्ता केवल राज्य में ही सम्भव है।" इसका अर्थ यह है कि व्यक्ति राज्य का अंग होने के कारण ही नैतिक महत्त्व रखता है। राज्य के आदेशों का पालन करने में ही व्यक्ति की भलाई है। इस प्रकार हीगल ने कहा है कि व्यक्ति का अस्तित्व राज्य में ही है, बाहर नहीं। उसने कहा है- "राज्य अपने आप में ही निरपेक्ष और निश्चित साध्य है।"
3. **सर्वोच्च नैतिकता का प्रतिनिधि** **(State Represents Highest Morality)** : राज्य सब प्रकार के नैतिक बन्धनों से मुक्त है। सर्वोच्च संस्था होने के नाते राज्य को नैतिकता का पाठ पढ़ाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। यह स्वयं ही नैतिकता के सिद्धान्तों का स जन करता है। यह अपने नागरिकों के लिए कूनन का निर्माण करते समय उनके द्वारा पालन की जाने वाली नैतिकता के मानदण्डाकें का भी निर्धारण करता है। कोई भी व्यक्ति अन्तरात्मा या नैतिक कानून के आधार पर राज्य की आज्ञा का विरोध नहीं कर सकता। राज्य उन सभी परम्पराओं और प्रथाओं का सर्वोत्तम व्याख्याकार है जिनके आधार पर व्यक्ति की अन्तरात्मा उसे विवेकपूर्ण ढंग से कार्य करने के लिए प्रेरित करती है। राज्य ही यह बता सकता है कि उचित व अनुचित क्या है। इसलिए राज्य जो भी कार्य करता है, सही होता है। इसी आधार पर राज्य नैतिकता का सर्वोच्च मानदण्ड है।
4. **अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों में राष्ट्र राज्य की सर्वोच्चता** **(Supremacy of Nation-State in International Relations)**: हीगल का राज्य अन्तरराष्ट्रीय नैतिकता व कानून से ऊपर है। हीगल का कहना है कि अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों में स्वार्थ-सिद्धि का उद्देश्य राज्य का प्रमुख उद्देश्य होता है। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए राज्य सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त है। वह आत्मरक्षा के लिए अन्य राज्यों के साथ कैसा व्यवहार कर सकता है। राज्य अपने हितों को पूरा करने के लिए सन्धियों व समझौतों का भी उल्लंघन कर सकता है। हीगल का कहना है कि राज्य अन्तरराष्ट्रीय कानून व सन्धियों का पालन उसी सीमा तक करते हैं जहाँ तक उनके हितों का पोषण होता है। अन्त में यही कहा जा सकता है कि हीगल का राज्य प्रभुसत्ता सम्पन्न है।
5. **व्यक्ति की स्वतन्त्रता में व द्धि का साधन है** **(State is a Means to Promote the Freedom of Man)** : हीगल का कहना है कि राज्य मनुष्य की स्वतन्त्रता को विकसित करने और बढ़ाने का साधन है। व्यक्ति केवल राज्य में रहकर ही पूर्ण स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकता है। व्यक्ति राज्य में ही अपने बाहरी अहम् को अपने आन्तरिक अहम् के स्तर तक

उन्नत कर सकता है। हीगल का कहना है कि सच्ची स्वतन्त्रता राज्य के कानूनों का पालन करने में है। इसके द्वारा व्यक्ति समाज के हितों के साथ सामंजस्य स्थापित करके अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सकता है। हीगल का कहना है कि राज्य व्यक्ति की वास्तविक स्वतन्त्रता को प्राप्त करने का प्रमुख साधन है। व्यक्ति की सच्ची स्वतन्त्रता राज्य के आदेशों का पालन करने में है, विरोध करने में नहीं।

6. **राज्य और व्यक्ति में विरोध नहीं (No contradictions Between State and Man)** : हीगल के अनुसार राज्य और व्यक्ति के हित एक हैं। राज्य व्यक्ति की सच्ची, निष्पक्ष एवं निःस्वार्थ इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है। इसलिए राज्य और व्यक्ति के हितों में विरोध नहीं है।
7. **राज्य पूर्ण विवेक की अभिव्यक्ति है** : हीगल के अनुसार राज्य आत्म-चेतना की शाश्वत व आवश्यक सत्ता है। राज्य वर्तमान चेतना के रूप में एक दैवी इच्छा है जो संगठित संसार के रूप में अपना उद्घाटन करती है। राज्य रक्त सम्बन्ध या भौतिक स्वार्थ पर आधारित संस्था न होकर विवेक पर आधारित एक संस्था है।
8. **पैत क एवं संवैधानिक राजतन्त्र का समर्थन (Favours Hereditary and Constitutional Monarchy)** : हीगल के अनुसार राज्य की सम्प्रभुता राजा में निहित है, जनता में नहीं। लेकिन सम्प्रभु कानून के दायरे में काम करने वाला होना चाहिए। इसके लिए प्रत्येक राज्य का अपना संविधान होना चाहिए। हीगल का मानना है कि राजा समुदाय की इच्छा का सामूहिक प्रतिनिधि होता है। यह राज्य की एकता का प्रतीक होता है। उसे विधायिका और कार्यपालिका के विषयों में निर्णय देने का अधिकार होता है। राजा ही संविधान और राज्य के व्यक्तित्व को साकार रूप प्रदान करता है। हीगल ने कहा है कि राजा को कोई विशेषाधिकार प्राप्त नहीं हो सकता। उसकी जो भी स्थिति है, वह वैधानिक स्थिति के कारण ही हो सकती है। इस प्रकार हीगल ने वैधानिक राजतन्त्र का समर्थन करके राजा की निरंकुशता को अस्वीकार किया है। वह केवल संवैधानिक राजतन्त्र का ही समर्थन करता है।
9. **युद्ध का पक्षधर (Supporter of War)** : हीगल का मानना है कि युद्ध मानव के सर्वोत्तम गुणों को प्रकट करते हैं। इनके व्यक्तियों में एकता की भावना पैदा होती है और उनका नैतिक विकास होता है। युद्ध विश्व इतिहास का निर्माण करते हैं। ये ग ह-युद्ध को रोकते हैं और आन्तरिक शक्ति में व द्धि करते हैं। इससे नागरिकों में देश-प्रेम की भावना का संचार होता है। हीगल का मानना है कि स्थायी शांति का विचार जनता को पथभ्रष्ट करता है। हीगल का यह भी मानना है कि आत्मा अपने उद्देश्य की पूर्ति राष्ट्रों में युद्ध के द्वारा ही करती है। इसलिए उसने कहा है कि- "विश्व-इतिहास, विश्व का न्यायालय है।" युद्ध में ही विश्वात्मा का सच्चा रूप प्रकट होता है।
10. राज्य परम्पराओं व प्रथाओं का अन्तिम व्याख्याकार है।
11. राज्य का आदेश व कार्य कभी गलत नहीं होता।
12 राज्य का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व होता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है। कि हीगल ने यूनानी दार्शनिकों की तरह राजय को सर्वश्रेष्ठ संस्था माना है, जिसका अपना व्यक्तित्व है। हीगल का राज्य साध्य है, साधन नहीं। सभी व्यक्ति राज्य रूपी समष्टि के अंग हैं। उनका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। उनके अधिकार व स्वतन्त्रताएँ राज्य में ही निहित हैं। राज्य विश्वात्मा की सर्वोत्तम इच्छा का प्रकटीकरण होने के कारण सर्वश्रेष्ठ आध्यात्मिक निकाय है। इसलिए हीगल ने राज्य को प थ्वी पर ईश्वर का अवतरण कहकर नास्तिकवाद पर करारा प्रहार किया है। वह निरंकुश शासकों के लिए एक नए मार्ग को प्रशस्त करता है।

आलोचनाएँ
(Criticisms)

यद्यपि हीगल ने राज्य के सम्बन्ध में अपने कुछ महत्त्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किए हैं, लेकिन फिर भी उसके राज्य सम्बन्धी विचारों की आलोचना हुई है। उसकी आलोचना के प्रमुख आधार निम्नलिखित हैं :-

1. आलोचकों का मानना है कि राज्य की उत्पत्ति परिवार और नागरिक समाज के मध्य संघर्ष से होना उचित नहीं है। परिवार और नागरिक समाज में संघर्ष या तनाव जैसी कोई स्थिति नहीं होती। प्लामेनाज ने हीगल के इस सिद्धान्त को गलत

ठहराया है। उसका कहना है कि परिवार और नागरिक समाज में ऐसा कोई संघर्ष नहीं होता जिसके निराकरण के लिए राज्य की आवश्यकता पड़े।

2. हीगल की सम्भ्रभुता की धारणा अस्पष्ट है। हीगल इस बात को स्पष्ट नहीं करता कि सम्प्रभु के क्या अधिकार हैं ? एक तथ्य तो यह कहता है कि राजा का कार्य नीति निर्धारण करना है, परन्तु दूसरी तरफ वह यह भी कहता है कि राजा किसी कानून पर केवल अपनी सहमति ही प्रकट करता है, कानून का निर्माण नहीं करता। अतः यह धारणा अस्पष्ट है।
3. हीगल का राज्य को व्यक्तित्व प्रदान करने का सिद्धान्त गलत है। मैकाइवर ने कहा है कि- "जिस तरह एक व क्षों का समूह एक व क्ष नहीं माना जा सकता, उसी प्रकार व्यक्तियों के समूह को एक व्यक्ति नहीं माना जा सकता।"
4. हीगल का राज्य का सिद्धान्त अराजकता को बढ़ावा देने वाला है। उसने राज्य को सभी नैतिक बन्धनों से मुक्त कर दिया है। उसने राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय कानून व सन्धियों का उल्लंघन करने का अधिकार देकर विश्व शान्ति के लिए खतरा पैदा कर दिया है।
5. स्वतन्त्रता को कानून के साथ मिलाना न्यायसंगत नहीं है।
6. यह अन्तरराष्ट्रीयवाद का विरोधी है। यह केवल राष्ट्र-राज्य की धारणा का ही पोषक है।
7. हीगल सर्वसत्ताधिकारवादी राज्य का समर्थन करता है। उसने जन-सम्प्रभुसत्ता को अस्वीकार करके जनमत की उपेक्षा की है। उसने जातीयता, राष्ट्रवाद, शक्ति और युद्ध का समर्थन करके राज्य की वेदी पर व्यक्ति का बलिदान कर दिया है।

इस प्रकार हीगल के राज्य सम्बन्धी विचारों की अनेक आलोचनाएँ हुई हैं, लेकिन उसके सिद्धान्त का महत्त्व कम नहीं आंका जाना चाहिए। उसका प्रगति का विचार एक महत्त्वपूर्ण विचार है। उसने राज्य को व्यक्ति के विकास का महत्त्वपूर्ण उपकरण मान लिया है। उसने राजनीति और नैतिकता में मधुर सम्बन्ध स्थापित किया है। उसने संविधानवाद का समर्थन किया है। उसका यह सिद्धान्त शासन की निरंकुशता का पूरा विरोध करता है। इसलिए उसने संवैधानिक राजतन्त्र का ही समर्थन किया है। अन्त में यही कहा जा सकता है कि उसके राज्य सम्बन्धी विचार राजनीतिक चिन्तन को एक महत्त्वपूर्ण व अमूल्य देन हैं।

सम्प्रभुता और शासन पर विचार
(Views on Sovereignty and Government)

अपनी शासन पद्धति में हीगल ने राजा को विशेष स्थान प्रदान किया है। उसके अनुसार राज्य की व्यवस्थापिका और कार्यपालिका शक्तियाँ राजा के माध्यम से ही सामंजस्यपूर्ण तरीके से एक हो जाती हैं। राजा ही राज्य की एकता और सर्वोच्च सत्ता का प्रतीक होता है। इसलिए राज्य की सम्प्रभुता जनता में न होकर राजा में होती है। वही राज्य की इच्छा का निर्धारण करता है। हीगल के अनुसार राज्य की आन्तरिक सम्प्रभुता का सार समग्र की प्रधानता में और विभिन्न सत्ताओं की राज्य की एकता पर निर्भरता और अधीनता में ही निहित है। उसका कहना है कि राजा के अभाव में एकता की स्थापना करना असम्भव है। राजा राज्य की एकता का मूर्तिमान रूप होता है। लेकिन राजा को भी संविधान के नियमों का पालन करना पड़ता है। इसलिए हीगल का शासक निरंकुश न होकर संविधान द्वारा मर्यादित है। हीगल का विश्वास है कि- "सम्प्रभुता वैधानिक व्यक्तित्व में ही निवास करती है, न कि जनता या नागरिकों के समूह में। इस वैधानिक व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति एक व्यक्ति के रूप में होनी चाहिए और वह व्यक्ति राजा ही हो सकता है।" इससे स्पष्ट होता है कि हीगल वैधानिक राजा को ही सम्प्रभु मानता है।

हीगल ने शासन व्यवस्था पर विचार करते हुए राज्य के लिए संविधान का होना अति आवश्यक मानकर उसके अन्तर्गत तीन सत्ताओं - विधायिका, कार्यपालिका और राजा का वर्णन किया है। इन तीनों सत्ताओं के प थक्करण के आधार पर ही हीगल ने संवैधानिक राजा की सम्प्रभुता का औचित्य सिद्ध किया है। उसके अनुसार विधायिका का कार्य सार्वजनिक इच्छा का निर्धारण करना है। कार्यपालिका का कार्य सार्वजनिक इच्छा के अनुकूल विशेष समस्याओं का समाधान करना है और सम्राट में अन्तिम रूप से निर्णय लेने की शक्ति होती है। उसके अनुसार विधायिका के दो सदन होते हैं। उच्च सदन (अभिजात सदन) निम्न सदन। अभिजात सदन की सदस्यता वंशानुगत और ज्येष्ठता के सिद्धान्त पर आधारित होती है। प्रतिनिधि या निम्न सदन नागरिक

समाज के शेष नागरिकों से बनता है जो प्रतिनिधि निगमों, गिल्डो, समुदायों आदि द्वारा अपने लिए निर्धारित संख्या के हिसाब से चुने जाते हैं। इस तरह उच्च सदन जमींदारों का तथा निम्न सदन कृषक वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। हीगल के अनुसार विधायिका का प्रमुख कार्य केवल मंत्रियों को सलाह देना और सामान्य नियमों का निर्माण करना है, कानून का निर्माण करना नहीं। उसका विश्वास है कि इसके पास कानून की रचना करने की योग्यता नहीं होती।

कार्यपालक सत्ता को हीगल ने विशेष क्षेत्रों और अलग-अलग मामलों को एक सामान्य सूत्र में बाँधने वाली शक्ति माना है। इसके अन्तर्गत उच्च प्रशासनिक पदाधिकारी, अधीनस्थ अधिकारी और न्यायिक पदाधिकारी आते हैं। इसका कार्य नीति-निर्माण करना न होकर नीति को लागू करना होता है। नीति-निर्माण करना तो राजा का कार्य है। हीगल के अनुसार कार्यपालिका का कार्य सम्राट के निर्णयों को क्रियान्वित करना, प्रचलित कानूनों पर अमल करवाना और विद्यमान संस्थाओं को बनाए रखना है। कार्यपालक सत्ता राजकर्मचारियों का ऐसा समुदाय होती है जो राज्य का मुख्य अवलम्ब होती है। इसके महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए हीगल ने कहा है- "राज्य के संगठन और आवश्यकताओं को समझने के लिए उच्चतम सरकारी कर्मचारियों में अधिक गम्भीर और व्यापक द ष्टि होती है।" यह कर्मचारी वर्ग (कार्यपालिका) विधानपालिका की सहायता के बिना भी सर्वोत्तम शासन कर सकता है। इसी आधार पर हीगल ने इसे शासन का सर्वश्रेष्ठ अंग माना है। उसके कार्य में विधानपालिका महत्त्वपूर्ण योगदान देती है। यदि कार्यपालिका की द ष्टि से समाज की कोई इच्छा चूक जाती है तो विधानपालिका उसे कार्यपालिका के सामने लाती है। यह शासन प्रबन्ध की आलोचना से भी कार्यपालिका को अवगत कराती है। इस तरह कार्यपालिका को महत्त्वपूर्ण संस्था बनाने में विधानपालिका का ही हाथ होता है।

शासन की तीसरी सत्ता राजा होता है। शासन का कार्य सामान्य रूप से तो विधानपालिका तथा कार्यपालिका ही करती है, लेकिन संकट के विभिन्न अवसरों पर राजा ही महत्त्वपूर्ण निर्णय करता है। राजा ही कार्यपालिका और विधानपालिकाओं में तालमेल स्थापित करता है। राजा को संविधान की मर्यादाओं का पालन करना पड़ता है। इसलिए वह निरंकुश न होकर जनभावनाओं के अनुरूप ही कार्य करता है। राजा शक्ति का प्रतीक है, प्रयोगकर्ता नहीं। मंत्रिमण्डल उसके प्रति उत्तरदायी तो है, लेकिन राजा को कोई विशेषाधिकार प्राप्त नहीं है। सेबाइन का कहना है- "हीगल का राजा कोई विशेष शक्ति प्राप्त व्यक्ति नहीं है। उसे राज्य के अध्यक्ष की अपनी शक्ति वैधानिक स्थिति के कारण ही प्राप्त है।" हीगल ने वंशानुगत राजतन्त्र का ही समर्थन किया है क्योंकि वह उसे प्राकृतिक मानता है। इस तरह राजा शासन की महत्त्वपूर्ण शक्ति का परिचायक है।

शासन के प्रकार

हीगल ने शासन के तीन प्रकार माने हैं :-

(i) निरंकुश शासन (Despotism)

(ii) लोकतन्त्र तथा कुलीनतन्त्र (Democracy and Aristocracy)

(iii) राजतन्त्र (Monarchy)

हीगल ने अपने द्वन्द्ववादी विकास के सिद्धान्त के आधार पर भारत चीन, मिस्त्र आदि देशों की शासन व्यवस्थाओं को निरंकुश कहा है। यूनानी नगर राज्यों को उसने लोकतन्त्र तथा कुलीनतन्त्र के अन्तर्गत रखा है। उसने जर्मनी की शासन व्यवस्था (राजतन्त्र) को तीसरी अवस्था मानकर इसे सर्वश्रेष्ठ शासन प्रणाली कहा है। उसने निरंकुशतन्त्र को वाद, लोकतन्त्र और कुलीनतन्त्र को उसका प्रतिवाद मानकर ऐतिहासिक विकास-क्रम में वैधानिक राजतन्त्र को शासन की सर्वश्रेष्ठ प्रणाली कहा है क्योंकि इसमें विश्वात्मा के चरम लक्ष्य के दर्शन होते हैं। इस प्रकार हीगल ने शासन प्रणालियों के वर्गीकरण को द्वन्द्ववादी आधार प्रदान करके संवैधानिक राजतन्त्र को शासन का उत्कृष्ट रूप कहा है।

इस प्रकार हीगल के सम्प्रभुता तथा शासन सम्बन्धी विचारों के निष्कर्ष के तौर पर कहा जा सकता है कि हीगल सर्वसाधारण की शासन करने की क्षमता में विश्वास नहीं करता। वह इसी आधार पर वयस्क मताधिकार का विरोध करता है। वह विधानमण्डल में बहसों की गोपनीयता, प्रेस की स्वतन्त्रता और सूचना स्वतन्त्रता का समर्थन करके संविधानवाद में अपना विश्वास व्यक्त करता है। वह राजा को विधामण्डल तथा कार्यपालिका के मध्य समन्वय स्थापित करने वाली कड़ी मानता है। वह निरंकुश राजतन्त्र के स्थान पर संवैधानिक राजतन्त्र का सिद्धान्त प्रतिष्ठित करता है।

इतिहास का सिद्धान्त
(Theory of History)

हीगल ने इतिहास की दार्शनिक व्याख्या करते हुए उसे बिखरी हुई असम्बद्ध घटनाओं का विकास न मानकर उसे सप्राण विकास माना है। उसका मानना है कि इतिहास की सभी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ या कारण निर्वैयक्तिक होते हैं और सामान्य शक्तियों के रूप में होते हैं। ये सामान्य शक्तियाँ विश्वात्मा के उद्देश्यों के अनुकूल ही कार्य करती हैं। उसके अनुसार विश्व इतिहास के विकास की सम्पूर्ण गति पूर्व निश्चित है। उसका मानना है कि विश्वात्मा (पूर्ण विचार, धीमी विाकसशील प्रक्रिया से आगे बढ़ती है। विश्वात्मा की विकासशील प्रक्रिया में संयोग या आकस्मिक घटनाओं का कोई स्थान नहीं होता। सम्पूर्ण ऐतिहासिक विकास एक युक्तिपूर्ण योजना के अनुसार ही होता है। जब विश्वात्मा अपने पूर्व निश्चित ध्येय को प्राप्त करने के लिए आगे बढ़ती है तो उसे अनेक अन्तर्विरोधों का सामना करना पड़ता है। इसलिए विश्वात्मा (पूर्ण विचार) को अनेक रूप धारण करने पड़ते हैं। वह अपने मूल रूप को त्यागकर प्रतिदिन नए रूप ग्रहण करती रहती है। उसका प्रत्येक रूप ऐतिहासिक विकास की एक यात्रा के समान होता है। उसे अपने अन्तिम रूप तक पहुँचने के लिए अनेक यात्राएँ करनी पड़ती हैं।

विश्वात्मा के विकास की प्रथम अवस्था भौतिक अथवा निर्जीव संसार है। हम इसे अपने ज्ञानेन्द्रिय ज्ञान से ही जान सकते है।। इसके बाद सजीव संसार का स्थान है। यह अवस्था अधिक जटिल होती है। तीसरी अवस्था प थ्वी पर मनुष्य का विकास है। यह प्रथम व द्वितीय अवस्थाओं से अधिक जटिल है क्योंकि इसमें युक्ति तत्त्व का समावेश हो जाता है। अगली अवस्था में परिवार का विकास होता है। इसके बाद नागरिक समाज की अवस्था है। विकास की अन्तिम अवस्था राज्य के विकास की है। इस मंजिल पर पहुँचकर ही विश्वात्मा या पूर्ण विचार का आत्म-साक्षात्मकार होता है। इस तरह पूर्ण ऐतिहासिक विकास का आरम्भ और अन्त राज्य में ही होता है। आत्म-साक्षात्कार की इस अवस्था में ही विश्वात्मा अपने चरम लक्ष्य तक पहुँच जाती है।

हीगल ने अपनी पुस्तक 'Philosophy of History' में विश्वात्मा के विकास की स्थितियों पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि प्रथम स्थिति पूर्वी देशों - चीन, भारत, ईरान, मिस्त्र आदि देशों की है। इन देशों में विश्वात्मा शैशवरूप में थी। उसका कहना है कि चीन में समूचा मानव जीवन एक ही व्यक्ति द्वारा नियन्त्रित होता था और वहाँ स्वतन्त्रता का अभाव था। इसके बाद विश्वात्मा भारत की ओर उन्मुख होकर आगे बढ़ी। इसके बाद विश्वात्मा ने यूनान और रोम में प्रवेश किया। यूनान की कला, धर्म, दर्शन तथा रोम के कानून में इसकी अभिव्यक्ति हुई। इस अवस्था में जनता ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए राजाओं से संघर्ष किया परन्तु उन्हें पूर्ण सफलता नहीं मिल सकी। हीगल का विश्वास है कि विश्वात्मा के रूप में मानव जाति का पूर्ण विकास जर्मनी में होगा। यह विश्वात्मा के विकास की चरम अवस्था होगी। जर्मनी का राष्ट्र-राज्य के रूप में विकास सार्वदेशिक विश्वात्मा का प्रतिनिधित्व करेगा।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि हीगल का इतिहास का सिद्धान्त उसके विश्वात्मा के दार्शनिक सिद्धान्त पर आधारित है। उसका इतिहास का सिद्धान्त विश्वात्मा के कार्यकलापों के आलेख के सिवाय कुछ नहीं है जो संसार के भिन्न-भिन्न राष्ट्रों या जातियों से होकर राष्ट्र-राज्य के रूप में प्रकट होती है। उसका राष्ट्र-राज्य ही कला, कानून, नैतिकता तथा धर्म का सच्चा स्रष्टा है। मानव सभ्यता का इतिहास राष्ट्रीय संस्कृतियों का एक अनुक्रम है जिसमें प्रत्येक राष्ट्र सम्पूर्ण मानव उपलब्धियों के लिए अपना विशेष योगदान देता है।

स्वतन्त्रता का सिद्धान्त
(Theory of Freedom)

हीगल का स्वतन्त्रता सम्बन्धी सिद्धान्त राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में उसका एक महत्त्वपूर्ण योगदान है। हीगल से पहले भी अनेक विचारकों ने स्वतन्त्रता पर अपने विचार प्रकट किए। लेकिन उन सभी का द ष्टिकोण आत्मपरक (व्यक्तिवादी) ही रहा। हीगल ने इसे व्यापक आधार प्रदान किया है। हीगल के अनुसार- "स्वतन्त्रता व्यक्ति का एक विशेष गुण है। इसको छोड़नेका अर्थ है मानवता का परित्याग करना। अतः स्वतन्त्र न होना मनुष्य द्वारा अपने मानवीय अधिकारों और कर्त्तव्यों का परित्याग करना है।" उसने फ्रेंच क्रान्ति द्वारा प्रतिपादित किए गए स्वतन्त्रता सम्बन्धी मिथ्या व भ्रान्त धारणाओं का खण्डन किया है। स्वतन्त्रता के व्यक्तिवादी विचारकों के अनुसार स्वतन्त्रता घूमने-फिरने, विचार प्रकट करने तथा अपने धर्म का पालन करने, इच्छानुसार जीवन व्यतीत करते में है। लेकिन हीगल ने स्वतन्त्रता अपनी इच्छानुसार कार्य में न होकर राज्य की इच्छानुसार पालन करने में बताई है। हीगल का विचार है कि निरंकुश होकर व्यक्ति की स्वतन्त्रता को तो कुचल सकता है लेकिन व्यक्ति राज्य की इच्छा को कुचल नहीं सकता। इसलिए सच्ची स्वतन्त्रता राज्य के आदेशों का आँख बन्द करके पालन करने में है।

स्वतन्त्रता का विकास

हीगल का मानना है कि विश्वात्मा के क्रमिक विकास की तरह स्वतन्त्रता का भी विकास हुआ है। विश्वात्मा के प्राच्य युग में केवल निरंकुश व्यक्ति ही स्वतन्त्र था। यूनान और रोम में कुछ ही व्यक्ति स्वतन्त्र थे क्योंकि वहाँ दास-प्रथा थी। हीगल के अनुसार नवोदित राष्ट्र जर्मनी में मानव-स्वतन्त्रता का उदय हुआ है जहाँ सभी व्यक्ति व्यक्ति होने के नाते स्वतन्त्र हैं। लेकिन जर्मनी में भी पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं है, क्योंकि वहाँ विश्वात्मा का पूर्ण विकास नहीं हुआ है। जब जर्मन राष्ट्र राज्य के रूप में विश्व मानचित्र पर उभरेगा तो वह पूर्ण स्वतन्त्रता की स्थिति होगी। मानव का अन्तिम लक्ष्य सुख की प्राप्ति न होकर स्वतन्त्रता की प्राप्ति करना है। हीगल का कहना है कि- "विश्व का इतिहास स्वतन्त्रता की चेतना की प्रगति के सिवाय और कुछ नहीं है।" आज तक विश्व में जितने भी युद्ध हुए हैं, उनके पीछे स्वतन्त्रता का विचार प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में अवश्य छिपा हुआ है।

दार्शनिक आधार

(Philosophical Basis)

हीगल ने अपने स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों को दार्शनिक आधार पर औचित्यपूर्ण माना है। उसके अनुसार स्वतन्त्रता आत्मा का सार है। उसका मानना है कि स्वतन्त्रता का अर्थ अपने आप में पूर्ण होना, दूसरे पर किसी प्रकार से निर्भर न रहना है। यह विशेषता आत्मा में है, जड़ पदार्थों में नहीं। जड़ पदार्थों में आत्मनिष्ठा का गुण नहीं पाया जाता है। संसार की सभी जड़ वस्तुएँ गुरुत्वाकर्षण के नियम के अनुसार शासित होती हैं। उनकी प्रव त्ति सदा अपने स्वरूप से बाहर अवस्थित गुरुत्वाकर्षण केन्द्र की ओर जाने की होती है। अतः वे स्वतन्त्र नहीं हो सकती। दूसरी तरफ आत्मा अपने स्वरूप से बाहर नहीं जाती। इसलिए आत्मा का विकास स्वतन्त्रता का विकास है और मानव जाति के विकास का इतिहास स्वतन्त्रता के विकास का सूचक है। मानव इतिहास का उच्चतम विकास राज्य के रूप में होता है। इसमें विश्वात्मा अपना अन्तिम साकार रूप ग्रहण करती है। अतः ऐसा राज्य ही पूर्ण स्वतन्त्र राज्य है। विश्वात्मा के चरम रूप के कारण राज्य व्यक्तियों की स्वार्थमयी व संकीर्ण भावनाओं से ऊपर उठा हुआ होता है। हीगल का कहना है कि स्वतन्त्रता का अभिप्राय वैयक्तिक इच्छा के अनुसार कार्य करना न होकर राज्य की इच्छा के अनुसार कार्य करना है। इससे व्यक्ति अपनी वासनाओं और इच्छाओं की दासता से मुक्ति पाता है और सच्ची स्वतन्त्रता का उपभोग करता है।

कानून और स्वतन्त्रता में विरोध नहीं है

हीगल का मानना है कि कानून स्वतन्त्रता का ही मूर्त रूप है। राज्य का कोई भी कानून व्यक्ति अपनी ही इच्छा का परिणाम है क्योंकि व्यक्ति भी विश्वात्मा का साकार रूप है, यद्यपि उसमें उतनी पूर्णता नहीं है, जितनी राज्य में पाई जाती है। फिर भी वह राज्य का अभिन्न अंग है। लेकिन वह स्वार्थमयी प्रव त्ति के कारण सामाजिक हित के विपरीत कार्य कर सकता है। उस समय उसका कार्य विश्वात्मा के प्रतिकूल होता है, इसलिए उस पर कानून का अंकुश लगाना आवश्यक होता है। कानून उसकी भलाई ही करता है। वह उसे सच्ची स्वतन्त्रता की ओर उन्मुख करता है। यदि वह कानून का पालन दण्ड के भय से करता है तो उसे स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता। यदि वह अपनी इच्छा से कानून का पालन करता है तो वह विश्वात्मा की इच्छा के अनुसार कार्य करके सच्ची स्वतन्त्रता को प्राप्त कर रहा होता है। अतः कानून और स्वतन्त्रता में विरोध नहीं हो सकता। उसके अनुसार तो कानून का पालन करना ही स्वतन्त्रता है।

हीगल और काण्ट की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणाओं में अन्तर

काण्ट के अनुसार स्वतन्त्रता 'बन्धनों का अभाव' है। काण्ट स्वतन्त्रता का नकारात्मक तथा आत्मपरक द ष्टिकोण प्रस्तुत करता है। उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को सदैव अपने व्यक्तित्व की रक्षा करनी चाहिए और राज्य पर अधिक निर्भर नहीं रहना चाहिए। उसके अनुसार स्वतन्त्रता अन्तःकरण के अनुसार आचरण करने में है। हीगल के अनुसार स्वतन्त्रता एक सामाजिक व्यापार है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता इस व्यापार को बढ़ावा देने में है, व्यक्तिगत स्वार्थों को पूरा करने में नहीं। उसने काण्ट की स्वतन्त्रता सम्बन्धी को नकारात्मक तथा आत्मपरक कहा है। इसलिए उसने काण्ट की स्वतन्त्रता की आलोचना करते हुए कहा है कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता समाज के कानूनों और परम्पराओं को मानने तथा उसके नैतिक जीवन में भाग लेने में है, अन्तःकरण के अनुसार आचरण करने में नहीं। उसके अनुसार स्वतन्त्रता इच्छा और कामनाओं की स्वच्छन्द प्राप्ति का नाम नहीं है, यह तो सामाजिक हित में स्व-निर्णय की शक्ति है।

इस प्रकार हीगल ने स्वतन्त्रता को नकारात्मक न मानकर सकारात्मक माना है। उसके अनुसार स्वतन्त्रता बन्धनों का अभाव नहीं है। यह तो राज्य के आदेशों का पालन करने में है। उसने स्वतन्त्रता को आत्मगत (Subjective) न मानकर वस्तुगत (Objective) माना है। हीगल का कहना है कि व्यक्ति को स्वतन्त्रता का अर्थ सामाजिक व्यापार के रूप में समझना चाहिए। उसे अपने सुख के साथ-साथ दूसरों के सुखों पर ज्यादा ध्यान देना चाहिए। यदि उसका कोई कार्य सामाजिक हित के विपरीत हो तो उसे स्वतन्त्रता नहीं कहा जा सकता। उसने काण्ट के व्यक्तिवादी विचार के स्थान पर सामाजिक व्यापार शब्द का प्रयोग किया है। उसने काण्ट के सीमित स्वतन्त्रता के विचार की आलोचना की है। उसका विचार काण्ट की तुलना में कम व्यक्तिवादी है। उसके अनुसार व्यक्ति की निजी स्वतन्त्रता का कोई महत्त्व नहीं है। उसने व्यक्ति की इच्छा को राज्य की इच्छा में विलीन कर दिया है। उसके अनुसार व्यक्ति अपने जीवन का पूर्ण विकास राज्य की इच्छा में ही अपनी इच्छा को विलीन करके ही कर सकता है। इस तरह हीगल ने काण्ट की नकारात्मक, सीमित तथा आत्मगत स्वतन्त्रता के स्थान पर सकारात्मक, असीमित और वस्तुनिष्ठ स्वतन्त्रता का समर्थन किया है।

हीगल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा की विशेषताएँ

(Features of Hegel's Theory of Freedom)

1. हीगल के अनुसार सच्ची स्वतन्त्रता अन्तःकरण के अनुसार कार्य करने में न होकर विशुद्ध विवेक द्वारा प्रेरित होकर कार्यकरने में निहित है।
2. स्वतन्त्रता स्वार्थ में नहीं, परमार्थ में निहित है। व्यक्ति को समाज हित की द ष्टि से स्वतन्त्रता का उपभोग करना चाहिए।
3. हीगल की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा में अधिकारों की अपेक्षा कर्त्तव्यों पर अधिक जोर दिया गया है। हीगल का कहना है कि- "व्यक्ति की मुक्ति कर्त्तव्यपालन में है।"
4. स्वतन्त्रता एक सामाजिक व्यापार है क्योंकि समाज से अलग व्यक्ति स्वतन्त्रता की कल्पना नहीं कर सकता। उसके अनुसार स्वतन्त्रता सामाजिक प्रथा, परम्परा और नैतिकता के अनुरूप ढालने में है, अपनी व्यक्तिगत इच्छा को स्वतन्त्र आधार प्रदान करने में नहीं। हीगल का कहना है कि "स्वतन्त्रता के किसी दावे का नैतिक समर्थन उस समय तक नहीं किया जा सकता, जब तक वह सामाजिक हित और सामान्य इच्छा द्वारा समर्थित न हो।"
5. हीगल के अनुसार स्वतन्त्र राज्य की अधीनता को स्वेच्छा से स्वीकार करने में है क्योंकि राज्य विश्वात्मा का साकार रूप है। राज्य विश्वात्मा के चरम विकास की अवस्था है। जो नागरिक राज्य की आज्ञा का पालन करता है, वही पूर्ण स्वतन्त्रता का उपभोग करता है। राज्य विवेक का वास्तविक रूप होता है। अतः उसके अनुसार आचरण करने में स्वतन्त्रता निहित है क्योंकि विवेक सदैव दोषमुक्त होता है।
6. सच्ची स्वतन्त्रता राज्य के कानूनों का पालन करने में है, उनके विरोध में नहीं, कानून व्यक्ति की इच्छा का ही परिणाम होते हैं। हीगल ने कहा है- "जब व्यक्ति की आत्मनिष्ठ इच्छा कानूनों के समक्ष आत्मसमर्पण करती है तो स्वतन्त्रता और आवश्यकता का अन्तर्विरोध मिट जाता है।"

हीगल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी उपर्युक्त विचारों के आधार पर कहा जा सकता है कि हीगल ने स्वतन्त्रता को नकारात्मक व आत्मगत तत्त्वों की परिधि से निकालकर सकारात्मक तथा वस्तुनिष्ठ आधार पर प्रतिष्ठित किया है।

आलोचनाएँ

(Criticisms)

एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त होने के बावजूद भी हीगल के स्वतन्त्रता सम्बन्धी सिद्धान्त को आलोचना का पात्र बनना पड़ा है। उसकी आलोचना के प्रमुख आधार निम्नलिखित हैं :-

1. हीगल ने राज्य को असीमित और अमर्यादित शक्तियाँ प्रदान करके व्यक्ति का महत्त्व क्षीण कर दिया है। उसने व्यक्ति को राज्य का दास बना दिया है। उसने व्यक्ति की इच्छा को राज्य की इच्छा के साथ मिला दिया है।
2. हीगल ने अधिकारों की अपेक्षा कर्त्तव्यों पर अधिक जोर दिया है। राज्य की वेदी पर व्यक्ति के अधिकारों का बलिदान करने का मतलब व्यक्ति के व्यक्तित्व को कुचलना है। उसने व्यक्ति को राज्य रूपी दैत्य के मुँह में धकेल दिया है। आधुनिक राष्ट्र राज्यों में कर्त्तव्यों के साथ-साथ अधिकारों को भी बराबर का महत्त्व दिया जाता है क्योंकि अधिकार और कर्त्तव्य एक सिक्के के दो पहलू होते हैं।

3. हीगल की स्वतन्त्रता की धारणा प्रजातन्त्रीय विचारों के विपरीत है। उसने राज्य की अधीनता को ही स्वतन्त्रता का नाम दिया है जबकि आधुनिक प्रजातन्त्रीय राज्यों की द ष्टि में व्यक्ति के व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विकास स्वतन्त्र सामाजिक वातावरण में ही सम्भव है। हीगल व्यक्ति के ऊपर इतने बन्धन लगा देता है कि उससे प्रजातन्त्रीय सिद्धान्तों का उल्लंघन होने लगता है।
4. कानून और स्वतन्त्रता एक साथ नहीं चल सकते। कानून व्यक्ति पर कुछ बन्धन लगाता है जबकि स्वतन्त्रता बन्धनों से मुक्ति का ही नाम है। अतः दोनों एक-दूसरे से अलग हैं।
5. हीगल ने यह भी नहीं बताया कि व्यक्ति की समस्त इच्छाओं का केन्द्र राज्य कैसे बन सकता है। उसका यह विचार बड़ा अस्पष्ट व भ्रमपूर्ण है।
6. हीगल ने नागरिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता की उपेक्षा की है। उसने अपने दर्शन में कहीं भी इसका जिक्र नहीं किया है। इस द ष्टि से उसकी स्वतन्त्रता की धारणा अधूरी है। सेबाइन ने कहा है कि- "हीगल के स्वतन्त्रता-सिद्धान्त में कहीं भी किसी प्रकार की नागरिक अथवा राजनीतिक स्वतन्त्रता का भाव नहीं है।"
7. हीगल ने व्यक्ति को साधन तथा राज्य को साध्य मानने की भारी भूल की है। हीगल ने व्यक्ति को साधन तथा राज्य को साध्य मानने की भारी भूल की है। हीगल की इस धारणा के अनुसार व्यक्ति का कोई महत्त्व नहीं है। जबकि इस चेतन व अचेतन जगत् में मानव-बुद्धि की कोई बराबरी नहीं कर सकता।
8. हीगल की इस धारणा में फासीवाद व नाजीवाद के बीज मिलते हैं। हीगल ने फासीवादी व नाजीवादियों की तरह जातीय श्रेष्ठता व कर्त्तव्यों पर बल दिया है।

उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि हीगल ने स्वतन्त्रता को सामाजिक तथ्य मानकर उसमें सार्वजनिक कल्याण की भावना पर आधारित किया है। उसने काण्ट की नकारात्मक व आत्मपरक धारणा के स्थान पर सकारात्मक तथा वस्तुनिष्ठता का गुण पैदा किया है। इससे स्वतन्त्रता की धारणा को नई दिशा मिली है। यह सिद्धान्त व्यक्तिगत इच्छा के स्थान पर सामाजिक हित को प्राथमिकता देता है। इससे समाज में परमार्थ की भावना का उदय होता है, अन्त में कहा जा सकता है कि अपने अनेक दोषों के बावजूद भी यह भी हीगल की सम्पूर्ण राजनीतिक चिन्तन को एक महत्त्वपूर्ण एवं अमूल्य देन है। स्वतन्त्रता-सिद्धान्त को नई दिशा देने में हीगल द्वारा किए गए प्रयास शाश्वत महत्त्व के हैं।

हीगल का योगदान
(Hegel's Contribution)

हीगल का राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसे विश्व का महानतम दार्शनिक माना जाता है। सेबाइन ने हीगल के द्वन्द्ववाद तथा राष्ट्रीय-राज्य की अवधारणा को बहुत महत्त्व दिया है। उसने राजनीतिक चिन्तन को नई दिशा देने का प्रयास करके अपने आप को राजनीतिक दार्शनिकों की पंक्ति में आगे खड़ा किया है। उसकी समस्त रचनाएँ उसकी विलक्षण प्रतिभा का प्रतिबिम्ब हैं। उसके दर्शन ने परवर्ती विचारकों पर जो प्रभाव डाला है उससे उसके बहुमूल्य योगदान का पता चलता है। उसके इतिहास के दर्शन ने राजनीतिक सिद्धान्त के विकास पर बहुत अधिक प्रभाव डाला है। उसके महत्त्वपूर्ण राजनीतिक विचारों के कारण ही उसे राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में एक महानतम दार्शनिक माना जाता है। उसकी महत्त्वपूर्ण देन निम्नलिखित है :-

1. **द्वन्द्ववादी पद्धति** (Dialectical Method) : हीगल की द्वन्द्ववादी पद्धति ने समस्त यूरोपियन दर्शन के क्षेत्र में एक क्रान्ति पैदा कर दी। उसने विज्ञान और धर्म के विरोध को समाप्त करके विकासवाद पर जोर दिया। उसने इस बात पर जोर दिया कि इस स ष्टि का निर्माण आकस्मिक घटना न होकर विश्वात्मा की विकासमान प्रकृति का परिणाम है। उसने बताया कि विश्व निरन्तर प्रगति की ओर गतिवान है। इस प्रकार उसने द्वन्द्वात्मक पद्धति के रूप में विश्व में होने वाले महान् परिवर्तनों को समझने के लिए एक नवीन दार्शनिक साधन प्रस्तुत किया। आगे चलकर कार्ल मार्क्स ने द्वन्द्ववादी तर्क को ही अपने दर्शन का आधार बनाया। इस प्रकार हीगल की द्वन्द्ववादी पद्धति उसकी राजनीतिक चिन्तन को महत्त्वपूर्ण देन है।
2. **राष्ट्रीय राज्य की अवधारणा का जनक** : अनेक विचारकों ने हीगल को राष्ट्रीय-राज्य की अवधारणा का जनक, राष्ट्रीयता का अग्रदूत, व्याख्याता और प्रबल प्रचारक कहा है। उसने अपनी रचनाएँ उस समय लिखीं जब जर्मनी विभिन्न

टुकड़ों में बँटकर राष्ट्रवाद से विहीन होता जा रहा था। उसने पराजित जर्मनी को उसके गौरवमयी इतिहास की याद दिलाकर उसमें नई चेतना पैदा की। उसके राष्ट्रवादी विचारों से जर्मनी के साथ-साथ अन्य देशों में राष्ट्रवाद की भावना प्रबल हुई। उसने राष्ट्रवाद को धर्म की तरह एक विश्वास का रूप देने का प्रयास किया। उसकी भावना से प्रभावित होकर ही समार्क ने जर्मनी में राष्ट्रीय एकता की स्थापना की। मैक्सी ने कहा है कि- "वर्तमान युग में पाए जाने वाले राष्ट्रीयता के अतीव उत्कृष्ट विचारों का पोषण हीगल से हुआ है। उस समय उसका प्रयोजन जर्मनी के राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करना था, किन्तु उसके विचारों ने ऐसे सिद्धान्तों के रूप में अपना स्थान बनाया जिनसे न केवल जर्मनी में, बल्कि अन्य सभी देशों में भी राष्ट्रीयता को धर्म का रूप दिया गया।" अतः यह निर्विवाद सत्य है कि हीगल आधुनिक राष्ट्र-राज्यों के जनक हैं।

3. **प्रगति का विचार** : हीगल ने प्रगति का विचार देकर मानव सभ्यता के इतिहास के विकास को नई दिशा प्रदान की। उसका मानना है कि संसार की सभी वस्तुओं का निरन्तर विकास हो रहा है। उसके अनुसार मानव सभ्यता का इतिहास भी निरन्तर होने वाले विकास की प्रक्रिया का परिणाम है। उसने बताया कि राज्य भी इसी विकासात्मक प्रकृति का परिणाम है।

4. **राज्य के सावयवी सिद्धान्त का प्रतिपादक** : हीगल ने कहा कि व्यक्ति और राज्य में कोई विरोध नहीं है। यूनानी विचारकों की तरह उसनेभी कहा कि राज्य के बिना व्यक्ति की कल्पना नहीं की जा सकती। व्यक्ति का विकास राज्य में ही सम्भव है। हीगल के अनुसार विश्वात्मा का साकार रूप है। यह विश्वात्मा का चरम लक्ष्य है। व्यक्ति भी इसका अविभाज्य अंग है। उसे राज्य का सदस्य होने के नाते अपनी स्वतन्त्रता राज्य की आज्ञा का पालन करने में ही स्वीकार करनी चाहिए। इसी में उसकी भलाई है। इस तरह हीगल ने राज्य को एक साध्य और व्यक्ति को एक साधन मानकर अपने आंगिक सिद्धान्त (Organic Theory) के विचार का पोषण किया है।

5. **राजनीति और नैतिकता का समन्वय** : हीगल ने कहा है कि राज्य 'ईश्वर का प थ्वी पर अवतरण' (March of God on earth) है। वह विश्वात्मा का चरम लक्ष्य है। उसने राज्य को विश्वात्मा जिससे नैतिकता घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई का सर्वोच्च रूप माना है। उससे पहले राज्य का नैतिकता के साथ कोई सम्बन्ध नहीं था। इस द ष्टि से उसने आधुनिक चिन्तन का प्रतिपादन किया। आधुनिक युग में प्रमुख समस्या धर्म को राजनीति के साथ मिलाने की है ताकि शासक वर्ग जनता के हितों पर ध्यान दे और अपनी स्वार्थमयी प्रव त्ति का दमन करे।

6. **फासीवाद व नाजीवाद का प्रेरणा-स्रोत** :हीगल की जातीय श्रेष्ठता पर आधारित राष्ट्रवादी तत्त्वों के परिणामस्वरूप मुसोलिनी के फासीवाद को एक महत्त्वपूर्ण आधार मिल गया। उसके द्वारा राज्य को साध्य मानना, अधिकारों की अपेक्षा कर्त्तव्यों पर जोर देना फासीवाद के आधारभूत सिद्धान्त बन गए। हीगल ने राज्य को अलग व्यक्तित्व से विभूषित करके फासीवाद का ही पोषण किया। सेबाइन का कहना है कि- "इटली में फासीवाद ने अपने आरम्भिक चरणों में हीगल के दर्शन से ही आधार ग्रहण किया। तथापि, फासीवाद ने अपने उद्देश्यों की सिद्धि के लिए हीगल के कुछ सिद्धान्तों को अपने अनुरूप ढाल लिया था।" इसी तरह नाजीवाद ने भी हीगल से प्रेरणा ग्रहण की है। अतः फासीवाद तथा नाजीवाद पर हीगल का प्रभाव स्पष्ट है।

7. **सामाजिक समझौता सिद्धान्त का अन्त** : हीगल ने कहा कि राज्य एक कृत्रिम सामाजिक समझौते का परिणाम नहीं है। सामाजिक समझौता राज्य का आधार नहीं हो सकता। राज्य का मूलाधार मानवता की सहज व स्वाभाविक प्रव त्तियाँ होती हैं। हीगल के विचारों के कारण सामाजिक समझौता सिद्धान्त का प्रभुत्व समाप्त हो गया।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि हीगल के दर्शन ने परवर्ती चिन्तन को बहुत प्रभावित किया। उसका सर्वाधिक प्रभाव बिस्मार्क पर पड़ा। बिस्मार्क ने हीगल को राष्ट्रीयता की विचारधारा के आधार पर ही जर्मनी को संगठित किया। मार्क्स ने भी हीगल की द्वन्द्ववादी प्रणाली को अपने चिन्तन का आधार बनाया। हीगल ने नैतिकता को राजनीति से जोड़ने का जो प्रयास किया, उससे राजनीतिक सिद्धान्तों को नई दिशा मिली। हीगल ने धर्म और विज्ञान की खाई को भी पाटने का प्रयास किया। उसने राष्ट्रीय हितों को व्यक्ति के हितों से प्राथमिकता देकर राष्ट्रवाद का प्रसार किया। उसके राष्ट्रवादी विचारों से फासीवाद व नाजीवाद ने भी व्यापक सामग्री प्राप्त की। उसने नग्न व्यक्तिवाद की आलोचना करके उसके दोषों की ओर चिन्तकों का ध्यान आकृष्ट किया। उसके विचारों का प्रभाव जर्मनी के साथ-साथ अन्य देशों पर भी पड़ा। इसलिए उसे सर्वोत्तम दर्शन का सर्वोत्तम प्रतिनिधि कहा जा सकता है।

अध्याय-12

टी॰ एच॰ ग्रीन

(T.H. Green)

परिचय
(Introduction)

इंगलैण्ड के महान् आदर्शवादी विचारक ग्रीन का राजदर्शन के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। हम उसके दर्शन में आदर्शवाद, उदारवाद, व्यक्तिवाद तथा सत्तावाद का एक सुन्दर समन्वय पाते हैं। उन्होंने आधुनिक उदारवाद को एक नया धार्मिक विश्वास प्रदान किया, व्यक्तिवाद को नैतिक तथा सामाजिक बनाया और आदर्शवाद को सन्तुलित एवं परिमार्जित किया। उन्होंने अपने दर्शन में व्यक्ति तथा राज्य दोनों को महत्त्व दिया। वेपर का यह मन्तव्य सही है कि ग्रीन ने अंग्रेजों को बेन्थमवाद से कहीं अधिक सन्तुष्टि प्रदान की। काण्ट के दर्शन पर आधारित होने के कारण उसका आदर्शवाद अधिक सौम्य है।

जीवन परिचय
(Life Sketch)

ब्रिटिश दार्शनिक टी॰ एच॰ ग्रीन का जन्म 7 अप्रैल, 1836 ई॰ में यार्कशायर जिले के बिरकिन नामक स्थान पर हुआ। उसका पिता एक प्रसिद्ध पादरी था। लेकिन वह धार्मिक कर्मकाण्ड से सर्वथा दूर रहकर बाइबल की शिक्षाओं के अनुसार जीवन व्यतीत करता था। ग्रीन पर अपने पिता की नैतिकता और प्रचण्ड धार्मिक उत्साह का व्यापक प्रभाव पड़ा। उसने 14 वर्ष की आयु तक घर पर ही ज्ञानार्जन किया और तत्पश्चात् 1850 से 1855 ई॰ तक उसने रग्बी का अध्ययन किया। 1855 में उसने ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया और अपने जीवन का शेश सारा समय यहीं पर बिताया। यद्यपि ग्रीन कोई प्रतिभाशाली विद्यार्थी नहीं था, लेकिन फिर भी उसने स्वयं को अध्ययन कार्य से जोड़े रखा। ऑक्सफोर्ड में ग्रीन की भेंट बेन्जामिन जावेट से हुई। इस विद्वान व्यक्ति के सम्पर्क में आने पर ग्रीन के जीवन में बौद्धिक क्रांति का सूत्रपात हुआ। उसने 1860 में बेलियल फेलोशिप प्राप्त की, वह 1866 में ऑक्सफोर्ड में ही टयूटर नियुक्त हुए और 1878 तक इसी पद पर कार्य करते रहे। 1878 में वह ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में ही नैतिक दर्शन (Moral Philosophy) का प्राध्यापक नियुक्त हुआ और जीवन में बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की। अपने अध्यापन कार्य के साथ-साथ उसने सार्वजनिक मामलों तथा व्यावहारिक राजनीति में भी भाग लिया। वह वह उदारवादी दल (Liberal Party) का सक्रिय सदस्य रहा और ऑक्सफोर्ड टाउन काउन्सिल से जन प्रतिनिधि के रूप में निर्वाचित हुआ। उसने अपने पद पर रहते हुए शराबबन्दी, गरीबों की शिक्षा में सुधार आदि कार्य किए। उसने शराब बन्दी कानून बनवाने व उसे लागू करवाने के लिए शराबन्दी आन्दोलन में भाग लिया। लेकिन यह भाग्य की विडम्बना रही कि समाज सेवा को सर्वोच्च प्राथमिकता देने वाले इस महान् दार्शनिक की 26 मार्च, 1882 को 46 वर्ष की अल्पायु में ही म त्यु हो गई।

महत्त्वपूर्ण रचनाएँ
(Important Works)

ग्रीन ने क्रमबद्ध रूप से लिखते हुए राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में अपना अमूल्य योगदान दिया है। उसके जीवनकाल में उसकी कोई रचना प्रकाशित नहीं हुई। अतः आर॰ एल॰ नेटलशिप ने ग्रीन पर सबसे प्रिय शिष्य होने के नाते उसकी रचनाओं को तीन भागों में प्रकाशित किया। उसकी अधिकांश रचनाएँ दर्शनशास्त्र और नीतिविषयक हैं। उसकी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ निम्नलिखित हैं :

1. **लिबरल लेजिस्लेशन एण्ड फ्रीडम ऑफ काण्ट्रेक्ट (Liberal Legislation and Freedom of Contract)** : यह रचना 1880 में आयरिश जमींदारों ओर असामियों के बीच में हुए समझौते को नियन्त्रित करने के लिए ग्लैडस्टन द्वारा प्रस्तुत किए गए प्रस्ताव पर दिए गए भाषण का संग्रह है। यह रचना ग्रीन की सर्वश्रेष्ठ और महत्त्वपूर्ण रचना है।
2. **प्रोलोगोमेना टू एथिक्स (Prolegomena to Ethics)** : यह रचना नीतिशास्त्र से सम्बन्धित है। इसमें ग्रीन द्वारा प्राध्यापक के तौर पर दिए गए नीति उपदेशों का सार संकलित है।
3. **लेक्चर्स ऑन दि प्रिंसिपल्स ऑफ पॉलिटिकल आब्लीगेशन (Lectures on the Principles of Political Obligation)**: यह रचना ग्रीन के राजनीतिक सिद्धान्तों का सार है। इसमें राजाज्ञा पालन के सिद्धान्तों पर व्यापक रूप से लिखा गया है। यह रचना ग्रीन के भाषणों का संकलन है। इस रचना में उसने दार्शनिक विचारधारा पर आधारित राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करके एक नया आयाम स्थापित किया है।
4. **लेक्चर्स ऑन इंगलिश रिवोल्यूशन (Lectures on English Revolution)** : इस रचना में ग्रीन द्वारा शानदार क्रान्ति (Glorious Revolution) के बारे में प्रस्तुत किए गए भाषणों के अंश संकलित हैं।

इस प्रकार ग्रीन ने अपनी रचनाओं में नीतिशास्त्र, दर्शनशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र सम्बन्धी विचार प्रस्तुत किए हैं :-

ग्रीन के दार्शनिक प्रेरणा-स्रोत
(Philosophical Inspirations of Green)

ग्रीन का दर्शन भी हीगल की ही तरह अध्यात्म तत्त्व से अभिप्रेरित है। ग्रीन ने इस तत्त्व को शाश्वत चैतन्य (Eternal Consciouness) कहा है। ग्रीन ने इस विचार का निर्माण करने में यूनानी दर्शन, रूसो का दर्शन, जर्मन आदर्शवाद आदि का विशेष प्रभाव है। ग्रीन के दार्शनिक प्रेरणा-स्रोत निम्नलिखित हैं :-

1. **यूनानी दर्शन (Greek Philosophy)** : ग्रीन ने अपना अधिकांश समय ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में व्यतीत किया। यहाँ पर उसने प्लेटो व अरस्तू की रचनाएँ पढ़ने को मिलीं। उसने इन रचनाओं का अध्ययन करने के बाद यह निष्कर्ष निकाला कि मनुष्य स्वभाव से एक राजनीतिक प्राणी है, राज्य सदाचार की साँझेदारी है, कानून विशुद्ध तथा निर्विकार बुद्धि की अभिव्यक्ति है और धर्म प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अपने सामाजिक कर्त्तव्यों का पालन करने में है। इस प्रकार यूनानी दर्शन ग्रीन के विचारों का प्रेरणा-स्रोत है।
2. **रूसो का दर्शन (Rousseau's Philosophy)** : ग्रीन ने रूसो की तरह व्यक्ति की नैतिकता पर विशेष जोर दिया है। रूसो की सामान्य इच्छा को ग्रीन ने भी राज्य की प्रभुत्व शक्ति माना है। उसने सामान्य इच्छा को सामूहिक हित की सामूहिक चेतना का नाम दिया है। ग्रीन का कहना है कि इस सामूहिक चेतना का उद्देश्य सार्वजनिक हित होता है। यह एक ऐसी नैतिक चेतना होती है जिसकी आज्ञा का पालन करके मनुष्य अपनी नैतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति करता है। यह चेतना समाज की सद् इच्छा होती है जो समाज के सामाजिक हितों को पूरा करती है। इस तरह ग्रीन पर रूसो के दर्शन का भी प्रभाव है।
3. **जर्मन आदर्शवाद (German Idealism)** : ग्रीन पर जर्मन आदर्शवाद के तीन प्रतिनिधियों - काण्ट, फिक्टे तथा हीगल का भी विशेष प्रभाव है। उसका दर्शन काण्ट के उस स्वतन्त्र इच्छा के सिद्धान्त पर आधारित है जिसके कारण मनुष्य सदैव अपने को साध्य समझता है। काण्ट की ही तरह ग्रीन सद् इच्छा को ही मूल्यवान वस्तु मानता है। वैयक्तिक स्वतन्त्रता, युद्ध और अन्तरराष्ट्रीय नैतिकता के बारे में ग्रीन पर काण्ट का अधिक प्रभाव है। हीगल की ही तरह ग्रीन का भी मानना है कि शाश्वत दैवी चेतना अथवा विवेक निरन्तर अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए आगे बढ़ती रहती है। ग्रीन हीगल की ही तरह राज्य को सर्वोच्च समुदाय मानता है। उसका कहना है कि राज्य से बाहर और राज्य के विरुद्ध व्यक्ति के कोई अधिकार नहीं हो सकते। उसके अनुसार राज्य सामान्य इच्छा की पूर्ण अभिव्यक्ति होने के नाते सर्वश्रेष्ठ है। स्वतन्त्रता के बारे में भी ग्रीन हीगल का ही अनुसरण करते हुए विधेयात्मक (Positive) स्वतन्त्रता को ही स्वीकार करता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि ग्रीन पर हीगल व काण्ट का विशेष प्रभाव है।

(4) **परम्परा विरोधवाद (Non-Conformism)** : परम्परा विरोधियों ने ग्रीन के राजनीतिक चिन्तन पर व्यापक प्रभाव डाला है। परम्परा विरोधी चर्च का विरोध करते थे और नैतिकता पर बहुत जोर देते थे। वे सामाजिक व्यसनों पर प्रतिबन्धों

के प्रबल समर्थक थे। ग्रीन के विचारों में भी नशेबन्दी, नैतिकता, सम्पत्ति आदि विचारों के समावेश का श्रेय परम्परा-विरोधियों के प्रभाव को ही दर्शाता है। उसने परम्परा-विरोधियों की तरह भू-स्वामित्व का तो विरोध किया, लेकिन निजी सम्पत्ति के सिद्धान्त का समर्थन किया।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ग्रीन पर यूनानी दर्शन, रूसो के दर्शन, जर्मन आदर्शवाद तथा परम्परा-विरोधियों का व्यापक प्रभाव पड़ा जो आगे चलकर उसकी रचनाओं में मुखरित हुआ। उसने आगे चलकर काण्ट और हीगल की विचारधारा का इंगलैण्ड की व्यक्तिवादी विचारधारा में मेल कर दिया। इन्हीं प्रभावों के कारण ही उसने उदारवाद का आदर्शवादी संशोधन किया।

ग्रीन का आध्यात्मिक सिद्धान्त
(Green's Metaphysical Theory)

आध्यात्मिक सिद्धान्त ग्रीन के राजनीतिक चिन्तन का प्रमुख आधार है। ग्रीन ने इसे काण्ट से ग्रहण किया है। ग्रीन के सिद्धान्त का आरम्भ बिन्दु काण्ट का यह विश्वास है कि अन्तिम सत्य को विशुद्ध बुद्धि तथा यदा-कदा आत्मानुभूति के आलोक-खण्ड द्वारा जाना जा सकता है, अनुभवप्रधान रीति द्वारा नहीं। ग्रीन ने इस सिद्धान्त के बारे में हीगल की पूर्ण बुद्धि या निरपेक्ष आत्मा का भी अनुसरण किया है। काण्ट व हीगल से अपना आधार ग्रहण करते हुए ग्रीन इस विश्वात्मा या विचार या विवेक को 'शाश्वत चेतना' (Eternal Consciousness) का नाम देता है। इसे ईश्वर भी कहा जाता है। यह संसार की सभी जड़ व चेतन वस्तुओं में विद्यमान है। मनुष्य आत्म-चेतना के गुण के कारण स ष्टि के सभी प्राणियों से अलग है। स ष्टि का निर्माण ईश्वर करता है और मनुष्य इस शाश्वत चेतना का अंग है। दोनों मिलकर एक सम्पूर्ण इकाई का निर्माण करते हैं। मनुष्य में सोचने-समझने की शक्ति होती है, जो स ष्टि के अन्य जीवों में नहीं होती। इसलिए मनुष्य अपने जीवन को भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति तक ही सीमित न करके एक उच्चतर लक्ष्य को प्राप्त करने की दिशा में ले जाता है। वह अपने अन्दर एक दैवीय अनुभूति करना चाहता है। इसलिए वह उच्च नैतिक जीवन व्यतीत करना चाहता है। इस शाश्वत चेतना का प्रमुख गुण स्वतन्त्रता है। शाश्वत चेतना का अंश होने के नाते मनुष्य का भी प्रमुख गुण स्वतन्त्रता है, दिव्य चेतना का अंश होने के नाते मनुष्य सद् इच्छाओं के अनुसार कार्य करने के कारण स्वतन्त्र होता है। शाश्वत चेतना का अंश होने के नाते मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए भी पूरा प्रयास करना चाहिए क्योंकि व्यक्ति का कल्याण समाज का कल्याण करने का एक माध्यम होता है। ग्रीन का कहना है कि समाज के घटकों के उत्थान के बिना सम्पूर्ण समाज का विकास सम्भव नहीं हो सकता। उसका कहना है कि समाज कल्याण के भाव से ही लोगों में भ्रात भाव व समानता का गुण पैदा होता है। ग्रीन ने कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति का अपना विशिष्ट महत्त्व और गौरव है, उसका पूरा सम्मान किया जाना चाहिए। किसी को दूसरे का शोषण करने का कोई अधिकार नहीं हो सकता। दैवी सत्ता का अंश होने के कारण प्रत्येक मनुष्य का यह लक्ष्य होना चाहिए कि वह अपने नैतिक विकास के लिए दैवीय गुणों का अनुसरण करे और स्वयंमेव अच्छा व सद्गुणी बने। कानून व्यक्ति को अच्छा नहीं बना सकता, जब तक मनुष्य अपने अन्दर के दोषों को स्वयं नहीं सुधारे। राज्य व कानून केवल ऐसी परिस्थितियाँ ही उत्पन्न कर सकते हैं जिनमें मनुष्य अपना पूर्ण विकास कर सके।

इस प्रकार ग्रीन की शाश्वत चेतना (Eternal Consciousness) वह सम्पूर्ण है जिसमें प्रत्येक भाग अपना तर्कसम्मत स्थान रखता है। यह विश्वव्यापी है जिसकी तरफ स ष्टि की प्रत्येक वस्तु जाने का प्रयास करती है ताकि वह सम्पूर्ण को प्राप्त हो सके। यह वह दैविक सत्ता है जिसमें प्रत्येक वस्तु रहती है, विचरण करती है तथा अपनी सत्ता रखती है। इसका प्रमुख गुण स्वतन्त्रता है। शाश्वत चेतना का अंश होने के कारण यह व्यक्ति का भी विशिष्ट गुण है। अतः राज्य को मनुष्य के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करके मनुष्य को भौतिक जीवन व्यतीत करने के लिए अनुकूल व उपयोगी सभी परिस्थितियाँ प्रदान करनी चाहिएं।

स्वतन्त्रता का सिद्धान्त
(Theory of Freedom)

ग्रीन के सभी राजनीतिक विचार स्वतन्त्रता के सिद्धान्त के इर्द-गिर्द ही घूमते हैं। उसने अपने अधिकारों व राज्य के सिद्धान्त को स्वतन्त्रता के विचार पर ही आधारित किया है। ग्रीन स्वतन्त्रता को शाश्वत चेतना (Eternal Consciousness) का प्रमुख

गुण मानता है। शाश्वत चेतना (परमात्मा) का एक प्रमुख अंग होने के नाते मनुष्य की मनुष्यता का भी प्रमुख तत्त्व या गुण स्वतन्त्रता है। मनुष्य की आत्मा सदैव स्वतन्त्रता प्राप्त करने का प्रयास करती है। यह स्वतन्त्रता ही अधिकारों की जन्मदाता है और अधिकारों की सुरक्षा के लिए राज्य को मूर्त रूप देती है। बार्कर का कहना है कि- "मानव चेतना स्वतन्त्रता चाहती है; स्वतन्त्रता में अधिकार निहित हैं; अधिकार राज्य की माँग करते हैं।" ग्रीन का कहना है कि अधिकार वे परिस्थितियाँ हैं जिनमें मानव आत्मा की स्वतन्त्रता व्यावहारिक रूप धारण करके लोक-कल्याण का मार्ग प्रशस्त करती है। अधिकार राज्य में ही सम्भव होते हैं क्योंकि राज्य में ही व्यक्ति अपना पूर्ण नैतिक विकास कर सकता है। इन राज्य प्रदत्त परिस्थितियों का प्रयोग करके व्यक्ति की आत्मा शाश्वत चेतना के साथ एकाकार हो सकती है। ऐसा तभी सम्भव है, जब व्यक्ति को सम्पूर्ण रूप से स्वतन्त्रता प्राप्त हो।

स्वतन्त्रता के प्रकार
(Types of Freedom)

ग्रीन ने स्वतन्त्रता के दो प्रकार - आन्तरिक (Internal) तथा बाह्य (External) बताए हैं। **आंतरिक स्वतन्त्रता** नीतिशास्त्र का विषय है। आन्तरिक स्वतन्त्रता का प्रयोग करके मनुष्य अपनी दास व त्तियों पर काबू पाता है। आन्तरिक स्वतन्त्रता का उद्देश्य व्यक्ति की वासनाओं को वश में रखना है। **बाह्य स्वतन्त्रता** का अर्थ ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करना है, जिनमें प्रत्येक व्यक्ति अपने वास्तविक हित के कार्यों को पूरा कर सके और अपनी आत्मा का विकास करने में किसी प्रकार की बाधा महसूस न करे। ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करने वाली शर्तें अधिकार कहलाती हैं और इन्हीं से स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। इन अधिकारों की रक्षा राज्य द्वारा ही सम्भव है।

स्वतन्त्रता का अर्थ
(Meaning of Freedom)

ग्रीन के अनुसार स्वतन्त्रता न तो मनमाने ढंग से कार्यों को करने में है और न प्रतिबन्धों की व्याख्या है। यह एक ऐसी सकारात्मक वस्तु है जिसका अर्थ ऐसा कार्य करने की या ऐसी सुविधाओं के उपभोग करने की छूट है जो करने या उपभोग योग्य हों। ग्रीन ने आगे कहा है कि स्वतन्त्रता का अर्थ है- "स्व अर्थात् अपनी आत्मा के विकास में सहायक शुभ एवं सामाजिक हित को पूरा करने वाली दैवी प्रव त्तियाँ।" स्वतन्त्रता का अभिप्राय ऐसे कार्यों को किए जाने से है जो हमारी आत्मोन्नति में तथा समाज की उन्नति में सहायक हों। ग्रीन का कहना है कि व्यक्ति उसी दशा में स्वतन्त्र कहला सकता है "जब वह आत्मा की उन्नति के आदर्श को प्राप्त करे तथा उस नियम की पालना अपना कर्त्तव्य समझे जिसके बारे में उसका यह विचार है कि उसे इसका पालन करना चाहिए।"

इस प्रकार ग्रीन के अनुसार स्वतन्त्रता का अर्थ केवल प्रतिरोध या अनिवार्यता से छुटकारा पाना नहीं है। यह मनमाने ढंग से कार्य करने की भी छूट नहीं है। इससे उसका तात्पर्य ऐसे अधिकार से है जिसका उपभोग प्रत्येक व्यक्ति अपने सहयोगियों के द्वारा प्रदत्त सहायता व सुरक्षा के कारण करता है। ग्रीन के अनुसार- "स्वतन्त्रता एक सकारात्मक शक्ति है, वह कार्य करने के लिए जो करने योग्य हो तथा आनन्द लेने के लिए जो आनन्द लेने के योग्य है।"

स्वतन्त्रता की विशेषताएँ
(Features of Freedom)

ग्रीन की स्वतन्त्रता की धारणा की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :-

1. **यह निश्चित प्रकार से काम करने की स्वाधीनता है** : ग्रीन के अनुसार स्वतन्त्रता का अर्थ व्यक्ति को सभी प्रकार के कार्यों को करने की छूट नहीं है। कुछ कार्य नैतिक व धार्मिक द ष्टि से निन्दनीय हो सकते हैं। इसलिए इन कार्यों को करने की व्यक्ति को छूट नहीं दी जा सकती। ग्रीन सभी उपयोगितावादी व व्यक्तिवादी विचारकों के स्वतन्त्रता सम्बन्धी दावों का विरोध करते हुए कहते हैं कि व्यक्ति की आत्मा शाश्वत चेतना का अंश है और एक नैतिक प्राणी होने के नाते व्यक्ति का उद्देश्य आत्मविकास के साथ-साथ ईश्वर या शाश्वत चेतना के सभी अंगों का विकास करने में योगदान देना भी है। जो कार्य इस उद्देश्य को पूरा करे, समाज की उन्नति करे तथा व्यक्ति का नैतिक विकास करे, उन्हीं कार्यों को करना स्वतन्त्रता है। इससे व्यक्ति को सच्चा सुख व शान्ति मिलती है। बुरे कार्य व्यक्ति की आत्मा के विकास में बाधक होते हैं। स्वतन्त्रता केवल ऐसे कार्य करने का नाम है जब मनुष्य अपनी इन्द्रियों और वासनाओं से अभिभूत होकर कार्य

न करे अपितु आत्मा के विकास और समाज हित में व द्धि करने वाले कार्य करे। बार्कर ने ग्रीन के दावे या मत को पुष्ट करते हुए कहा है कि- "अच्छे कार्य करने की प्रेरणा देनेवाली, सद् इच्छा के आदेशों का पालन करने की स्वतन्त्रता ही सच्ची स्वतन्त्रता हो सकती है।" इस तरह ग्रीन की स्वतन्त्रता कुछ विशिष्ट कार्यों तक ही सीमित है।

2. **स्वतन्त्रता सकारात्मक होती है** : ग्रीन व्यक्तिवादियों के इस विचार का विरोध करता है कि सभी प्रकार के 'बन्धनों का अभाव' ही स्वतन्त्रता है। ग्रीन इसे नकारात्मक स्वतन्त्रता का नाम देता है। ग्रीन ने नकारात्मक स्वतन्त्रता के स्थान पर सकारात्मक (Positive) स्वतन्त्रता का सिद्धान्त पेश किया। उसने कहा कि व्यक्ति की योग्यताओं व गुणों के विकास के लिए राज्य की शक्ति का प्रयोग किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, राज्य द्वारा शिक्षा की व्यवस्था, स्वास्थ्य-सुधार के नियमों का निर्माण, आर्थिक व औद्योगिक कानून बनान आदि से व्यक्ति की स्वतन्त्रता पपर कोई आँच नहीं आती। इनसे व्यक्ति की आत्मोन्नति के अवसर बढ़ते हैं और समाज के हित में भी व द्धि होती है। शराब पीना, जुआ खेलना आदि नैतिकता विरोधी कार्यों पर राज्य द्वारा प्रतिबन्ध लगाने से भी व्यक्ति की स्वतन्त्रता नष्ट नहीं होती। ग्रीन का मानना है कि मनुष्य के मन में स्थित दानवी प्रव त्तियों पर अंकुश लगाना तथा दैवी प्रव त्तियों को बढ़ावा देना ही स्वतन्त्रता है। इसलिए राज्य का यह परम कर्त्तव्य बनता है कि मनुष्य के उत्तम जीवन के लक्ष्य को पूरा करने व आत्मा के विकास में बाधक कार्यों पर रोक लगाए। इसी से व्यक्ति को सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकती है।

उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर कहा जा सकता है कि स्वतन्त्रता का अर्थ आत्म सन्तुष्टि या स्वच्छन्दता नहीं है। यह एक प्रकार की मानव चेतना है जो शाश्वत चेतना (परमात्मा) का अंग है और इसी में अधिकार निहित हैं जिनकी रक्षा राज्य नाम की संस्था द्वारा ही सम्भव है अर्थात् अनुचित कार्यों पर रोक लगाकर ही सच्ची स्वतन्त्रता की प्राप्ति की जा सकती है।

काण्ट व हीगल से तुलना
(Comparision with Kant and Hegel)

ग्रीन काण्ट के इस विचार से सहमत है कि मनुष्य की इच्छा स्वतन्त्र है। जब व्यक्ति अपनी वासनात्मक प्रव त्तियों के अनुसार कार्य करते हैं तो व्यक्ति की स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। काण्ट की ही तरह ग्रीन भी यह मानता है कि मनुष्य के जीवन का लक्ष्य सद् कार्यों को करना है और भोग विलास के कार्यों से दूर रहना है। नैतिक कार्यों को करने से ही स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकती है। किन्त काण्ट नैतिक कर्त्तव्यादेश के अनुसार काम करने को ही स्वतन्त्रता मानता है, जबकि ग्रीन आत्म-विकास तथा सामाजिक कल्याण में सहायक कार्यों को ही स्वतन्त्रता का नाम देता है। काण्ट की स्वतन्त्रता वैयक्तिक है और उसका कार्यक्षेत्र भी सीमित है। उसका राज्य या समाज के हित से कोई सरोकार नहीं है। किन्तु ग्रीन की स्वतन्त्रता का विचार व्यापक और सामाजिक है। उसका विचार हीगल के विचार से मेल खाता है। दोनों के अनुसार मनुष्य तभी तक स्वतन्त्र है, जब तक वह दिव्य भावना (Divine Spirit) के साथ अभेद सम्बन्ध बनाए रखता है। हीगल के अनुसार राज्य इस दिव्य भावना का श्रेष्ठ रूप है। अतः उसके आदेशों का पालन करने में ही स्वतन्त्रता है। ग्रीन के अनुसार स्वतन्त्रता सामाजिक हित में निहित है। व्यक्ति शाश्वत चेतना का एक उत्कृष्ट अंश होने के नाते उसकी इच्छानुसार कार्य करके स्वतन्त्रता प्राप्त करता है। ग्रीन हीगल के इस मत से सहमत है कि दैवी भावना राज्य में ही मूर्त रूप धारण करती है। इसलिए सच्ची स्वतन्त्रता राज्य में ही प्राप्त हो सकती है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि ग्रीन ने काण्ट से नैतिकता का आदर्श ग्रहण किया और हीगल से सामाजिक पहलू का। इन दोनों का समन्वय करके ग्रीन ने अपना स्वतन्त्रता सम्बन्धी सिद्धान्त खड़ा किया है। किन्तु ग्रीन ने काण्ट के आत्मगत तत्त्व तथा हीगल के अन्य राज्यादेश पालन के भाव से मुक्त है। इसी कारण से ग्रीन का स्वतन्त्रता का सिद्धान्त काण्ट तथा हीगल के सिद्धान्तों से उत्कृष्ट है और इस सिद्धान्त का राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है।

अधिकारों सम्बन्धी सिद्धान्त
(Theory of Rights)

ग्रीन के अधिकारों सम्बन्धी विचार उसके स्वतन्त्रता सम्बन्धी सिद्धान्त में ही निहित हैं। उसके अधिकारों सम्बन्धी विचार लॉक व अन्य सामाजिक समझौतावादी विचारकों से भिन्न है। वह लॉक द्वारा प्रतिपादित प्राकृतिक अधिकारों सम्बन्धी विचार का खण्डन करता है। उसका मानना है कि अधिकार समाज से बाहर प्राकृतिक अवस्था में नहीं हो सकते। सामाजिक स्वीकृति

के अभाव में अधिकारों का होना असम्भव बात है। उसका मानना है कि स्वतन्त्रता के लिए अधिकार जरूरी बात है। उसका मानना है कि स्वतन्त्रता के लिए अधिकार जरूरी होते हैं। उसके अनुसार अधिकार व्यक्ति के नैतिक विकास में योगदान देने का सर्वोत्तम साधन होते हैं। इसलिए प्रत्येक राज्य का यह कर्त्तव्य बनता है कि वह सार्वभौम अधिकारों की व्यवस्था करे।

अधिकारों की परिभाषा

(Definition of Rights)

ग्रीन अधिकारों का तात्पर्य जीवन की भौतिक अथवा बाह्य स्थितियों से लेता है जो कि व्यक्तियों द्वारा अपने नैतिक आदर्श की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए कुछ सुविधाएँ चाहता है। ये सुविधाएँ या परिस्थितियाँ ही अधिकार होते हैं। अधिकारों को परिभाषित करते हुए ग्रीन कहता है कि- "अधिकार व्यक्ति द्वारा अपने नैतिक उद्देश्यों को पूरा करने के लिए राज्य द्वारा प्रदत्त शक्ति है।" उसे अधिकार समाज के हित में व द्धि करने के लिए समाज द्वारा प्रदानकिए जाते हैं ताकि वह अपने लक्ष्य को सामाजिक स्वीकृति के बल पर प्राप्त कर सके।

अधिकारों की उत्पत्ति

(Origin of Rights)

ग्रीन का कहना है कि अधिकारों का जन्म व्यक्ति के दावों या मांगों के कारण होता है। व्यक्ति नैतिक प्राणी होने की हैसियत से एक नैतिक लक्ष्य प्राप्त करने के लिए कुछ सुविधाएँ चाहता है। इन सुविधाओं की समाज के अन्य व्यक्तियों को भी आवश्यकता होती है। लेकिन इन दावों को समाज द्वारा स्वीकृति मिलने पर ही अधिकारों की स ष्टि होती है। प्रत्येक व्यक्ति का दावा अपनी जगह उचित होता है लेकिन वह समाज की द ष्टि में सही होने पर ही स्वीकृति पा सकता है। बिना सामाजिक स्वीकृति के ददावा कोरा दावा ही रह जाता है। दावा अधिकार का रूप उसी समय ले सकता है जब समाज उसे स्वीकार करके क्रियान्वित करे। व्यक्ति समाज के घटक के रूप में ही अधिकारों का दाव व उपभोग कर सकता है, इसलिए अधिकारों का जन्म सामाजिक स्वीकृति से ही होता है। इस प्रकार अधिकार की स ष्टि दो तत्त्वों से होती है। प्रथम तो व्यक्ति का दावा या मांग तथा दूसरा समाज की स्वीकृति।

ग्रीन के इस विचार से यही अर्थ निकलता है कि व्यक्ति को सारे अधिकार समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त होते हैं और एक सच्चा नैतिक व्यक्ति ही उनका सार्वजनिक कल्याण के लिए प्रयोग कर सकता है। अधिकार प्राकृतिक इसलिए हो सकते हैं कि मनुष्य एक विवेकशील व नैतिक प्राणी होने के नाते अपने नैतिक लक्ष्य को प्राप्त करने के प्रयास करता है। इन अधिकारों को प्राकृतिक इसलिए कहा जा सकता है कि वे नैतिक उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए आवश्यक तथा अपरिहार्य साधन है जो कि मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। जब व्यक्ति अपने उद्देश्य को पूरा करने के लिए सामान्य हित में कार्य करता है तो उसके स्वयं के हित का सामाजिक हित से मेल हो जाता है। इसलिए सामाजिक हित के लक्ष्य में व्यक्ति का नैतिक लक्ष्य भी छिपा हुआ है। इसलिए प्रत्येक समाज को अपने सभी घटकों को अधिकार प्रदान करने चाहिएं। सामाजिक कल्याण ही अधिकारों की अन्तिम कसौटी होती है।

अधिकारों के प्रकार

(Types of Rights)

ग्रीन के अनुसार अधिकार दो प्रकार के होते हैं- (i). आदर्श या प्राकृतिक अधिकार (ii) कानूनी या वास्तविक अधिकार

प्राकृतिक अधिकारों को नैतिक अधिकार भी कहा जाता है। जब तक अधिकारों को कानून द्वारा स्वीकार नहीं किया जाता तब तक वे नैतिक कर्त्तव्य मात्र ही रहते हैं। परन्तु ये नैतिक द ष्टि से आवश्यक होते हैं। भारत के संविधान में वर्णित नीति-निर्देशक सिद्धान्त नैतिक निर्देश मात्र हैं। इन्हें कानूनी रूप नहीं दिया गया है। इसलिए ग्रीन के नैतिक आदर्श प्राकृतिक अधिकार हैं। ये कानूनी अधिकारों से अधिक व्यापक और गम्भीर होते हैं। प्राकृतिक अधिकार केवल यथार्थ या कानूनी अधिकारों के लिए मार्ग प्रशस्त करते हैं। इन्हें नैतिक मान्यता मिली होती है, कानूनी नहीं। कानूनी अधिकार राज्य की व्यवस्था होते हैं। इन्हें राज्य द्वारा ही निर्मित व संचालित किया जाता है। उदाहरण के लिए दास-प्रथा काफी लम्बे समय तक कानूनी अधिकार रहा। नैतिक द ष्टि से गलत होते हुए भी दास-प्रथा को कानूनी दर्जा मिला रहा और बाद में नैतिक आधार पर ही इसे कानून द्वारा समाप्त कर दिया गया। इस तरह कानूनी अधिकार तथा प्राकृतिक अधिकार एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं।

अधिकार नैतिकता और कानून में सम्बन्ध

ग्रीन का मानना है कि अधिकार हमारे नैतिक जीवन व कानून से घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं लेकिन फिर भी उनमें भेद है। अधिकारों के अभाव में नैतिक लक्ष्य की प्राप्ति नहीं की जा सकती, परन्तु अधिकारों के पीछे कानूनी शक्ति होती है, उनका बलपूर्वक पालन कराया जा सकता है, नैतिक कर्त्तव्यों का नहीं। इनका पालन तो व्यक्ति की स्वेच्छा पर ही निर्भर करता है। अधिकार प्रारम्भ में नैतिक मांगें होती हैं जो बाद में कानून की स्वीकृति प्राप्त करके अधिकारों का रूप ले लेती हैं। ग्रीन का कहना है कि दास-प्रथा लम्बे समय तक कानून का सहारा लेकर एक अनैतिक अधिकार के रूप में पोषित होती रही। लेकिन बाद में कानून बनाकर ही उसकी समष्टि कर दी गई। कुछ अधिकार तो कर्त्तव्य मात्र होते हैं जिन्हें नैतिक द ष्टि से आवश्यक मानकर कानून द्वारा अधिकार का दर्जा दे दिया जाता है। लेकिन कानून द्वारा स्वीकृत सभी अधिकार नैतिक नहीं हो सकते।

अधिकार राज्य की माँग करते हैं

ग्रीन का कहना है कि अधिकार स्वतन्त्रता में ही निहित होते हैं। स्वतन्त्रता मानव चेतना पर आधारित होती है और अधिकार स्वतन्त्रता पर। अधिकार स्वतन्त्रता को सुद ढ़ता व सुनिश्चितता प्रदान करते हैं। शाश्वत चेतना का अंश होने के नाते मनुष्य में स्वतन्त्रता के रूप में नैतिक लक्ष्य की ओर अग्रसर होने की इच्छा पाई जाती है। वह सामाजिक हित में ही अपना हित देखता है। वह परम नैतिक लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सुरक्षा की गारण्टी चाहता है। इसलिए उसे राज्यरूपी सकारात्मक शक्ति की जरूरत पड़ती है। अधिकार नैतिक विकास तथा स्वतन्त्रता के उपभोग के लिए आदर्श आवश्यकताएँ होती हैं। इन आदर्श आवश्यकताओं को लागू करने के लिए समाज को इस शक्ति (राज्य) की आवश्यकता पड़ती है। यह सर्वोच्च शक्ति साँझी नैतिक चेतना होती है। इसे सामान्य इच्छा भी कहा जा सकता है। इस सामान्य इच्छा का मूर्त रूप राज्य है। राज्य ही व्यवहार में अधिकारों को लागू करता है। वह अधिकारों को बनाए रखने के लिए कानून का सहारा लेता है। इस प्रकार राज्य उन बाधाओं को दूर करता है जो नैतिक विकास तथा स्वतन्त्र नैतिक इच्छा के मार्ग में आती हैं। इसीलिए ग्रीन कहता है कि मानव चेतना स्वतन्त्रता चाहती है। स्वतन्त्रता में अधिकार निहित होते हैं तथा इन अधिकारों को लागू करने के लिए राज्य अस्तित्व में आता है। इस प्रकार राज्य इन अधिकारों का संरक्षक है। बिना राज्य के न तो अधिकारों की कल्पना की जा सकती है और न ही उनका सदुपयोग सम्भव है।

अधिकारों की अवज्ञा

(Disobedience of Rights)

ग्रीन का कहना है कि यदि कोई अधिकार व्यक्ति के नैतिक विकास के मार्ग में बाधा उत्पन्न करे तो उसकी अवज्ञा करने काउ से पूरा अधिकार है क्योंकि अधिकार व्यक्ति के नैतिक उत्थान के लिए ही बनाए जाते हैं। इस लक्ष्य में असफल रहने पर अधिकारों का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। इस प्रकार ग्रीन नैतिक प्रणाली को ही अधिकारों की उपयोगिता की कसौटी सिद्ध कर देता है।

आलोचना

(Criticism)

ग्रीन के अधिकारों सम्बन्धी विचार पूर्णतया दोषमुक्त नहीं है। उनमें परस्पर विरोधाभास पाया जाता है। वह एक तरफ तो प्राकृतिक अधिकारों को नैतिक क्षमता की उपज मानता है और दूसरी तरफ उस पर समाज की स्वीकृति को भी आवश्यक मानता है। इसी तरह उसके विचारों में अस्पष्टता भी है। वह व्यक्ति को विरोध का अधिकार भी प्रदान करता है। एक तरफ तो वह इन्हें शाश्वत चेतना पर आधारित मानव चेतना की उत्कृष्ट इच्छा पर आधारित करता है। दूसरी तरफ अधिकारों का नैतिक विकास में बाधा उत्पन्न करने की इच्छा भी बताता है। ये दोनों बातें अस्पष्ट तथा परस्पर विरोधाभासी हैं। एक तरफ तो वह अन्तःकरण को ही सभी प्रश्नों का अन्तिम न्यायालय मानता है, दूसरी तरफ व्यक्ति को राज्य या समाज का आंशिक विरोध करने का अधिकार देता है। अतः ग्रीन का अधिकारों का सिद्धान्त विरोधाभासी व अस्पष्ट है।

राज्य सम्बन्धी सिद्धान्त
(Theory of the State)

ग्रीन का राज्य सम्बन्धी सिद्धान्त उसके स्वतन्त्रता के सिद्धान्त पर ही आधारित है। उसका कहना है कि मनुष्य शाश्वत चेतना (परमात्मा) का प्रमुख अंश है। मानव चेतना आत्म-विकास के लिए सदैव प्रयासरत रहती है। इसके लिए उसे स्वतन्त्रता की आवश्यकता पड़ती है, स्वतन्त्रता के लिए अधिकार तथा अधिकारों की सुरक्षा के लिए राज्य की आवश्यकता पड़ती है। इस तरह काण्ट, हीगल तथा प्लेटो जैसे दार्शनिकों की तरह ग्रीन भी राज्य को मानवीय चेतना की उपज मानकर अपने सिद्धान्त को स्वतन्त्र नैतिक इच्छा पर आधारित करता है।

मानव चेतना का विकास स्वतन्त्रता के बिना नहीं हो सकता। स्वतन्त्रता किसी भी योग्य तथा उपभोग योग्य कार्य करने की सकारात्मक शक्ति है। यह सामाजिक हित में योगदान देकर ही प्राप्त हो सकती है। शाश्वत चेतना के अंश के रूप में मानव चेतना सदैव सामाजिक भलाई के लिए ही कार्य करती है। अतः स्वतन्त्रता अपनी चेतना के अनुसार सब कुछ करने योग्य कार्यों को करने में होती है। मानव अपना नैतिक विकास स्वतन्त्रता के बिना नहीं कर सकता। स्वतन्त्रता का आधार आत्म-चेतना होती है और आत्म-चेतना का आधार शाश्वत चेतना। शाश्वत चेतना का अन्तिम लक्ष्य भी पूर्णता की तरफ अग्रसर होना है, इसलिए आत्म-चेतना भी इसी का अनुसरण करती है। अपनी पूर्णता की तरफ अग्रसर होने के लिए कुछ परिस्थितियों की जरूरत होती है। इसलिए स्वतन्त्रता में ही अधिकार निहित होते हैं। ये अधिकार आत्म-चेतना के पूर्ण विकास के लिए व्यक्ति के दावे होते हैं। जब समाज इन्हें मान्यता दे देता है तो ये अधिकार का रूप ग्रहण कर लेते हैं। इन्हें समुदाय की नैतिक चेतना द्वारा ही मान्यता प्रदान की जाती है। वे मनुष्य के नैतिक विकास के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ होते हैं। इन परिस्थितियों का उचित उपभोग करने के लिए राज्य रूपी संस्था की आवश्यकता पड़ती है। राज्य की व्यवहार में इन अधिकारों को लागू करता है। इस तरह मानव चेतना पर आधारित होने के कारण राज्य कृत्रिम या दैवी संस्था न होकर एक स्वाभाविक संस्था है।

राज्य का आधार
(Basis of the State)

ग्रीन राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक समझौता सिद्धान्त का खण्डन करते हुए राज्य को एक स्वाभाविक संस्था मानता है। राज्य की उत्पत्ति विवेकपूर्ण मानवीय चेतना के कारण हुई है। इसलिए 'राज्य का आधार इच्छा है न कि शक्ति'। राज्य का आधार न तो जन-समझौता या जन-स्वीकृति है और न ही शक्ति बल्कि इच्छा है। ग्रीन का कहना है कि राज्य एक ऐसी संस्था है जो सामाजिक भलाई के लिए कार्य करती है। अतः राज्य सामान्य इच्छा का प्रतिनिधि होता है। लेकिन कभी-कभी सामान्य इच्छा की रक्षा के लिए राज्य को बल का प्रयोग भी करना पड़ता है। वह ऐसा नैतिक विकास के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करने के लिए ही करता है। इच्छा राज्य का निचोड़ होती है और शक्ति इसकी कसौटी होती है। परन्तु राज्य के सार में इसका कोई योगदान नहीं होता। यदि बल प्रयोग जन-स्वीकृति पर आधारित होता है तो सामान्य इच्छा में व द्धि होती है। ग्रीन का कहना है कि जनता राज्य के कानूनों का पालन इसलिए करते हैं कि ये सामाजिक हित में व द्धि करते हैं और व्यक्ति को उसके नैतिक विकास में योगदान देते हैं अर्थात् ये व्यक्ति की नैतिक उन्नति के लिए आवश्यक होते हैं। व्यक्ति का हित और भलाई राज्य के आदेशों के पालन करने में हैं अतः सभी व्यक्ति इनका पालन स्वेच्छापूर्वक करते हैं, न कि राज्य की दण्डशक्ति के भय से। अतः राज्य का आधार इच्छा है न कि शक्ति। शक्ति तो व्यक्ति के नैतिक उद्देश्य को प्राप्त करने के मार्ग में आने वाली बाधाओं का निराकरण करने का साधन मात्र है।

राज्य की सम्प्रभुता
(Sovereignty of the State)

ग्रीन का कहना है कि राज्य में कुछ विघटनकारी तत्त्व भी होते हैं जो अधिकारों के स्वतन्त्र व सही उपयोग के रास्ते में रुकावट पैदा करते हैं। इससे सामान्य हित का मार्ग अवरुद्ध होता है। स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों से प्रेरित समाज विरोधी तत्त्वों का दण्डकारी शक्ति से दमन करना आवश्यक होता है। जब कोई व्यक्ति सामान्य इच्छा के विपरीत कार्य करता है तो राज्य को शक्ति का प्रयोग करना पड़ता है। अतः ऐसे लोगों से जो दूसरों के अधिकारों का हनन करते हैं और सामान्य हित के विरुद्ध कार्य करते हैं, समाज की रक्षा करने के लिए जिस शक्ति की आवश्यकता पड़ती है, उसे राज्य की सम्प्रभुता के नाम से जाना जाता है।

राज्य का जन्म ही व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा के लिए हुआ है, इसलिए राज्य के आदेशों का पालन करना अनिवार्य होता है। अतः राज्य की सम्प्रभुशक्ति के कारण ही अधिकारों की रक्षा होती है।

राज्य के कार्य

(Functions of the State)

ग्रीन के अनुसार राज्य निम्नलिखित कार्य करता है :-

1. **राज्य व्यक्ति के नैतिक विकास में सहायता करता है** : ग्रीन का कहना है कि राज्य का प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति को उसके पूर्ण नैतिक विकास में सहायता पहुँचाना है। इसलिए राज्य को वही कार्य करने चाहिएं जो इस उद्देश्य की पूर्ति में सहायक हों। व्यक्ति का नैतिक विकास बाह्य साधनों से सम्भव नहीं है। राज्य आत्मा के विकास के लिए समाज में नैतिकता का विकास कर सकता है। परन्तु यदि राज्य प्रत्यक्ष रूप से नैतिकता के विकास के कार्य करता है अर्थात् चोरी रोकने जैसे कार्य के लिए कानून बनाता है तो इससे सच्ची नैतिकता का लोप हो जाएगा। इसलिए राज्य को ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करनी पड़ती हैं जिनसे सच्ची नैतिकता का विकास होता है। उदाहरणार्थ अशिक्षा, निर्धनता, मद्यपान आदि बुराई आत्मा के व नैतिकता के विकास में बाधक होती है। अतः राज्य का प्रधान कार्य इन बाधाओं को दूर करके व्यक्ति की नैतिक विकास में सहायता करता है।
2. राज्य अनिवार्य शिक्षा का प्रबन्ध करता है। ग्रीन का कहना है कि बिना ज्ञान के व्यक्ति उसी प्रकार पंगु है जिस प्रकार वह अंगहीन होने पर पंगु है। इसलिए समाज में विद्यमान बाधाओं को दूर करने के लिए राज्य को आवश्यक शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए।
3. राज्य को व्यक्ति के नैतिक पतन को रोकने के लिए मद्यपान विरोधी कानून बनाना चाहिए।
4. राज्य द्वारा दोषपूर्ण भूमि-व्यवस्था में सुधार करने चाहिएं ताकि सामाजिक विषमता तथा दरिद्रता दूर हो सके।
5. राज्य को व्यक्तिगत सम्पत्ति की रक्षा करनी चाहिए ताकि सामाजिक हित में व द्धि हो सके।
6. राज्य को स्वास्थ्य सेवाओं की पूर्ण व्यवस्था एवं विस्तार पर जोर देना चाहिए।
7. राज्य को स्त्रियों व बच्चों के लिए विशेष सुरक्षा कार्यक्रम संचालित करने चाहिएं।

इस प्रकार ग्रीन ने सकारात्मक तथा नकारात्मक दोनों प्रकार के कार्यों पर जोर दिया है। सकारात्मक द ष्टि से वह चाहता है कि जहाँ भी व्यक्ति के नैतिक विकास के मार्ग में बाधा उत्पन्न हो, वहाँ पर राज्य को हस्तक्षेप करना चाहिए। सकारात्मक रूप में ग्रीन नैतिक विकास के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करने के लिए बल प्रयोग की अनुमति भी देता है। नकारात्मक रूप में ग्रीन का कहना है कि व्यक्ति को 'करने योग्य कार्य' करने देने चाहिएं। सैद्धान्तिक रूप में राज्य व्यक्ति के नैतिक विकास के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करने का एक उपकरण है। परन्तु अपने इस नकारात्मक उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिए उसे सकारात्मक भूमिका निभानी पड़ती है। ग्रीन ने कहा है- "राज्य का सकारात्मक कार्य यह नहीं कि वह अपने नागरिकों को अधिक अच्छा बनाए, उसका निषेधात्मक नैतिक कार्य उन बाधाओं को दूर करना है जो व्यक्ति को अच्छा बनने से रोकती है।" इसलिए व्यक्ति को नैतिक विकास के लिए राज्य को सकारात्मक कार्यों के साथ-साथ निषेधात्मक कार्य भी करने पड़ते हैं।

राज्य और व्यक्ति में सम्बन्ध

(Relationship Between Individual and the State)

ग्रीन राज्य को व्यक्ति के अधिकारों की सुरक्षा का एक प्रमुख एजेण्ट मानता है। उसके अनुसार राज्य एक साध्य नहीं बन सकता। राज्य की उत्पत्ति मानव चेतना की उपज है। राज्य व्यक्ति के जीवन को अच्छा बनाने के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ प्रदान करता है। इसलिए राज्य यदि कोई ऐसा कानून बनाए जो सामान्य हित के प्रतिकूल हो तो व्यक्ति उसका विशेष परिस्थितियों में विरोध भी किया जा सकता है। सामान्य परिस्थितियों में राज्य का विरोध नहीं किया जा सकता। यदि कोई व्यक्ति कानून से असहमत है तो उसे राज्य के कानूनों का विरोध करने की बजाए पालन करने का ही प्रभाव करना चाहिए। इनका विरोध सामान्य हित को आधार मानकर ही किया जा सकता है। राज्य के विरोध का आधार निम्नलिखित परिस्थितियाँ ही हो सकता है :-

1. यदि राज्य द्वारा निर्मित कोई कानून सन्देहपूर्ण हो।
2. यदि कानून सामान्य हित के विरूप हो।
3. शासन में भ्रष्टाचार अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाए। जनता के हितों की बजाय जब कानून व्यक्तिगत स्वार्थों के पोषक हों।
4. जब कानून का विरोध करने से शासन-व्यवस्था पर कोई हानिकारक प्रभाव न पड़ता हो।
5. जब राज्य करने योग्य कार्यों से दूर हो जाए।
6. जब राज्य अनुचित तथा अन्यायपूर्ण कानून बना दे तो।

इन परिस्थितियों में व्यक्ति राज्य व उसके कानूनों का विरोध कर सकता है। लेकिन राज्य का विरोध करते समय व्यक्ति को कुछ बातों का ध्यान रखना चाहिए।

1. राज्य का विरोध सामान्य हित की द ष्टि से किया जाना चाहिए। यदि कोई कानून सामान्य हित के ज्यादा प्रतिकूल नहीं है तो उसका विरोध नहीं करना चाहिए।
2. विरोध जनमत पर आधारित होना चाहिए। यह व्यक्तिगत स्वार्थों पर आधारित नहीं होना चाहिए।
3. विरोध सामाजिक हित विरोधी बातों का ही होना चाहिए। शेष कानूनों का निष्ठापूर्वक पालन करते रहना चाहिए।
4. विरोध कुछ विशेष परिस्थितियों में ही करना चाहिए। सामान्य परिस्थितियों में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिए।
5. विरोध संवैधानिक तरीकों पर आधारित होना चाहिए। शांतिपूर्ण तरीकों का पालन करना चाहिए। हिंसात्मक कार्यों की उपेक्षा करनी चाहिए।

इस प्रकार ग्रीन ने अन्तिम विकल्प के रूप में राज्य के अन्यायपूर्ण कानूनों का विरोध करने के लिए व्यक्ति को विरोध का अधिकार प्रदान किया है। उसने शान्तिपूर्ण तरीके से विरोध का अधिकार प्रयोग करने का सुझाव दिया है। कोई भी व्यक्ति मनमाने ढंग से अपने 'विरोध के अधिकार' का प्रयोग नहीं कर सकता। इस तरह ग्रीन ने राज्य तथा व्यक्ति दोनों को ही नैतिकता के विकास के लिए आवश्यक मानकर उन्हें अति से बचने का सुझाव दिया है। उसका कहना है कि व्यक्ति और राज्य दोनों को शाश्वत चेतना के अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करने में सहयोग करना चाहिए।

आलोचना
(Criticisms)

ग्रीन राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में जो नकारात्मक द ष्टिकोण प्रस्तुत करता है, वह राज्य के सकारात्मक कार्यों को ही दर्शाता है। उसका कहना है कि व्यक्ति के बौद्धिक विकास के लिए राज्य को स्कूल खोलने चाहिएं तथा मद्यपान पर रोक लगानी चाहिए। इसलिए ये सभी कार्य ग्रीन के निषेधात्मक कार्य न होकर सकारात्मक ही हैं। अतः ग्रीन के राज्य सम्बन्धी विचारों में असंगति पाई जाती है।

उसका राज्य के विरोध का अधिकार भी महत्त्वहीन है। एक तरफ तो व्यक्ति को राज्य के विरोध का अधिकार प्रदान करता है, दूसरी तरफ वह इस अधिकार के प्रयेग करने के लिए कुछ शर्तें लगाता है। इस अधिकार का प्रयोग व्यवहार में अति कठिन होता है। अतः यह अधिकार निरर्थक प्रतीत होता है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि ग्रीन का राज्य सम्बन्धी सिद्धान्त परस्पर विरोधाभासी व असंगत विचारों से परिपूर्ण है।

प्राकृतिक कानून सम्बन्धी विचार
(Views on Natural Law)

ग्रीन ने पूर्ववर्ती विचारकों के प्राकृतिक कानून (Natural Law) सम्बन्धी विचारों का खण्डन करते हुए इसे नए रूप में पेश किया। उसने इसे सामाजिक चेतना से स्वतन्त्र माना। उसने प्राकृतिक कानून को परिभाषित करते हुए कहा है कि- "यह वह कानून है जिसका पालन मनुष्य को एक नैतिक प्राणी होने के नाते करना चाहिए; चाहे वह राज्य के वास्तविक कानून के अनुकूल हो या प्रतिकूल। ग्रीन के अनुसार प्राकृतिक कानून बुद्धि की उपज होते हैं। इनकी खोज अनुभव द्वारा नहीं की जा सकती। उन्हें

इस द ष्टि से प्राकृतिक कहा जा सकता है कि ये समाज के लक्ष्य की प्राप्ति में सहायता करते हैं। इस तरह प्राकृतिक कानून का सम्बन्ध उन सभी बातों से है जिनका अस्तित्व समाज के चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। समाज की नैतिकता के साथ-साथ प्राकृतिक कानूनों में भी अन्तर आता रहता है। राज्य के लिए प्राकृतिक कानूनों को लागू करना जरूरी नहीं होता। परन्तु प्राकृतिक कानून का लागू होने योग्य होना जरूरी होना चाहिए। इन्हें लागू करने की योग्यता ही इन्हें नैतिकता से अलग करती है। प्राकृतिक कानून समाज की नैतिक भावना के विकास के साथ-साथ विकसित होता रहता है। इसे एक ऐसा आदर्श समझा जाता है जो समाज की नैतिक भावना पर आधारित होता है और जिसकी तरफ समाज प्रव त्त हो रहा है। ग्रीन ने आगे कहा है कि नैतिकता एक आन्तरिक मानसिक व्यवस्था है और स्वतन्त्रता उसका प्रमुख लक्षण है। उसे शक्ति द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता। शक्ति का प्रयोग करते ही नैतिकता प्राकृतिक कानून की श्रेणी में आ जाती है। इस तरह नैतिकता आन्तरिक व्यवस्था है और प्राकृतिक कानून बाह्य। नैतिकता को कानून द्वारा लागू नहीं किया जा सकता। ऐसा करने से इसका वास्तविक स्वरूप नष्ट होकर प्राकृतिक कानून की जगह ले लेगा। ग्रीन ने प्राकृतिक कानून को सुख-दुःख की कसौटी पर कसते हुए कहा है- "प्राकृतिक कानून के उल्लंघन पर दण्ड मिलता है जबकि नैतिकता के उल्लंघन पर दण्ड का प्रावधान नहीं हो सकता। प्राकृतिक कानून मानव व्यवहार के कुछ स्थिर और निश्चित नियम हैं जबकि नैतिकता शिक्षित और सभ्य मानव प्रकृति का अंग है।" सकारात्मक स्वतन्त्रता में नैतिकता और प्राकृतिक कानून दोनों का समावेश होता है। ज्यों-ज्यों समाज की नैतिक भावना का विकास होता है, वैसे-वैसे प्राकृतिक कानून का भी विकास होता रहता है।

सामान्य इच्छा पर विचार
(Views on General Will)

ग्रीन का विश्वास है कि सामान्य हित की चेतना समाज को जन्म देती है। यही सामान्य हित की चेतना 'सामान्य इच्छा' होती है। सामान्य चेतना व्यक्ति के अधिकारों और कर्त्तव्यों को जन्म देकर उनकी रक्षा करने वाली संस्थाओं को भी स्थापित करती है। राज्य इसी सामान्य चेतना का परिणाम है और वह सामान्य इच्छा के प्रतीक के रूप में कार्य करता है। यही सामान्य इच्छा राज्य की सम्प्रभु शक्ति का निर्माण करके अधिकारों और कर्त्तव्यों को मूर्त रूप देती है। सामान्य इच्छा का सभी पालन करते हैं। इसलिए इसे 'सार्वभौम बुद्धिमता पूर्ण इच्छा' भी कहा जाता है। यह समाज का निर्माण करने वाली और उसको एकता के सूत्र में बाँधने वाली सामान्य चेतना है। इसलिए राज्य का आधार इच्छा होती है, शक्ति नहीं। यह राज्य की सम्प्रभु शक्ति होती है।

रूसो की तरह ग्रीन ने भी मानव-स्वभाव की दो इच्छाओं - वास्तविक इच्छा (Real Will) तथा यथार्थ इच्छा (Actual Will) का वर्णन किया है। ग्रीन का कहना है कि यथार्थ इच्छा स्वार्थ-प्रधान होती है। यह वैयक्तिक हितों पर आधारित होने के कारण मानव की स्वार्थपूर्ण प्रव त्तियों पर आधारित है। जबकि वास्तविक इच्छा एक आदर्श इच्छा होती है। वह समाज हित पर आधरित होने के कारण सामाजिक इच्छा भी कहलाती है। यह वैयक्तिक स्वार्थों से रहित होती है। रूसो का विचार का अनुसरण करते हुए ग्रीन ने कहा है कि व्यक्ति में आदर्श इच्छा जैसी सद्-इच्छा पाई जाती है। यह व्यक्ति को कुछ नैतिक कार्य करने की प्रेरणा देती है। इस तरह व्यक्ति की सद् इच्छाएँ एक ऐसी सामान्य चेतना को उत्पन्न करती हैं जिनका प्रधान उद्देश्य समाज के सामान्य हित में सहायक हो सकने वाले सभी कार्यों को करना है। व्यक्ति सामान्य चेतना के अनुसार कार्य करके अपना शाश्वत चेतना से सम्बन्ध स्थापित करता है। अपने नैतिक विकास तथा सम्पूर्णता की प्राप्ति के लिए व्यक्ति की यही इच्छा रहती है कि वह समाज के सभी व्यक्तियों के हित में ही अपना हित सुरक्षित करे। इस तरह राज्य का जन्म होता है। राज्य व्यक्ति के नैतिक विकास के मार्ग में आने वाली सभी बाधाओं को दूर करता है। इस तरह सामान्य इच्छा सभी प्रकार के कानूनों की भी जननी है। राज्य सामान्य हित में व द्धि करने के लिए कानूनों का भी निर्माण करता है।

ग्रीन का कहना है कि सामान्य इच्छा सभी नागरिकों में पाई जाती है। समाज में गरीब से गरीब व्यक्ति भी सामान्य हित को समझ सकता है। लेकिन उसमें यह चेतना अधिक प्रगाढ़ नहीं होती। यदि समाज में सामान्य चेतना का सर्वथा अभाव होता है तो राज्य का अस्तित्व ही नहीं होता। इसलिए राज्य का आधार सामान्य इच्छा ही होती है।

दण्ड सम्बन्धी विचार
(Views on Punishment)

ग्रीन का दण्ड सम्बन्धी सिद्धान्त उसके राज्य सम्बन्धी सिद्धान्त का आधार है। उसका मानना है कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता व अधिकारों की सुरक्षा राज्य कुछ दण्डात्मक उपायों द्वारा ही कर सकता है। ग्रीन का मानना है कि राज्य में कुछ अराजकतावादी तत्त्व भी होते हैं जो समाज हित को हानि पहुँचाते हैं। इनका निराकरण दण्ड द्वारा ही सम्भव हो सकता है। समाज में हत्या, हिंसा, चोरी आदि अपराध व्यक्ति को उत्तम जीवन बिताने में बाधा उत्पन्न करते हैं। इसलिए यदि कोई व्यक्ति दूसरों को स्वतन्त्रता तथा अधिकारों में अनुचित हस्तक्षेप करता है तो उसे राज्य उसको दण्डात्मक उपायों से ऐसा करने से रोक सकता है। ग्रीन ने कहा है कि- "यदि कोई व्यक्ति समाज विरोधी कार्य करता हो तो राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह इसे दण्ड देकर समाज के अन्य व्यक्तियों के अधिकारों को सुरक्षित बनाए और अपराधियों का दमन करे।"

ग्रीन के समय में तीन प्रकार के दण्ड सिद्धान्त प्रचलित थे। सबसे पुराना सिद्धान्त प्रतिशोध सिद्धान्त (Retributive Theory) अपराधी को अपराध के अनुकूल सजा का समर्थक था। दूसरे सिद्धान्त निवारक सिद्धान्त (Deterrent Theory) का उद्देश्य अपराधी को ऐसी सजा देना था ताकि वह दोबारा अपराध करने से डरे। तीसरा सिद्धान्त सुधारात्मक सिद्धान्त (Reformatory Theory) था जिसका उद्देश्य अपराधी की आपराधिक प्रव त्ति में सुधार करना था ताकि वह भविष्य में कोई अपराध न करे। ग्रीन ने इन तीनों सिद्धान्तों के दोषों पर भली-भाँति विचार करके इनका खण्डन किया। उसने कहा कि दण्ड का उद्देश्य व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए आवश्यक स्वतन्त्र वातावरण और उपयुक्त परिस्थितियाँ बनाना तथा इसमें आने वाली बाधाओं को दूर करना है। उसने कहा समाज विरोधी प्रत्येक तत्त्व से निपटने के लिए दण्ड का होना जरूरी है। उसके अनुसार प्रत्येक अपराध राज्य द्वारा सुरक्षित किए जाने वाले स्वतन्त्र जीवन और सम्पत्ति के अधिकारों पर किया जाने वाला कुठाराघात है। इसलिए दण्डात्मक शक्ति, प्रभावशाली होनी चाहिए। ग्रीन के अनुसार, "दण्ड का उद्देश्य समाज विरोधी शक्तियों का नाश, उत्तम जीवन की बाधाओं का निराकरण तथा नैतिक विकास के लिए उपयुक्त परिस्थितियों का निर्माण करना है।

दण्ड का नैतिक आधार
(Moral Basis of Punishment)

ग्रीन का कहना है कि दण्ड का उद्देश्य नैतिक होता है। इसे नैतिक इसलिए कहा जा सकता है :-

1. दण्ड का अन्तम उद्देश्य या चरम लक्ष्य ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करना है कि जिनमें समाज का प्रत्येक सदस्य अपने नैतिक विकास के लिए आवश्यक कार्यों का स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकता है।
2. यह अपराधी का नैतिक सुधार करता है। दण्ड से व्यक्ति की नैतिक चेतना जाग त होकर अपराधी को नैतिक पथ ले जाती है।

इस प्रकार दण्ड द्वारा समाज विरोधी तत्त्वों पर अंकुश लगाकर व्यक्ति के स्वतन्त्र जीवन व योग्य परिस्थितियों को बनाए रखा जाता है। यह व्यक्ति को उत्तम जीवन बिताने के लिए उसके मार्ग में आने वाली सभी बाधाओं को दूर करता है और प्रत्येक व्यक्ति को अपने नैतिक विकास के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ प्रदान करता है।

युद्ध पर विचार
(Views on War)

ग्रीन हीगल के युद्ध सम्बन्धी विचारों की आलोचना करते हुए युद्ध को एक बुराई मानता है। वह हीगल के इस विचार से सहमत नहीं है कि युद्ध व्यक्ति के नैतिक स्तर को ऊँचा करता है। ग्रीन का मानना है कि युद्ध मानव जीवन को नष्ट करता है। उसका कहना है कि युद्ध अनावश्यक, हानिकारक तथा अनैतिक उपकरण है। युद्ध एक अपूर्ण राज्य का लक्षण है। पूर्ण राज्य को युद्ध की आवश्यकता नहीं होती। उसने कहा कि युद्ध केवल विशेष परिस्थितियों में ही सापेक्ष हो सकता है। परन्तु पूर्णतः उचित कभी नहीं हो सकता। ग्रीन का कहना है कि- "युद्ध की कोई भी अवस्था मनुष्य द्वारा जीवन के विकास को सही नहीं बना सकती, यद्यपि उसकी गलती को उसके समस्त पक्षों पर सदैव नहीं मढ़ा जा सकता।" युद्ध विश्व-बन्धुत्व की भावना को ठेस पहुँचाता है। जब हम राष्ट्रीय क्षेत्र में युद्ध को वर्जित मानते हैं तो उसे अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में अस्वीकार क्यों करते हैं। यह असंगति भयानक परिस्थितियाँ पैदा करती है। इस असंगति को दूर करके युद्ध की आवश्यकता का अन्त किया जा सकता है।

युद्ध को किसी भी प्रकार से न्यायोचित नहीं माना जा सकता, क्योंकि यह व्यक्ति के जीवन के अधिकार को वंचित करता है। युद्ध एक अपूर्ण राज्य का लक्षण होता है। उसके अनुसार युद्ध इसलिए होते हैं कि राज्य अपने कार्यों को पूर्ण रूप से नहीं कर सकते। राज्य का संगठन जितना अधिक पूर्ण होगा, युद्ध के अवसर उतने ही कम होंगे। ग्रीन ने कहा है- "राज्य का आन्तरिक संगठन जितना ही अधिक पूर्ण हो जाता है, अन्तरराष्ट्रीय संघर्ष के ध्येय और अवसर उतने ही अधिक लुप्त होने लगते हैं और एकता के बन्धन द ढ़तर हो जाते हैं।"

ग्रीन का कहना है कि युद्ध गलतियों को सुधारने का उचित साधन नहीं हो सकता। यह किसी राज्य का आधारभूत तत्त्व नहीं हो सकता। युद्ध सामान्य हित के विपरीत होता है। इसलिए कुछ स्वार्थी तत्त्वों के हितों को पूरा करने के लिए सामान्य हित की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। किसी को स्वार्थवश मारना नैतिक कार्य नहीं हो सकता। युद्ध एक नैतिक गलती होता है। इससे नैतिकता का पतन होता है। युद्ध से वीरता तथा आत्म-बलिदान जैसे गुणों के विकास के नाम पर जन-संहार करना कभी मानवीय द ष्टि से मान्य नहीं हो सकता। इन गुणों के विकास के नाम पर युद्ध को अनिवार्य नहीं माना जा सकता। युद्ध के बिना भी व्यक्ति में नैतिक गुणों का विकास अन्य साधनों द्वाराभी किया जा सकता है। देशभक्ति का प्रदर्शन युद्ध के द्वारा करना कभी उचित नहीं माना जा सकता। देशभक्ति और युद्ध में तालमेल बिठाना तर्कसंगत नहीं हो सकता।

इस प्रकार ग्रीन हीगल द्वारा प्रतिपादित युद्ध सम्बन्धी विचारों का पूर्ण खण्डन करता है। उसका कहना है कि वांछित उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए राज्य के पास युद्ध के अलावा अन्य बहुत सारे साधन होते हैं। युद्ध एक अनैतिक साधन है, इससे मानवता का भारी नुकसान होता है। इसलिए युद्ध हर अवस्था में अवांछनीय और अनुचित है। इसे किसी भी अवस्था में नैतिक और उचित नहीं माना जा सकता। पूर्ण राज्य के रूप में इस बुराई का अन्त किया जा सकता है।

सम्पत्ति सम्बन्धी विचार
(Views on Property)

सम्पत्ति के बारे में ग्रीन का द ष्टिकोण अधिक उदारवादी है। उसने सम्पत्ति के अधिकार को स्वतन्त्रता के अधिकार का उपसिद्धान्त स्वीकार किया है। उसका कहना है कि यदि एक व्यक्ति को अपने कार्यों को स्वतन्त्रतापूर्वक नैतिक आदर्श के अनुसार निर्धारित करने का अधिकार है तो उसे उसके पास आवश्यक साधन भी होने चाहिएं। ग्रीन का कहना है कि मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए सम्पत्ति का होना अपरिहार्य है। प्रत्येक व्यक्ति को सम्पत्ति पैदा करने का अवसर प्राप्त होना चाहिए क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति में सामान्य सामाजिक कार्यों में भाग लेने की शक्ति होती है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि सम्पत्ति समाज के सर्वोत्तम जीवन में सहायक बनने वाले व्यक्ति के लिए आवश्यक और उपयोगी साधनों का समूह होती है। यह इच्छा-पूर्ति का साधन है।

सम्पत्ति को परिभाषित करते हुए ग्रीन ने कहा है कि- "सम्पत्ति उन समस्त साधनों का योग है जो मनुष्य में आत्मानुभूति के सिद्धान्त के स्वतन्त्र विकास और सामान्य हित में योग देने के लिए आवश्यक है। स्वतन्त्र अभिव्यक्ति की मांग करते हुए शाश्वत चेतना के अंश मानव आत्मा ने जिन वस्तुओं को प्राप्त कर लिया है, वह उसी का प्रतिफल है।"

ग्रीन का कहना है कि जिसके पास व्यक्तिगत सम्पत्ति है, उन्हें सदैव उसका प्रयोग सामान्य हित के लिए करने की आवश्यकता नहीं है। केवल सम्पत्ति का सम्भावित लक्ष्य ही सामाजिक हित होना चाहिए। सामान्य हित के लिए व्यक्तिगत सम्पत्ति का बलात् प्रयोग अनुचित होगा। आगे वह कहता है कि सम्पत्ति की असमानता सम्भव तथा उचित है। सामाजिक हित के लिए सभी व्यक्तियों के पास साधनों का अलग-अलग असमान बँटवारा होना आवश्यक होता है। सामाजिक हित का पूर्ण सम्पादन करने के लिए सम्पत्ति की विषमता उचित है। लेकिन सम्पत्ति का अनियन्त्रित संचय सामाजिक हित की द ष्टि से उचित नहीं हो सकता। उसका मत है कि यदि व्यक्तियों को अपनी स्वतन्त्र-इच्छा की पूर्ति में बाधा पहुँचे तो व्यक्तियों द्वारा धन से भय की प्रव त्ति पर अंकुश लगाना चाहिए। सरकार सम्पत्ति की प्राप्ति तथा उसके वितरण पर कुछ मर्यादाएँ लगा सकती है।

ग्रीन ने व्यक्तिगत सम्पत्ति के दोषों को दूर करने के सुझाव भी दिए हैं। उसका कहना है बड़े-बड़े भूमिपतियों के वर्ग का उन्मूलन करके असीमित असमानता को कम किया जा सकता है। वह ऐसी सम्पत्ति की व्यवस्था का विरोध करता है जो विशेष वर्ग के हितों की पोषक हो। उसका कहना है कि भूमि-हीन तथा सम्पत्ति हीन वर्ग का जन्म पूंजीवाद का परिणाम न होकर दोषपूर्ण भूमि-व्यवस्था का परिणाम है। जब राज्य अपने कर्त्तव्यों से मुख मोड़ लेता है तो इस प्रकार की सम्पत्ति प्रणाली का जन्म होता

है जो बहुत अधिक दोषपूर्ण होती है। इस दोषपूर्ण प्रणाली का व्यक्तिगत सम्पत्ति को नष्ट किए बिना ही सरकारी कानून बनाकर निराकरण करना सम्भव होता है।

ग्रीन समाजवादियों के सम्पत्ति सम्बन्धी विचारों का खण्डन करते हुए कहता है कि संसार में सम्पत्ति की विषमता का अस्तित्व में रहना आवश्यक मानता हैं समाजवादियों का कहना है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति और सम्पत्ति की विषमता ही समाज के सब दोषों का कारण है। लेकिन ग्रीन कहता है कि पूंजी का प्रयोग सदैव सामाजिक कल्याण के लिए ही होता है। बड़े-बड़े उत्पादन के साधन इसी का परिणाम होते हैं। परन्तु यदि निजी सम्पत्ति सामाजिक हित के मार्ग में बाधा बनती हो तो इसकी निन्दा की जा सकती है।

आलोचना
(Criticisms)

ग्रीन के व्यक्तिगत सम्पत्ति सम्बन्धी विचारों की अनेक आधारों पर आलोचना हुई है। उसकी आलोचना के निम्नलिखित आधार हैं :-

1. यह सिद्धान्त परस्पर विरोधाभासी है। एक ओर तो ग्रीन सम्पत्ति के संचय की छूट देता है और दूसरी तरफ भू-सम्पत्ति के संग्रह को दरिद्रता का कारण मानता है।
2. यह सिद्धान्त वर्तमान समाजवादी सिद्धान्तों के सर्वथा विपरीत है। वह सम्पत्ति की विषमता तथा पूंजीवाद को न्यायोचित ठहराता है। इससे समाजवाद का विरोध किया गया है। सत्य तो यह है कि आधुनिक युग में समाजवादी सिद्धान्त अत्यन्त लोकप्रिय हो रहे हैं।
3. इस बात की कोई गाण्टी नहीं दे सकता कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का प्रयोग सामाजिक हित के अनुसार किया जाएगा।

इस प्रकार ग्रीन के सम्पत्ति सम्बन्धी विचार अत्यन्त संकीर्ण व परस्पर विरोधाभासी हैं। ये वर्ग-संघर्ष के पोषक है। उसके विचार आधुनिक समाजवादी व्यवस्था के अनुकूल नहीं हैं। उन्हें आधुनिक युग में लागू करने का अर्थ होगा, सामाजिक विषमता को बढ़ावा देना। उसका यह सिद्धान्त आवश्यकता से अधिक उदारवादी है। इसे व्यवहार में लागू नहीं किया जा सकता।

ग्रीन का योगदान
(Green's Contribution)

ग्रीन राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक हैं। उनके दर्शन में सत्तावाद, व्यक्तिवाद और आदर्शवाद का अनूठा मिश्रण देखने को मिलता है। उसने व्यक्ति और राज्य दोनों को समान महत्त्व देकर आदर्शवाद को अधिक अच्छा बनाया है। उसने व्यक्तिवाद को नैतिक और सामाजिक आधार प्रदान किया है। इससे उदारवाद का सच्चा रूप निखरकर हमारे सामने आया है। इसी कारण से ई॰ एन॰ बर्नज ने उसे बीसवीं शताब्दी के 'उदारवाद का जनक' कहा है। उसकी प्रमुख देन निम्नलिखित है :-

1. **उदारवाद और उपयोगितावाद को समसामयिक बनाना** : ग्रीन ने उदारवाद और उपयोगितावाद में आवश्यक संशोधन करके इन्हें समयानुकूल बनाकर इनमें नवजीवन का संचार किया और सुद ढ़ आधार प्रदान किया। जान स्टुअर्ट के समय तक आते-आते उपयोगितावाद निष्प्राण हो चुका था। बेन्थम और मिल ने मनुष्य के कार्यों का मूल प्रेरणा स्रोत विशुद्ध स्वार्थ-बुद्धि ओर सुख को मानकर इसे कोरा सुखवाद बना दिया था। लेकिन ग्रीन ने पूर्ववर्ती उपयोगितावादियों के विचारों में बिखरे हुए सिद्धान्तों का एकीकरण किया और परस्पर विरोधी विचारों को नया रूप दिया। उसने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि मनुष्य कोरा भौतिकवादी जीव नहीं है, बल्कि दूसरे का हित चाहने वाला तथा आत्मा का विकास करने वाला प्राणी भी है। ग्रीन ने राज्य को व्यक्ति का नैतिक विकास करने वाला यन्त्र बताया। इस तरह उसने राजनीतिक चिन्तन को आध्यात्मिक और नैतिक आधार देकर एक सुद ढ़ रूप प्रदान किया। उसने आर्थिक जीवन में राजय के हस्तक्षेप को न्यायोचित ठहराकर इंगलैण्ड के भावी राजनीतिक सुधारों का मार्ग प्रशस्त किया। उसने उदारवाद में सामाजिक दर्शन से परिवर्तन किए और उसे इंगलैण्ड की द ष्टि से उपयोगी बनाया। उसने उदारवाद को एक रुचि मात्र से ऊपर उठाकर एक विश्वास बना दिया।

2. **आदर्शवाद का नया रूप** : उसने हीगल के राज्य को साध्य मानने के विचार का खण्डन किया और युद्ध की अनिवार्यता को समाप्त कर दिया। उसने कहा कि व्यक्ति स्वयं एक साध्य है और उसके हितों का राज्य के लिए बलिदान करना न्यायोचित नहीं है। उसने आगे कहा कि युद्ध किसी भी स्थिति में अपरिहार्य नहीं हो सकता। उसने अन्तरराष्ट्रीयवाद और विश्व-बन्धुत्व की भावना का विकास करके युद्धों से दूर रहने की सलाह दी। उसने जर्मन आदर्शवाद को उसकी कठोरता से निकालकर उसे अधिक उदारवादी बनाया। उसने अत्यधिक व्यक्तिवाद और कठोर आदर्शवाद की बुराइयों को दूर करके इन दोनों में समन्वय का प्रयास किया। उसने कहा कि राज्य और व्यक्ति के हितों में कोई विरोध नहीं है। वेपर ने कहा है कि- "ग्रीन की सबसे बड़ी देन यह है कि उसने आदर्शवाद और व्यक्तिवाद दोनों के दोषों का संशोधन किया, व्यक्तिवाद को नैतिक और सामाजिक रूप प्रदान किया और आदर्शवाद को परिमार्जित कर एक सभ्य विचार में बदल दिया।" बार्कर ने भी कहा है कि- "ग्रीन एक महत्त्वाकांक्षी आदर्शवादी तथा भद्र वास्तविकतावादी था।" इस तरह ग्रीन ने अपने आदर्शवाद को 'सामाजिक औचित्यता' की धारणा पर आधारित करके उसे अधिक सभ्य और सुरक्षित बनाया।
3. **सकारात्मक स्वतन्त्रता की धारणा** : ग्रीन ने स्वतन्त्रता को नए सिरे से परिभाषित करते हुए कहा कि स्वतन्त्रता करने योग्य कार्यों की होती है। उसने स्वतन्त्रता को शाश्वत चेतना के साथ जोड़कर इसे एक नैतिक माँग का रूप दिया और इसे मानव चेतना के नैतिक विकास की अनिवार्य परिस्थिति बताया, उसने आगे कहा कि राज्य द्वारा व्यक्तियों के विकास के लिए अधिक से अधिक सुविधाएँ प्रदान करनी चाहिए ताकि वे अपना नैतिक विकास कर सके। इस तरह उनका स्वतन्त्रता का विचार सकारात्मक है। उसने हीगल तथा काण्ट के नकारात्मक स्वतन्त्रता सिद्धान्त का विरोध किया।

(4) **कल्याणकारी राज्य का मार्ग प्रशस्त करना** : ग्रीन ने कहा कि राज्य का प्रमुख कार्य व्यक्ति का नैतिक विकास करना है। इसके मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करना उसका प्रमुख कर्त्तव्य है। इसी में उसका सामाजिक कल्याण का उद्देश्य निहित है। उसने कहा कि राज्य को सर्वसाधारण के कल्याण के लिए शिक्षा और सुरक्षा, मद्यपान पर रोक, दोषपूर्ण भूमि-व्यवस्था में सुधार, स्वास्थ्य सेवाओं में सुधार आदि कार्य करने चाहिएं। इससे उसने कल्याणकारी राज्य का मार्ग प्रशस्त किया है। यह उसकी महत्त्वपूर्ण देन मानी जा सकती है।

5. **सीमित प्रभुसत्ता का सिद्धान्त** : ग्रीन ने राज्य पर बाह्य तथा आन्तरिक प्रतिबन्ध लगाकर सीमित प्रभुसत्ता (Limited Sovereignty) का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उसने व्यक्ति को साध्य और राज्य को एक साधन मानकर राज्य की निरंकुश सम्प्रभुता का अन्त कर दिया है। उसने राज्य की शक्ति पर विश्व-बन्धुत्व या अन्तरराष्ट्रीयता का अंकुश लगाकर बाह्य शक्ति के रूप में उसे सीमित रूप में सम्प्रभु बना दिया।
6. **राज्य का आधार सम्बन्धी सिद्धान्त** : ग्रीन उन सभी राजनीतिक विचारकों के विचारों का खण्डन किया जो राज्य का आधार शक्ति को मानते थे। ग्रीन ने कहा कि राज्य का आधार इच्छा है न कि शक्ति। उसने बताया कि शक्ति पर आधारित राज्य अपूर्ण राज्य होते हैं। उनमें स्थायित्व का गुण नहीं पाया जाता। जनसहमति पर आधारित राज्य ही पूर्ण और स्थायी होते हैं।

उपर्युक्त विवेचन के बाद कहा जा सकता है कि ग्रीन ने पूर्ण सत्तावादी राज्य, उपयोगितावादी सुखवाद, मार्क्सवादी समाजवाद तथा स्पेन्सरवादी व्यक्तिवाद का तीव्र विरोध करके एक नया राजनीतिक विश्वास कायम किया है। उसने आदर्शवाद को व्यक्तिवाद से मिलाकर उसे अधिक उदारवादी बनाया है। उसने समाजवाद का नया रूप पेश किया है। उसके दर्शन ने परवर्ती राजनीतिक चिन्तकों पर गहरा प्रभाव डाला है। उसने राजनीतिक सिद्धान्तों को सामाजिक औचित्यता की द ष्टि से परखा है। उसके प्रयासों से ही अंग्रेजी आदर्शवाद व जर्मन आदर्श का उदारवादी स्वरूप प्रकट हुआ है और कल्याणकारी राज्य का मार्ग प्रशस्त हुआ। अतः निष्कर्ष तौर पर कहा जा सकता है कि ग्रीन राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति है।